भारतीय इतिहास की मीमांसा

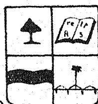
अथवा

भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान

जयचन्द्र विद्यालंकार

(१) पटना युनिवर्सिटी के रामदीन व्याख्यान १९४१

(२) नवपरिशिष्ट १९५४–'१९



हिन्दी-भवन

जालंधर • इलाहाबाद

प्रकाशक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
हिन्दी-भवन
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

मूल्य १२)

मुद्रक—
इन्द्रचन्द्र नारंग
कमल मुद्रणालय
३१२ रानी मंडी
इलाहाबाद ३

इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः
विवेकाञ्जनशुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ।

—इतिहास और पुराण विवेक के सुरमे से निखरी हुई वे आँखें हैं जिनके द्वारा मेधावी सूक्ष्म विषयों को भी देख-समझ लेता है ।

—राजशेखर (लग० ८६३ ई०) काव्यमीमांसा में

आचार्य

काशीप्रसाद जायसवाल

(१८८१–१९३७)

की

पुण्य स्मृति में

प्रस्तावना

खड्गविलास प्रेस पटना के स्वामी स्वर्गीय रायबहादुर रामरणविजय-सिंह ने सन् १९२५ में पटना युनिवर्सिटी को एक निधि इस अभिप्राय से भेंट की कि उसे एक अन्नयनीवी के रूप में रक्खा जाय और उसकी आय से युनिवर्सिटी में उनके स्वर्गीय पिता बाबू रामदीनसिंह के नाम से व्याख्यानदाताओं के लिए एक आसन स्थापित किया जाय, जिसपर से प्रति वर्ष या प्रति दूसरे वर्ष हिन्दी में किसी ऊँचे विषय पर मौलिक व्याख्यान देने के लिए किसी विद्वान् को निमन्त्रित किया जाय। ये व्याख्यान पटना युनिवर्सिटी के विद्यार्थियों की साधारण शिक्षा का अंश नहीं होते, पर विद्यार्थियों को (और बाहरी जनता को भी) इन्हें सुनने के लिए निमन्त्रित किया जाता है। भारत की सरकारी युनिवर्सिटियों में शिक्षा का माध्यम अभी तक अंग्रेज़ी है। रामदीन आसन के संस्थापक का यह विश्वास था कि हिन्दी में भी उच्चतम वैज्ञानिक विचार व्यक्त किये जा सकते हैं, और उनके उक्त दान का उद्देश्य इस बात को करवा दिखलाना तथा प्रोत्साहित करना ही था।

पटना युनिवर्सिटी के संचालकों ने सन् १९३९–४० की रामदीन व्याख्यानमाला देने के लिए मुझे निमंत्रित किया। व्याख्यानों का विषय उन्होंने सुझाया—भारतीय इतिहास में विकास की प्रक्रिया (इवोल्यूशनरी प्रौसेस इन इंडियन हिस्टरी)। मैंने इस निमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार किया और यह माना कि इसके द्वारा भारतीय इतिहास की व्याख्या करने का अच्छा अवसर मिलेगा। सन् १९३९-४० में व्याख्यान तैयार न हो सके। युनिवर्सिटी के संचालकों ने कृपापूर्वक मुझे एक

वर्ष का समय और दिया और सन् १९४१ के ३१ मार्च से ४ अप्रैल तक तथा ८ से १२ सितम्बर तक ये व्याख्यान दिये गये।

पिछले अट्ठारह बरस के अध्ययन और मनन ने मुझे निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुँचाया है कि भारतवर्ष का इतिहास घटनाओं का अन्धा समुच्चय नहीं है, प्रत्युत उसमें विकास और ह्रास का अथवा परिणति का स्वाभाविक क्रम है। उस क्रम और उसकी प्रेरक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिए मैंने भारतीय इतिहास की छानबीन की योजना इस प्रकार बनाई—

भूमिका—क्या भारतीय जाति की आधुनिक अवस्था सनातन है ?
पहला खण्ड—राजनीतिक इतिहास में चढ़ाव-उतार।
दूसरा खण्ड—आर्थिक राजनीतिक सामाजिक संस्थाओं का विकास और ह्रास।
तीसरा खण्ड—ज्ञान और तत्त्वचिन्तन में उन्नति-अवनति।
चौथा खण्ड—धार्मिक और सामाजिक जीवन की क्रम-परिणति।
पाँचवाँ खण्ड—साहित्य और कला में राष्ट्रीय जीवन का आरोह-अवरोह।
छठा खंड (उपसंहार)—भारतीय इतिहास का तत्त्वचिन्तन।

प्रस्तुत व्याख्यानों में केवल भूमिका और पहला खण्ड ही आ सका है और शेष खण्डों का संकेत-मात्र परिचय अन्तिम व्याख्यान में करा दिया गया है। उनकी पूरी व्याख्या और विवेचना के लिए और किसी अवसर या अवसरों की प्रतीक्षा करनी होगी।

अपने ग्रंथ **इतिहासप्रवेश** में मैंने भारतीय इतिहास की घटनाओं की सूखी चुनाई की है। बेशक, चुनाई इस ढंग से करने की कोशिश की है कि घटनाएँ खुद-ब-खुद बोलें, स्वयं अपनी व्याख्या करें। विचारशील पाठक को उनकी व्याख्या सुनाई दे सकती है, पर मैंने अपनी तरफ से उस ग्रंथ में व्याख्या के शब्द जोड़ने से भरसक परहेज़ किया और किसी भी विवाद में पड़ने से बराबर मुँह मोड़े रक्खा है। प्रस्तुत

व्याख्यानों का उद्देश्य भारतीय इतिहास की घटनाओं से खड़े होने वाले प्रश्नों को सुलझाना और उनकी व्याख्या करना ही है और इनमें यह मान लिया गया है कि श्रोता या पाठक को घटनाओं से परिचय पहले से है। दोनों ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं, दोनों को साथ साथ पढ़ना रुचिकर और लाभकारी होगा।

अपने अंतिम व्याख्यान के अंत में मैंने कुछ शब्द ज़बानी कहे थे, इस प्रस्तावना के अंत में उन्हें फिर दर्ज कर दूँ।

हमारे सरकारी विद्यापीठों में यह अंधविश्वास साधारणतया प्रचलित है कि सचाई को यदि अपनी भाषा में कहा जाय तो वह उतनी गौरव-पूर्ण नहीं होती जितनी विदेशी भाषा में कही जाने से। इस अन्ध-विश्वास के प्रतिवाद के लिए ही स्वर्गीय श्री रामरणविजयसिंह ने इस आसन की नींव डाली थी। मेरा तो यह विश्वास है कि भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र का गहरा विवेचन और मौलिक चिन्तन भारतीय भाषाओं में ही हो सकता है, हमारे राष्ट्र की संस्थाओं और प्रवृत्तियों के विचार के लिए हमारी भाषाएँ ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं। यदि इन व्याख्यानों से यह बात प्रकट हो सके, यदि इनके द्वारा हमारे शिक्षित समाज को यह विश्वास हो सके कि दो और दो चार जैसे अंग्रेज़ी में कहने से होते हैं, हिन्दी में कहने से भी ठीक वैसे ही होते हैं, कुछ कम ज्यादा नहीं, तो मेरा यह प्रयत्न सफल होगा और इस आसन के संस्था-पक की अभिलाषा पूर्ण होगी।

मैं पटना युनिवर्सिटी के संचालकों का बहुत ही कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे यह अवसर दिया। उनके लगातार के सौजन्यपूर्ण बर्त्ताव के लिए मैं फिर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

बनारस, १७ आश्विन १९९९
(३ अक्तूबर १९४२)

जयचन्द्र

पुनश्च

सन् १९४२ में कागज़ की दुर्लभता के कारण और उसके बाद तीन बरस तक मेरे लाहौर किले और कम्बलपुर (ज़ि० अटक) जेल में अंग्रेज़ी सरकार का मेहमान रहने के कारण इन व्याख्यानों का प्रकाशन पिछड़ता रहा। इस बीच दुनिया की शकल ही बदल गई है। दूसरे विश्वयुद्ध के ६ बरसों ने अनेक पुराने ढोंगों की जड़ हिला दी और अनेक सत्यों को प्रकाश में ला दिया है। इन व्याख्यानों में कही गई अनेक बातों की इन बरसों के तजरबे ने अद्भुत रूप से पुष्टि की है।

इस ग्रंथ का उपनाम अब मैंने **भारतीय इतिहास की मीमांसा** रक्खा है। मेरा पहला ग्रन्थ **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** था। **रूपरेखा** और **मीमांसा** दोनों के अभी तक एक एक भाग पूरे हुए हैं। उनके शेष भागों को पूरा कर देने का संकल्प मैंने जेल में रहते हुए किया है, और यदि अगले दस बरसों में मुझे शान्ति से बैठना और अभीष्ट सुविधाएँ मिल गईं तो उन्हें पूरा करने का मेरा पक्का इरादा है।

जैसा कि पहले कह चुका हूँ **इतिहासप्रवेश** में घटनाओं का विवरण मात्र है, विवादों से परहेज़ किया गया है। **रूपरेखा** में घटनाओं का ज़रा विस्तृत विवरण है और जहाँ तक घटनाओं का स्वरूप निश्चित करने के लिए या उनके सिलसिले को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हुआ वहाँ विवादों में प्रवेश भी किया गया है। **मीमांसा** में साधारणतः घटनाओं के स्वरूप के विषय में नहीं, प्रत्युत उनके अन्तर्गत मूल प्रवृत्तियों के विषय में प्रश्न उठा कर उन्हें सुलझाने की चेष्टा की गई है। इसके अतिरिक्त **रूपरेखा** और **मीमांसा** में मुख्य भेद यह है और होगा कि **रूपरेखा** में समूचा विवरण-विवेचन कालक्रम से है, **मीमांसा** का विवेचन विषयक्रम से। **रूपरेखा** में प्राचीन काल के एक एक युग का राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक इतिहास एक साथ आया है, मध्य

श्रौर अर्वाचीन काल का भी उसी तरह आयगा। **मीमांसा** के इस पहले खण्ड में तीनों कालों के राजनीतिक इतिहास का विवेचन हो गया है, अगले खण्डों में इसी तरह सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का विवेचन होगा। दोनों क्रमों से इतिहास की परम्परा को देखना उसका स्पष्ट रूप सामने लाने में विशेष सहायक होता है। यों ये ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं और होंगे।

पटना यूनिवर्सिटी ने इस ग्रन्थ के पूरे अधिकार मुझे दे दिये हैं, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

मार्तण्ड (कश्मीर)
७ श्रावण २००३ वि०
(२२-७-१९४६)

जयचन्द्र

तीसरी बार

इस ग्रंथ की पहली प्रस्तावना मैंने अक्तूबर १९४२ में उस वक्त लिखी जब कि अंग्रेज़ों को "भारत छोड़ो" नारा सुनाने वाले संघर्ष में भीतर भीतर पड़ जाने के कारण मैंने देखा कि इसमें जीवन से हाथ धोने भी पड़ सकते हैं, इसलिए अपनी कृति को पूरा करके रख जाऊँ। सन् १९४६ में मेरे जेल से बाहर आने पर 'भारती भण्डार' प्रयाग द्वारा इसका छापना तय हुआ तो दूसरी बार प्रस्तावना लिखी। उस वक्त यह कल्पना भी न थी कि १३ बरस और इस ग्रंथ को बन्द रहना पड़ेगा! उस बरस प्रकाशक कागज़ का जुगाड़ न कर सके—उन दिनों कागज़ की किल्लत थी—और तब के टले काम को आठ बरस बाद फिर हाथ लग पाया। १९४१ से लिखे पड़े व्याख्यान यों मार्च १९५४ में छपे!

तेरह बरस पुरानी कृति छपने लगी तो उसे अद्यानुरूप करने की आवश्यकता हुई। मुझे यह उचित लगा कि १९४१ के व्याख्यान ज्यों

के त्यों छाप दिये जायँ और नया ज्ञान और विचार नव-परिशिष्टों के रूप में दिया जाय। सो वैसा ही किया गया। पहले व्याख्यान में कहीं कहीं एकाध शब्द केवल इसलिए बढ़ाया-घटाया कि पाठक-पाठिकाओं को अब इसे पढ़ते हुए कोई वाक्य खले नहीं, जैसे पृ० ११ पं० ८ में 'करता है' को 'करता रहा है' बना दिया। अन्तिम व्याख्यान में उतना बदलना भी अच्छा नहीं लगा, इसलिए जहाँ आवश्यक हुआ लिखने का काल कोष्ठों में याद करा दिया, जैसे पृ० १६४ पं० १० में 'अभी' के आगे '[१६४१]'। बस।

मार्च १६५४ से ही मैंने नव-परिशिष्ट लिखना भी शुरू किया। उस वर्ष अक्तूबर तक पहले पाँच नव-परिशिष्ट छप चुके थे। छठे नव-परिशिष्ट—गोरखाली इतिहास—पर पहुँच कर मुझे रुकना पड़ा; उसके लिए अधिक वक्त देने की आवश्यकता दिखाई दी। फिर मार्च १६५५ से मुझे "पुरखों का चरित" और "भारतीय कृषि का क ख" लिखने में लगना पड़ा। उनसे छुट्टी पाते ही नवम्बर १६५५ से फिर गोरखाली इतिहास को हाथ में लिया और फरवरी-मार्च १६५६ में उसका वह अंश (१७४२–१८१६ ई०) छप गया जो अब इस ग्रंथ के अन्तर्गत है। अप्रैल १६५६ से मुझे 'इतिहास-प्रवेश' के पाँचवें संस्करण पर लगना पड़ा। उस और अन्य कार्यों में समूचा सन् १६५७ भी निकल गया और यह ग्रंथ बाकी नव-परिशिष्टों को पूर्त्ति की प्रतीक्षा में पृ० ५२४ तक छपा प्रेस में पड़ा रहा।

१६५८ की गर्मियों में मैं फिर गोरखाली इतिहास में हाथ लगा सका और तब उसका १८१६–१८४० वाला अंश लिख डाला। मुझे अढ़ाई तीन महीने का वक्त और मिलता तो गोरखाली इतिहास पूरा हो गया होता, पर अगस्त १६५८ से पंजाब की भाषा-उलझन सुलझाने के काम में जुटना पड़ा। वह घर में लगी आग बुझाने जैसा कार्य है जिसके पूरा हुए बिना तसल्ली की साँस लेना नहीं मिल सकता। इस दशा में गोरखाली इतिहास के बाकी अंश और नव-परिशिष्ट ७ को भी

फिलहाल छोड़ते हुए इस ग्रंथ को पूरा कर निकाल देने का निश्चय किया गया जिसके अनुसार अन्तिम तीन नव-परिशिष्ट मार्च १६५६ में लिखे गये। ऐसा तो मार्च १६५६ में या उसके बाद भी अनेक अवसरों पर किया जा सकता था, पर भाग्य की बात कि हमें पहले यह सूझा ही नहीं। यों अब इस ग्रन्थ का पहला अंश—१६४१ वाला—अठारह बरस, और पिछला अंश पाँच बरस बन्द रहने के बाद रिहाई पा रहा है! १६५० में इस पोथी का विज्ञापन होने के बाद से जो प्रेमी पाठक इसकी राह देखते रहे हैं, उनसे अपनी सूझ की चूक के लिए माफी माँगने के सिवाय क्या करूँ?

दूसरी सफाई देनी है अपने उस वचन के बारे में जो इसकी दूसरी प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से और पहली प्रस्तावना तथा ग्रंथ में अनेक जगह (जैसे पृ० १६, १७७-७८, २१२--१४ पर) संकेत रूप से दिया था। सन् १६४६ में मैंने अपने इस पक्के इरादे की सूचना दी थी कि **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** और **मीमांसा** के शेष भाग दस एक बरसों में पूरे किये जायँगे। मैंने आशा लगाई थी कि इसके लिए मुझे शान्ति से बैठना और अभीष्ट सुविधाएँ मिल जायँगी। तब से अब तक पौने तेरह बरस बीत चुके हैं और इस बीच जो तजरबा हुआ वह अनोखा है। शान्ति से बैठना और कार्य में हाथ बँटाने वाले साथी सहकारी मिलना तो दूर, इस अवधि का अधिकतर अंश मुझे स्वयं आर्थिक बेकारी और जीविका की चिन्ता में बिताना पड़ा है। १६५१ से ५६ तक तो मेरे पास अपने और परिवार के सिर छिपाने के लिए कोई जगह भी नहीं रही; हम लोग अपने किसी सम्बन्धी या मित्र के यहाँ ठीक एक कोठड़ी में जैसे तैसे काटते रहे। हमारे देश में बाजीगरों की खानाबदोश टोलियाँ अपना सब सामान साथ लिये गाँवों और शहरों की सड़कों के किनारे डेरे डाल अपने धन्धे किया करती हैं। उक्त छह बरसों में मैंने भी अपना सब साहित्यिक धन्धा, जिसके अन्तर्गत यह ग्रन्थ भी है, उसी प्रकार किया है। जून १६५६ में पंजाब

आने के बाद से रहने को छोटा सा ठिकाना तो मिला, पर मेरी पुस्तकें १९५० के अन्त में जैसे गट्ठरों में बाँधी गईं थीं अब तक वैसे ही गट्ठरों में मुझसे साढ़े छह सौ मील दूर पड़ीं हैं; उन्हें खोल कर रखने को अभी तक कोई जगह मैं नहीं पा सका। इन दशाओं में प्रेमी पाठक मुझे अपने वचन से मुक्त मानने की कृपा करें। मेरे जो ग्रंथ "भारतभूमि और उसके निवासी" और "भारतीय इतिहास की रूपरेखा—प्राचीन काल" आज से २८ और २६ बरस पहले प्रकाशित हुए थे और लगभग १८ और १२ बरसों से अप्राप्य हैं, उनके अप्राप्य बने रहने का कारण भी यही है—ऐसी दशाओं में उन्हें अद्यानुरूप नहीं किया जा सकता, और वैसा किये विना छापना मुझे मंज़ूर नहीं।

मेरी कृति प्रायः तीन दशाब्दियों से देश के सामने है। इस "मीमांसा" के रूप में वह फिर सामने आ रही है। अंग्रेज़ों की गुलामी के ज़माने में इसका जो मूल्य आँका जाता था उससे हमें कोई शिकायत नहीं थी। पर स्वतन्त्र भारत में इसका जो मूल्य अब तक लगा है वह एक नया तजरबा है। उससे स्वयं हमारे "स्वराज्य" का मूल्य भी आँका जायगा।

अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक हमारे देश ने उन्नति की एक पाँच-बरसी ब्योंत पार की। अब हम दूसरी वैसी ब्योंत में से गुज़र रहे और तीसरी के नक्शे बना रहे हैं। इन ब्योंतों में शिक्षा-फैलाव की बड़ी बड़ी बातें रहने के बावजूद अपने इतिहास के मौलिक अध्ययन का कहीं नाम नहीं आया और न अपनी भाषाओं में मौलिक वाङ्मय के विकास की कोई कल्पना है! इतिहास-शिक्षा को सुधारने की जो माँग हमारे राष्ट्रीय संघर्ष में आरम्भ से रही उसे भी भुला दिया गया है। इस दशा में मेरे जैसे जिन व्यक्तियों ने राष्ट्र की इन्हीं माँगों की पूर्त्ति को अपने जीवन का ध्येय बनाये रक्खा हो, उनके लिए इन ब्योंतों में बेकारी के सिवाय क्या हो सकता था?

सन् १९५४ से हमारी लोकसभा ने समाजवाद को देश का आदर्श

नियत किया है। पर हमारा समाजवाद भी अनूठा है; उसमें विदेशी पूँजी और विदेशी विज्ञों का बोलबाला है। अपने देश की प्रतिभा भी काम में लाई जा सकती है यह अभी तक हमारे राष्ट्र के समाजवादी केवटों के ध्यान में नहीं आया। मैंने १९५० में ही लिखा था—"हमारे देश में ऊँची प्रतिभा आज धक्के खाती फिरती है। एक विदेशी भाषा में सोचने की चेष्टा करने से अधिकतर लोग कुछ भी स्पष्ट सोच नहीं सकते, वे वास्तविक प्रतिभा और ढोंग में विवेक नहीं कर पाते।"[1] पौने चार साल बाद देश के दो महान् वैज्ञानिकों ने भी यही देखा। २९-१२-१९५३ को कलकत्ते में डा० मेघनाद साहा ने कहा—"भारत सरकार ... सात साल में ... अपने देश के वैज्ञानिकों और शिल्पियों में से अधिकांश का उपयोग नहीं कर पाई। ... यह जिच्च टूटनी चाहिए, जनता की भीतरी शक्ति को संघटित करने के मार्ग निकलने चाहिएँ।" उससे अगले दिन अहमदाबाद में डा० चन्द्रशेखर वेंकट रामन ने कहा—"हमें अंग्रेजी शासन से विरासत में पाये अपने आत्म-लघुता भाव से छुटकारा पाना होगा। हमारी दृष्टि में मन्त्री तो भारतीय होने चाहिएँ, परन्तु सब प्रकार की समस्याओं पर हम विदेशी विज्ञों का मार्गदर्शन माँगते हैं बजाय अपनी भीतरी शक्ति का विकास करने के। ... बड़ी इमारतें खड़ी करना, महँगी यन्त्र-सामग्री और उसे लगाने को महँगे विज्ञ और फिर उनकी गलतियाँ सुधारने को नये महँगे विज्ञ बाहर से मँगाना, यह ... न होना चाहिए।"[2] हम ऐसे भारतीय वैज्ञानिकों को जानते हैं जो अकेले अकेले पिछली दशाब्दी में देश को करोड़ करोड़ रुपये की अतिरिक्त उपज करके दे सकते थे, पर जो बेकार

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५०)—दि पालियोबौटनिस्ट (पुराण-वनस्पति-शास्त्री), जि० १ (१९५२)—बीरबल साहनी स्मारक ग्रन्थ, पृ० ४९९।

२. प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया के समाचार, इतिहास-प्रवेश ५वें संस्करण १९५७ (भारतीय इतिहास का उन्मीलन) पृ० ९४१ पर उद्धृत।

बैठे रहे या गलत स्थानों पर नियुक्त रहे। ऐसा भी हुआ कि ऐसे भारतीय विज्ञ से अमरीकी "विज्ञ" ने योजना तैयार करवा के हमारी सरकार को दे दी, जिसपर सरकार ने अपने को निहाल माना, पर वह अपने देश के वैज्ञानिक को देख न सकी!

जब ऐसी दशा है तब हमारी सरकार यह कैसे देख पाती कि भारत की देसी भाषाओं में भी बालशास्त्री जांभेकर के काल (१८३५ ई०) से आधुनिक विज्ञानों की मौलिक कृतियाँ पैदा होने लगी थीं और कि तब से राष्ट्रसेवकों की एक परम्परा सब तरह की कठिनाइयों के बीच भी उस कार्य को करती चली आ रही है? हिन्दी में वैज्ञानिक वाङ्मय की रचना का एकमात्र रास्ता उसे यह दिखाई दिया कि अंग्रेज़ी परिभाषाओं के अनुवाद कर पहले उनके कोश बनाये जायँ, फिर उन कोशों के सहारे अंग्रेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद कराये जायँ। जिनके "समाजवाद" की बुनियाद ही विदेशी सहायता पर हो, जो अपने राष्ट्र में अपनी महत्त्वाकांक्षा और मजदूरों की मांसपेशियों की शक्ति के सिवाय और किसी शक्ति को देख ही न पाते हों, उन्हें भारत की भाषाओं के विकास का और कोई रास्ता कैसे दिखाई दे?

पर हमारे राष्ट्र की आँखें सदा मुँदी नहीं रह सकतीं। वे खुलेंगी ही। और हमारा अपने राष्ट्र के इतिहास को सुलझा कर जनता की अपनी भाषा में पेश करने का उद्देश्य यही रहा है कि उसकी आँखें खुलें। वह उद्देश्य पूरा होगा तो मेरा श्रम सफल होगा और मुझे किन कठिनाइयों में से लाँघना और क्या कष्ट झेलना पड़ा इसका कोई दुःख मन में न रहेगा। भारत के इतिहास की यह मीमांसा अनेक बाधाओं को लाँघ कर अन्त को दुनिया के सामने आ रही है। आज की दशाओं में चाहे भारत के थोड़े ही लोग इसका मूल्य आँक पायँ, मुझे विश्वास है कि आने वाली पीढ़ियाँ आँकेंगी और विदेशों के वे स्पष्टदर्शी विद्वान् आँकेंगे जो भारतीय इतिहास और मानव इतिहास में अपनी सच्ची रुचि के कारण विदेशी भाषाओं की

आड़ के पार देखने के भी उपाय कर लेते हैं।

मैं अपने १९४५ वाले संकल्पों को अब भले ही पूरा न कर पाऊँ, पर उन जैसे कुछ संकल्प अब भी मन में हैं। एक यह कि अपने आरम्भ किये इतिहास-कार्य को जारी रखने के उपाय कर जाऊँ। दूसरा यह कि देश की जिन दशाओं के कारण हमें अपने ध्येय की ओर बढ़ते पग पग पर ऐसा संघर्ष करना पड़ा, उनकी ऐतिहासिक छानबीन पेश कर जाऊँ। मैं प्रेमी पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि इन संकल्पों की पूर्त्ति के लिए अन्तिम दम तक हाथ-पैर मारता रहूँगा।

कठिनाई और खानाबदोशी के बीच इस ग्रन्थ के नव-परिशिष्टों को तैयार करते हुए जिन सज्जनों से सहायता मिली उनके उपकारों का उल्लेख कर दूँ।

इसमें जो नये नक्शे पहली बार दिये जा रहे हैं उन्हें मेरे साथ बैठ कर खींचते हुए श्री कु० ग० सुब्रह्मण्य ऐयर और सौ० सुशीला ऐयर ने जिस स्नेह का परिचय दिया उसकी याद से भी मन प्रसन्न होता है। नेपाली इतिहास लिखते हुए आचार्य सिल्व्याँ लेवी के ग्रन्थ 'ल नेपाल' को किनारे छोड़ मैं नहीं जा सकता था। पर मेरा फ्रांसीसी भाषा का ज्ञान नाम मात्र का है। अपनी उस कमी को मैंने अपने मित्र, भारत सरकार के विधि मन्त्रालय के विशिष्ट अधिकारी, श्री बालकृष्ण के फ्रांसीसी के ज्ञान से पूरा किया। १९५४ की शरद् की रातों में उनके घर जा कर उनकी सहायता से उस ग्रन्थ के अंशों को पढ़ने की स्मृति भी कैसी अच्छी लगती है!

मित्रवर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी से परामर्श और पुस्तकों की सहायता पहले की तरह इस अवधि में भी मिलती रही। नव-परिशिष्टों के लिए विशेष कार्य मैंने दिल्ली में केन्द्रीय पुरातत्त्व ग्रन्थागार में किया। वहाँ के योग्य ग्रन्थपाल श्री लव गोविन्द परब, योग्य उप-ग्रंथपाल श्री आनन्द श्रीधर धवले और कर्मचारी श्री भागवत साह्नी मेरे कार्य की प्रगति में जैसी रुचि दिखाते रहे उससे वहाँ किया हुआ श्रम बड़ा

सरस लगता रहा। गोरखाली इतिहास के कुछ ग्रन्थ जो मुझे केंद्रीय पुरातत्त्व पुस्तकालय में भी न मिले, वे प्रयाग की पब्लिक लाइ-ब्रेरी में मिले। उस लाइब्रेरी के संचालक बहुत दिन तक मेजर वामनदास वसु थे और वैसे दुर्लभ ग्रन्थ वहाँ उनके ज्ञानपूर्वक किये हुए संकलन की बदौलत हैं। काश उत्तर प्रदेश की सरकार और इलाहाबाद के वे बड़े लोग जो आज उस ग्रंथागार को चला रहे हैं अपनी उस निधि का मूल्य पहचान पायँ और उसकी ग्रन्थसूचियों आदि को ठीक रख सकें।

अन्त में इस आशा के साथ इस कहानी को समाप्त करता हूँ कि भारतीय इतिहास की मेरी की हुई यह मीमांसा पाठकों में भी अपने इतिहास के मनन और मीमांसा की प्रवृत्ति जगाएगी।

हुशयारपुर, ११ मार्च १९५९। जं० च०

———

विषय-तालिका

भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान

भूमिका और पहला खंड

(१) रामदीन व्याख्यान (१९४१)

भूमिका

पहला खण्ड

राजनीतिक इतिहास में चढ़ाव-उतार

(२) नव-परिशिष्ट (१९५४—५९)

नक्शा सूची

भूल-चूक

पृष्ठ	पंक्ति	छपा है	चाहिए
१२	३	त्तदानां	त्तदानीं
६७	१७	२२६	२२४
८९	१४	§ ६	§ १०
९०	३	§ १०	§ ११
९३	१३–१४	वूल्सी	वूलसली
९४	३,१४,२०,२२	,,	,,
९५	७, १७	,,	,,
९६	१, १५	,,	,,
११६	१६	शतद्रूभिरभि	शतद्रूभिराभि
१४९	२१	ने	के
२१०	६	लगागार	लगातार
२९४	१०	ह्यआन	ह्यओन
३२५	१४	हो।	हो जाना
३२६	१४	कैरलक	कौराळक
३३०	१	केरल	कुराळ
३५०	२२	१२२६	१६२६
३५०	२३	१८५७	१८७५
३५४	२१	को यही बताया	से यही पूछा
३५४	२२	भीष्म	पुलस्त्य
३५४	२६	१६, १७	८६, ८७
३६५	२२	य्यान च्याङ	व्यान च्वाङ
३७६	२१	दूसरी राजतरंगिणी	राजतरंगिणी
३७८	७	शुल्क	शुक्ल
३८३	६	५५	८५
३८६	६	चाहिए।	चाहिए।—

पृष्ठ	पंक्ति	छपा है	चाहिए
३६५	६	का १४२	का । १४२
४३४	२४	संकटात्कम्पनेशस्तं	संकटात्कम्पनेशस्तां
४६२	१५	१८१६	१८११
४७६	२०	१७५०	१८५०
४६६	६	थी	की
४६६	६	के	में
५०४	६	नातरजबा	नातजरबा

साधारण संक्षेप

अ० = अध्याय
इ० = इत्यादि
ई० = ईसवी
ई० पू० = (वर्ष) ईसवी-पूर्व
उ० = उत्तर, उत्तरी
जि० = जिल्द
द० = दक्खिन, दक्खिनी
दे० = देखिए
प० = पच्छिम, पच्छिमी
पू० = पूरब, पूरबी
पृ० = पृष्ठ
प्र० = प्रभृति, तथा आगे वाले
वि० = विक्रमी
सं० = संख्या
संस्क० = संस्करण

भारतीय इतिहास की मीमांसा

[भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान]

भूमिका और पहला खण्ड

पटना युनिवर्सिटी के रामदीन व्याख्यान, १९४१



भारतीय राष्ट्र का
विकास ह्रास और पुनरुत्थान

भूमिका

पहला व्याख्यान*

क्या भारतीय जाति की आधुनिक अवस्था सनातन है ?

§१. हमारा अपनी संस्थाओं को सनातन मानना

पुराने ख्याल के हमारे देशवासी, विशेष कर हिन्दू, अपनी प्रथाओं और संस्थाओं अपने सामाजिक सम्बन्धों और अपने पूजा-पाठ आचार-व्यवहार और रहन-सहन की प्रायः सभी बातों को नित्य सनातन और अनादि काल से चला आता मानते हैं। अपने कुछ पुरखों की याद उन्हें बनी है, और उन पुरखों द्वारा कई बातों के पहले-पहल किये जाने या चलाये जाने की बात भी वे परम्परा से सुनते आते हैं। उदाहरण के लिए कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने वेद की संहिता बनाई थी, वाल्मीकि आदि कवि और कपिल आदि विद्वान् अर्थात् पहले दार्शनिक थे, दीर्घतमा ने विवाह की मर्यादा स्थापित की थी। इसका यह अर्थ है कि व्यास से पहले वेद की संहिताएँ न थीं, वाल्मीकि से पहले श्लोक न थे, कपिल से पहले दर्शनशास्त्र न थे, और दीर्घतमा से पहले विवाह की संस्था न थी। इन परिणामों से आगे बढ़ा जा सकता है। यदि दीर्घतमा वाली बात ठीक हो, और इक्ष्वाकु, ययाति, मान्धाता और हरिश्चन्द्र का समय दीर्घतमा से पहले

---

* ३१ मार्च १९४१ को दिया गया।

हो—जैसा कि हमारे पुराणों से प्रतीत होता है—तो यह कहना होगा कि उन राजाओं के समय में स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध वैसे न थे जैसे आजकल हैं या नैष्ठिक हिन्दुओं की दृष्टि में होने चाहिएँ। किन्तु इस प्रकार के तर्क और विचार करने की आदत हमारी साधारण जनता को नहीं रही है। वह अपने इतिहास को और घटनाओं के पौर्वापर्य को बहुत कुछ भूल चुकी है।

और, विदेशियों ने आ कर जब हमसे हमारी किसी संस्था के विषय में पूछा कि वह कब कैसे शुरू हुई तो हमने यही कहा कि वह तो सदा से है। हमारी जातपाँत? वह तो सनातन काल से चली आई है! हमारे कानून-कायदे? वे सब तो शास्त्रों में विहित हैं और शास्त्र अनादि हैं। हमारी ग्राम-पंचायतें? उनके उद्भव की बात पूछना तो ऐसा ही है जैसा हिमालय या विन्ध्य के जन्म की बात करना! इस प्रकार के विश्वासों से हम स्वयं तो धोखे में रहते ही रहे, बहुत बार अपने को सयाना समझने वाले विदेशियों को भी हमने चकमा दे दिया। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी ई० में जिस किसी युरोपी ने हमारी ग्राम-पंचायतों के विषय में लिखा, उसने यह मान लिया कि वे उसी रूप में युग-युगान्तर से चली आती थीं। कौर्नवालिस के शासन-काल (१७८६–९३) में बंगाल-बिहार के किसानों को उनके पुराने अधिकारों से वंचित कर ज़मींदारों के हाथ सौंप दिया गया; कैनिंग (१८५६–६२) लौरेंस (१८६४–६९) और रिपन (१८८०–८४) ने उस अन्याय का प्रतिकार करने की कोशिश की; और तब यह कहा गया कि उनके बनवाये कानूनों से किसानों को कोई नये अधिकार नहीं सौंपे गये, प्रत्युत उनके सहस्राब्दियों पुराने परम्परागत अधिकार केवल लौटाये गये। मानो जिन अधिकारों का कौर्नवालिस का कानून हरण कर सकता था, पिछली सहस्राब्दियों में और कोई राजशक्ति उनमें रद्दोबदल नहीं कर सकती थी और वे ठीक उसी रूप में चले आते थे! सच बात यह है कि ज़मीन की मिलकियत की खातिर पिछले इतिहास में बराबर छीनाखसोटी और खून-खराबी होती रही थी और किसानों के अधिकारों का उस बीच कितनी ही बार कितने ही प्रकारों से रूपान्तर हो चुका था। हमारी जातपाँत वेद के

समय से ज्यों की त्यों चली आती कही जाती है, यहाँ तक कि र्हाइज़ डैविड्स जैसे सूक्ष्मदर्शी विद्वान् की कलम से भी बुद्ध युग की कहानी राजपूत दृष्टि से कहने की बात निकल गई थी।[1] पर अब यह प्रकट हो चुका है कि राजपूत जात (caste) की कल्पना सोलहवीं शताब्दी से पहले की नहीं है।[2] इतिहास को जाँचे बिना प्रत्येक उपस्थित वस्तु को सनातन मान लेने की हमारी आदत हो गई है। पर इससे प्रेरित हो कर हम जो कुछ कहते हैं, इतिहास-विज्ञान में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है।

§२. हमारे धर्म-कर्म आचार-व्यवहार में परिवर्तन

पिछले डेढ़ सौ बरस में हमारे इतिहास का एक-एक टुकड़ा कर जो पुनरुद्धार हुआ है, उसके बाद अब हमारे ये दावे स्वीकार नहीं किये जा सकते। और तो और, यह मानना पड़ेगा कि हमारे धार्मिक विश्वासों और पूजा-पाठ के प्रकारों में भी बराबर परिवर्तन होता रहा है।

विनायक या गणेश के नाम से हम अपने सब अनुष्ठानों का आरंभ करते हैं और गणेश को विघ्नहर और मंगल-मूर्ति मानते हैं। परन्तु गृह्य सूत्रों के समय (छठी से दूसरी शताब्दी ई० पू०) विनायक को भूत की तरह माना जाता था। तब एक नहीं चार विनायक थे जो मनुष्य को पकड़ लेते तो वह निकम्मा हो जाता, और जिन्हें उतारने के लिए विशेष पूजाएँ की जाती थीं (मानव गृह्य सूत्र २, १४)। महाभारत शान्तिपर्व (२८४, १३१) और याज्ञवल्क्य स्मृति (१,२७१ प्र) में भी प्रायः वैसी ही बात है। याज्ञवल्क्य स्मृति का समय दूसरी शताब्दी ई० है।[3]

१. र्हाइज़ डैविड्स (१९०३)—बुधिस्ट इंडियाँ (बौद्ध भारत) प्रस्तावना।

२. गौरीशंकर ही० ओझा (१९२५)—राजपूताने का इतिहास जि० १, २य संस्क०, पृ० ४१ प्र, विशेष कर ४१, ४३, ४८, ६४, ६५, ७४, ७६।

३. काशीप्रसाद जायसवाल (१९१७)—मनु ऐंड याज्ञवल्क्य (मनु और याज्ञवल्क्य) पृ० ५८-६१। पाण्डुरंग वामन काणे (१९३०)—हिस्टरी ऑफ़ धर्मशास्त्र (धर्मशास्त्र का इतिहास) जि० १, पृ० १८३-१८५। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ९१३ (जायसवाल के आधार पर)।

भूमरा (नागोद रियासत, बुन्देलखंड) में सब से पुरानी गणेशमूर्ति पाई गई है जो भारशिव-वाकाटक युग अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० की है।[४] इससे प्रकट है कि दूसरी और तीसरी शताब्दी के बीच कभी गणेश मंगल-मूर्ति बने।

दस अवतारों की कल्पना का आज हिन्दुओं के धार्मिक विचार-आचार में विशेष स्थान है। परन्तु अमरकोश के देवकांड में विष्णु के नामों में कृष्णावतार के नाम तो गिनाये गये हैं, रामावतार के नहीं, जिसका यह अर्थ है कि उस कोश के लेखक अमरसिंह के समय तक राम अवतार न माने गये थे। महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय प्रकरण में पहले तो (अ० ३३९, श्लोक ७४–९९) नारायण के छः अवतारों का ही वर्णन किया गया है—वराह, नृसिंह, वामन, राम भार्गव, राम दाशरथि और कंसघातक, पर उपसंहार करते समय (श्लो० १००) इनके आरम्भ में हंस, कूर्म और मत्स्य तथा अन्त में कल्कि जोड़ कर दस संख्या पूरी की गई है। जैसा कि स्व० श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का विचार था,[५] यह उपसंहार-श्लोक पीछे से मिलाया गया जान पड़ता है। हरिवंश पुराण (१,४१,२९ प्र०) में अवतारों की संख्या दस है,[६] पर उनके नाम और क्रम इस प्रकार हैं—पौष्करक (अर्थात् ब्रह्मा के नाभिकमल से उत्पन्न होते हुए विष्णु), वाराह, नारसिंह, वामन, दत्तात्रेय, जामदग्न्य, राम दाशरथि, केशव, वेदव्यास और कल्कि।

---

४. राय कृष्णदास (१९३८)—श्रीगणेश, नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९९५, पृ० १–१३, विशेषतः पृ० ११–१२।

५. रामकृष्ण गो० भंडारकर (१९१३)—वैष्णविज़्म, शैविज़्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (वैष्णव शैव और गौण धार्मिक सम्प्रदाय) पृ० ४१-४२, ४५। मुख्यतः इसी के आधार पर यहाँ यह अवतारों विषयक विवेचना की गई है।

६. श्री रामकृष्ण गो० भंडारकर ने उक्त सन्दर्भ में लिखा है कि हरिवंश में छः ही अवतार हैं, पर उन्होंने प्रतीक नहीं दिया। या तो उनसे चूक हुई है या किसी हस्तलिखित प्रति के आधार पर उन्होंने वैसा लिखा।

वायुपुराण में एक जगह बारह और दूसरी जगह दस अवतार गिनाये गये हैं; पर उनके नाम और क्रम आजकल के दशावतार से भिन्न हैं; और उनमें कुछ शिव के भी हैं। श्रीमद्भागवत में अवतारों की तीन सूचियाँ हैं, दो जगह बाइस-बाइस की, और तीसरी जगह सोलह की (दे० परिशिष्ट १ अ)। वराह पुराण और अग्नि पुराण में अवतारों की संख्या और क्रम हमारे आधुनिक विश्वास के अनुसार हैं। वही क्रम सीरपुर (जि० रायपुर) के लक्ष्मण मन्दिर की मूर्तियों में, जो अन्दाज़न सातवीं-आठवीं शताब्दी की हैं, पाया गया है। इस सब से प्रकट है कि अवतारों की कल्पना प्रायः दूसरी शताब्दी ई० पू० से सातवीं शताब्दी ई० तक धीरे-धीरे बनती-बदलती रही है।

वासुदेव कृष्ण को आज हम नारायण या विष्णु का अवतार मानते हैं। उनकी गोप-लीलाओं की याद भक्तों के हृदयों को आह्लादित करती है। उनकी राधा का नाम तो उनके नाम से भी पहले लिया जाता है। परन्तु अपने सब से "पुरातन इतिहास" के सन्दर्भों में हम उन्हें एक महापुरुष और संघमुख्य (प्रजातंत्र के मुखिया) के रूप में देखते हैं[७], देव रूप में नहीं। उनके नारायण का अवतार होने की बात पीछे चली तथा नारायण और विष्णु की अनन्यता की कल्पना और भी पीछे। स्वर्गीय श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का विचार था कि कृष्ण मूलतः उनका गोत्र-नाम था, और उस गोत्र के प्रवर्त्तक वैदिक ऋषि कृष्ण के देवकीपुत्र होने से उन्हें भी देवकीपुत्र बना दिया गया। श्री रामकृष्ण के विचार में उनकी गोपलीला की कहानियाँ आभीर लोगों ने आरम्भ कीं और पहली से तीसरी शताब्दी ई० के बीच कभी वे साधारण हिन्दू धर्म में सम्मिलित हुईं। इस विचार को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता (दे० परिशिष्ट १ इ), तो भी इसमें सन्देह नहीं कि

---

७. वह "पुरातन इतिहास" महाभारत शान्तिपर्व के राजधर्म प्रकरण में है, जिसकी ओर जायसवाल जी ने पहलेपहल ध्यान दिलाया था। विवेचना के लिए दे० भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ९८७-९८९।

महाभारत के उत्तरी संस्करणों में वासुदेव की गोपलीलाओं का कहीं उल्लेख नहीं है। वह उल्लेख स्पष्ट रूप से पहलेपहल हरिवंश, वायु-पुराण और श्रीमद्भागवत में ही मिलता है। हरिवंश में रोमी सिक्के दीनार का उल्लेख मिलता है, जिससे उसका समय तीसरी शताब्दी या उसके बाद निश्चित होता है। राधा का तो उन पुराणों में भी कहीं पता नहीं है (दे० परिशिष्ट १ इ)।

लिङ्ग-पूजा तथा शक्ति के अनेक रूपों की पूजा भी आज हिन्दू धर्म में साधारणतया प्रचलित है। मुअनजो दड़ो के अवशेषों से भी उसके चिह्न मिले हैं, पर आर्यों के वैदिक साहित्य में उसका कहीं पता नहीं मिलता। पतंजलि (दूसरी शताब्दी ई० पू०) के महाभाष्य में (५, ३, ६६) शिव स्कन्द और विशाख की प्रतिमाओं का उल्लेख है, पर लिंग या देवी की प्रतिमाओं का नहीं। आर्यों में लिंगपूजा की बात पहलेपहल अनुशासन पर्व के उपमन्यु-संवाद (अ० १४, श्लो० २२२–२३१) में मिलती है जो पिछले सातवाहन युग (दूसरी शताब्दी ई०) या उसके बाद का होना चाहिए।

धार्मिक विश्वास और पूजा-पाठ की बातों को छोड़ अब सामाजिक आचार-व्यवहार पर ध्यान दें तो वहाँ भी वही बात दिखाई देती है। आज हिन्दू समाज में स्त्री का पुनर्विवाह अचिन्तनीय सा प्रतीत होता है, पर मौर्य युग तक स्त्री बहुत छोटे-छोटे कारणों से ही पति से मोक्ष (तलाक) पा सकती और नया विवाह कर सकती थी (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६४६–६५२) और सातवाहन और गुप्त युगों में भी पुनर्विवाह जारी था (वहीं पृ० १०२७ प्र)। आज निरामिष भोजन हिन्दू समाज के अनेक अंशों में प्रशस्त माना जाता है और गोहत्या तो महापाप है। पर उस महापातक का विचार तीसरी शताब्दी ईसवी से पहले नहीं मिलता, और पहले के युगों में तो बिलकुल उलटी बात है।

यदि धार्मिक और सामाजिक आचार-व्यवहार में इतना आमूल परिवर्तन हो सकता है तो क्या हमारे कानून-कायदे हमारी राज्यसंस्था

हमारे शिल्प-संघटन हमारे साहित्य और कला हमारे ज्ञान-विज्ञान और तत्त्वचिन्तन तथा हमारे समूचे राष्ट्रीय जीवन में उसी प्रकार के परिवर्तन नहीं होते रहे ? और क्या ये परिवर्तन सर्वथा आकस्मिक शृंखला-रहित बेतरतीब और बिना सुर-ताल के हैं या इनमें कोई नियम कोई पद्धति कोई क्रमिक उतार-चढ़ाव भी खोजा जा सकता है ?

§ ३. भारतीय और युरोपीय कृष्टि[८] में त्रैकालिक अन्तर की कल्पना

इस प्रश्न के उपस्थित होने पर हमें एक नये सनातनवाद से वास्ता पड़ता है जिसे आज कल के कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने चलाया है और जिसने गत एक शताब्दी से पश्चिम के अनेक विद्वानों को मानो पकड़ रक्खा है। इसके अनुसार भारतीय जाति का विचार-आचार सदा से वैराग्यप्रधान परलोकचिन्तामय और धर्मोपधाग्रस्त[९] रहा है, ऐहलौकिक इन्द्रियगोचर वास्तविकताओं को वह कभी ठीक से देख नहीं पाई और इन्द्रियातीत कल्पनामय सत्ताओं के ही सपने लेती रही है; सामूहिक जीवन की क्षमता उसने कभी नहीं दिखलाई और सजीव राजनीतिक संस्थाओं का कभी विकास नहीं किया। एक शब्द में, भारतीय जाति की आज जैसी अवस्था है वैसी ही सदा से रही है, उसकी मनोवृत्ति और दृष्टि युरोपीय जातियों की मनोवृत्ति और दृष्टि से मूलतः भिन्न रही है, और वह भेद स्थायी सनातन और त्रैकालिक है।

---

८. युरोपी भाषाओं का शब्द कुल्तूर (कल्चर) वैदिक शब्द कृष्टि का ही रूपान्तर है। उस अर्थ में हिन्दी में संस्कृति शब्द बर्त्ता जाने लगा है, पर कृष्टि में संस्कृति और विकृति दोनों सम्मिलित हैं। आवश्यक नहीं कि मनुष्यों की कृष्टि सदा अच्छी ही हो। ऐतिहासिक विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे ने शास्त्रीय (वैज्ञानिक) संस्कृति के मुकाबले में भारत के धार्मिक विचार-आचार के परिपाक का हिन्दू विकृति बौद्ध विकृति और इस्लामी विकृति कह कर उल्लेख किया है।

९. धर्म भी उपधा या फिसलाने वाली वस्तु बन सकती है, यह विचार और धर्मोपधा शब्द भी आचार्य कौटल्य का है (अर्थशास्त्र १,१०)।

§४. क्या भारतीय कृष्टि मूलतः आध्यात्मिक और युरोपी आधिभौतिक है ?

हमारे कुछ देशवासी भी इस नये सनातनवाद को खुशी-खुशी अपना लेते हैं। वे कहने लगते हैं, भारतीय कृष्टि मूलतः आध्यात्मिक और युरोपी आधिभौतिक है। यह कहते हुए वे अपने शब्दों के अर्थों पर तनिक भी विचार नहीं करते। आध्यात्मिक दृष्टि का अर्थ क्या है? यही न कि शारीरिक और भौतिक सुखों को नश्वर मान कर आत्मा को ही परम सत्य मानना? तब आजकल के भारतीयों और युरोपियों में से कौन अधिक भौतिक सुखों को नश्वर मानते हैं? कौन शरीर का मोह कम करते हैं? वे जो सब तरह से अपमानित और पददलित होते हुए भी अपने देह पर चोट आने के डर से और और झुकने को तैयार होते रहे हैं, या वे जो कर्तव्य की पुकार आने पर सब सुखों को लात मार जान देने को उछल पड़ते हैं? वे जो जहाज डूबने की नौबत आने पर बेबस की तरह चीखने लगते हैं, या वे जो उस दशा में साथियों के साथ हँसते-गाते समुद्र में कूद पड़ते हैं? आज के वे पच्छिमी वैज्ञानिक जो अपने व्यक्तिगत सुख की तनिक भी चिन्ता न कर के केवल सचाई की खोज के लिए अपनी जान हथेली पर लिये घने जंगलों में भटकते, बीहड़ मरुभूमियों को लाँघते, समुद्र की पेंदी में पैठते या वायुमण्डल में ऊपर उड़ने की कोशिश करते रहे हैं, क्या किसी से कम आध्यात्मिक आदर्शों से अनुप्राणित हैं? उनकी खोज के परिणामों से मनुष्यों को सुख मिले या दुःख मिले, पर वे जो अपने लिए किसी भी सुख की आशा किये बिना ज्ञान के पीछे पागल हुए रहे, उन्हें प्रेरित करने वाली शक्ति सत्य की आतुर जिज्ञासा के सिवाय और कौन सी थी? और उन्हीं की तरह वे पच्छिमी क्रान्तिकारी जिन्होंने केवल मनुष्यों के कल्याण के लिए अपने समूचे जीवन कष्टों के काँटों पर चलते हुए बिता दिये, क्या आध्यात्मिक आदर्शों से उज्जीवित नहीं रहे? आधिभौतिक उन्नति

इन आध्यात्मिक चेष्टाओं का फल मात्र है। कोई भी आधिभौतिक सभ्यता जिसकी जड़ में आध्यात्मिक संस्कृति के ये तत्त्व नहीं हैं, खड़ी नहीं रह सकती। जहाँ सभ्यता का वैभव अपने मूल-भूत संस्कृति के इन तत्त्वों को दबाने लगता है, वहाँ वह अपने पतन और नाश की तैयारी करता है। केवल उसी दशा में आधिभौतिक सभ्यता आध्यात्मिक संस्कृति की विरोधिनी होती है, अन्यथा वह उसी का प्रसाद है। हमारे प्राचीन शास्त्रों की भाषा में आध्यात्मिक और आधिभौतिक का जो अर्थ है, उसके अनुसार यह विवेचना है। यदि जिम्मेदारियों से डर कर भागने को और पीपल की ठंडी छाँह में निकम्मे बैठ कर या गाँजे का दम लगाते हुए लोक-परलोक की कल्पना करने को आध्यात्मिक साधना कहते हों तो दूसरी बात है।

§५. आधुनिक भारतीयों की असाधारण मनोवृत्ति

आज की भारतीय और युरोपीय मनोवृत्ति में अन्तर है, महान अन्तर है, इससे हम इनकार नहीं करते। सच बात तो यह है कि भारत की आधुनिक अस्वाभाविक अवस्था पर पाश्चात्य विद्वान् जब विचार करते और उसकी कोई व्याख्या उन्हें सूझ न पाती, तभी वे भारतीय चरित्र की उस सनातन दुर्बलता की कल्पना कर डालते रहे। भारत की आज तक की अवस्था कितनी असाधारण कितनी अस्वाभाविक और कितनी अद्भुत रही है, यह हम भारतीय स्वयं देख नहीं पाते रहे, पर विदेशियों को अपनी अवस्था के मुकाबले में स्पष्ट दिखाई दे जाता रहा। एक मुट्ठी भर विदेशियों का इतने बड़े देश को जीत लेना ही एक अनहोनी घटना थी। एक बार जीतने के बाद उनका इतने लम्बे अरसे तक उसे काबू किये रखना और भी अद्भुत था। और इस अरसे में इस देश के लोगों का हर पहलू में उन विदेशियों के सामने पराभूत होते जाना तथा गहरी से गहरी चोट खाने पर भी जीवन के कोई लक्षण प्रकट न करना, प्रत्युत उस हालत में भी आबादी में बढ़ते जाना और उन विदेशियों के हथियार

बनने को सदा प्रस्तुत रहना, अत्यन्त अमानवी बातें थीं। सन् १८७६-७७ के दुर्भिक्षों के बाद वाइसराय लिटन ने कहा था—"भारतीय रैयत का चुपचाप सब कुछ सहते जाने वाला सन्तोषी स्वभाव हमारे गहरे करुण भाव को जगा देता और हमारी दयामयी प्रशंसा का पात्र है। ऐसी कड़ी और लम्बी राष्ट्रीय आपत्ति जैसी पिछले चौबीस महीनों से अधिक से इस साम्राज्य के आधे से अधिक हिस्से पर पड़ी है, पच्छिमी जगत् के किसी भी देश में इतने अरसे तक भूखी और नासमझ जनता के कष्टों से अत्यन्त भयंकर सामाजिक और खेत-सम्बन्धी उपद्रव भड़काये बिना न रहती।"[१०]

दूसरी जातियाँ अपने से प्रबल शत्रु से पराभूत होने पर ऐसी विपत्तियाँ न सह कर नष्ट हो जाती हैं। अमरीका के लाल इंदियों का वंश लुप्त होने की राह पर है; न्यूज़ीलैंड के पुराने मावरियों की जनसंख्या अंग्रेजों के पदार्पण के बाद चौथाई शतक में आधी से कम रह गई; फिजी में ३७ बरस में वह आधी हो गई और ताहीती में एक शताब्दी में दसवाँ हिस्सा बची; किन्तु हम भारतवासी दुर्भिक्षों के बीच भी बढ़ते गये और दूसरों का साधन बन कर फूलते-फलते रहे! लार्ड कर्ज़न ने कहा था—"It is with Indian coolie labour that you exploit the plantations equally of Damerara and Natal; with Indian trained officers that you irrigate Egypt and dam the Nile; with Indian forest officers that you tap the resources of Central Africa and Siam; with Indian surveyors that you explore all the hidden places of the earth."[११]

"आप दामरारा (बृतानवी गियाना) और नाताल के खेतों और

---

१०. वामनदास बसु (१९३३)—इंडिया अंडर दि ब्रिटिश क्राउन (भारत अंग्रेज़ी राजशासन में) पृ० १८२ पर उद्धृत।

११. वहीं पृ० ४०८-०९।

बगीचों से फायदा उठाते हैं तो हिन्दुस्तानी कुली-मजदूरों की मेहनत की बदौलत, मिस्र को सींचते हैं और नील नदी को बाँधते हैं तो सधे हुए हिन्दुस्तानी अफसरों की बदौलत, मध्य अफरीका और स्याम की साधन-सामग्री का उपयोग कर पाते हैं तो हिन्दुस्तानी जंगल-अफसरों की बदौलत और दुनिया के सब गुप्त स्थानों की खोज करते हैं तो हिन्दुस्तानी पैमाइश-कारों की बदौलत।"

हमारा यह अद्भुत बर्त्ताव संसार के विचारशील लोगों को गहरा सोचने को बाधित करता रहा है। यह तो उन्हें स्पष्ट दिखाई देता कि हमारी इस बेबसी का कारण हमारी अपनी मनोवृत्ति थी। यहाँ तक हम उनसे सहमत हैं।

§६. वह मनोवृत्ति त्रैकालिक नहीं

पर जब वे यह कहने लगते कि हमारी यह मनोवृत्ति त्रैकालिक और सनातन है तब हम उनसे सहमत नहीं हो सके। पच्छिम के विद्वान् बकल और मैक्समुइलर के समय से यह बात कहते आ रहे हैं।[१२] उनका वह विचार अभी मरा नहीं, जैसा कि रूसी-अमरीकी समाजशास्त्री पितिरिम सोरोकिन के ग्रंथ से प्रकट होता है।[१३] सोरोकिन के अनुसार कृष्टि-मनोवृत्ति के कुल छः रूप हैं, जिनमें से सबसे पहले को आप विरक्त काल्पनिक मनोवृत्ति कहते हैं। ऐसी मनोवृत्ति से प्रभावित मार्गों में सब से पहले नमूने के तौर पर आपने हिन्दू और बौद्ध मार्ग का वर्णन किया है (१,११२ प्र०) क्योंकि "हिन्दू कृष्टि—ब्राह्मण कृष्टि और बौद्ध कृष्टि दोनों—की प्रधान मनोवृत्ति काल्पनिक रही है" (१, २८२)। इसे सिद्ध करने के लिए

---

१२. बकल (१८५७–६१)—हिस्टरी ऑफ़ सिविलिज़ेशन इन इंग्लैंड (इंग्लैंड की सभ्यता का इतिहास। मैक्स मुइलर (१८८३)—इंडिया ह्वाट इट कैन टीच अस (भारत हमें क्या सिखा सकता है)।

१३. सोरोकिन (१९३७)—सोशल ऐंड कल्चरल डिनामिक्स (सामाजिक और कृष्टिविषयक गतिशास्त्र)।

आपने जो उदाहरण दिये हैं, उनमें सबसे पहला ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध सूक्त (१०, १२६) है जिसका पहला मन्त्र है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

"तब असत् नहीं था और सत् भी नहीं था, न चमकने वाला अन्तरिक्ष (रजस्) था, न परे जो व्योम है वह था। क्या ढके हुए था? कहाँ किसके आश्रय में? क्या गहन गम्भीर पानी था?"

इस प्रसंग में वैदिक ऋषियों की कल्पना के विषय में और उसके साथ साथ इस खास सूक्त के विषय में मैंने अनेक बरस पहले जो लिखा था उसकी याद आती है। "वह दृष्टि जो अनावृष्टि में वृत्र का प्रकोप, वर्षा में इन्द्र का प्रसाद और शस्य-समृद्धि में सविता की असीस देखती थी, अन्ध-विश्वास ही से प्रेरित न होती थी; उसमें कवि के स्निग्ध हृदय की झलक और अन्तर्दृष्टि का प्रतिबिम्ब भी था। और आर्यों की उस अन्तर्दृष्टि ने उन्हें तत्त्व-चिन्ता की ओर भी प्रेरित किया था। इसी कारण सब देवताओं में एक-देव-कल्पना (ऋ० १,८६,१०) और सृष्टि विषयक चिन्ता (ऋ० १०, १२६) भी वेद में थोड़ी बहुत पायी जाती है।"[१४]

परन्तु इस थोड़े बहुत चिन्तन को सोरोकिन ने वेद का एकमात्र चिन्तन मान लिया! ऋग्वेद के हज़ार सूक्तों में से यह सूक्त करीब करीब अकेला ही है जिसमें सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ इस सम्बन्ध में कुछ कल्पना की गई है। बाकी तो जहाँ देखिए, प्रजा पशु अन्न ब्रह्मवर्चस् की माँग है, या माँग है शत्रुओं पर विजय पाने की दीर्घ आयु की बल की तेज की। और इस सूक्त में भी विरक्ति की गन्ध कहाँ है? वेद का ईमानदारी से पाठ करने वाला हरगिज़ नहीं कहेगा कि वेद में कहीं भी विरक्ति का भाव है। "वैदिक देवताओं का मुख्य लक्षण बल सामर्थ्य और शक्ति है। पुण्यात्मता और भलाई का विचार एक वरुण के सिवाय

१४. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० १९७।

किसी देवता में नहीं है। वे मुख्यतः शक्ति और मजबूती देने वाली मूर्तियाँ हैं, धर्मभीरुता और भक्ति की प्रेरणा करने वाली बहुत कम। परलोक-चिंता हम वैदिक धर्म में विशेष नहीं पाते, और निराशतावाद की तो उसमें गन्ध भी नहीं है। आर्य उपासक अपने देवताओं से प्रजा पशु अन्न तेज और ब्रह्मवर्चस्—सभी इस लोक की वस्तुएँ—माँगता। उसकी सबसे अधिक प्रार्थना यही होती कि मुझे अपने शत्रुओं पर विजय कराओ, मेरे शत्रुओं का दलन करो। संयम और ब्रह्मचर्य की ज़रूरत भी उसे शक्त और बलिष्ठ बनने के लिए ही होती। जैसा लहू और लोहे का खोज और विचार का विजय और स्वतन्त्रता का कविता और कल्पना का मौज और मस्ती का उसका जीवन था, उसका धर्म भी उस जीवन के ठीक अनुकूल ही था।"[१५]

ऋग्वेद को यों वैराग्योपदेशक ग्रंथ मान कर सोरोकिन उपनिषदों के विषय में मैकडौनल के शब्द उद्धृत करते हुए कहते हैं—उनका सार है कि यह संसार माया है और इसका कारण अविद्या है; वेदान्ती के लिए यह विश्व मृग-मरीचिका है! पिछले वेदान्त के विचारों को इस प्रकार उपनिषदों में देखना ऐतिहासिक दृष्टि के नितान्त अभाव को प्रकट करना है। जैसा कि श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ के आरम्भ में ही लिखा है—"उपनिषदें अद्वैतवाद की शिक्षक मानी जाती हैं; पर ध्यान से देखने पर प्रकट होगा कि वे परमात्मा पुरुष सृष्टि और उनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में एक नहीं प्रत्युत अनेक सरणियों के विचारों का प्रतिपादन करती हैं।...उपनिषत्-कालीन विचार बहुत स्वतन्त्र थे, आत्मा का करीब-करीब निषेध करने वाले मत भी उनमें हैं।...... संसार को माया और एकमात्र आत्मा की सत्ता मानना उपनिषदों का सार है यह मत स्पष्टतः गलत और...अनालोचक दृष्टि का सूचक है।"[१६]

---

१५. वहीं, पृ० २००-२०१।

१६. रामकृष्ण गो० भंडारकर। (१९१३)—वैष्णविज्म...पृ० १-२।

बृहदारण्यक उपनिषद् (१,३,२८) के **असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय** में भी सोरोकिन को विरक्ति की भावना दिखाई देती है। असत् और अन्धकार से सत् और ज्योति की ओर जाने और अमृत की आकांक्षा करने में यदि विरक्ति है तो वह विरक्ति हमें दुनिया की कशमकश में बल ही देती है, उससे विमुख नहीं करती।

आगे सोरोकिन महाशय धम्मपद और भगवद्गीता के उद्धरण पेश करते हैं। धम्मपद के जिस अमरीकी अनुवाद का उन्होंने उपयोग किया है, वह कई अंशों में शिथिल और स्वतन्त्र है। उनकी स्थापना के आधारभूत सन्दर्भों का हिन्दी रूपान्तर यों है—

(१) बुद्धिमान् पुरुष इस लोक में ही परिनिर्वृत होते हैं। (६,१४)[१७]

(२) जिसके विजित (राज्य) को कोई जीत नहीं सकता, जिसके विजित में कोई घुस नहीं सकता, जिसे अपना जाल फैलाने वाली विषैली तृष्णा बहका नहीं सकती, उस जागे हुए (बुद्ध) अनन्त-ज्ञानी मार्गातीत को किस मार्ग से ले जाओगे? (१४, १-२)

(३) कार्षापणों (सोने की मोहरों) की वर्षा से भी काम (लोभ) की तृप्ति नहीं होती। कामों से प्रसन्नता नहीं होती, दुःख होता है, यह जानने से ही पण्डित होता है। सम्यक् सम्बुद्ध शिष्य तृष्णा के क्षय से ही प्रसन्न होता है। (१४, ८-९)

(४) देह नश्वर है। (३, ९)

(५) आसक्ति से शोक होता है, आसक्ति से भय होता है। (१६, ४)

(६) जैसे घनी चट्टान वायु से नहीं डोलती, वैसे ही बुद्धिमान् निन्दा-प्रशंसा से नहीं डगमगाते। (६, ६)

---

१७. सोरोकिन ने इस पद्य का पहले वग्ग में होना लिखा है (१, ११५), जो शायद छपाई की चूक है। यह छठे वग्ग का ही है जैसा कि ऊपर दिखाया गया है।

भगवद्गीता के जो श्लोक उन्होंने उद्धृत किये हैं, वे ये हैं—"ढेला पत्थर सोना सुहृत् मित्र शत्रु उदासीन मध्यस्थ द्वेष्य बन्धु साधु पापी सब को सम बुद्धि से देखने वाला विशिष्ट होता है।" (गीता ६, ८-६) और इनमें भी उन्हें वही विरक्ति का राग सुनाई देता है।

लेकिन क्या हम आजकल के तपस्वी वैज्ञानिकों और कर्मयोगियों के विषय में वही बात नहीं कहते कि वे तृष्णाओं में न फँस कर धन और लौकिक सुखों की कुछ भी परवा न करते हुए सत्य की खोज या कल्याण के आचरण में लगे रहते हैं, वे देह को नश्वर जानते हुए कर्त्तव्य की पुकार आते ही उसे छोड़ने को तैयार रहते हैं ? हम भारतीयों को अपने धम्मपद और अपनी गीता में जो गूँज सुनाई देती है वह तो यही है। आखिर किस उद्देश से गीता का वासुदेव अर्जुन से यह कहता है कि मिट्टी सोना मित्र उदासीन शत्रु सब को एक दृष्टि से देखो ? यही न कि कर्त्तव्य की पुकार आने पर सगे-सम्बन्धियों का भी लिहाज़ न करो और मन को निश्चिन्त कर शस्त्र चलाओ, झिझको मत ? यह संसार के कर्त्तव्य से भागना नहीं प्रत्युत कर्त्तव्य की सब से ऊँची कल्पना है जो संसार की निन्दा-प्रशंसा के झकोरों के बीच चट्टान की तरह अडिग रहना सिखाती है।

आगे श्री सोरोकिन गौतम धर्मसूत्र (२, १२-१६) के इस कथन से कि ब्रह्मचारी मधु मांस गन्ध माल्य आदि का वर्जन करे, वही परिणाम निकालना चाहते हैं। 'मधु' का स्पष्ट अर्थ शराब है, पर टीकाकार हरदत्त ने न जाने किस झोंक में उसका अर्थ शहद कर दिया था। अंग्रेज़ी अनुवादक ने उसका अनुसरण कर आचार्य सोरोकिन को इस धोखे में डाल दिया है कि प्राचीन भारत के ब्रह्मचारियों को शहद खाना भी वर्जित था ! पर इन सभी उद्धरणों में संयम के उपदेश को विरक्ति का उपदेश मान लेने की गलती सोरोकिन ने की है।

भारतीय कला की आलोचना (१, २८२ प्र०) में आपने जो लिखा है वह एक कदम और आगे है। डा० आनन्द कुमारस्वामी के

इन कथनों को आप उद्धृत करते हैं कि "भारतीय और चीनी प्रतिमा मानो एक तरह की आकृति होती है, वह कुछ विचारों को प्रकट करती है, दुनिया की किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब को नहीं······भारतीय कला के सब रूप आदर्शों से निर्धारित होते हैं।"

"आदर्शों से" के आगे कोष्ठ में सोरोकिन लिखते हैं "वस्तुतः कल्पना से"। जहाँ तक कुमारस्वामी का यह विचार था कि भारतीय कला के आधारभूत आदर्श या विचार सदा ही निगूढ पारलौकिक और इन्द्रियातीत रहे हैं, वहाँ तक उनका मत चिन्तनीय है, और हम उसकी आलोचना कला के प्रकरण में[१८] करेंगे। पर वह कला दुनिया की किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब को प्रकट नहीं करती, इतने भर से तो उसकी इन्द्रियातीतता सिद्ध नहीं होती। कला वस्तुतः विचारों को मूर्त रूप देती है या मूर्त वस्तुओं के प्रतिबिम्ब उतारती है और यदि प्रतिबिम्ब उतारती है तो चित्रकला और फोटोग्राफी में अन्तर क्या है, ये बातें स्वयं विचारणीय हैं, और सोरोकिन स्वयं स्वीकार करते हैं कि आज की पाश्चात्य कला भी इस असमंजस से पार नहीं पा रही है (१, ३२१)। इसलिए अपनी पसन्द के आदर्शों से आपका भारतीय कला की निन्दा करना बेकार है। पर आगे आप मुल्कराज आनन्द की पोथी से जो उद्धरण देते हैं वह तो बेजोड़ है। आनन्द साहब फ़रमाते हैं—

"आर्ट (कला) को हिन्दू उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से जीवन को, यानी मज़हब और तत्व-चिन्तन की दृष्टि से। आधुनिक युरोपी भाषाओं में आर्ट का जो अर्थ समझा जाता है, उसके लिए संस्कृत भाषा में कोई ठीक शब्द नहीं है, क्योंकि आर्ट के लिए आर्ट को चाहने का जो आधुनिक पच्छिमी विचार है उस अर्थ में भारत में आर्ट को मुश्किल से कभी समझा गया है। उस देश में, जहाँ इन्द्रियगोचर और बुद्धिग्राह्य वास्तविकताओं से (भी) अधिक वास्तविक (मानी हुई) किसी सत्ता को खोजने

---

१८. अर्थात् इस ग्रन्थ के पाँचवें खण्ड में, यदि और जब वह लिखा जायगा।

और पूजने की प्रेरणा का रहस्यमय प्राधान्य रहा है, आर्ट (कला) धार्मिक दर्शन और दार्शनिक धर्म के इलहाम से अनुभव किये आदर्श की सेवा में समर्पित कर दी गई है ! प्रायः वह मन्दिरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली पुरोहिताऊ आर्ट रही है !"

मुल्कराज आनन्द पंजाबी लेखक हैं जो लंदन में रहते और अंग्रेज़ी में कहानियाँ लिखते रहे हैं ! उर्दू के सिवाय कोई भारतीय भाषा नहीं जानते; संस्कृत अथवा संस्कृताश्रित किसी भाषा की वर्णमाला से भी परिचित नहीं हैं ! आपके इस इलहामी ज्ञान पर हम समय न नष्ट करते यदि अमरीकी समाजशास्त्र के एक प्रामाणिक ग्रन्थ में इसे आचार्यवचन के रूप में उद्धृत न किया गया होता ।

संस्कृत में आर्ट के लिए कोई शब्द नहीं, यह वाक्य तो तभी तक सुनने लायक है जब तक इसका किसी भारतीय भाषा में अनुवाद नहीं होता । और **कला** भारतीयों के लिए कोई कठिन शब्द नहीं है; पाठशालाओं में पढ़ने वाले बच्चे भी उसका उपयोग करते हैं । ई० बी० हैवेल जैसे आँख वालों का तो कहना था कि युरोप में कला जहाँ महलों में ही दिखाई देती है वहाँ भारत के वह झोंपड़े झोंपड़े में विराजती है । कला के लिए कला के आधुनिक विलायती विचार से हमारा **स्वान्तः सुखाय** कला का विचार कहीं अधिक सीधी चोट करता है । और जिस देश के कवि अपने देवताओं की मानव लीलाओं को बखानते नहीं थकते, जहाँ मन्दिरों में देवदासियाँ गाती और नाचती थीं, वहाँ कला मन्दिरों की दासी थी या मन्दिर कला को अर्पित थे ?

§ ७. भारतीय मनोवृत्ति को त्रिकाल-विरक्त मानना विज्ञान-विरुद्ध कल्पना

इन सब से अधिक मनोरंजक बात यह है कि मुल्कराज और सोरोकिन जहाँ अपने को इन्द्रियगम्य ज्ञान का पुजारी और भारतीय मन को कल्पनाग्रस्त बतलाते हैं, वहाँ भारत के विषय में उनकी

अपनी बातें सब कल्पनामयी हैं। सोरोकिन युरोपी कला युरोपी ज्ञान धर्म और कानून तथा युरोपी सामाजिक संस्थाओं के दशाब्दी दशाब्दी के उतार-चढ़ावों की छानबीन करते हैं, यहाँ तक कि वे शेवरोले मोटर कंपनी के विज्ञापनों में भी युरोप के नाडी-स्पन्दनों को सुनने की कोशिश करते हैं, और उसके बाद वे परिणाम निकालते और उसमें समय-समय पर विभिन्न मनोवृत्तियों का क्रम से प्रबल होना पाते हैं। लेकिन वही सोरोकिन भारतीय जाति के जीवन को सतत सनातन मान लेते हैं, उसके क्रमिक चढ़ाव-उतार को देखने समझने की ज़रूरत ही नहीं देखते, और उसके विषय में पौन शताब्दी पहले के उन अनुवादों से जो प्रत्येक पूरबी शास्त्र को धर्म ग्रंथ (सैक्रेड बुक) मान कर किये गये थे, तथा कहानी-लेखकों की आँय-बाँय-शाँय से पाये जाने वाले ज्ञान से संतुष्ट हो बैठते हैं!

इस्लामी देशों की कला की युरोपी कला से तुलना भी आपने की है। पर जहाँ युरोप में इतालिया के १२०० से ऊपर और अन्य देशों के ४-४, ५-५ सौ चित्रकारों की कृतियों से परिणाम निकाले हैं, वहाँ इस्लामी देशों की एक सहस्राब्दी की कला की प्रवृत्तियाँ २१ चित्रों से पहचान लीं हैं! अंकशास्त्र (स्टैटिस्टिक्स) के विद्यार्थी आसानी से देख लेंगे कि सोरोकिन ने यहाँ अपने को किस प्रकार धोखा खाने दिया है। और उन्हें यह भी नहीं सूझा कि सब इस्लामी देशों की प्रवृत्तियाँ एक सी कैसे हो सकती हैं। यदि युरोप के विभिन्न ईसाई देशों की कला परस्पर-विभिन्न हो सकती है तो अरबी ईरानी और तुर्की नस्ल के और भिन्न-भिन्न जलवायु में रहने वाले इस्लामी राष्ट्रों की कला दस शताब्दियों तक एक-सी कैसे रह सकती है?

भारत और अन्य पूरबी देशों के विषय में आपके इस प्रकार आँख मूँद कर कल्पना कर लेने का परिणाम यह है कि आपकी स्थापनाएँ आपकी अपनी निश्चित की हुई परखों से ही गलत सिद्ध हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, आप कहते हैं कि विरक्त काल्पनिक कला में नग्न चित्रों या मूर्तियों की रचना नहीं होती। पर हमारे यहीं तो अजिंठा की उन गुफाओं में भी जो भिक्षुओं के रहने को बनी थीं, नग्न या अर्धनग्न

स्त्री-चित्रों की भरमार है। तब भारत की कला को तो क्या भारत के धर्म को भी विरक्ति-कल्पना-प्रधान क्यों कर कहना चाहिए ?

कोई व्यक्ति अपने दिमाग के एक अंश को अत्यन्त जागरूक रखता हुआ दूसरे को सर्वथा निद्रालु अथवा एक को खुला और दूसरे को बन्द कैसे रख सकता है इसपर आश्चर्य होता है। परन्तु आचार्य सोरोकिन के विषय में यह बात अनेक प्रकार से स्पष्ट है। रूसी क्रान्ति की जायदाद-जब्तियों और जुरमानों का ज़िक्र करते हुए आप कहते हैं—"हाँ, रूस की लगभग समूची जनता अपनी हर चीज़ से वञ्चित कर दी गई" (२, ६०२)! पर समूची जनता से छीनी हुई विशाल सम्पत्ति कहाँ गई ? श्वेत समुद्र में फेंक दी गई ? या जनता को ही सामूहिक रूप से लौटा दी गई ! सोरोकिन को यह प्रश्न सूझता ही नहीं ! अन्धविश्वास केवल अज्ञों या अल्पज्ञों की बपौती नहीं होता। और यहाँ आश्चर्य होने लगता है कि यह अमरीकी समाजशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है या अंग्रेजी-भाषी पूँजीशाही का प्रचार।

§८. भारतीय भूमि या नस्ल की दुर्बलता को कल्पना भ्रममूलक

सोरोकिन ने भारतीय जाति की जिस सनातन दुर्बलता का उल्लेख किया, कुछ विद्वानों ने उसके कारणों पर भी विचार किया। यदि वह दुर्बलता सनातन है तो उसके कारण भी त्रैकालिक होने चाहिएँ, और इसलिए भारत के भू-अंकन जलवायु या नस्ल में उन्हें ढूँढ निकालने की कोशिश की गई। यह कहा गया कि भारत का गर्म या सीला जलवायु यहाँ के लोगों को कमज़ोर बना देता है। इसी से भारतीय मजदूर की कार्य-क्षमता भी युरोपी मज़दूर से कहीं कम होती है। भारत के समुद्रतट के दन्तुर न होने से यहाँ अच्छे बन्दरगाह कभी न बने और समुद्र-यात्रा को प्रोत्साहन न मिला। इत्यादि इत्यादि।

इन कल्पनाओं की परीक्षा हम **भारतभूमि और उसके निवासी**[१९]

---

१९. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी।

में कर चुके हैं। भारत का जलवायु यदि क्षयकारी है तो आज तक भी उसमें सिक्खों डोगरों जाटों गोरखों मराठों भोजपुरियों तिलंगों जैसी लड़ाकू जातियाँ कैसे पैदा होती रही हैं? यदि यहाँ के मजदूरों की कार्य-क्षमता कम है तो कैलिफ़ोर्निया और कैनेडा के अमरीकी मजदूरों को पंजाबी मजदूरों के मुकाबले से बचने के लिए सन् १९१२-१३ से कानून और राजशक्ति की शरण क्यों लेनी पड़ी? यदि यहाँ सामुद्रिक जीवन नहीं पनपता तो आज तक भी दुनिया भर के समुद्रों में घूमने वाले अंग्रेज़ी जहाजों में कड़ी मेहनत का काम सब भारतीय लश्कर ही क्यों करते हैं?

हो सकता है कि प्रत्येक मानव नस्ल में कोई स्वभावगत विशेषता हो जो उसके समूचे इतिहास में प्रकट होती हो। हो सकता है कि भारतीय नस्ल की भी कोई सहज विशेषता या विशेषताएँ हों—आर्यावर्ती कृष्टि के भी कोई मूल तत्त्व हों। परन्तु नस्लों और कृष्टियों के मूल तत्त्व ढूँढ निकालने लायक खोज अभी तक नहीं हुई, और जब तक सब जातियों के विषय में वैसी खोज हो न चुके, तब तक हलकेपन से जो सामान्य नियम बनाये जायेंगे वे निरी कल्पनाएँ होंगी।

§९. आधुनिक अवस्था ऐतिहासिक परिपाक का एक रूप

हम यह स्वीकार करते हैं कि हमारे ज़माने के भारतीय और युरोपीय की मनोवृत्ति में महान् अन्तर रहा है। परन्तु न तो वह अन्तर आध्यात्मिकता और आधिभौतिकता का है और न वह सनातन और त्रैकालिक है। भारतीय और पच्छिम-युरोपी जातियों की आधुनिक अवस्था उनके ऐतिहासिक परिपाक का सामयिक रूप मात्र हैं; न तो भारत का पतन सनातन था और न युरोप का अभ्युदय सनातन। सनातनवाद को हम किसी भी रूप में मानने को तैयार नहीं हैं। **वयधम्मा संखारा**—सृष्टि की प्रत्येक सत्ता की आयु है यह हमारा बुनियादी सिद्धान्त है। और जिसकी आयु है उसका बचपन है, यौवन है, बुढ़ापा है, मृत्यु है—और पुनर्जन्म है। सोरोकिन की समाजशास्त्र-मीमांसा के मुख्य

परिणाम हमारे इस कथन की पुष्टि करते हैं, क्योंकि आपकी बारीक छान-बीन ने आपको जगह-जगह इस परिणाम पर पहुँचा दिया है कि पच्छिम-यूरोपी सभ्यता भी आज सड़ाँद पतन और आत्मनाश की घाटी पर पहुँच रही है (१,३२१; २,५३; २,११७ आदि)।

मध्यकालीन भारत के सनातनवाद की आधुनिक खोज ने कैसे पोल खोल दी, सो हमने देखा। आधुनिक खोज के टुकड़ों को जोड़ कर भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण की पहलेपहल कोशिश करने वालों में अंग्रेज विद्वान् विन्सेंट स्मिथ एक थे। सन् १६०४ में उन्होंने अपने नये इतिहास का पहला ढाँचा पेश किया तब उनके सामने यह प्रश्न आया कि उस इतिहास में चढ़ाव-उतार का क्या कोई क्रम भी है। जब दस बरस तक उन्हें कोई क्रम न दिखाई दिया तब पुस्तक के दूसरे संस्करण के अन्त में उन्होंने घोषणा की—

"भारतवर्ष का राजनीतिक इतिहास राज्यसंस्था का क्रमविकास दिखलाने में रोम या आधुनिक युरोप के इतिहास की बराबरी नहीं कर सकता। भारतीय एशिया की दूसरी जातियों की तरह सीधे-सादे निरंकुश शासन से सन्तुष्ट रहते आये हैं। इसलिए एक शासन का दूसरे से यदि कोई अन्तर रहा है तो विभिन्न राजाओं की व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण, न कि संस्थाओं की क्रमिक परिणति के कारण।"[२०]

यह वही नया सनातनवाद है। यदि स्मिथ साधारण दृष्टि से सोचते तो केवल यह कहते कि इस इतिहास में परिणति की प्रक्रिया हमें अभी नहीं दिखाई दी, अभी इस दिशा में और खोज होने की ज़रूरत है। किन्तु उन्हें तो एशियावासियों के निरंकुश शासन पसंद करने के मामले में त्रिकालज्ञ बनने की उत्सुकता थी, वे सरल सीधी बात सोचते कैसे? अलक्सान्दर को व्यास नदी से लौटना पड़ा था तब उसने वहाँ बारह बेदियाँ देवताओं की

२०. विन्सेंट स्मिथ (१६१४)—अर्ली हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (भारत का प्राचीन इतिहास) पृ० ४७७।

पूजा के लिए बनवाई थीं। और उनके चौगिर्द उसने अपनी सेना की पक्की छावनी बनवाई और उस छावनी में हर सैनिक और हर घोड़े का कद दूना कर के दिखाया, शायद इस विचार से कि आने वाली संतानें भी मकदूनियों के डील-डौल के ख्याल से डरती रहें! अलक्सान्दर की उस कृति में जो लड़कपन था, विन्सेंट स्मिथ के और कैम्ब्रिज विद्यापीठ के भारतीय इतिहासों के हर पन्ने पर वही लड़कपन अंकित है। भारत के इतिहास में रोम के इतिहास वाला क्रम-विकास न हो, उसमें अपना विकास-क्रम है।

यदि भारत की आज की असाधारण अवस्था उसके समूचे ऐतिहासिक परिपाक का परिणाम है तो देखना चाहिए कि वह परिपाक किस प्रकार हुआ।

परिशिष्ट १

अ. अवतार कल्पना का विकास

वायुपुराण ६७,७२ प्र० में निम्नलिखित बारह अवतार बताये गये हैं—नरसिंह, वामन, वराह, अमृतमन्थन, संग्राम तारकामय (तारकासुर-घातक), आदीवक, त्रैपुर (त्रिपुरारि), अन्धकार, ध्वज, वार्त्त, हालाहल और कोलाहल। पर वहीं ६८,६३ प्र० में अवतारों की संख्या दस हो गई है और वह इस प्रकार—वराह, नरसिंह, वामन, चौथे दत्तात्रेय, पाँचवें जो मान्धाता के चक्रवर्त्तित्व में हुए, छठे जामदग्न्य, सातवें दाशरथि, आठवें वेदव्यास, नवें वासुदेव, दसवें कल्कि। **श्रीमद्भागवत** १,३ की सूची इस प्रकार है—१. कौमार (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन) २. शूकर ३. देवर्षि (नारद) ४. नर नारायण ऋषि ५. कपिल ६. अत्रि का बेटा (दत्तात्रेय) ७. आकूति और रुचि के पुत्र यज्ञ ८. मेरुदेवी और नाभि के पुत्र ऋषभ ९. पृथु १०. मत्स्य

११. कमठ १२. धन्वन्तरि १३. मोहिनी १४. नरसिंह १५. वामन १६. परशुराम १७. वेदव्यास १८. राम दाशरथि १९. बलराम २०. कृष्ण २१. बुद्ध और २२. कल्कि। वहीं २,७ में सूची इस प्रकार है—१. क्रौड (वराह) २. रुचि और आकूति के पुत्र सुयज्ञ ३. कपिल ४. दत्तात्रेय ५. चतुःसन (सनक आदि) ६. नर ७. नारायण ८. ध्रुव ९. पृथु वैन्य १०. नाभि और सुदेवी के पुत्र ऋषभ ११. हयग्रीव या हयशीर्ष १२. मत्स्य १३. कच्छप १४. नृसिंह १५. गजोद्धारक हरि १६. वामन १७. धन्वन्तरि १८. राम भार्गव १९. राम दाशरथि २०. कृष्ण २१. वेद व्यास २२. बुद्ध २३. कल्कि। उसी ग्रन्थ में ११,४ में एक और सूची इस प्रकार है—१. नर-नारायण २. हंस अच्युत ३. दत्त (आत्रेय) ४. कुमार ५. ऋषभ ६. हयास्य (हयशीर्ष) ७. मत्स्य ८. क्रौड (वराह) ९. कूर्म १०. गजविमोचक हरि ११. नृसिंह १२. वामन १३. राम भार्गव १४. सीतापति राम १५. यदुवंशी (कृष्ण या बलराम) १६. बुद्ध १७. कल्कि।

इ. कृष्ण की गोपलीला की कहानियाँ

कृष्ण की गोपलीला-कहानियों के विषय में श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का मत उद्धृत करते हुए **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** में मैंने लिखा था—"किन्तु कृष्ण की गोपाल रूप में कल्पना ही पहली शताब्दी ई० की या बाद की है सो मानने में मुझे कई कठिनाइयाँ दीखतीं हैं।"[२१] मेरा मत संक्षेप से इस प्रकार है—

(१) वैदिक काल में आर्यों का जीवन कृषि और पशु-पालन का था और उनमें युवकों-युवतियों को परस्पर मिलने खेलने आदि की भरपूर स्वतन्त्रता थी। इसलिए वासुदेव कृष्ण के गोपाल होने और उनके अपने साथियों सहित गोपियों के साथ खेलने की बात ऐतिहासिक सत्य

२१. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० १०४८।

भी हो सकती है। उसे आभीरों द्वारा पीछे लाई गई कहानी मानने की ज़रूरत नहीं।

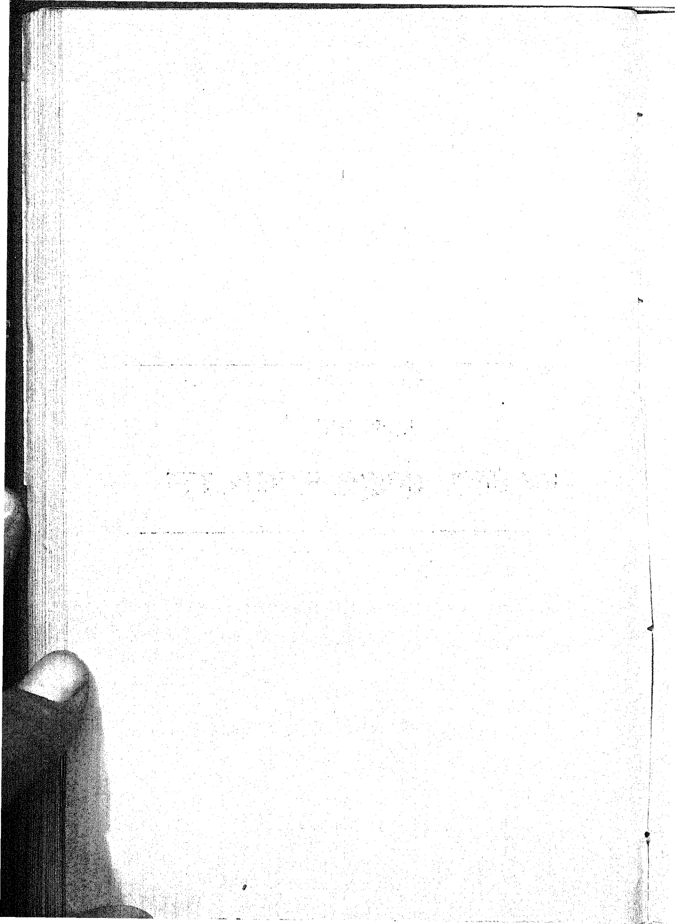
(२) **घटजातक** में वासुदेव के नन्दगोपा द्वारा पाले जाने की बात की ओर स्वयं श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर का भी ध्यान गया था, पर उन्होंने उस जातक को पीछे का मान लिया। केवल इसी आधार पर घटजातक को पीछे का मानना उलटी युक्ति है जो साध्य को हेतु मान लेती है।

(३) वासुदेव के गोपों में पलने की बात पुरानी जान पड़ती है, तो भी "पुरातन इतिहासों" में उस बात का कहीं उल्लेख इस कारण नहीं मिलता कि उसमें कोई असाधारणता नहीं थी—किसी महापुरुष का गोपाल होना वैदिक समाज में बिलकुल साधारण बात थी। जब वासुदेव को नारायण और पीछे विष्णु भी मान लिया गया, तब भी उनके उस पूज्य रूप में उनके गोप-चरित को पहले कोई स्थान नहीं मिला, क्योंकि उनकी पूज्यता की उस चरित से पुष्टि न होती थी। **महाभारत** में गोप-लीला का उल्लेख न होने की यही ठीक व्याख्या प्रतीत होती है।

(४) किन्तु जनता ऐतिहासिक व्यक्ति वासुदेव के गोप-गोपियों के साथ खेलने की और राधा नाम की प्रेमिका से विशेष सम्बन्ध की बात को भूली न थी। राधा कल्पना की उपज भी हो सकती है। यदि वैसा हो तो भी वह काफ़ी पुरानी कल्पना है, और धर्माचार्यों के बजाय किसी कवि की या जनता की कल्पना है, क्योंकि राधा का उल्लेख **गाथासप्तशती** (१,८६) और **पञ्चतंत्र** (१,५) में है, जो **श्रीमद्भागवत** से पहले की रचनाएँ हैं। ज्यों ज्यों वासुदेव के विष्णु होने की बात का जनता में प्रचार हुआ, उनकी गोपलीलाओं को वैष्णव सम्प्रदाय में भी स्थान मिलता गया। पर राधा को धार्मिक वाङ्मय में बहुत पीछे जा कर—निम्बार्क के समय अर्थात् १३वीं शताब्दी में—स्थान मिल सका, सो ठीक है।

पहला खण्ड

राजनीतिक इतिहास में चढ़ाव-उतार



दूसरा व्याख्यान*

वैदिक उत्तरवैदिक महाजनपद तथा नन्द-मौर्य युग

§१. घटनाओं के देश काल और आपेक्षिक महत्त्व की जाँच आवश्यक

पिछली विवेचना से हमने यह सीखा है कि भारतीय जाति के स्वभाव के अथवा उसके सामाजिक-धार्मिक संस्थान के अन्तर्गत किसी विशेषता को त्रैकालिक और सनातन मान लेने से पहले बहुत जाँच और सोच-विचार की आवश्यकता है। उसके समूचे इतिहास की पड़ताल के विना हमें कभी ऐसी कोई बात न कहनी चाहिए। संसार की किसी भी जाति के विषय में यही बात कही जा सकती है। जातियों के सनातन स्वभावों का निर्णय हलकेपन से नहीं किया जा सकता। हाँ, किसी विशेष युग में अमुक जाति ने ऐसी स्वभावगत विशेषता दिखाई यह कहना अपेक्षया कुछ सुगम है। जब भी हम किसी समूची जाति के स्वभाव के विषय में कोई बात कहें, हमें यह पहले देख लेना चाहिए कि हमने उसके समूचे इतिहास की जाँच की है अथवा किसी विशेष युग की ही। और यदि किसी एकाध युग की जाँच ने ही हमारे मन पर वह संस्कार डाला हो तो हमें केवल उसी युग तक अपने वचन को परिमित करना चाहिए।

भारतवर्ष जैसे विशाल देश के विषय में इसके साथ एक और बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। यह हो सकता है कि एक ही युग में

---

* १ अप्रैल १९४१ को दिया गया।

भारत के एक प्रदेश ने एक प्रवृत्ति दिखाई हो, पर दूसरे ने दूसरी। इसलिए किसी एक युग के भारतवर्ष के विषय में भी कोई बात कहने से पहले हमें भलीभाँति जाँच लेना चाहिए कि क्या भारत के सब अंशों पर वह चरितार्थ होती है।

इससे यह परिणाम भी निकला कि भारतीय इतिहास के युग-विभाग को तथा भारत के स्वाभाविक जनपद (प्रान्त) विभाग को भी हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

लम्बे इतिहास में एक और विचारणीय बात होती है घटनाओं का आपेक्षिक महत्त्व। प्रत्येक घटना का मूल्य हमें इस कसौटी पर जाँचना होगा कि उसका प्रभाव कितना व्यापक और कितना स्थायी हुआ—अर्थात् कितने देश पर हुआ और कितने काल तक रहा। हमें अपना ध्यान एक-दो केन्द्रीय राजधानियों पर ही नहीं प्रत्युत भारत के सब प्रदेशों पर रखना होगा। भारतवर्ष के इतिहास में यह गलती प्रायः की जाती है कि एक बार जो केन्द्रीय राजशक्ति स्थापित हो जाती है, अथवा जिसे हमारे इतिहास-लेखक किसी कारण से केन्द्रीय मान बैठते हैं, उसी का सहारा ले कर वे इतिहास कहते चलते हैं, और जब तक उसकी परछाई भी बची रहे उसे छोड़ना नहीं चाहते, और उस बीच जो नई शक्तियाँ उठ खड़ी होती हैं उनकी प्रायः उपेक्षा करते हैं। विभिन्न राज्यों की आपेक्षिक शक्ति की जाँच हमें अपने इतिहास के पथ में बराबर करते चलना चाहिए और बराबर यह देखते जाना चाहिए कि उनका परस्पर-संतुलन कैसे रहा और टूटा, तथा समूचे भारत का राजनीतिक गुरुता-केन्द्र कहाँ से कहाँ खसकता रहा।

घटनाओं के प्रभाव की गहराई पर भी हमें ध्यान देना चाहिए। यदि एक घटना से देश में कुछ नये जमींदार पुराने कृषकों के ऊपर स्थापित हो जाते हैं, पर दूसरी घटना से देश की समूची प्रजा उखड़ जाती और उसके स्थान में नये लोग आ बसते हैं, तो निःसंदेह दूसरी घटना पहली से कहीं अधिक महत्त्व की है।

§२. भारत की विद्यमान भाषाएँ और जातियाँ

विभिन्न जातियों या जनताओं की पहचान मुख्यतः उनकी भाषा से होती है। छोटे-मोटे राजनीतिक परिवर्तनों से भाषाएँ अपना स्थान नहीं छोड़तीं, बहुत गहरे उलटफेरों के बाद ही वे स्थानान्तरित होती हैं। साधारणतया जातियों के स्थानान्तरित होने से ही भाषाएँ स्थानान्तरित होती हैं।

भारतवर्ष की भाषाओं का आज जो बँटवारा है वह उसके पिछले सारे इतिहास का फल है। आज वह बँटवारा इस प्रकार है। अफगानिस्तान से असम और उड़ीसा तक तथा पामीर और कश्मीर से महाराष्ट्र तक समूचे उत्तर भारत तथा दक्खिन के उत्तरी हिस्से में आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं। अफगानिस्तान इतिहास में अधिकतर भारत का अंश रहा है, पामीर भी अनेक युगों में भारत के अन्तर्गत रहा है, तो भी इन प्रदेशों की आर्य भाषाओं—पश्तो अफगान-पारसी और गल्चा—को आधुनिक भाषा-शास्त्री आर्यवंश की **ईरानी शाखा** का मानते हैं। कश्मीर तो सदा ही भारत का प्रांत रहा है, तो भी उसकी, उसके उत्तर दरद प्रदेश की और उसके साथ लगे अफगानिस्तान के उत्तरपूर्वी प्रांत काफिरिस्तान की भाषा आर्य वंश की **दरदी शाखा** की है। शेष भारत में अर्थात् सिन्ध नदी के पच्छिमी तट (डेरा-इस्माइलखाँ, बन्नू, पेशावर) से ब्रह्मपुत्र की पूरबी धारा लोहित के काँठे तक तथा हिमालय के भीतर से सह्याद्रि और महेन्द्रगिरि के दक्खिनी छोर तक जितनी आर्य भाषायें हैं वे सब **आर्यावर्ती शाखा** की हैं। ग्रियर्सन का मत था कि इस आर्यावर्ती शाखा की एक **भीतरी,** एक **बिचली** और एक **बाहरी प्रशाखा** है।[1] दूसरे विद्वान्, सुनीतिकुमार चटर्जी आदि, बाहरी प्रशाखा की बात को स्वीकार नहीं करते। उनका यह कहना है कि भीतरी प्रशाखा के पूरब दक्खिन

१. ग्रियर्सन (१९२७)—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (भारत की भाषा-पर्यवेक्षा) ग्रन्थ १, भाग १।

पच्छिम की सब भाषाओं में ऐसे कोई सामान्य लक्षण नहीं हैं कि उन सब को एक प्रशाखा के अन्तर्गत माना जाय; प्राच्य दाक्षिणात्य उदीच्य आदि अलग-अलग प्रशाखाएँ भले ही कही जाँय। जो भी हो, यह बात सर्वसम्मत और निर्विवाद है कि आर्यावर्ती भाषाओं की केन्द्रीय और प्रतिनिधिभूत भाषा हिन्दी (या पछाँहीं हिन्दी)[२] है, जो कन्नौज-कानपुर से कुरुक्षेत्र तक तथा हिमालय के चरणों से सातपुड़ा तक बोली जाती है, और जिसकी कनौजी, खड़ी बोली, व्रजभाखा, बाँगरू और बुन्देली ये पाँच बोलियाँ हैं। इस भाषा की भी केन्द्रीय बोलियाँ खड़ी बोली और व्रजभाखा हैं। जिन प्रदेशों में ये बोली जाती हैं उनकी भाषा को सदा से समूचा आर्यावर्त अपनी साझी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करता रहा है।

उड़ीसा महाराष्ट्र के सिवाय बाकी दक्खिन भारत में चार द्राविड भाषाएँ हैं। परन्तु सिंहल में फिर आर्य भाषा है। आर्य भाषाओं में से पश्तो हिन्दी और सिन्धी कुछ समय से अरबी-फारसी अक्षरों में भी लिखी जाने लगी हैं (और हिन्दी उन अक्षरों में लिखी जाती है तो उर्दू कहलाती है), अन्यथा सिंहल सहित भारत की सब आर्य और द्राविड भाषाओं की एक ही वर्णमाला है। वह वर्णमाला मूलतः संस्कृत की थी और द्राविड भाषाओं ने उसे उसी से अपना लिया। उस वर्णमाला के अतिरिक्त वे संस्कृत की शब्दावली को भी काफी अंश तक अपना चुकी हैं।

दक्खिन की चार परिष्कृत द्राविड भाषाओं के उत्तर तरफ कुछ

---

२. पछाँहीं हिन्दी नाम पूरबी हिन्दी से भेद करने को रक्खा गया था। 'पूरबी हिन्दी' की तीन बोलियाँ हैं—अवधी बघेली छत्तीसगढ़ी। अवध का पुराना नाम कोशल और छत्तीसगढ़ का दक्षिण कोशल है। इस प्रकार अवध से छत्तीसगढ़ तक समूचे प्रदेश की भाषा का उचित नाम कोशली है। यह नाम पहलेपहल मैंने सन् १९३५ में अपने एक लेख में प्रस्तावित किया, जो कल्चरल हेरिटेज ऑफ इंडिया (भारत का सांस्कृतिक दाय) कलकत्ता, १९३७ जि० ३, पृ० १२३–१५२ में छपा। कोशली नाम बर्तने से उसके पच्छिम की भाषा को केवल हिन्दी कहना ठीक होगा।

छोटी-मोटी द्राविड बोलियाँ भी हैं जो अब तक लिखी नहीं गई तथा जिनमें साहित्य का विकास नहीं हुआ। इनमें से एक ब्रहोई सिन्ध के पच्छिम सीमान्त पर कलात पठार में है। दूसरी गोंडी महाराष्ट्र, बुन्देलखंड, दक्खिण कोशल और आन्ध्र में जहाँ तहाँ छिटकी हुई है। तीसरी कुरुख या ओराँव भी दक्खिण कोशल और झाड़खंड (छोटा नागपुर) में उसी तरह छिटकी है। ब्रहोई गोंडी ओराँव आदि बोलने वाले अपने पड़ोस की परिष्कृत भाषाएँ भी बोलने लगे या सीख रहे हैं।

दक्खिण कोशल, आन्ध्र, उड़ीसा और झाड़खंड के जिन वन्य प्रदेशों में जहाँ तहाँ ये द्राविड बोलियाँ पाई जाती हैं, उन्हीं में संथाली मुंडारी शबरी आदि कुछ बोलियाँ उनके और परिष्कृत आर्य द्राविड भाषाओं के बीच बीच बिखरी हुई हैं। इन बोलियों का एक अलग ही वर्ग है जिसका नाम **मुंड** रक्खा गया है। इन मुंड बोलियों की बंगाल-असम सीमा के खासी पहाड़ों की बोली से, बरमा-तट की मोन भाषा तथा कम्बुज ("कम्बोदिया") की ख्मेर भाषा से, नक्कवार (निकोबार) द्वीप की बोली से, मलाया (ठीक ठीक मलायु) प्रायद्वीप, सुमात्रा जावा आदि द्वीपों तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों की भी भाषाओं से सगोत्रता पहचानी गई है, और यद्यपि वह बात अभी निर्विवाद नहीं है तो भी कामचलाऊ तौर पर हम उसे मान सकते है। और चूँकि ये भाषाएँ और जातियाँ दुनियाँ के दक्खिनपूरबी अथवा आग्नेय कोण में है इसलिए इनका नाम जर्मन विद्वान् श्मिट ने **आग्नेय** (**Austric**) रक्खा। हिमालय में शिमले से ७० मील उत्तर कनौर प्रदेश (रामपुर-बशहर रियासत) की कनौरी बोली, गढ़वाल-कुमाऊँ के उत्तरी छोर की कई बोलियों तथा नेपाल के उत्तरपूरबी कोने की याखा नाम की बोली में भी आग्नेय तलछट पहचाना गया है। इससे जान पड़ता है कि यह जाति किसी समय भारत के बहुत से भाग में फैली हुई थी।

कश्मीर से नेपाल तक आर्य भाषाएँ हिमालय के भीतर तक गई हुई हैं, पर सिकिम के पूरब भूटान में तथा असम के उत्तर सीमान्त में तिब्बती

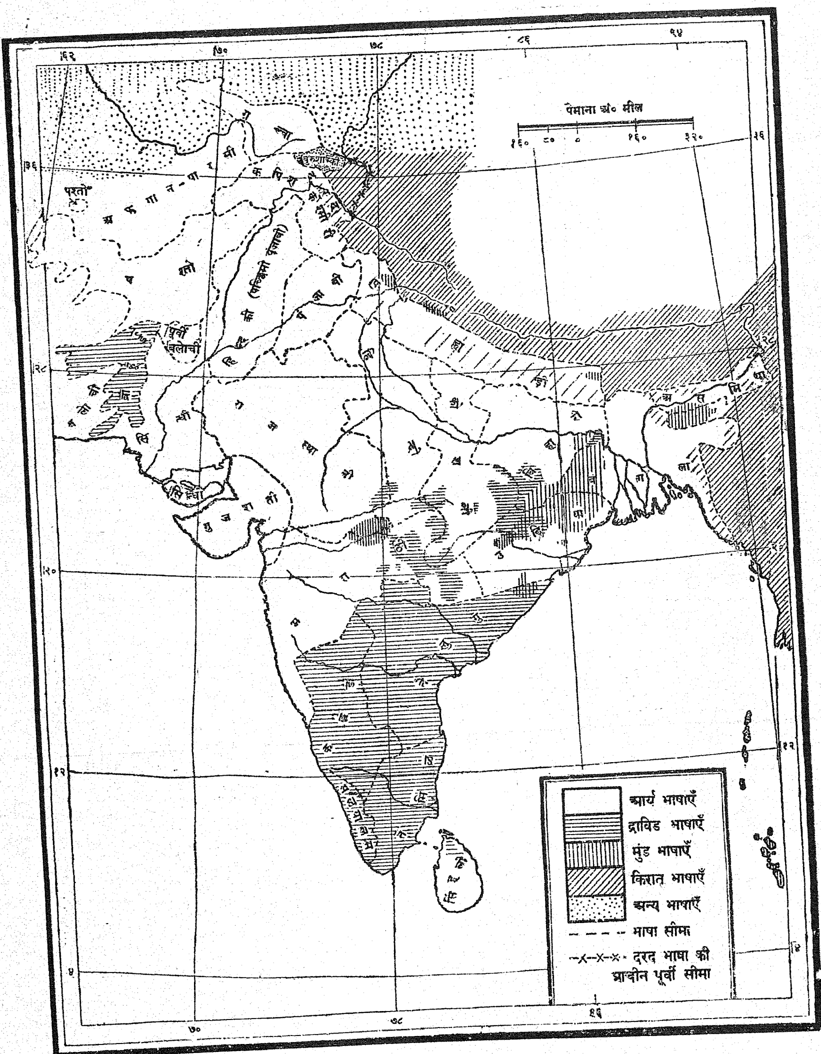
भाषा है। तिब्बती और बरमी परस्पर-सम्बद्ध भाषाएँ हैं। प्राचीन भारत-वासी भी इस बात को पहचानते थे, और अपने उत्तर और पूरब दोनों तरफ के इन पड़ोसियों को **किरात** कहते थे। यह ध्यान देने योग्य है कि भारतीय वर्णमाला को तिब्बत बरमा और स्याम (थइ-खंड) की भाषाओं ने भी अपना रक्खा है।

आज भारतवर्ष की प्रायः ७६ फी सदी जनता आर्य और २१ फी सदी द्राविड भाषाएँ बोलती है; बाकी ३ फी सदी में से आधे से कुछ कम आग्नेय और कुछ अधिक किरात। भारतीय भाषाओं की यह स्थिति कैसे पैदा हो गई? क्या हमारा इतिहास इसपर कुछ प्रकाश डाल सकता है?

§ ३. सभ्यता के सब से पुराने चिह्न

अभी तक हमारे देश में सभ्यता के सब से पुराने चिह्न जो मिले हैं वे सिन्ध के काँठे में मुअनजो दड़ो आदि स्थानों से तथा रावी के निचले काँठे में हड़पा कस्बे से। उनका समय आज से ५००० बरस पहले कूता गया है। उन अवशेषों से गेहूँ की खेती, कपास के कपड़े बुनने, व्यापार-विनिमय तथा लिखने का ज्ञान प्रकट होता है; मकान बनाने और नगर बसाने के तरीकों में बड़ी उन्नति सिद्ध होती है और कला की रुचि भी दिखाई देती है। हथियार सब पत्थर और तांबे के हैं—लोहे का ज्ञान प्रकटतः नहीं था। कई जानवरों से परिचय प्रतीत होता है, पर घोड़े से नहीं। उन अवशेषों में के लेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके और न यह जाना जा सका है कि वे किस जाति के हैं।

पुरातत्त्व की शृंखला में अभी इसके बाद प्रायः अढाई हजार बरस का व्यवधान है। इक्के-दुक्के टुकड़े बीच की अवधि के मिले हैं, अथवा वे आहत सिक्के हैं जिनपर केवल संकेत बने हैं, पर सभ्यता के अगले स्पष्ट चिह्न जो मिले हैं वे ५०० ई० पू० के करीब से शुरू होते हैं। वह भगवान् बुद्ध का युग है। पर इस बीच आर्य बस्तियाँ सारे देश में बस



नक्शा १—भारतवर्ष की भाषाएँ

चुकी थीं; उनकी सभ्यता कई मंजिलें पार कर चुकी थी और एक महान् वाङ्मय का विकास हो चुका था। उस वाङ्मय तथा उसके अन्तर्गत अनुश्रुति में हमें आर्यों की सभ्यता का पूरा पूरा चित्र मिलता है।

§४. वैदिक काल में आर्यों का फैलाव

आर्य सभ्यता की पहली मंजिल वैदिक काल है। वेद में जिस सभ्यता का चित्र अंकित है, उसमें कृषि और पशु-पालन मुख्य जीविकाएँ हैं। पर उस कृषि में कपास नहीं थी और न बागवानी ही थी। पत्थर के हथियारों की स्मृति भी न बची थी। घोड़ा आर्यों की मुख्य सवारी थी। यहाँ तक कि पीपल के पेड़ों तले जब उनके पड़ाव लगते, तब उन पेड़ों के नीचे घोड़े (अश्व) बाँधे जाने के कारण ही उनका नाम **अश्वत्थ** पड़ गया।

समाज का संघटन **जनों** अथवा कबीलों में था। जन के सब लोग **सजात** होते या समझे जाते थे। कुछ जन शुरू में **अनवस्थित** (खानाबदोश) भी थे। जन की राजसंस्था बहुत स्वाधीन थी। राजा का जन के सब लोग मिलकर **वरण** करते और वह एक **समिति** की सहायता से नेतृत्व करता था।

बुद्ध के समय से पहले आर्यों का समाज वैदिक काल वाली जन-संघटन की मंजिल को पार कर चुका था। जन जहाँ बस गये वे **जनपद** कहलाये; नाम उनके जनों के नामों पर ही रहे। और यह विचार स्पष्ट रूप से खड़ा हो चुका था कि पहले सजातों के वंशजों के सिवाय और जो लोग भी जनपद में आ बसें और उसमें **भक्ति** रक्खें, वे उस जनपद के हैं। इन जनपदों में से फिर अनेक के परस्पर मिल जाने या एक दूसरे को जीत लेने से कई **महाजनपद** बन गये थे। बुद्ध के समय के कुछ पहले ऐसे जनपदों की संख्या सोलह थी और वे पामीर से गोदावरी तक फैले थे। इसका यह अर्थ है कि भारत के मुख्य भाग में तब तक आर्य राज्य स्थापित हो चुके थे।

भारत की कृष्टि मुख्यतः आर्य कृष्टि है। उसके अतिरिक्त आर्यों का यहाँ स्थापित होना हमारे समूचे इतिहास में सबसे बड़ी घटना है, क्योंकि यह मुट्ठी भर लोगों का देश को जीतना न था, प्रत्युत देश की समूची जनता का बसना या देश का पहलेपहल आबाद होना—और ऐसा बसना जिसके कारण उनकी भाषा आज तक यहाँ चली आती है। तब, इन युगों की कृष्टि का रंग-रूप जानने के अतिरिक्त क्या हम इनके राजनीतिक इतिहास की कुछ तफसील भी नहीं जान सकते? क्या हमें इसका कुछ पता मिल सकता है कि आर्यों के कौन कौन से राज्य कब कब कहाँ कहाँ स्थापित हुए, और वे किन किन चढ़ाव-उतारों में से गुज़रे?

पुरातत्त्ववेत्ताओं के फावड़े को उस राजनीतिक इतिहास का कोई लेख अभी तक नहीं मिला, पर हमारे पुराणों में उन युगों की अनुश्रुति रक्षित है जिसकी छानबीन कर कुछ आधुनिक विद्वानों ने कामचलाऊ तो भी युक्तिसंगत इतिहास तैयार किया है।

उसके अनुसार आर्यों के दो वंश—एक मानव, दूसरा ऐळ—महाभारत युद्ध से प्रायः ६५ पीढ़ी पहले हमारे इतिहास में प्रकट होते हैं। मानवों की मुख्य शाखाएँ अवध और तिरहुत में तथा कुछ गौण शाखाएँ और प्रान्तों में उसी समय स्थापित थीं। ऐळ प्रतिष्ठान में थे। अयोध्या के मानव राजवंश के अभ्युदय की कहानी इसके बाद भी हम बराबर सुनते हैं, पर मानवों के और अधिक फैल कर नये प्रदेशों में बसने की बात बहुत कम सुनाई देती है। जान पड़ता है कि उनका फैलाव जो हुआ, पहले ही हो चुका था। पर ऐळ वंश की शाखा-प्रशाखाएँ बराबर नये नये प्रदेशों को जीत कर उनमें बसती जाती हैं। सच कहें तो इन ६५ पीढ़ियों का इतिहास ऐळों के प्रतिष्ठान से चारों तरफ फैलने का इतिहास है। प्रतिष्ठान स्वर्गीय पार्जीटर के मत में प्रयाग था, मेरे मित्र राय कृष्णदास का, जिन्होंने इस विषय का विशेष अध्ययन-मनन किया है, विचार है कि वह मध्य हिमालय यानी गढ़वाल, जौनसार या क्युंठल[3] में कहीं था। यह

३. जौनसार = मंसूरी से पच्छिम का, चकरौते के चौगिर्द का पहाड़ी प्रदेश।

देखते हुए कि आर्यावर्त्ती भाषाओं की केन्द्रीय प्रशाखा या भाषा आज भी पच्छिमी ठेठ हिन्दुस्तान (युक्त प्रान्त) में है, यह विचार अधिक संगत प्रतीत होता है।

ऐळ वंश की शाखाएँ शीघ्र ही फूटने लगीं। कुछ समय बाद उसमें पाँच शाखाएँ हो गईं। इनमें से एक पौरव प्रतिष्ठान में ही रह गये। यादव और तुर्वसु दक्खिन और दक्खिनपूरब प्रदेशों में जा बसे, तथा आनव और द्रुह्यु उत्तरपच्छिम की तरफ। आनवों की एक शाखा पीछे पूरब भी जा बसी। इस प्रकार शाखा-प्रशाखाएँ होते ये लोग उत्तरपच्छिम तरफ गन्धार अर्थात् तक्षशिला-पुष्करावती (रावलपिंडी-पेशावर) तक, पूरब तरफ अंग (मुंगेर-भागलपुर) तक और दक्खिन तरफ विदर्भ (बराड़) तक जा बसे। महाभारत युद्ध के समय तक यही आर्यों की सीमाएँ प्रतीत होती हैं। अंग के साथ वंग (पूर्वी बंगाल) और कलिंग (उड़ीसा तट) के नाम भी हैं, पर वे संदिग्ध हैं। गन्धार के आगे पच्छिमी देशों में जा बसने की बात भी है। गन्धार और उसके पड़ोस के पठान प्रदेश की नदियों—सुवास्तु (स्वात) कुभा (काबुल) क्रमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल)—के नाम वेद में भी हैं। पच्छिमी गन्धार की राजधानी पुष्करावती कुभा और सुवास्तु के संगम पर ही बसी थी। पक्थ या पठान लोगों का उल्लेख भी ऋग्वेद (७, १८, ७) में राजा सुदास से लड़ने वाले **जनों** में है।

आर्यावर्त्त के इन पहले राज्यों में साम्राज्य स्थापित करने का विचार बहुत पहले से जाग उठता है। अनेक पराक्रमी राजा अपने पड़ोसी राज्यों पर **आधिपत्य** स्थापित कर समूचे आर्यावर्त्त के **सम्राट्** या **चक्रवर्ती** बनने की चेष्टा करते। अयोध्या का मानव राजा यौवनाश्व मान्धाता (२१वीं पीढ़ी) सब से पहला सम्राट् प्रसिद्ध है। उसके बाद माहिष्मती

क्युंठल = पच्छिमी पहाड़ी की क्युंठली बोली का क्षेत्र अर्थात् शिमला प्रदेश।

के राजा कार्त्तवीर्य अर्जुन, पौरव देश के भरत दौष्यन्ति, अयोध्या के राम दाशरथि, चेदि (बुन्देलखंड) के वसु चैद्योपरिचर, मगध के जरासन्ध आदि के साम्राज्य प्रसिद्ध हैं। समूचे आर्यावर्त्त का **दिग्विजय** कर उस-पर आधिपत्य स्थापित करने की यह चेष्टा धार्मिक संस्था बन गई थी, जिसमें सफल होने वाले राजा राजसूय और अश्वमेध यज्ञ के अधिकारी होते और बड़े पुण्य के भागी माने जाते। उस युग की ये साम्राज्य-चेष्टाएँ आज के शब्दों में भारत की राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की चेष्टाएँ थीं। भारत की एकता की पहली बुनियाद इन्हीं से पड़ती है।

§५. आर्य फैलाव की विशेष पद्धति

आर्यों के उक्त प्रकार से फैलने का अर्थ था जगह-जगह जंगलों को साफ कर खेती करना और बस्तियाँ बसाना। इस प्रसंग में उन्हें अनेक **आटविक** (जंगलों में रहने वाली) जातियों से वास्ता पड़ता था। राक्षस यक्ष नाग आदि इस किस्म की कई जातियों के नाम मिलते हैं। राक्षस आधुनिक गोंडों के पूर्वज थे।[४]

जैसा कि ऊपर कहा गया है, आर्यों के इन राज्यों में साम्राज्य-स्थापन के विचार का उदय भी हो गया था, और कई राज्य अपने पड़ोसियों पर आधिपत्य स्थापित कर लेते थे। परन्तु नई ज़मीनों का जीतना प्रायः साम्राज्य-स्थापना द्वारा न होता, प्रत्युत बहुधा वंशों में से शाखा-प्रशाखाएँ फूट कर उनके नये प्रदेशों में जा बसने से।

आर्यों में एक और प्रथा यह थी कि उनके विद्वान् मुनि लोग बस्तियों से कुछ हट कर जंगलों में आश्रम बना कर रहते थे। इन जंगलों में, विशेष कर दूर के जंगलों में जहाँ बेधड़क और साहसी मुनि लोग जा

---

४. हीरालाल (१९२९)—अवधी-हिन्दी प्रान्त में राम-रावण-युद्ध, कोशोत्सव स्मारक संग्रह पृ० १५ प्र०। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० २५०–२५२।

बसते थे, जंगली जातियों के उपद्रव होने पर आर्य राजाओं को उनकी रक्षा के लिए आना पड़ता, और इस प्रकार उनका परिचय दूर के प्रदेशों से होता चलता था। आर्यों के फैलाव की इन पद्धतियों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

पौराणिक अनुश्रुति की छानबीन द्वारा आर्यों के फैलाव का यह खाका जो श्री पार्जीटर ने बनाया है, भारत के ठीक उस भाग में टुकड़े टुकड़े कर आर्यों का फैलना बतलाता है जहाँ आज भी आर्य भाषाएँ हैं। और इस फैलाव में जो क्रम वह प्रकट करता है, वह स्वाभाविक भू-अंकन के अनुसार है। उदाहरण के लिए पारियात्र-[५]विन्ध्य-मेखला के पच्छिमी भाग में आर्यों का प्रवेश पहले होता है, और वहाँ से धीरे धीरे वे पूरब तरफ़ बढ़ते जाते हैं। ये दोनों बातें इस अनुश्रुतिगम्य इतिहास की साधारण सत्यता के पक्ष में प्रबल प्रमाण हैं।[६]

तीसरे, कश्मीर से कुमाऊँ तक हिमालय की गर्भ-शृंखला तक के और कहीं उसके पार के भी प्रदेशों में जो आर्य जाति और भाषाएँ फैली हुई हैं, वह महत्त्व की और विचारणीय स्थिति है। मध्य हिमालय की प्रतिष्ठान नामक बस्ती से आर्यों का भारत में फैलाव मानने से इस स्थिति की जैसी सीधी व्याख्या होती है वैसी और किसी कल्पना से नहीं होती। अफगानिस्तान के रास्ते यदि आर्य लोग पंजाब और ठेठ हिन्दुस्तान के मैदान में उतरे हों तो इन मैदानों से फिर पहाड़ में घुस कर उनका हिमालय की गर्भ शृंखला तक पहुँचना मानना पड़ेगा जो अत्यन्त क्लिष्ट और अस्वाभाविक कल्पना है। तुर्क लोग ग्यारहवीं से

---

५. 'राजपूताने' के आड़ावळा ('अरवली' पर्वत) और मालवे की पहाड़ी रीढ़ को मिला कर अर्थात् आज के राजस्थानी-भाषी समूचे प्रदेश की रीढ़-रूप पर्वत को प्राचीन काल में पारियात्र कहते थे। दे० जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० ६३-६४।

६. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० २३६–२३९।

सोलहवीं शताब्दी तक अफगानिस्तान के रास्ते उत्तर भारत के मैदान में आते रहे, पर वे हिमालय के बाहरी अञ्चल में भी कभी मुश्किल से घुस सके। उत्तर भारत के मैदान से हिमालय में घुस कर उसके भीतर तक के प्रदेशों को जीतना और जीतने वाली जाति का वहाँ की प्रमुख जनता के रूप में आबाद हो जाना अनहोनी सी बात है। उत्तरपच्छिम से भारत में आर्यों का प्रवेश मानने वाले विद्वानों ने इस कठिनाई को कभी देखा-सोचा नहीं।

इन और अन्य प्रमाणों से, जिन्हें हम आगे देखेंगे, अनुश्रुतिगम्य इतिहास की साधारण सत्यता की पुष्टि होती है।

महाभारत युद्ध का समय पार्जीटर ने अन्दाजन ९५० ई० पू० में और कुछ भारतीय विद्वानों ने १५ वीं शताब्दी ई० पू० में रक्खा है। उस युद्ध के समकालीन कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने वेद-संहिता बनाई, इसलिए वैदिक काल का अन्त भी उसी समय हुआ। लिखने की कला उससे कुछ शताब्दी पहले परिपक्व हो चुकी थी।

§९. उत्तर-वैदिक और महाजनपद युग

पिछले वैदिक वाङ्मय में हमें आर्यों के फैलाव की सीमाएँ और आगे बढ़ती दिखाई देती हैं। गन्धार के उत्तर तरफ कम्बोज देश का नाम पहलेपहल सुनाई देता है। यह हिन्दुकश के उस पार आजकल का पामीर और बदख्शाँ था।[७] दक्खिन तरफ गोदावरी के काँठे में अश्मक नाम की नई बस्ती स्थापित होती है, जिसके साथ बाद में मूळक का नाम भी जुड़ा मिलता है। मूळकों ने एक नया प्रतिष्ठान स्थापित किया जो 'मूळक का प्रतिष्ठान' कहलाता। वह आजकल का पैठन है।

७. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० २९३ प्र०; रघुज़ लाइन ऑफ कौम्क्वेस्ट अलौंग इंडियाज़ नौर्दन बौर्डर (भारत की उत्तरी सीमा पर रघु की विजय-रेखा), छठे भारतीय ओरियंटल कान्फरेंस (प्राच्य-सम्मेलन) का कार्यविवरण (१९३२) पृ० १०१ प्र०; तथा (१९३३) भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ४७० प्र०।

मूळक अश्मक के पड़ोस में अन्ध्र शबर मूचिक नाम की अनार्य जातियाँ थीं। शबर निश्चय से आग्नेय वंश के और अन्ध्र या आन्ध्र द्राविड वंश के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गोंड जहाँ उस युग तक जंगली दशा में रहे, वहाँ उनके दक्खिन की द्राविड जातियाँ कुछ सभ्यता का विकास कर चुकी थीं। आरम्भिक पालि वाङ्मय से, जो कि अंशतः उत्तर वैदिक वाङ्मय का समकालीन और अंशतः उसके ठीक बाद का है, यह सूचना मिलती है कि अन्ध्रों की राजधानी तब तेलवाह नदी पर थी। तेलवाह या तेल नदी बस्तर पठार के उत्तरी ढाल से उतर कर सोनपुर पर महानदी में मिलती है। इसका यह अर्थ है कि उस युग में अन्ध्र जाति आजकल के आन्ध्र देश के बहुत उत्तर रहती थी। बस्तर पठार के ही दक्खिन तरफ शबरी नदी है जिसका वह नाम स्पष्टतः शबर जाति के कारण पड़ा था। इसी प्रकार हैदराबाद-गोलकुंडा पठार से पूरब तरफ उतर कर कृष्णा में मिलने वाली मूसी नदी मूचिकों की याद दिलाती है। मूचिक या मूषिक लोग दूसरी शताब्दी ई० पू० में भी कृष्णा पर रहते थे (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० २८८, ७१६-७१७)।

जनपद शब्द भी हमें पहलेपहल उत्तर वैदिक वाङ्मय में मिलता है। बुद्ध के समय तक किस प्रकार अनेक महाजनपद भी बन चुके थे सो उपर कह चुके हैं। इस युग में भारतवर्ष के लिए जम्बुद्वीप (पालि में जम्बुदीप) शब्द भी चल जाता है। पहले आर्य राज्यों के युग में साम्राज्य-स्थापना के जिस आदर्श का उदय हुआ था, वह जनपदों और महाजनपदों के युगों में भी फूलता-फलता है। उत्तर वैदिक वाङ्मय में **परमेष्ठी, सार्वभौम** (समूची भूमि अर्थात् भारत का अधिपति) **समन्त-पर्यायी** (सब अन्तों या सीमाओं तक अपना प्रशासन पहुँचाने वाला) या **समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का एकराट्** होने का, एवं पालि वाङ्मय में **सकल जम्बुदीप का एक राजा** होने का आदर्श बराबर सुनाई देता है (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ३०६, ३३८)।

वैदिक काल की अनुश्रुति में भी हमें **संघ-राज्यों** का, जिनमें राजा

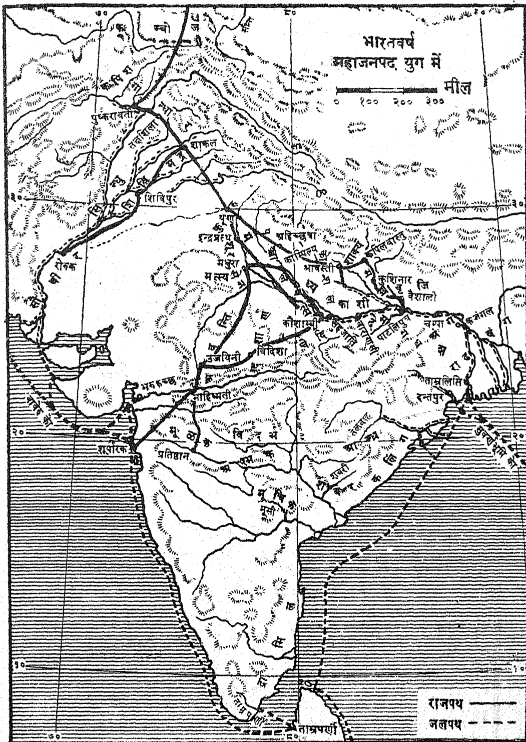
के बजाय मुखिया राज करते थे, उल्लेख मिलता है। पर बुद्ध के समय तक तो संघराज्यों या गणराज्यों की परम्परा पूरी तरह स्थापित हो चुकी थी। उस समय के कई महाजनपद भी संघ-राज्य थे।

इस युग तक बागवानी का विकास भी हो चुका था और शिल्पों की काफी उन्नति हो कर शिल्पियों के संघटन स्थापित हो चुके थे। समुद्र-यात्रा का बहुत प्रचार हो गया था।

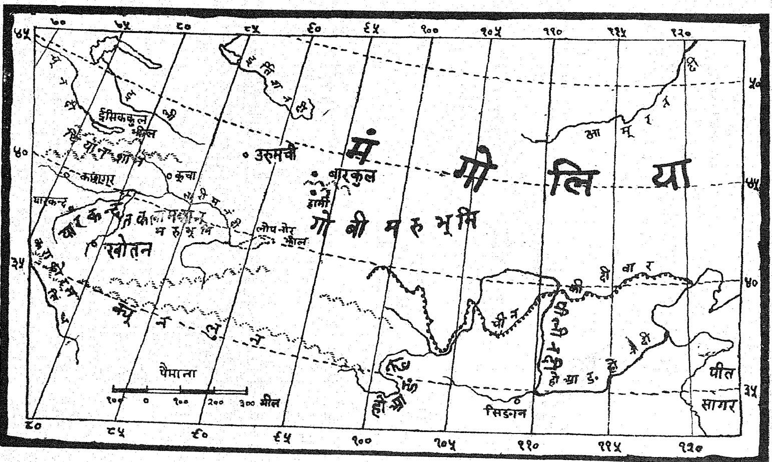
§. ७. आर्यों का भारत के अन्तिम छोर तक पहुँच कर बाहर फैलने लगना

जहाँ यह भीतरी विकास हो रहा था, वहाँ आर्यों का आगे फैलना भी जारी था। आरम्भिक पालि वाङ्मय से दामिल-रट्ठ अर्थात् तमिळ देश में आर्यों के आश्रम होना प्रतीत होता है। उससे उत्तर भारत के व्यापारियों का दामिलरट्ठ के काविरपत्तन (कावेरीपत्तन) और तम्बपन्नी (ताम्रपर्णी = सिंहल द्वीप) में जाना-आना भी प्रतीत होता है। उस द्वीप के विषय में वैसी कहानियाँ सुनाई देती हैं जैसी सुदूर देशों के विषय में नाविकों में चल जाया करती हैं। कुछ समय बाद पाण्ड्य और सिंहल नाम की आर्य बस्तियाँ स्थापित होती हैं। उनकी स्थापना की कहानियाँ सुपरिचित हैं। प्राचीन तमिळ राष्ट्र में तीन राज्य थे—चोल, पाण्ड्य और केरल। पांड्य और सिंहल तो निश्चय से आर्य प्रवासियों के राज्य थे; चोल और केरल भी आर्यों के थे या आर्यों के संसर्ग से जागरित द्राविडों के, सो नहीं कहा जा सकता। यह फैलाव की प्रक्रिया ठीक वही है जिसे हम वैदिक काल में देख चुके हैं। और उत्तर वैदिक तथा महाजनपद युगों में आर्य राज्यों का फैलाव ठीक उन सीमाओं से आगे शुरू होता है जिन तक आरम्भिक अनुश्रुति के अनुसार वैदिक काल में आर्यों का फैलाव हो चुका था। ये दोनों बातें अनुश्रुति की साधारण सत्यता को और पुष्ट करती हैं।

और यह फैलाव अब भारत की सीमाओं को भी लाँघने लगा था।



नक्शा ३—महाजनपद युग का भारतवर्ष



नक्शा ६—पूर्वी मध्य एशिया

पच्छिम तरफ बावेरु (बाबुल या बाबिलन) के साथ व्यापार चल चुका था। पूरब तरफ गंगा के मुहाने के आगे के अनेक प्रदेशों और द्वीपों में बुद्ध के समय से पहले ही आना-जाना शुरू हो गया था। इस नई दुनिया का नाम सुवर्णभूमि था। भारत और चीन के बीच का यह विशाल देश तब घने जंगलों से घिरा था जिनमें जंगली जानवरों के साथ रहने वाली आग्नेय जातियाँ तब चिकने पत्थर के हथियारों से शिकार कर गुज़र करती थीं। इस समूचे देश और इसके दक्खिन के द्वीपों (सुमात्रा जावा बोर्नियो आदि) को आबाद करने में अनेक शताब्दियाँ लग गईं। और इन्हें आबाद करने की प्रक्रिया वही थी जो स्वयं भारतवर्ष में शताब्दियों चली थी।

§ ८. आर्य फैलाव का सांस्कृतिक पहलू

अनुश्रुति के अनुसार आर्यों में से पहलेपहल अगस्त्य ने विन्ध्याचल पार किया था। तमिळ भाषा का पहला व्याकरण भी अगस्त्य ने अर्थात् पहले अगस्त्य या उसके किसी वंशज या उसके अनुयायियों में से किसी के वंशज ने बनाया। यह बात ध्यान देने योग्य है। हमने देखा है कि आज सब द्राविड भाषाएँ संस्कृत (ब्राह्मी) अक्षरों में लिखी जाती और संस्कृत के साँचे में ढली हैं। प्रकटतः आर्यों के संसर्ग से और आर्यों के प्रयत्न से ही वे लिखित भाषाएँ बनीं और उनमें वाङ्मय का बीज पड़ा। हम आगे देखेंगे कि आर्यों के अन्य जातियों के सम्पर्क में आने और उनके बीच आर्य उपनिवेश स्थापित होने पर भी यही प्रक्रिया दोहराई जायगी।

यों हमने देखा कि आर्यों के फैलने और उपनिवेश बसाने की एक विशेष पद्धति थी, जिसके मुख्य पहलू थे—क्षत्रिय वंशों की शाखाओं का नये देश खोज या जीत कर उनमें जा बसना, विद्वानों और मुनियों का बस्तियों से आगे बढ़ कर अपने आश्रम स्थापित करना और नई जातियों की भाषाओं को अपनी वर्णमाला में लिख कर उनमें साहित्य का विकास

करना[८] तथा उन्हें आर्य सभ्यता और संस्कृति सिखाना, एवं व्यापारियों का नये देशों से सम्पर्क स्थापित करना। इस पद्धति को हम भारत के अभ्युदय काल के प्रायः अन्त तक जारी रहता देखेंगे।

§९. प्राचीन जनपद और आधुनिक भाषाक्षेत्र

बुद्ध के समय के करीब तक समूचे भारत में आर्य जनपद स्थापित हो चुके थे। श्री धीरेन्द्र वर्मा को इस महान् सत्य के आविष्कार करने का श्रेय है कि हिन्दी क्षेत्र की वर्त्तमान बोलियों के विभाग करीब-करीब वही हैं जो प्राचीन जनपद थे।[९] धीरेन्द्र जी ने यह बात तो पहचानी, पर यह न जाना कि इसके द्वारा उन्होंने एक सोने की खान खोज निकाली थी। उक्त खोज बड़े मार्के की थी, क्योंकि यदि प्राचीन जनपदों का आबरंग[१०] आज तक मिटने नहीं पाया और आज के बोली-विभागों में भी बना है, तो इससे एक तो यह प्रकट है कि आर्य जनों का बसना कितनी गहरी घटना थी। दूसरे, हम यह देखेंगे कि जनपद भारतीय राजसंस्था की भी इकाइयाँ थे, प्रत्येक जनपद की अपनी सभा और अपना कानून था।[११] जनपदों का स्पष्ट व्यक्तित्व बनाये रखने में यह बात सहायक हुई होगी। और जब हम देखते हैं कि जनपदों की रूपरेखा आज तक नहीं मिटी, तब इससे उक्त स्थापना की अद्भुत पुष्टि होती है, यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जनपद जीवित सत्ताएँ थे। तीसरे, इससे हमें प्राचीन जनपदों

८. इस सम्बन्ध में दे० आगे भी २§१४; ३§१०; ४§§३,९; तथा ६§४।

९. धीरेन्द्र वर्मा (१९२२)—हिन्दुस्तान की वर्त्तमान बोलियों के विभाग और उनका प्राचीन जनपदों से सादृश्य, ना० प्र० पत्रिका १९७९, पृ० ३७९ प्र०।

१०. आबरंग शब्द मुगल चित्रकला का है, रूपरेखा के अर्थ में।

११. काशीप्रसाद जायसवाल (१९२०)—दि हिन्दू पार्लिआमेंट अंडर हिन्दू मौनार्की (हिन्दू राजाओं के अधीन हिन्दू राजसभा), मौडर्न रिव्यू १९२०, पृ० १२१-१३९; (१९२४) हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्यसंस्था), भाग २, पृ० ६० प्र०। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ४८७-४९१ तथा ६३१-६३८।

की सीमाओं का अन्दाज़ करने का एक साधन भी मिल गया। धीरेन्द्र जी की खोज केवल हिन्दी क्षेत्र के विषय में थी, मैंने यह देखा कि वही बात भारत के अन्य बोली-क्षेत्रों के विषय में भी सत्य है।[१२]

§१०. पारसी और मगध साम्राज्य

बुद्ध के समय के थोड़ा आगे-पीछे दो और महान् घटनाएँ होती हैं। एक तो भारत के पच्छिम पारसी साम्राज्य का उदय और दूसरे भारत में ही मगध साम्राज्य का विकास। पारसी साम्राज्य में बाख्त्री या बलख, शकों और मकों के देश अर्थात् शकस्थान और मकरान, पक्थों अर्थात् पठानों का देश, कम्बोज, कापिशी, गन्धार और सिन्धु सम्मिलित थे। सिन्धु का अर्थ प्राचीन भारत में सिन्ध नदी का बिचला काँठा अर्थात् नमक-पहाड़ियों के दक्खिन सिन्धसागर दोआब और डेराजात (डेरा इस्माइलखाँ, डेरा गाजीखाँ) होता था, न कि आजकल का सिन्ध प्रान्त। पक्थ या पठान तब भी भारतीय जाति गिने जाते थे। हम देख चुके हैं कि इनका सबसे पुराना उल्लेख ऋग्वेद में है। कम्बोज तो भारतीय महाजनपद था ही। बाख्त्री शकस्थान और मकरान, भारत और ईरान की सीमा के देश थे। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के अन्त में प्रायः ये सब भारतीय प्रदेश पारसी साम्राज्य से स्वतन्त्र हो जाते हैं।[१३]

सोलह महाजनपदों में से चार **एकराज्य** (अर्थात् एकतन्त्र राज्य)[१४] बुद्ध के समय तक प्रधान हो जाते हैं। बुद्ध के ही समय से उनमें परस्पर चढ़ाऊपरी शुरू होती है, और सवा सौ बरस के संघर्ष के बाद पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के मध्य में मगध का साम्राज्य भारत के मुख्य भाग में

---

१२. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—छठे भारतीय प्राच्य-सम्मेलन का कार्यविवरण पृ० १०६ प्र०; भारतभूमि और उसके निवासी पृ० २०४,३०१।

१३. दे० नव-परिशिष्ट १।

१४. पालि वाङ्मय का एकराज्य शब्द संघराज्य या गणराज्य के मुकाबले का है। उसका अर्थ है एक व्यक्ति का राज्य, समूह का नहीं।

स्थापित हो जाता है। इस साम्राज्य का एक शताब्दी का जीवन महाजन-पद-युग का उपसंहार है।

§ ११. अलक्सान्दर की चढ़ाई के समय भारत की उत्तर पच्छिमी सीमा

चौथी शताब्दी ई० पू० में मगध साम्राज्य की बागडोर महापद्म नन्द के हाथ में चली गई जिसने साम्राज्य के अधीन पुराने सब राजवंशों को उखाड़ कर नये युग का आरम्भ किया। महापद्म के उत्तराधिकारी के समय अलक्सान्दर की चढ़ाई हुई। पारसी साम्राज्य की सेनाओं में भाड़े पर काम करने वाले यूनानी सैनिकों की प्रधानता हो गई थी। इसी से यूनान-मकदूनिया के लोगों ने उस साम्राज्य की कमज़ोरी पहचान ली। और जब अलक्सान्दर के नेतृत्व में उन्होंने उस-पर चोट की तब वह बोदे पेड़ की तरह गिर पड़ा।

अलक्सान्दर की भारत-चढ़ाई के विषय में एक तो यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दूकश के उत्तर तरफ भी तब शशिगुप्त जैसे भारतीय सरदार थे। कम्बोज देश हिन्दूकश के उत्तर तरफ था ही और उसकी पच्छिमी सीमा बाख्त्री (बलख) से तथा उत्तरपच्छिमी सुग्द (आमू-सीर-दोआब = बोखारा-समरकन्द प्रदेश) से लगती थी, इसलिए बाख्त्री और सुग्द में भी कुछ भारतीयों का रहना स्वाभाविक था। शशिगुप्त अपने देश भारत से बाहर जा कर पारसी सम्राट् की सेवा करता था यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं। बहुत सम्भवतः वह कम्बोज का राजा था। अन्य भारतीय जनपदों के पारसी साम्राज्य से निकल जाने पर भी कम्बोज उस साम्राज्य में अलक्सान्दर के आने तक बना हुआ था।

दूसरे, हिन्दूकश के दक्खिन और हेलमन्द नदी के उत्तर का (आधुनिक अफ़गान) प्रदेश तो भारत में स्पष्टतः गिना ही जाता था। हेलमन्द का ईरानी नाम तब हैतुमन्त था, जो संस्कृत सेतुमन्त का रूपान्तर है। यूनानी उसे एतुमन्दर कहते थे। हेलमन्द में मिलने वाली

अरगन्दाब नदी को, जिसपर कन्दहार शहर बसा हुआ है, ईरानी हरह्वैती या हरउवती (सरस्वती) कहते थे; यूनानियों ने उसे अरखुती कहा। अरगन्द उसी का रूपान्तर है। हिन्दूकश की दक्खिनी तलैटी में रहने वाली अस्सकन और अश्वाकन नामक जातियों को अलक्सान्दर के साथियों ने असंदिग्ध रूप से भारतीय कहा है, और अरखुती की दून को भी भारत में गिना है।

§१२. मौर्य साम्राज्य के समय भारत के पाँच मंडल

मोरियों या मौर्यों का गण बुद्ध के समय हिमालय-तराई में था। उनका वंशधर चन्द्रगुप्त मकदूनियों को भारत से निकाल कर मगध साम्राज्य पर अधिकार कर लेता है। सेलेउकस् को हरा कर वह काबुल कन्दहार हरात और गदरोस प्रान्त (आधुनिक बिलोचिस्तान) भी प्राप्त करता है। उनके अतिरिक्त कम्बोज जनपद भी उसके **विजित** (साम्राज्य) में था। चन्द्रगुप्त का बेटा बिन्दुसार दक्षिण भारत के मुख्य अंशों को भी जीत लेता है। उसके बेटे अशोक के समय विजित पाँच चक्रों या मण्डलों में बँटा हुआ था। इन पाँच मण्डलों अर्थात् मध्यदेश, प्राच्य देश, दक्षिणापथ, पश्चिम देश और उत्तरापथ में भारतवर्ष को बाँटने की शैली हमारे देश में परम्परा से चली आती है। भारतवर्ष के जनपदों भाषाओं और जातियों के बँटवारे की वही स्वाभाविक शैली है, और अनेक युगों में जब भारत का राजनीतिक इतिहास अनेक धाराओं में बँट जाता है, तब प्रायः इनमें से एक-एक मंडल की अलग-अलग धारा हो जाती है।

§१३. खोतन उपनिवेश : दो अँधियारे देशों का रोशन होना

सुवर्णभूमि और हिन्दी द्वीपों (सुमात्रा जावा आदि) में आर्यों का बढ़ाव जारी रहा होगा, पर इस युग में एक नई दिशा में भी आरम्भ हो जाता है।

खोतन और भारत की अनुश्रुति के अनुसार अशोक के समय खोतन की आर्य बस्ती स्थापित हुई। इस अनुश्रुति की पुष्टि इस बात से होती है कि पहली शताब्दी ई० पू० में वहाँ विजयसम्भव नामक राजा राज्य करता था, और तब से ७८० ई० तक बराबर हिन्दू राजवंश बना रहा। पहली शताब्दी ई० पू० से पहले अशोक का ही युग ऐसा था जब कि भारत से बाहर भारतीय जाति का फैलना हो सकता था। २०० ई० पू० से तो उलटा मध्य एशिया से भारत की तरफ जातीय फैलाव की लहर चल रही थी। दूसरे, खोतन का इलाका पामीर के ठीक पूरब लगा है, और यह मालूम हो जाने पर कि कम्बोज देश बदख्शाँ-पामीर था, अब यह स्पष्ट है कि उसके पूरब के खुले मैदान में बढ़ना स्वाभाविक प्रक्रिया थी। तीसरे, अशोक के १३वें शिलाभिलेख में अधीन जनपदों में कम्बोज के ठीक बाद **नाभक** और **नाभपंति** के नाम हैं। नाभिकपुर ब्रह्मपुराण के अनुसार उत्तर कुरु में था और उत्तर कुरु थियानशान पर्वत के ढाल पर।[१५] चीनी यात्री युआनच्वाङ को अपनी वापसी यात्रा में खोतन से पूरब जाते हुए जो अन्तिम भारतीय बस्ती मिली थी उसका नाम उसने **नफोभो** दिया है। वह बस्ती लोपनौर झील के उत्तर की आधुनिक लौ-लान बस्ती के स्थान पर थी। **नफोभो** किसी संस्कृत नाम का चीनी रूपान्तर है; आधुनिक विद्वानों ने उसका मूल **नवभाग** अन्दाज़ किया था।[१६] वास्तव में वह नाभक होगा। इसका यह अर्थ हुआ कि अशोक का अधिकार तारीम काँठे के ठेठ पूरबी छोर तक था। **नाभपंक्ति** शायद तारीम के उत्तर तरफ के उपनिवेशों का नाम हो।

पामीर के पूरब और पच्छिम के मध्य एशिया के मैदानों को अब हम तुर्किस्तान कहते हैं। पर प्राचीन काल में तुर्क जाति वहाँ न थी, वह तब

---

१५. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ५७०-५७१।

१६. वैटर्स (१९०५)—औन युआन च्वाङ्स ट्रैवल्स इन इंडिया (युआन च्वाङ की भारत-यात्रा) जि० २, पृ० ३०५।

तक आजकल के सिबिरिया के दक्खिनी हिस्से में इर्तिश नदी से आमूर नदी तक के प्रदेशों में रहती या विचरती थी। ठेठ चीन की पच्छिमी सीमा के कानसू प्रान्त से ले कर काले सागर के उत्तर तक समूचे मध्य एशिया में तब शक और उनकी सगोत्र जातियाँ विचरती थीं। नस्ल से वे सब आर्य थीं और उनका जीवन तब खानाबदोशी का था। कानसू और कम्बोज के अर्थात् चीन और भारत के बीच के करीब एक हजार मील लम्बे देश में जो जातियाँ थीं उनके नाम ऋषिक और तुखार थे। उनके दक्खिन तिब्बत के विशाल देश में भी तब उन्हीं की तरह के शिकारी और खानाबदोश विचरते थे। इसलिए जैसे भारत के पूरब तरफ उसके और चीन के बीच एक विशाल गैर-आबाद अँधियारा देश था, वैसे ही भारत के उत्तर तरफ भी दोनों सभ्य देशों के बीच उतना ही बड़ा अँधियारा देश था। पूरब के बन्द अँधियारे देश को भारतीय आर्यों ने महाजनपद युग से खोलना शुरू किया था, उत्तर के अँधियारे देश में पहली रोशनी उन्हीं ने अशोक के समय में पहुँचाई। चीनी लोग दोनों देशों में भारतीयों के पीछे पहुँचे। इन महान देशों का खोला और बसाया जाना सभ्यता के इतिहास में वैसी ही बड़ी घटना थी जैसी उन्नीसवीं शताब्दी में आस्त्रेलिया और अफरीका के मध्य भाग में आधुनिक सभ्यता का पहुँचना।

§ १४. अशोक की धर्मविजय नीति की आलोचना

तमिळनाड और सिंहल के सिवाय समूचा भारत मौर्य साम्राज्य में समा चुका था कि अशोक ने अपनी तलवार म्यान में रख ली। अशोक की उस क्षमानीति की मैं अन्यत्र[१७] विस्तार से मीमांसा कर चुका हूँ, पर उसके विषय में आज भी अनेक भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं इसलिए उस मीमांसा की मुख्य बातें यहाँ दोहराने की आवश्यकता है।

---

१७. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ५७२–६१०।

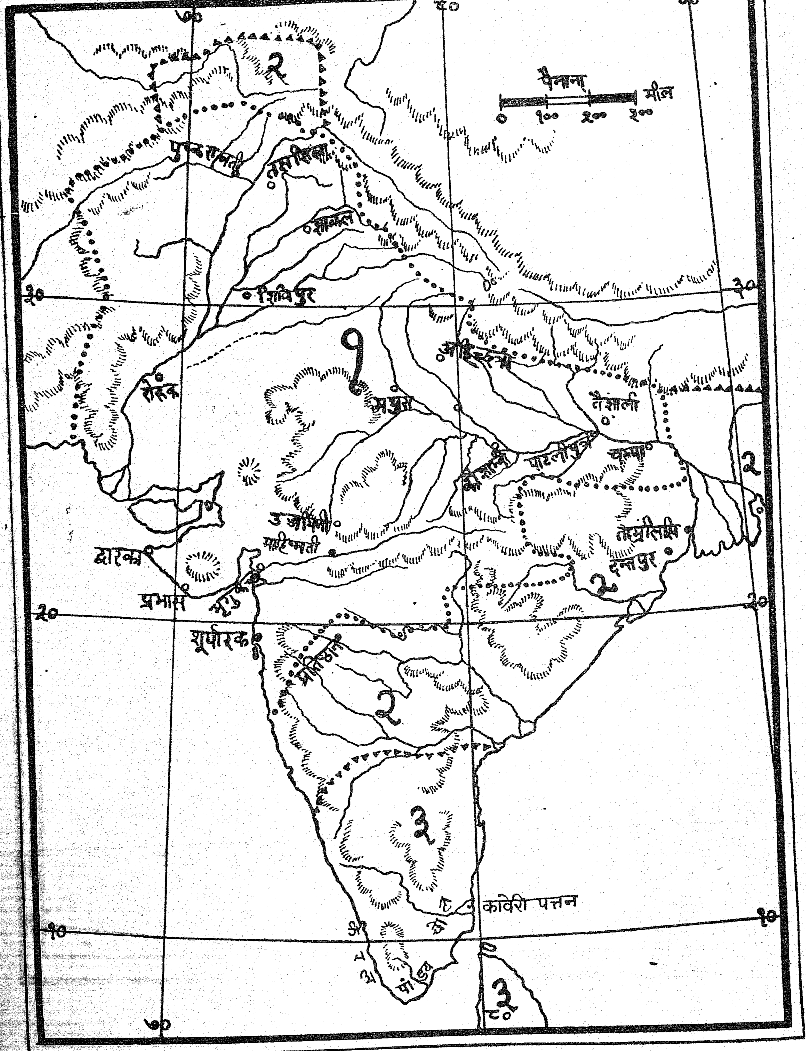
नये विजय न करने की अशोक की वह नीति उसके अपने शब्दों में इस प्रकार थी—"शायद आप लोग जानना चाहें कि जो अन्त (सीमा पर के राष्ट्र) अभी तक जीते नहीं गये हैं, उनके विषय में राजा क्या चाहता है। मेरी अन्तों के विषय में यही इच्छा है कि वे मुझसे डरें नहीं, और मुझपर भरोसा रक्खें; वे मुझसे सुख ही पावेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास मानें कि जहाँ तक क्षमा का बर्ताव हो सकेगा, राजा हमसे क्षमा का बर्ताव करेगा।" (दूसरा कलिंग शिलाभिलेख)

"जो अटवियाँ (जंगल-प्रदेश) देवताओं के प्रिय के विजित में हैं, उनसे भी वह अनुनय करता है, उन्हें मनाता है। और चाहे देवताओं के प्रिय को अनुताप है, तो भी उसका बड़ा प्रभाव (शक्ति) है। इसलिए वह (आटविकों से) कहता है कि वे (बुरे कामों से) लज्जित हों, व्यर्थ में न मारे जायँ।" (प्रधान शिलाभिलेख १३)

ये तो हैं अशोक के अपने शब्द। अब उसकी नीति की आधुनिक आलोचनाएँ सुनिए। सन् १९१९ में स्वर्गीय आचार्य जायसवाल जी ने लिखा था—"यदि अशोक राजनीति में धर्मभीरु न बन जाता······यदि वह अपने पूर्वज की नीति को जारी रखता तो वह ईरान की सीमा से कन्या कुमारी तक समूचे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) को वस्तुतः एकच्छत्र राज्य में ला सकता था। वह आदर्श तब से आज तक चरितार्थ नहीं हो पाया। इतिहास का विशेष सुयोग होने पर एक ऐसे मनुष्य के, जो स्वभाव से किसी महन्त की गद्दी के लिए उपयुक्त था, अकस्मात् राजसिंहासन पर उपस्थित होने से (उस आदर्श की पूर्ति की) घटना शताब्दियों के लिए नहीं सहस्राब्दियों के लिए पिछड़ गई।"[१८]

सन् १९२३ में डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने लिखा—"बिहार का छोटा-सा मगध राज्य···चन्द्रगुप्त के समय हिन्दूकश से तमिळ देश की सीमा तक विस्तृत मगध साम्राज्य बन चुका था।······यदि धम्म का

१८. काशीप्रसाद जायसवाल (१९१९)—ज० बि० ओ० रि० सो० पृ० ८३।



नक्शा ४—भारत में आर्यों का फैलना

संकेत

●●●●●●●●●●● ऐसी रेखाओं के भीतर १ = वैदिक काल का आर्यावर्त

▲▲▲▲▲▲▲▲▲▲ ऐसी रेखाओं के भीतर २ = उत्तर वैदिक काल में आर्यावर्त का विस्तार

३ = महाजनपद युग में आर्यों का आगे फैलना

भूत...(अशोक) के सिर पर सवार न हो गया होता...तो मगध की अदम्य सामरिक वृत्ति और अद्भुत राजनीति ने भारत के दक्खिनी छोर के तमिळ राज्यों और ताम्रपर्णी...(को) अधीन कर के ही दम लिया होता; और शायद वे तब तक शान्त न होतीं जब तक भारतवर्ष की सीमाओं के बाहर रोम की तरह एक साम्राज्य स्थापित न कर लेतीं। भारतवर्ष में आर्य प्रभुता की स्थापना अशोक से बहुत पहले पूरी हो चुकी थी।...आर्य भाषा और जीवनपद्धति लगभग समूचे भारत में व्याप्त हो चुकी थी।...विभिन्न भारतीय नस्लों को एक राष्ट्र—प्रत्युत एक साम्राज्य—में ढाल देने की सामग्री वहाँ उपस्थित थी।...यदि किसी बात की ज़रूरत थी तो राजनीतिक स्थिरता की, राजनीतिक एकता की। अशोक ने यदि केवल अपने पूर्वजों की नीति जारी रक्खी होती और बिम्बिसार के समय शुरू हुई केन्द्राभिगामी शक्तियों को सहारा दिया होता, तो वह अपनी शक्ति और शासन-योग्यता से मगध साम्राज्य का संघटन दृढ कर देता, और उस राजनीतिक स्थिरता को निश्चित कर देता, किन्तु उसके... इस नीतिपरिवर्तन का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही उज्ज्वल रहा हो, राजनीतिक दृष्टि से विनाशकारी हुआ। भारतवासियों के स्वभाव में ही शांति-प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति के पीछे मरने की आदत पैदा हो गई और जम गई।...अशोक की नई दृष्टि ने भारतीयों की केन्द्र-ग्रथित राष्ट्रीय राज्य और विश्व-साम्राज्य की भावनाओं को मार दिया।...ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की धर्मचेष्टाओं से भारत की राष्ट्रीयता और राजनीतिक गौरव नष्ट हो गये।"[१९]

इन आलोचनाओं के विषय में मैंने यह निवेदन किया था[२०] कि इनकी "जड़ में...तुलनात्मक इतिहास का गलत अन्दाज़ है।"

---

१९. देवदत्त रा० भण्डारकर (१९२३) अशोक, पृ० २४२–२४४।

२०. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३) भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ६०२ प्र०, एकाध शब्द के परिवर्त्तन के साथ।

"किसी एक महापुरुष की सनक या करतूत से एक समूची जाति का स्वभाव और उसके इतिहास का मार्ग हमेशा के लिए नहीं बदल सकता। यदि तीसरी शताब्दी ई० पू० के भारतवासियों में अपने समूचे देश को एक साम्राज्य में लाने की ओर उस समय के अपने पड़ोसी विदेशों को भी उसमें सम्मिलित करने की आकांक्षा योग्यता और क्षमता—'सामरिक वृत्ति और राजनीतिक प्रतिभा'—थी, तो अशोक के दबाये वह न दब सकती। वह क्षमता और प्रतिभा अशोक को गद्दी से उतार फेंकती, जैसे उसने नंद को उतार फेंका था, या अशोक के आँख मूँदते ही फिर प्रकट हो सकती थी।...दूसरे, प्रो० भण्डारकर का यह विचार प्रतीत होता है कि भारतीय रोम-साम्राज्य की तरह कोई साम्राज्य खड़ा न कर सके, वे भारतवर्ष में वह राजनीतिक एकता और स्थिरता न पैदा कर सके जिससे यह देश एक राष्ट्र—बल्कि विश्वसाम्राज्य का केन्द्र—बन जाता, और काश, कि ठीक उस समय जब कि वे ऐसा करने वाले थे अशोक के सिर पर धर्म का भूत सवार न हो गया होता!...

"किंतु क्या यह सच है? रोम या इतालिया की भारतवर्ष से तुलना करना गलत है। रोम पाटलिपुत्र की तरह केवल एक नगरी थी, और इतालिया मगध की तरह एक जनपद; मगध का भारतीय साम्राज्य रोम के साम्राज्य से अधिक विस्तृत अधिक आबाद और कहीं अधिक सुसंघटित सम्पन्न तथा समृद्ध था...। इतालिया की राष्ट्रीय एकता की तुलना यदि करनी हो तो मगध या वृजिसंघ या कलिङ्ग या आन्ध्र की राष्ट्रीय एकता से करनी होगी। उनके विषय में हम बहुत नहीं जानते, पर कलिङ्ग ने मगध का जैसा मुकाबला किया था, और एक बार नन्दों की और फिर मौर्यों की अधीनता से जिस प्रकार गरदन छुड़ा ली थी, उससे जान पड़ता है कि राष्ट्रीय जीवन की भारतवर्ष के जनपदों में भी कुछ कमी न थी। और समूचे भारतवर्ष में मौर्य साम्राज्य ने और उसके उत्तराधिकारी साम्राज्यों ने जो राजनीतिक एकता और स्थिरता बनाये रक्खी, तथा जो राष्ट्रीय जीवन की एकता अनेक अंशों में पैदा कर दी, वह उससे निश्चय से ही अधिक थी

जो कि समूचे रोम-साम्राज्य या उसके उत्तराधिकारियों ने अपने क्षेत्र में बनाये रक्खी या पैदा की।...भारतवर्ष के इतिहास में मौर्यों के समय से जो बड़े-बड़े एकराज्य स्थापित होते रहे, उनमें से प्रत्येक के क्षेत्रफल जनसंख्या और जीवनकाल की तुलना युरोप के इतिहास के आधुनिक युग से पहले तक के राज्यों से की जाय, तो राजनीतिक स्थिरता और राजनीतिक एकता के उक्त हिसाब में भारतवर्ष ही बाजी ले जायगा।

"रोम या इतालिया की सीमा के बाहर रोम साम्राज्य का फैलना और भारत की सीमाओं के बाहर भारतीय साम्राज्य का फैलना एक पाये की बातें नहीं हैं। तो भी हम यह देखेंगे कि अशोक के चार पाँच शताब्दी पीछे तक भारतीयों ने समूची सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीपों को तथा सीता[२१] और तारीम के काँठों को दूसरा भारत बना ही डाला। और विचार करने पर यह पाया जायगा कि धम्मविजय की नीति उन उपनिवेशों की बुनियाद रखने में बड़ी सहायक रही।[२२] भारत और बृहत्तर भारत के वे सब राज्य और उपनिवेश मिल कर शायद कभी एक अकेले साम्राज्य में सम्मिलित नहीं रहे। किंतु प्राचीन युग के साधनों और हथियारों से क्या उतना बड़ा साम्राज्य खड़ा करना कभी सम्भव भी था?

"तो भी, क्या यह अच्छा न होता कि अशोक ने कम से कम तमिळ राष्ट्रों और ताम्रपर्णी (सिंहल) को मौर्य साम्राज्य में मिला लिया होता? बेशक यदि वह चाहता तो उन्हें जीत लेना असम्भव न होता किंतु शायद उनके लिए वही कीमत देनी पड़ती जो कलिङ्ग के लिए देनी पड़ी थी।...और उनके मौर्य विजित में शामिल हो जाने का फल क्या निकलता? फल यही होता कि समूचा भारत एक राज्य बन जाता,

---

२१. खोतन और काशगर के बीच उत्तर तरफ बह कर तारीम में मिलने वाली नदी जिसपर यारकंद शहर बसा है, अब यारकंद कहलाती है। उसका संस्कृत नाम सीता था। चीनी लोग उसे अब तक सीतो कहते हैं।

२२. दे० आगे ३ §१०; ४§९।

जिससे उसमें समान कानून ··और एकराष्ट्रीयता का विकास होना अधिक सुगम हो जाता। किंतु क्या ये सब लाभ अशोक ने अपने **धम्मविजय** से ही न पा लिये थे? क्या धम्मविजय **शान्तिमय अनुप्रवेश** (पीसफुल पेनिट्रेशन) न था? यदि वह प्रभाव और रोबदाब से ही पड़ोसी राज्यों में अपने राज्य की तरह सब काम करवा सकता था, तो उसे व्यर्थ में हत्या करने की ओर स्वाधीनताप्रेमी छोटे छोटे जनपदों को साम्राज्य का जानी दुश्मन बना लेने की ज़रूरत क्या थी?

"व्यक्ति और छोटे समूहों की स्वाधीनता और बड़े राष्ट्र की राष्ट्रीयता दोनों अच्छे आदर्श हैं; किंतु दोनों में सदा से क़शमकश रही है। दोनों की अति बुरी है। व्यक्ति और छोटे समूह बड़े राष्ट्रों के अधीन होना न सीखें तो वे कूपमण्डूक बन जाते हैं। दूसरी तरफ, बड़े राष्ट्रों की एकराष्ट्रीयता की साधना में व्यक्तियों और समूहों की स्वतंत्रता बिलकुल कुचल दी जाय तो मनुष्य की मनुष्यता नष्ट हो जाती है। राष्ट्रीयता और एकराज्य का भाव इतिहास में केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति पैदा करता है और स्वाधीनता का भाव केन्द्रापमुखी। जिन्दा जातियों के इतिहास में उन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतितुलन बराबर होता रहता है।

"चंद्रगुप्त और बिंदुसार को युद्धों से ही फ़ुरसत मुश्किल से मिली होगी। कौटल्य के **अर्थशास्त्र** से हमें इस बात की कुछ झलक मिलती है कि छोटे-छोटे जनपदों के संघों को तोड़ने के लिए उन्हें कैसे विकट साधनों का प्रयोग करना पड़ा था। यह निश्चय मानना चाहिए कि परास्त जनपदों का असंतोष बहुत जल्द साम्राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया और विद्रोह पैदा कर देता यदि अशोक ठीक मौके पर शांति और क्षमा की घोषणा न कर देता। उसकी उस गौरव के समय संयम की नई नीति ने देश की 'राजनीतिक स्थिरता और राजनीतिक एकता' को ढीला करने के बजाय उलटा पुष्ट किया। साम्राज्यों का संघटन सदा शस्त्रों और दण्ड से ही नहीं होता, समय-समय पर उन्हें साम की अपेक्षा होती है। दण्ड के ज़ोर पर बहुत से जनपदों के एकराज्य के अधीन जुते रहने

से ही उनमें एकराष्ट्रीयता पैदा नहीं हो जाती; शांति की नीति से अनेक साधनों से उनमें जो आंतरिक एकता उत्पन्न की जाती है, वही एक-राष्ट्रीयता की पक्की बुनियाद होती है। उस प्रकार की आंतरिक एकता पैदा करना अशोक की विशेष नीति रही प्रतीत होती है। उसे **व्यवहार-समता** (कानून और न्याय-पद्धति की एकता) और **दण्डसमता** (शासन की एकता) अभीष्ट थी। अपने सीधे शासित प्रदेशों के अंदर उसने जो सुधार किये सो किये, किन्तु अपने अधीन जनपदों—योन कम्बोज रठिक आंध्र आदि—में भी उसने **धम्ममहामात** नियुक्त कर दिये, जिनका काम सब जगह कानून और व्यवहार (न्याय) की प्रक्रिया को एक समान मृदु बनाना था। यदि दण्ड के ज़ोर पर अशोक अपने इन अधीन जनपदों के कानून और प्रथा में इस प्रकार दखल देता, तो शायद वे उलटा विद्रोह करने को प्रवृत्त होते।

......"और जहाँ अपने साम्राज्य के अन्दर अशोक ने यह कुछ किया वहाँ बाहर क्या किया? उसका **धम्मविजय** क्या चीज थी? उसने अपने पड़ोस और दूर के विदेशों के अंदर अपने चिकित्सालय खुलवा दिये, सड़कों पर पेड़ रोपवा दिये तथा **उदपान** (बावड़ियाँ और कुएँ) खुदवा दिये।...वे चिकित्सालय आदि क्या विदेशों में उसका प्रभाव फैलाने वाले केन्द्र न थे? क्या धम्मविजय की नीति वही चीज़ नहीं है जिसे हम आजकल की राजनीतिक परिभाषा में शांतिपूर्वक अनुप्रवेश कहते हैं? अपने प्रभाव और दबदबे से जहाँ हाथ डाला जा सके, वहाँ व्यर्थ में युद्ध क्यों किया जाय?

"अशोक के वचनों और कार्यों पर ध्यान दें तो वह सधा हुआ साम्राज्यसाधक दिखाई देता है। उसका नीति-परिवर्त्तन 'मगध की अद्भुत राजनीति' की केवल एक नई और अत्यन्त समयोचित करवट थी। किंतु वह परिवर्त्तन सहज सयानेपन से प्रेरित सच्चा आन्तरिक परिवर्त्तन था। उसकी और आजकल के शांतिपूर्वक अनुप्रवेश करने वाले साम्राज्यकामियों की बातों और बर्त्ताव में यही फरक है कि आज

कल के उन राजनीतिचारियों की कृति और उक्ति में जहाँ स्पष्ट मक्कारी झलक जाती है, वहाँ अशोक का बुरे से बुरा विरोधी भी नहीं कह सकेगा कि उसकी बातों पर सरल सच्चाई की छाप नहीं है।

"फिर जब मौर्य साम्राज्य की रोम-साम्राज्य से तुलना की गई है तब इस बात की याद दिलाना भी मनोरंजक होगा कि अशोक ने तेरहवें शिलाभिलेख में अपने उत्तराधिकारियों को नये विजय न करने का जैसा उपदेश दिया है, कुछ उससे मिलता-जुलता उपदेश रोम के पहले सम्राट् औगुस्तुस् के प्रसिद्ध अंकुरा अभिलेख में भी है। ६ ई० में त्यूतोबर्जवाल्ड में जर्मनों से हारने पर औगुस्तुस् ने यह समझ लिया कि रोम-साम्राज्य की सीमाएँ एल्ब नदी तक नहीं पहुँचाई जा सकतीं, और इसीलिए अपने उक्त अभिलेख में उसने अपने वंशजों को यह वसीयत की कि साम्राज्य को और अधिक बढ़ाने के जतन न किये जाँय। क्या यह आदेश अशोक के आदेश के समान नहीं हैं? दोनों में भेद केवल यह है कि अशोक का आदेश जहाँ आंतरिक अनुशोचन और धर्मवेदना के कारण है, वहाँ औगुस्तुस् का अपनी हार के अनुभव के कारण। उस धर्मवेदना के कारण अशोक ने जो अनेक सुधार किये उनमें से एक था **समाजों** अर्थात् पशुओं की लड़ाइयों[२३] को रोकना। प्राचीन रोम भी अपने उस प्रकार के समाजों के लिए बदनाम है। और जिन आधुनिक भारतीय आलोचकों के मन में यह विश्वास सरकता प्रतीत होता है कि अशोक की उस **विहिंसा**-निषेध की नीति से भारतीयों की क्षात्र शक्ति क्षीण होने लगी, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि रोम साम्राज्य के पतन के मुख्य कारणों में रोम की जनता का समाजों का व्यसन भी गिना जाता है। **विहिंसा** या भोंडी क्रूरता और वीरता कभी एक वस्तु नहीं हैं; और गौरव के समय जो

२३. सम् = इकट्ठा, अज् = हाँकना, समाज = इकट्ठा हाँकना। पशुओं को मुकाबले के लिए जहाँ इकट्ठा दौड़ाया या लड़ाया जाता था उस तमाशे को समाज कहते थे। समाज शब्द का मूल अर्थ यही था।

मनुष्य या राष्ट्र संयम करना नहीं सीखते, उनका पतन उलटा जल्दी होता है। रोमक लोग अपने गौरव-काल में भी जहाँ अपने उजड्डपन को न रोक सके, वहाँ भारतीयों ने अपने गौरव के समय अपनी सहज मानव उच्चता के कारण अपनी पुरानी उजड्ड आदतों का दमन कर लिया। और भारत की उस मानव उच्चता का मूर्त्त रूप अशोक था।

"इसके बावजूद भी हमें यह स्वीकार करना होगा कि यदि अशोक के समय नहीं तो उसके उत्तराधिकारियों के समय... उसकी क्षमा की नीति उचित से अधिक सीमा तक बर्ती गई, और इसका परिणाम मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ। किंतु भारतवर्ष के आत्मा ने उस शान्ति-नीति को स्वीकार नहीं किया। ज्योतिषी गर्ग ने उसके संचालक को **मोहात्मा** (मूर्ख) और **धम्मवादी अधार्मिक** कहा, उसके **धार्मिक विजय** का मज़ाक उड़ाया, तथा जो नया साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के खँडहरों पर खड़ा हुआ, उसके नीति-संचालकों ने कौटल्य के शब्द दोहराते हुए घोषणा की कि **नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्**—राजा अपने दण्ड (शासनशक्ति) को सदा उद्यत रक्खे!"

तीसरा व्याख्यान*

सातवाहन शुंग शक

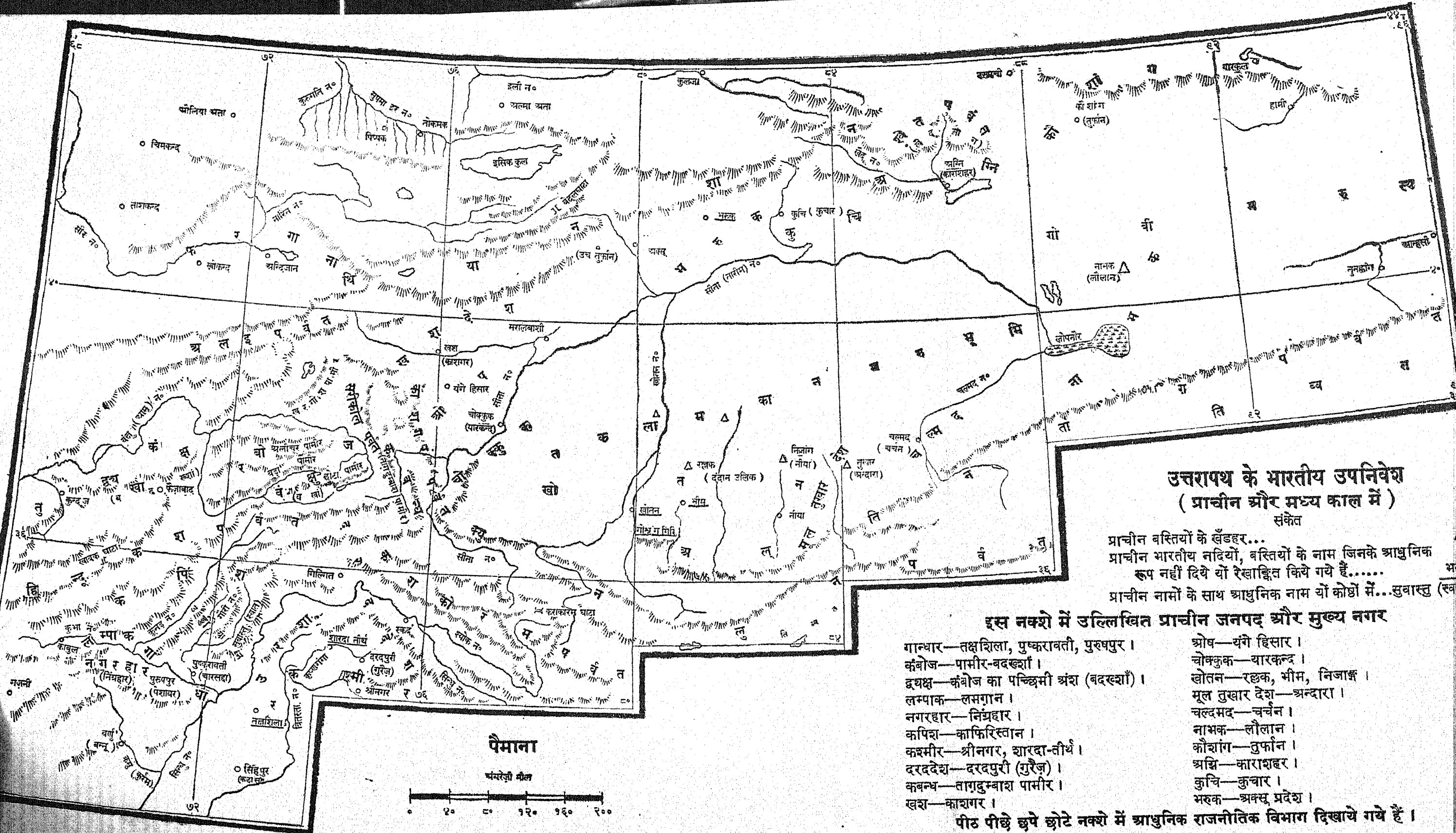
§१. चेदि सातवाहन यवन पार्थव शुंग

मौर्य साम्राज्य के शिथिल हो जाने पर २१० ई० पू० के करीब कलिंग में चेदि राजवंश और महाराष्ट्र में सातवाहन राजवंश उठ खड़ा हुआ। पच्छिम के मकदूनी साम्राज्य के भी टुकड़े हो गये थे। ईरान के उत्तरपूर्वी पार्थव प्रान्त (= आधुनिक खुरासान) के एक नेता ने ईरान को स्वतंत्र कर लिया, और बाख्त्री या बलख में बसे हुए एक यवन (यूनानी) सैनिक ने वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। पार्थव वंश ने ईरान में चार शताब्दी तक स्वतंत्र मजबूत राज्य बनाये रक्खा। पर यह बात याद रखने लायक है कि पार्थवों के सिक्कों पर केवल यूनानी लेख रहते थे और पार्थवों पर सब तरह से यूनानी प्रभाव काफी था। भारत के पच्छिम के सब देशों की व्यापारिक भाषा इस युग में यूनानी ही रही।

मौर्य साम्राज्य को निःशक्त देख बलख के यूनानियों ने अफगानिस्तान को जीत लिया और पटना तक पर चढ़ाई की! उस दशा में कलिंग का राजा खारवेल पटने की ओर बढ़ा। पीछे उसने उत्तरापथ यानी पंजाब तक यवनों का पीछा किया। मगध में भी क्रान्ति हो गई और सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने नये राज्य की स्थापना की। पुष्यमित्र ने भी पीछे शाकल (स्यालकोट) और सिंध नदी तक चढ़ाई की। इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि काबुल दून की कापिशी नगरी, पुष्करावती (= आधुनिक चारसद्दा) और तक्षशिला में छोटे-छोटे यवन राज्य स्थापित हो गये तथा मथुरा तक शुंग साम्राज्य रहा। पीछे एक यवन

---

* २ अप्रैल १९४१ को दिया गया।



सा ८—सीता काँठे का हिन्द (उत्तरापथ के भारतीय उपनिवेश)

राज्य शाकल में भी स्थापित हुआ। बीच के प्रदेश में गण राज्य फिर उठ खड़े हुए और पंजाब के कुछ गण प्रवास कर राजस्थान[1] में भी चले आये। उनके दक्खिन विदिशा (भेलसा) तक शुंग साम्राज्य तथा उज्जैन तक सातवाहन साम्राज्य रहा।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यवनों का राज्य ज्यों ही हिन्दूकश के दक्खिन तरफ फैलता है, उनके सिक्कों पर यूनानी के साथ प्राकृत लेख भी रहने लगते हैं और कापिशी तथा पुष्करावती की नगरदेवियों तथा अन्य भारतीय देवताओं के चित्र अंकित किये जाने लगते हैं। इससे यह प्रकट है कि कापिशी आदि की भाषा प्राकृत थी और भारत की सीमा हिन्दूकश के ठीक दक्खिनी चरणों तक थी। यह भी उल्लेखनीय है कि ये यवन राजा बौद्ध वैष्णव आदि भारतीय धर्मों को अपना लेते हैं।

§ २ शक

प्रायः पौन शताब्दी तक इस प्रकार शक्तियों का संतुलन बना रहता है। आगे जो परिवर्तन होता है उसकी प्रेरणा चीन की उत्तरी सीमा से चलती है। चीन की दीवार ने वहाँ के हूण लोगों का चीन पर धावे मारना रोक दिया था, इसलिए वे उस दीवार की पच्छिमी सीमा के आगे ऋषिक लोगों पर टूटे। ऋषिक अपने साथ तुखारों को खदेड़ते हुए सुग्द (=सीर-आमू-दोआब) के शकों पर टूटे और उन सब जातियों ने बलख के यूनानी राज्य को मिटा दिया। सुग्द के शक तब पार्थव राज्य में घुस

---

१. राजस्थान और राजपूताना शब्द बहुत नये हैं, उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों के चलाये हुए। प्राचीन इतिहास में राजपूताना नाम का प्रयोग भ्रमजनक है। राजस्थानी भाषा के समूचे क्षेत्र अर्थात् राजपूताने और मालवे में जो पर्वत-शृंखला है उसका प्राचीन नाम पारियात्र है; दे० जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि पृ० ६३-६४। इस समूची शृंखला को एक नाम देने से प्रकट है कि हमारे प्राचीन पुरखों ने इस भूभाग की एकता पहचानी थी जो आज भाषा की एकता से सूचित है। राजस्थान को हम प्राचीन काल में पारियात्र-मण्डल या पारियात्र ही कहें तो ठीक।

कर हरात से शकस्थान (= आधुनिक सीस्तान) के अपने भाईबन्दों की तरफ बढ़े, और पार्थवों से दबाये जाने पर शकस्थान से हमारे सिन्ध पर आ टूटे (लग० १२० ई० पू०)। सिन्ध दूसरा शकद्वीप बन गया। और शक लोग यदि शकस्थान में ही[२] भारतीय धर्म नहीं अपना चुके थे तो सिन्ध आ कर उन्होंने अपना लिया, क्योंकि अगली विजय-यात्राओं में वे शुरू से ही भारतीय धर्मानुयायी पाये जाते हैं। सिन्ध से उन्होंने सुराष्ट्र (काठियावाड़) पर चढ़ाई की और वहाँ वृष्णि-गण का राज्य मिटाते हुए उज्जैन को भी आ दखल किया (१०० ई० पू०)। सातवाहनों का उत्तरी इलाका उनसे छिन गया। उज्जैन से शक सरदारों ने विदिशा पर और उत्तर बढ़ते हुए मथुरा पर भी हमला किया। रास्ते में पुष्कर पर उनका मालव गण से मुकाबला हुआ। विदिशा और मथुरा से शुंग राज्य मिट गया और यह चोट उसके पटने से भी उखड़ जाने का कारण हुई (७३ ई० पू०)।

सिन्ध से सीधे उत्तर-मुख पंजाब की तरफ बढ़ते हुए शकों ने गन्धार के यूनानी राज्यों को भी मिटा दिया। यों शुंग और यवन राज्य उनकी चोट खा कर गिर पड़े, और सातवाहन राज्य को भी गहरा धक्का लगा। पारियात्र और पंजाब के गण-राज्यों को घोर संघर्ष में से गुज़रना पड़ा।

सातवाहन राज्य शीघ्र सँभल गया और राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने मालव गण की मदद से इन शकों को उखाड़ फेंका (५७ ई० पू०)।

§ ३. पह्लव

इसी समय या इसके कुछ आगे-पीछे शकस्थान में एक पह्लव या पार्थव राजवंश खड़ा हुआ—वह प्रधान पार्थव राजवंश की एक शाखा हो या उसकी कमजोरी के समय उठा हुआ स्वतंत्र राजवंश हो। शकस्थान से यह पह्लव राज्य हरउवती अर्थात् कन्दहार की दून की तरफ बढ़ा, और

---

२. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८०१-८०२।

यह बात उल्लेखयोग्य है कि ज्यों ही यह उधर बढ़ने लगा इसके सिक्कों पर प्राकृत लेख अंकित होने लगे—अर्थात् इस तरफ अरगन्दाब की दून से भारतवर्ष का आरम्भ होता था। ये पह्लव राजा भी बौद्ध धर्मानुयायी थे। हरउवती से इन्होंने कापिशी तक बढ़ कर वहाँ के छोटे से यवन राज्य को तथा फिर गन्धार को जीत कर शक राज्य को भी मिटा दिया।

यों उज्जैन में शक राज्य केवल ४३-४४ बरस टिका, सुराष्ट्र मथुरा तथा गन्धार में उससे कुछ ज्यादा-कम। शकों ने भारत में सब जगह राजक्रान्ति कर दी थी, पर स्वयं उनके साम्राज्य का आधी शताब्दी के भीतर कहीं चिह्न न रहा।[3]

§४. सातवाहनों का भारतीय साम्राज्य

इस बीच सातवाहन पटने को भी जीत कर (२८ ई० पू०) शुंग साम्राज्य के उत्तराधिकारी बन चुके थे। इसलिए जब हरउवती कापिशी गन्धार में पह्लव राज्य स्थापित हुआ तब भारत में सातवाहनों का वह एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी था। दोनों के बीच कुछ गणराज्य बाकी रहे होंगे, जो सातवाहनों का नेतृत्व स्वीकार करते होंगे। २७ ई० पू० में रोम में भी साम्राज्य स्थापित हुआ और उसके शीघ्र बाद भारत-सम्राट् पोरुस् ने रोम-सम्राट् औगुस्तुस् के पास अपने दूत भेज कर सामरिक सन्धि का प्रस्ताव किया। यह पोरुस् अर्थात् **पोरु**[४] या पुरु कौन था और यह सामरिक सन्धि किस प्रयोजन से और किसके खिलाफ होती, इस विषय पर अनेक अटकलें लगाई गई हैं। अन्यत्र[५] मैंने कहा है कि यह गौतमीपुत्र

---

३. उक्त वृत्तान्त जायसवालजी द्वारा तथा भारतीय इतिहास की रूपरेखा में अपनाये गये तिथिक्रम के अनुसार है किन्तु दूसरे किसी तिथिक्रम से भी इस साधारण वृत्तान्त में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा।

४. पोरुस् और औगुस्तुस् में अंतिम स् प्रथमा एकवचन की विभक्ति है, असल नाम पोरु ही है।

५. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—(१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा

शातकर्णि का बेटा वासिष्ठीपुत्र पोळुमावि था, और उसका सामरिक सन्धि का प्रस्ताव इसलिए था कि भारतीय और रोमी साम्राज्यों के बीच अब एक ही उभयनिष्ठ शत्रु पार्थव राज्य था जिसके दोनों तरफ से एक साथ चोट करने की बात शायद वासिष्ठीपुत्र सोचता था।[६] किन्तु वह बात हुई नहीं। और पह्लव राज्य को जिस नई शक्ति ने उखाड़ा, वह उत्तर भारत में सातवाहनों की भी प्रतिद्वन्द्वी बन गई और अन्त में उन्हें दक्खिन वापिस लौटा कर रही। पह्लवों का राज्य भी आधी शताब्दी से कम ही टिका और सातवाहन साम्राज्य उत्तर भारत में प्रायः एक शताब्दी तक रहा।

§५. ऋषिक-सातवाहन संघर्ष

उत्तर भारत में यह नई प्रकट होने वाली शक्ति ऋषिकों की थी। दूसरी शताब्दी ई०पू० के मध्य में उनका कानसू की सीमा से उठ कर बलख तक चले आना हमने देखा है। चीन-सम्राटों को अपनी पच्छिमी सीमा पर भी हूणों का रहना अच्छा नहीं लगा, इसलिए उन्होंने अपने दूत चाङ किएन को बलख में ऋषिकों के पास भेजा (१२८ ई० पू०)। चाङ किएन का मध्य एशिया द्वारा हिन्द का रास्ता पा लेना उस युग में वैसी ही बात थी जैसी पन्द्रहवें शतक में पुर्त्तगालियों का हिन्द का सीधा रास्ता ढूँढ निकालना। चीन-सम्राट् ने इसके बाद हूणों को कानसू के पच्छिम से मार भगाया जिससे ऋषिकों को अपना पुराना देश भी वापिस मिला। इधर उनके कबीले हिन्दूकश के दक्खिन भी उतर आये और कुछ समय बाद उन सब को एक कर उनके राजा कुषाण (कफ्स १म) ने अफगानिस्तान और गन्धार में पह्लव राज्य का स्थान ले लिया। कुषाण का बेटा विम (कफ्स २य) गन्धार से आगे बढ़ने लगा तो उसकी

पृ० ९६७-९६८; (२) सातवें भारतीय ओरियंटल कान्फरेंस (प्राच्य सम्मेलन) का कार्यविवरण पृ० ६२५–६२७।

६. दे० नव-परिशिष्ट २।

सातवाहनों से ठन गई । ऋषिक लोग भारत में शक या तुखार ही कहलाये; इसलिए यह शक-सातवाहन संघर्ष का सवा शताब्दी बाद फिर से जारी होना माना गया ।

अल्बरुनी के ग्रन्थ से हमें यह पता चलता है कि इस नये शक राजा अर्थात् विम को मुलतान के पास करोड़ नामक स्थान पर विक्रमादित्य शालिवाहन (= सातवाहन) ने युद्ध में मार डाला और तब उस संवत् का आरम्भ हुआ जिसे शालिवाहन-शकाब्द या शकाब्द कहा जाता है।[७] अल्बरुनी से पहले ज्योतिषी भट्टोत्पल (९६६ ई०) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने भी यही बात लिखी है, और कुछ जैन ग्रन्थों में भी ऐसी ही अनुश्रुति है।[८] ऋषिकों की करोड़ पर यह हार ७८ ई० में ही हुई और उसी से शक-संवत् चला, इस बात को अभी हम भले ही विवादग्रस्त मानें, तो भी इतना निश्चित है कि पंजाब से एक बार ऋषिक राज्य उखड़ गया और फिर एक नये ऋषिक सरदार कनिष्क ने खोतन के राजा विजयकीर्ति के साथ उत्तर भारत पर चढ़ाई कर उसे पुनः स्थापित किया। उक्त हार और विम की मृत्यु तथा कनिष्क द्वारा फिर से राज्यस्थापन के बीच सिक्कों के आधार पर भी २५-३० बरस का अन्तर मानना पड़ता है। आगे एक शताब्दी तक उत्तर भारत में कनिष्क-वंशजों का, गुजरात-काठियावाड़ में उनके शक क्षत्रपों का और दक्खिन में सातवाहनों का साम्राज्य बना रहता है।

---

७. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८२४–८२६ ।

८. भारतीय इतिहास की रूपरेखा (१९३३) पृ० ८३७ पर मैंने लिखा था कि ब्रह्मगुप्त और अलबरूनी के बाद शक-संवत् के तेरहवें शतक से शकाब्द शालिवाहनाब्द कहलाने लगता है । पर इधर जैन ग्रन्थ षट्खण्डागम धवला टीका सहित प्रकाशित हुआ है (अमरावती, १९९६ वि० = १९३९ ई०)। धवला टीका में भी, जो ७३८ शक संवत् = ८१६ ई० की रचना है, उस संवत् को विक्रमादित्य का शक-संवत् कहा है। दे० नव-परिशिष्ट २ भी।

§ ६. गणराज्य

यवनों शकों पह्लवों और ऋषिकों की इन चढ़ाइयों का पंजाब पारियात्र-सिन्ध और सुराष्ट्र के गणराज्यों ने बहादुरी से मुकाबला किया और इस संघर्ष के बीच भी उनमें से अनेक ने अपनी स्वाधीनता बनाये रक्खी, जैसा कि उनके सिक्कों और लेखों से प्रकट होता है। मालव गण शायद यवनों के दबाव से पंजाब से पारियात्र चला आया, और वहाँ एक बार शकों से हार कर फिर उन्हें उखाड़ने में उसने सातवाहनों से सहयोग किया, सो हमने देखा है। वृष्णि शिवि कुणिन्द औदुम्बर आदि गणों के सिक्के इसी युग के पाये गये हैं। सब से उज्ज्वल इतिहास यौधेयों का है। उनके पुराने सिक्के एक किस्म के हैं, और बाद के सिक्कों पर द्वि और त्रि के चिह्न हैं, जिनसे जान पड़ता है कि दो बार उखड़ कर दो बार वह गण फिर स्थापित हुआ[९]। दूसरी शताब्दी ई० के मध्य में सुराष्ट्र का शक महाक्षत्रप रुद्रदामा अभिमान से लिखता है कि किसी के आगे न झुकने वाले यौधेयों को उसने उखाड़ डाला। परन्तु रुद्रदामा के बाद हम यौधेयों को फिर स्थापित हुआ पाते हैं।

§ ७. कनिष्क वंश

कनिष्क और उसके वंशजों का उत्तर भारत में स्थापित होना क्या विदेशियों द्वारा विजय कहा जाय? इस सम्बन्ध में हमें पहले यह फैसला करना होगा कि मगध (मौर्यों) के कर्णाटक पर अथवा महाराष्ट्र (सातवाहनों) के मगध पर शासन को हम विदेशी मानेंगे कि स्वदेशी। मौर्यों के नेतृत्व में गन्धार के लोगों ने ही पहले सीता के काँठे (खोतन प्रदेश) में अपना उपनिवेश बसा कर उस प्रदेश को भारत का भाग बनाया था। उसी उपनिवेश के लोग—गन्धार के प्रवासी या उनके द्वारा सभ्य बनाये गये स्थानीय अधिवासी—अब गन्धार और मगध पर अधिकार स्थापित करते

---

९. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९२९)—दि डेट औफ कनिष्क (कनिष्क की तिथि), ज० वि० ओ० रि० सो० जि० १५ पृ० ६१-६२।

हैं। कनिष्क का विजयकीर्ति के साथ चढ़ाई करना भी ध्यान देने योग्य है। कुषाण और विम पर भी खोतन या कम्बोज में ही भारतीय रंग चढ़ चुका था, क्योंकि उनमें से एक आरम्भ से ही **धर्मस्थित** (यानी बौद्ध धर्मानुयायी) था और दूसरा शिव का उपासक। चीन में पहले-पहल बौद्ध धर्म का संदेश भेजने का काम कुषाण ने ही किया था।

कुषाण या कनिष्क के वंशजों की साम्राज्य-सीमा मध्य एशिया के रास्ते पूरब तरफ़ चीन से और पच्छिम तरफ़ पार्थव राज्य से लगती थी। वह कब कब कैसे कैसे बदलती रही और उत्तर तरफ़ सुध्द दोआब समूचा या उसका कितना अंश और उसके पास-पड़ोस का कितना कौन सा प्रदेश कब कब उनके अधीन रहा, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसपर खोज की आवश्यकता है।

§८. तमिळ राष्ट्र

पहली शताब्दी ई० पू० से तमिळ राष्ट्र बराबर सातवाहनों के आधिपत्य या प्रभाव में रहे। उन छोटे छोटे तमिळ राज्यों ने इस समय नदियों में बाँध लगा और सिंचाई की नहरें काट कर तथा समुद्री व्यापार-पथ की डकैती दबा कर सभ्यता की प्रगति में विशेष भाग लिया।

§९. पच्छिमी जगत् से सम्पर्क

यूनानी-रोमी जगत् के देशों में भारतीय नाविकों और व्यापारियों का जाना-आना इस युग में बराबर बना हुआ था। १०० ई० पू० में कुछ भारतीय अपने जहाज के साथ भटक कर जर्मनी के तट पर एल्ब नदी के मुहाने पर जा लगे थे, यह बात हम रोमी इतिहास से जानते हैं। वे रोम-सागर या भूमध्यसागर से हो कर गये थे[१०] अथवा अफरीका का चक्कर लगा कर, अथवा मिस्र के उत्तरी तट से ही अपना जहाज ले कर

---

१०. प्राचीनकाल में भी लाल सागर और नील नदी को मिलानेवाली एक नहर थी जिसके द्वारा जहाज लाल सागर से रोम-सागर (भूमध्यसागर) पहुँच सकते थे।

चले थे यह महत्त्व का प्रश्न है। पहली शताब्दी ई० में भारत के "बुनी हुई हवा के जाले" (मलमल) पहन कर रोम की स्त्रियाँ अपना सौन्दर्य दिखाती थीं, और व्यापार द्वारा रोम-साम्राज्य का सोना बराबर भारत में खिंचता आता था।

§१०. गंगा पार का और सीता काँठे का हिन्द

किन्तु इस पच्छिमी वाणिज्य से कहीं अधिक महत्त्व की घटना-परंपरा पूरबी समुद्र के पार घट रही थी। महाजनपद-युग से सुवर्णभूमि और उधर के द्वीपों में आर्यों का प्रवेश शुरू हुआ था। इस युग में आधुनिक हिन्दचीन के पूरबी छोर तक और सुवर्णद्वीप और यवद्वीप अर्थात् सुमात्रा-जावा में आर्य उपनिवेश और राज्य स्थापित हो गये। चीन सम्राटों ने दूसरी शताब्दी ई० पू० में आधुनिक आनाम के तीन-चौथाई तक का प्रदेश जीत लिया था, तो भी चीनियों को पीछे हटना पड़ा और वे स्थायी रूप से वहाँ की जंगली जातियों को न तो अधीन रख सके और न सभ्य बना सके। भारतीयों को इस काम में सफलता हुई। उसका एक कारण शायद यह था कि चीनी लोग केवल सैनिक बल से दिग्विजय की चेष्टा करते थे जब कि भारतीयों के दिग्विजय के साथ-साथ धर्मविजय भी चलता था। यही बात सीता-तारीम के काँठों में भी हुई। भारतीय धर्मविजय किस प्रकार होता था इसका एक उदाहरण वहाँ के इतिहास में है। खोतन का भारतीय नाम वाला पहला राजा विजयसम्भव था। उसके राज्यकाल में आर्य वैरोचन ने खोतन के पशुपालकों को धर्म सिखाया और लिखना सिखाया अर्थात् उनकी बोली को ब्राह्मी लिपि में लिखने की पद्धति चलाई।[११] वैरोचन ने यों सीता-काँठे में वही काम किया जो अगस्त्य ने द्राविड देश में किया था।

भारत के पूरब चीन तक फैले विशाल देश और उसके दक्खिन के द्वीपों को इस युग में रोम वाले **इंदिया त्रांस-गंगेतिका** (**गंगा पार का**

---

११. दे० ऊपर २§८. २§१४ तथा नीचे ४§§६.९ और ६§४।

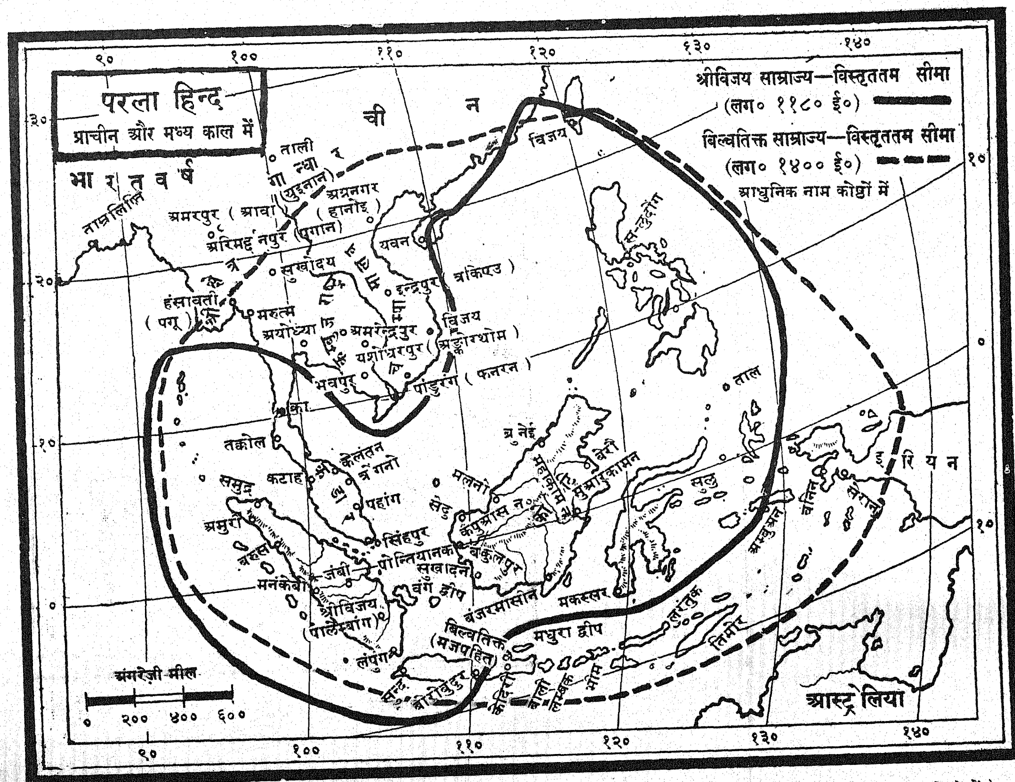
ा के "बुनी
मना सौन्दर्य
र भारत में

न्द

घटना-परंपरा
र्भूमि और
में आधुनिक
द्वीप अर्थात्
गये। चीन
तीन-चौथाई
ा पड़ा और
ख सके और
हुई। उसका
से दिग्विजय
थ धर्मविजय
ई। भारतीय
के इतिहास
असम्भव था।
ालकों को धर्म
ह्मी लिपि में
ं वही काम

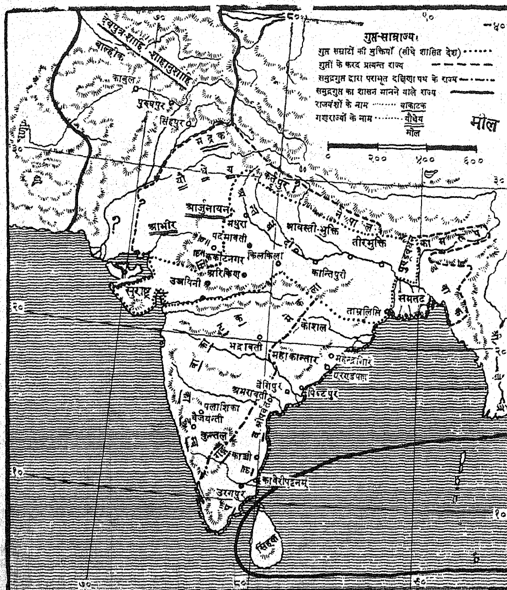
के दक्खिन के
गंगा पार का

४।



नक्शा ६—गंगा पार का हिंद

(जिन स्थानों के प्राचीन नाम दिये हैं उनके आधुनिक नाम कोष्ठों में)



नक्शा १०—गुप्त साम्राज्य

हिन्द) कहते थे और आज भी युरोप के लोग **परला हिन्द** (फ़र्दर इंदिया) कहते हैं। उसी प्रकार उत्तर तरफ भारत और चीन के बीच फैले जिस सीता-तारीम काँठे को आजकल हम चीनी तुर्किस्तान और चीन वाले शिङकियाङ (नव राष्ट्र) कहते हैं, उसका नाम प्राचीन काल के लिए आधुनिक विद्वानों ने **सर-इंदिया (चीन-हिन्द)** रक्खा है। उस सीता-काँठे अथवा चीन-हिन्द में दसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय कृष्टि जीवित रही, तब तक वह चीन-हिन्द बना रहा। परले हिन्द और चीन-हिन्द में सभ्यता की स्थापना हो कर इनके द्वारा भारत और चीन का—पच्छिमी और पूरबी जगत् का—परस्पर सम्पर्क हो जाना विश्व इतिहास की बड़ी घटना थी जिसे आजकल लोग बहुत कुछ भूल गये हैं। शायद उसी घटना को सामने रखते हुए स्व० आचार्य सिल्व्याँ लेवी ने लिखा था—"आदान-प्रदान की उस महान् धारा से, जो कि स्मरणातीत काल से समूची मानव जाति के जीवन-प्रवाह से बनती है, भारतवर्ष ने जैसे बहुत कुछ पाया है, वैसे ही बहुत कुछ उस धारा में दिया भी है।...... उसने बाकी दुनिया की तरह और बाकी दुनिया के बराबर साथ चलते हुए अपने हिस्से का काम किया है।"[१२]

---

१२. प्रबोधचन्द्र बाग्ची (१९२७)—इंडिया ऐंड चाइना (भारत और चीन) पृ० १ पर उद्धृत।

चौथा व्याख्यान*

भारशिव वाकाटक गुप्त

§१. सातवाहनों के उत्तराधिकारी

तीसरी सताब्दी ई० के आरम्भ से सातवाहन और तुखार (कुषाण) साम्राज्यों का ह्रास होने लगता है। सातवाहन साम्राज्य के स्थान पर दक्खिनी गुजरात और उत्तरी महाराष्ट्र में आभीरों, दक्खिनी महाराष्ट्र और कर्णाटक में चुटु-सातवाहनों, आन्ध्र में इक्ष्वाकुओं तथा आन्ध्र-तट पर बृहत्फलायनों के राज्य उठ खड़े होते हैं।

§२. तुखार साम्राज्य का अन्त

उत्तर भारत से तुखार साम्राज्य ठीक कैसे किस परिस्थिति में उठ गया, इसे स्पष्ट करने की कोशिश पहले-पहल जायसवालजी ने सन् १९३०-३२ में की।[१] उस चित्र के कुछ अंश अब भी धुँधले हैं। जायसवालजी के कथनानुसार नाग क्षत्रिय शुंगों के समय विदिशा में रहते थे और वहाँ शकों की बाढ़ आने पर नागपुर प्रदेश में हट गये थे। वहीं से अब उनके नेता नव नाग ने बघेलखंड के रास्ते तुखार साम्राज्य पर चोट कर कान्तिपुरी में अपना राज्य स्थापित किया। कान्तिपुरी की शिनाख्त जायसवालजी ने मिर्ज़ापुर की पुरानी बस्ती कन्तित से की। नव नाग के उत्तराधिकारी वीरसेन ने तुखारों को मथुरा से भी खदेड़ दिया। नव नाग और वीरसेन का समय उन्होंने अन्दाज़ से १४०-१७० ई० तथा १७०-२१० ई० रक्खा है।

---

* ३ अप्रैल १९४१ को दिया गया।

१. काशीप्रसाद जायसवाल (१९३३)—हिस्टरी औफ इंडिया सि० १५० ए० डी० टु ३५० ए० डी० (भारतवर्ष का इतिहास लग० १५० ई० से ३५० ई० तक)।

लेकिन इन परिणामों पर पहुँचने में इस युग के जिन अनेक सिक्कों के अनुशीलन से सहायता मिली है उनकी अभी और जाँच होने की आवश्यकता है। दूसरे, उक्त इतिहास लिखते समय जायसवालजी के ध्यान में यह बात नहीं आई कि २४०—२४५ ई० तक भी पाटलिपुत्र में मुरुण्ड अर्थात् तुखारवंशी कोई राजा मौजूद था (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८७५)। तीसरे, इस युग के इतिहास की नई सामग्री जो इधर मिल रही है उसके कारण भी इस सारे विषय का फिर से जाँचना ज़रूरी होगा।[२]

जो भी हो, इतनी बात तो निश्चत लगती है कि तुखार साम्राज्य को उठाने में भारशिव-नागों और वाकाटकों का हाथ विशेष रूप से था—इन घटनाओं का समय भले ही कुछ आगे-पीछे हो। भारशिवों के साथ ही साथ मालव यौधेय आर्जुनायन मद्रक आदि गणों के राज्य भी तीसरी शताब्दी में उठ खड़े होते हैं, जिससे जान पड़ता है कि इन गणों ने भी इस कार्य में भाग लिया था। प्रतीत होता है कि जैसे ही भारशिवों ने मध्यदेश में तुखार साम्राज्य पर चोट की, वैसे ही पारियात्र और पंजाब के ये गणराज्य भी उठ खड़े हुए, और तुखार साम्राज्य केवल गन्धार काबुल और मध्य एशिया में बाकी रह गया। ईरान में इसी समय (२२६ ई०) पार्थव के स्थान में सासानी राज्य स्थापित हुआ। काबुल के तुखारों ने सासानियों से सम्बन्ध जोड़ा, और दोनों राज्यों ने एक दूसरे के चिह्न अपने सिक्कों पर अंकित किये। शिव-नन्दी-अंकित वे सासानी सिक्के अब तक पाये जाते हैं। सासानियों ने अपने सिक्कों पर से पार्थव युग से चले आते यूनानी लेख हटा दिये और ईरान को पच्छिमी प्रभाव से मुक्त कर हखामनी युग वाले उसके गौरव को फिर से लाने की चेष्टा की।

---

२. उदाहरण के लिए दे० मोतीचन्द्र (१९४०)—फतहपुर से प्राप्त कौशाम्बी सिक्कों की ढेरी, जर्नल ऑफ दि इंडियन न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी (भारतीय मुद्रानुशीलन सभा की पत्रिका) जि० २ पृ० ९५ प्र०। दे० नव-परिशिष्ट ३ भी।

§३. वाकाटक और पल्लव

जायसवालजी के कथनानुसार वाकाटक लोग विन्ध्य के रहने वाले थे। उनकी राजधानी किलकिला आधुनिक पन्ना की जगह पर थी, तथा उनका आदिपुरुष विन्ध्यशक्ति भारशिवों का सेनापति था। विन्ध्यशक्ति का बेटा प्रवरसेन भारशिव वीरसेन के छठे उत्तराधिकारी भव नाग (लग० २६०–३१५ ई०) का समधी था। भव नाग के कोई पुत्र न था; उसकी बेटी प्रवरसेन के बेटे गौतमीपुत्र को ब्याही थी, इसलिए गौतमीपुत्र भव नाग का उत्तराधिकारी नियत हुआ। इसी समय वाकाटकों ने दक्खिन भारत के उत्तरी भाग को जीता तथा तमिळ देश में पल्लव राजवंश स्थापित हुआ। पहला पल्लव राजा वीरकूर्च्च उर्फ कुमारविष्णु भी अपने को नाग सम्राट् का दामाद कहता है।

प्रवरसेन वाकाटक का समय जायसवालजी के अनुसार २८४–३४४ ई० है और उसके समय भारशिव-वाकाटक-साम्राज्य अपने चरम शिखर पर पहुँच जाता है। इस बात की पुष्टि सुराष्ट्र के क्षत्रपों के सिक्कों से भी होती है, क्योंकि वह वंश अब सम्राट् की अधीनता मानने लगता है।[3] चौथे शतक के आरम्भ में कर्णाटक में कादम्ब और अयोध्या में गुप्त राजवंश उठता है। प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्र गुप्त पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करता और कई नाग सरदारों को हरा कर उसे ले लेता है। उसके बाद वह एकाएक पूरबी दक्खिन पर चढ़ाई करता और कोलेरू झील के किनारे काञ्ची के पल्लव राजा और अन्य दक्खिनी राजाओं को हरा कर कैद कर लेता है। तीसरी लड़ाई के बाद वह आर्यावर्त्त का साम्राज्य पाता है। समुद्र गुप्त का आर्यावर्त्त को पूरी तरह लिये बिना

---

३. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३७)—सुराष्ट्र-क्षत्रप इतिहास की पुनः परीक्षा, ना० प्र० पत्रिका १९९४ पृ० १३, तथा (१९४१) दि फैमिली ऑफ चष्टन देयर कौयनेज ऐंड हिस्टरी रि-एक्सामिंड (चष्टन वंश—उनके सिक्कों और इतिहास की पुनः परीक्षा), जर्नल ऑफ दि बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी (बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी की पत्रिका) ५, पृ० २५७।

पूरबी दक्खिन पर चढ़ाई करना भी ऐसी बात है जिसकी व्याख्या जायसवालजी की इस स्थापना को मानने से ही होती है कि गुप्त साम्राज्य से पहले वाकाटक साम्राज्य उपस्थित था और पल्लव राज्य का भी उससे सम्बन्ध था।[४]

§४. गुप्त साम्राज्य का विस्तार

गुप्त साम्राज्य का विस्तार कितना था? इस प्रश्न का उत्तर इसपर निर्भर है कि हम साम्राज्य कहते किसे हैं। पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया-राजशाही) और ताम्रलिप्ति (तामलूक, जि० मेदिनीपुर) से मथुरा उज्जैन होते हुए सुराष्ट्र तक तो गुप्तों की **भुक्तियाँ** अर्थात् सीधे शासित देश थे। उनके किनारे किनारे **करद** राज्यों की मेखला थी। इनमें पूरब और उत्तर तरफ समतट (गंगा का मुहाना) डवाक (ढाका या असम का एक भाग) कामरूप नेपाल और कर्तृपुर (कत्यूर, अल्मोड़ा) के राज्य, उत्तर पच्छिम और पच्छिम तरफ मद्रक यौधेय आर्जुनायन और आभीर गण-राज्य, तथा दक्खिन तरफ आधुनिक मालवा बुन्देलखण्ड में के कई छोटे छोटे गणराज्य थे। भुक्तियों और करद राज्यों के बीच की हैसियत **आटविक** यानी जंगली इलाकों के राजाओं की थी जो सब के सब गुप्त सम्राट् के **परिचारक** बना लिये गये थे। इनके बाद दक्षिणापथ के वे राजा थे जिन्हें समुद्र गुप्त ने युद्ध में कैद कर फिर छोड़ दिया था। इनके राज्य महाकोशल (छत्तीसगढ़) से काञ्ची तक अर्थात् दक्खिन भारत के समूचे पूर्वार्ध में फैले हुए थे। अन्त में कुछ ऐसे दूरवर्ती राज्य थे जो समुद्र गुप्त की आज्ञा मानते, उसके गरुत्मदङ्क (गरुड चिह्न वाले) सिक्कों को अपने यहाँ चलाते (या उसके गरुत्मद् चिह्न को अपने सिक्कों पर छापते) और समय-समय पर **कन्योपानयन** या अन्य प्रकार की भेंटें भेजते थे। इनमें **देवपुत्र शाहिशाहानुशाहि** अर्थात् काबुल-बलख के तुखार राजा और **सिंहल आदि सब द्वीपवासियों** का उल्लेख

४. दे० नव-परिशिष्ट ३।

है। करद और परिचारक राज्य तो स्पष्टतः साम्राज्य के अन्तर्गत थे ही। सम्राट् की आज्ञा मानने वाले और उसका सिक्का चलाने वाले राज्यों को भी दुनिया भर के इतिहास की मानी हुई पद्धति के अनुसार साम्राज्य के अधीन ही क्यों न माना जाय ? भारत के मुगल साम्राज्य और ब्रितानवी साम्राज्य की सीमाएँ आँकते समय क्या हम केवल सीधे शासित प्रदेशों को उन साम्राज्यों में रखते हैं ? तब गुप्त साम्राज्य के बारे में वैसा क्यों करें ?

समुद्रगुप्त की आज्ञा मानने वाले देशों की उक्त सूची में महाराष्ट्र के वाकाटक राज्य को छोड़ कर भारत के सभी राज्य सम्मिलित हैं। इससे प्रतीत होता है कि वाकाटकों से साम्राज्य छीन लेने के बाद समुद्र गुप्त ने उन्हें और दबाना उचित नहीं समझा। समुद्र गुप्त का बेटा चन्द्र गुप्त अपनी बेटी प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा से कर देता और बाद में वह रानी प्रभावती ही वहाँ शासन करती है। तब समूचा भारत एक तरह से एक शासन में आ जाता है।

§५. राजा चन्द्र का बंगाल बलख दक्खिन जीतना

राम गुप्त ध्रुवस्वामिनी और चन्द्र गुप्त वाली घटना जो इधर १६-१७ बरसों से प्रकाश में आई है, इस युग की राजनीति और सामाजिक दशा पर और प्रकाश डालती है। महरौली वाली लोहे की लाट पर राजा चन्द्र के बंगाल से बलख तक और बलख से दक्खिन समुद्र तक जीतने का वृत्तान्त खुदा है। उस चन्द्र के चन्द्र गुप्त होने की सम्भावना पहले ही बहुत थी। वह लाट पहले पंजाब में हिमालय तराई के किसी पहाड़ पर खड़ी की गई थी। अब यह मालूम होने पर कि राम गुप्त को पंजाब के किसी पहाड़ी गढ़ में[५] शक राजा ने घेर लिया था और चन्द्र गुप्त ने शक राजा को वहीं मार कर उस गढ़ का, ध्रुवस्वामिनी का और गुप्त साम्राज्य का उद्धार किया था, यह करीब-करीब निश्चित ही मानना चाहिए कि उसी विजय के बाद चन्द्र गुप्त

५. यह बात महत्त्व की है। दे० परिशिष्ट २।

बलख तक, जो कि शक राजा का अन्तिम केन्द्र था, बढ़ता गया, और कि उसी विजय का वृत्तान्त उस लाट पर अंकित कर उसे युद्ध-भूमि पर खड़ा किया गया। राम गुप्त की मृत्यु ठीक कब हुई, यह एक प्रश्न है। उसी से सम्बद्ध यह प्रश्न है कि ध्रुवस्वामिनी ने उसकी मृत्यु के बाद अर्थात् विधवा होने पर चन्द्र गुप्त से विवाह किया अथवा अपने जीवित पति से मोक्ष (तलाक) पा कर।

राम गुप्त वाली घटना को स्वीकार करने में कई विद्वानों को हिचक मालूम होती है। चन्द्र की चन्द्र गुप्त से अभिन्नता के विषय में भी कइयों की तसल्ली नहीं हुई। उनके ध्यान में मैं इतनी बात ला दूँ कि राजा चन्द्र की बंगाल से बलख और बलख से दक्खिन तक जीतने की घटना स्वतन्त्र रूप से महरौली के लेख से सिद्ध है, और वह इतनी बड़ी घटना है कि घटनाओं के तारतम्य को समझने वाला कोई भी ऐतिहासिक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। **दक्षिण जलनिधि** हमारे साहित्य में सदा कन्याकुमारी के दक्खिन का हिन्द महासागर ही समझा जाता रहा है। आजकल का "अरब सागर" और "बंगाल की खाड़ी" हमारे साहित्य में सदा पच्छिमी और पूर्वी समुद्र कहलाते रहे हैं।[६]

§ ६. गुप्त युग का बृहत्तर हिन्द

वाकाटक-गुप्त युग का गौरव आजकल के हिन्द की हदबन्दी में सीमित नहीं रहता, वह चीन-हिन्द और परले हिन्द के कोने कोने तक फैल जाता है। इस युग में चीन-हिन्द की तुखारी और खोतनदेशी भाषाओं में वाङ्मय का विकास होने लगता है, वह वाङ्मय सब भारतीय है, उन भाषाओं की लिपि भारतीय है। इसी युग में कुमारजीव चीन में बौद्ध आगम की जड़ जमा देता, और कोरिया और निपोङ (जापान)

---

६. उदाहरण के लिए दे० यशोधर्मा के मन्दसोर वाले पहले लेख (गुप्त अभिलेख सं० ३३) के पाँचवें पद्य में 'पश्चिमादापयोधेः,' मिताक्षरा के अन्तिम मंगलश्लोकों में से छठे में 'आ च प्रत्यक् पयोधेः' और 'आ च प्राचः समुद्रात्।'

में बुद्ध का सन्देश लिये भारतीय कृष्टि पहुँच जाती है। परले हिन्द में हम सुमात्रा में श्रीविजय राज्य को खड़ा होता, पूरबी बोर्नियो में राजा मूलवर्मा को यज्ञ के यूप स्थापित करता और चम्पा (हिन्दचीन) के राजा भद्रवर्मा के बेटे को गंगा की यात्रा कर गंगराज नाम से नया वंश चलाता पाते हैं। मदगास्कर भी बृहत्तर भारत का भाग बन जाता है, पर इस युग में या इससे पहले-पीछे ठीक कब, उसका पता नहीं चल सका।[७]

§ ७. गुप्त-युगीन भारत का समकालीन जगत् में स्थान

गुप्त युग के भारत में खड़े हो हम समकालीन जगत् पर दृष्टि डालें तो क्या देखते हैं ? चार स्वाधीन राष्ट्रों के बीच समूचे सभ्य जगत् का शासन बँटा है—पूरब तरफ चीनी, बीच में भारतीय और ईरानी, पच्छिम तरफ रोमी। ईरानी राष्ट्र बाकी तीन के मुकाबले में छोटा सा है। रोम का साम्राज्य विस्तार में आबादी में वैभव में शिल्प में और ज्ञान में अपने को भारत के छोटे भाई की तरह अनुभव करता है; खास कर शिल्प में वह उसका मुकाबला किसी तरह नहीं कर सकता और अपना सोना खिंच-खिंच कर भारत चला आना रोक नहीं पाता। चीन भी भारतीय राष्ट्र के विस्तार उसके तत्त्वज्ञान उसकी कला और कृष्टि को देख कर चकित है, और उसका अनुसरण करने में गौरव मानता है। उस समय का चीन आज का ठेठ चीन ही था, और उस समय के हिन्द में, जिसे चीनी शिन्तू का थियेन-चू अर्थात् सिन्धु या देवताओं का देश कहते थे, चीन-हिन्द और परला हिन्द भी सम्मिलित था।[८] भारतवर्ष की उस युग के

---

७. समूचे विषय के ग्रन्थनिर्देश के लिए दे०—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८९७ प्र०; विशेष कर सिल्व्याँ लेवी, स्टेन कोनौ, लुइ फ़ीनो, नि० प्र० चक्रवर्त्ती, प्रबोधचन्द्र बाग्ची और बिजनराज चटर्जी के लेख।

८. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३०) भारतभूमि पृ० १६४,३४९, ज० रा० ए० सो० १९१२ पृ० ६७७ के आधार पर।

सभ्य जगत् में वही हैसियत थी जो आज ज्ञान और शिल्प में जर्मनी की और विस्तार और वैभव में अंग्रेजी-भाषी जाति की है।

§ ८. हूण

हूणों की आँधी चीन के उत्तर से फिर उठ कर उसके बाकी तीनों साथियों को आ घेरती है। रोम एक बार पछाड़ खा कर गिरता है। ईरान और हिन्द अपने पैर नहीं उखड़ने देते, तो भी मध्य एशिया से दोनों को पीछे हटना पड़ता है। सब से ज़ोर की चोट लगती है मध्य एशिया के शक-तुखारों को जो अपनी कृष्टि और शिक्षा-दीक्षा में ईरान और भारत से बहुत प्रभावित हुए थे।

हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जब ४२५ ई० के करीब उनपर मध्य एशिया में हमला होता है, तभी क्या सम्राट् कुमार गुप्त और उसके अमात्यों का ध्यान उस ओर जाता और वे कोई उपाय करते हैं? और ४५४ ई० में जब सासानी शाह यज़्दगुर्द को हरा कर हूण एकाएक अफ़गानिस्तान लाँघ आते हैं, तब उनका मुकाबला कहाँ किया जाता है—पंजाब की पच्छिमी सीमा पर या पूरबी पर? और अफ़गानिस्तान को भी हूण दो बार किस दशा में लाँघ आते हैं?[१] पिछले तुखारों के अधीन अफ़गानिस्तान का बहुत थोड़ा इतिहास अभी तक हम जान पाये हैं। वह भारतीय इतिहास के उन धुँधले कोनों में से है जिनपर प्रकाश पड़ना चाहिए।

नौजवान स्कन्द गुप्त की बहादुरी इन संकटों के बीच चमक उठती है, और शायद उसी के विजयों के फलस्वरूप आगे तीस बरस तक भारत को शान्ति मिलती है। पर उसके बाद गुप्त साम्राज्य की घटती कला आरम्भ हो जाती है।

गुप्त सम्राट् हूणों को नहीं रोक पाते तो **जनेन्द्र** (जनता का नेता)

---

१. सन् १९३५ में मुझे ऐसी कुछ सामग्री मिली थी जिससे इन प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकता है, पर अभी तक मैं उसकी पूरी जाँच नहीं कर पाया।

यशोधर्मा उठ कर वह काम करता है। उसके ३५ बरस बाद मध्य एशिया में भी शाह नौशीरवाँ कहने को हूणों की शक्ति तोड़ देता है। पर मध्य एशिया में वह हूणों की एक शाखा की मदद से ही दूसरे हूणों को दबाता है। वही शाखा जो चीन-हिन्द के पूरबी छोर के उत्तर रहती थी, तब से तुर्क नाम से प्रसिद्ध होती है। मध्य एशिया अब तुर्किस्तान बन रहा था। शकों-तुखारों का रक्त हूणों की नसों में मिल रहा था, और उनकी भाषा धीरे-धीरे लुप्त होने की राह पर थी।

यशोधर्मा के साम्राज्य में उत्तर भारत का गुप्त साम्राज्य और महाराष्ट्र का वाकाटक राज्य दोनों लुप्त हो जाते हैं। उसके बाद नाटक के पर्दे पर एकदम नया चित्र आ जाता है।

§९. आर्यावर्ती फैलाव का सिंहावलोकन

गुप्त-यशोधर्मा-युग के अन्त में रुक कर अब हम पिछले इतिहास का सिंहावलोकन करें तो उसमें प्रायः प्रगति ही प्रगति—प्रत्येक युग में पिछले युग से कुछ न कुछ आगे बढ़ना ही—पाते हैं। संकट बराबर आते रहे, पर राष्ट्र में इतना जीवट भी बराबर रहा कि उनका मुकाबला बहादुरी से और सफलता के साथ होता रहा। हूणों की समस्या युग के अन्त में करीब-करीब सुलझ चुकती है, और जो बाकी रह जाती है उसे थानेसर के राजा प्रभाकरवर्धन और राज्यवर्धन तथा खोतन का राजा विजय-संग्राम[१०] सातवें शतक के पूर्वार्ध में निपटा देते हैं।

फिर हम यह देखते हैं कि इस लम्बी प्रगति में आर्यावर्त्ती आर्यों के फैलने और उपनिवेश बसाने की एक ही पद्धति या परिपाटी जारी रही। प्रतिष्ठान से गन्धार अंग और विदर्भ तक, फिर कम्बोज वंग और मूळक अश्मक तक, फिर पाण्ड्य और सिंहल तक, फिर सुवर्णभूमि सुवर्ण-द्वीपों और सीता तारीम के काँठों में और उनके अन्तिम किनारों तक,

---

१०. स्टैन कोनो (१९१४)—खोतन स्टडीज़ (खोतन विषयक विमर्श) ज० रा० ए० सो० १९१४ पृ० ३४६-४७।

बराबर एक ही पद्धति से वह फैलाव जारी रहा। क्षत्रिय वंशों की शाखा-प्रशाखाओं का आगे-आगे जा बसना, मुनियों और ब्राह्मणों का नये-नये जंगलों में आश्रम बसाते चलना, वणिजों और सार्थवाहों (व्यापारी काफिलों) की नये-नये देशों की खोज, शिल्पी श्रेणियों का नई-नई जगह जा टिकना, संघों या गणों के प्रवास, आटविकों (आदिम अधिवासियों) को कृषि और अन्य शिल्प सिखाना तथा उनकी भाषा को आर्य वर्णमाला में लिख कर उसमें आर्य वाङ्मय का विकास करना और अन्त में आर्य धर्म का प्रचार, यही लगातार ३०-३२ शताब्दियों तक आर्यावर्त्ती जाति के फैलने की पद्धति रही। आरम्भिक मंजिलों में सभ्यता की चाल हमेशा धीमी होती है, आरम्भिक युगों के स्वल्प साधनों से उसका धीमी होना आवश्यक है। तो भी आर्यावर्त्ती जाति के इस फैलाव में हम बराबर प्रगति देखते हैं, और कुल मिला कर वह फैलना प्राचीन काल की दूसरी किसी भी जाति के फैलाव से अधिक है।

पर यह प्रगति की परम्परा यशोधर्मा के बाद हमें करीब-करीब पूरी हुई या समाप्त हुई दिखाई देगी। इसके बाद कुछ समय तक आगे बढ़ना नहीं, पर जहाँ तक पहुँच चुके हैं वहाँ डटे रहना होगा, और बाद में वह भी न होगा—धीरे-धीरे ज़मीन अपने कब्जे से छुटने लगेगी।

परिशिष्ट २

राम गुप्त वाली घटना और उसका स्थान

राम गुप्त वाली बात का सब से पहला उल्लेख विशाखदत्त के **देवीचन्द्रगुप्त** नाटक में है। विशाखदत्त गुप्त युग का माना जाता है। देवीचन्द्रगुप्त के कुछ खंडित अंश ही प्राप्त हुए हैं। उसके बाद उस घटना का उल्लेख बाण भट्ट ने अपने **हर्षचरित** में (लग० ६२० ई०), महाराष्ट्र-कर्णाटक के राजा अमोघवर्ष ने अपने संजान अभिलेख में

(८७३ ई०), कवि राजशेखर ने अपनी **काव्यमीमांसा** में (लग ९००ई०), तथा राजा भोज (१००६–१०५४ ई०) ने देवीचन्द्रगुप्त के आधार पर अपने ग्रंथ **शृङ्गारप्रकाश** में किया है। सिन्ध-पंजाब के इतिहास के किसी भारतीय ग्रंथ के अबुल हसन अली नामक अरब लेखक द्वारा किये हुए अनुवाद में वह समूची घटना विस्तारपूर्वक आई है। उस ग्रन्थ का अरबी से फारसी अनुवाद १०२६ ई० में हुआ। बाण भट्ट के टीकाकार शंकर ने फिर इसकी कुछ तफसील दी (१७१३ ई०)।[११] यों हमारे साहित्य में पाँचवीं से अठारहवीं शताब्दी तक बराबर इस घटना का उल्लेख पाया जाता है। तो भी कुछ आधुनिक विद्वान् इसे ऐतिहासिक सत्य मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि समकालिक अभिलेखों में इसका उल्लेख नहीं है।

आधुनिक विद्वानों में से इस खोज का श्रीगणेश श्री चन्द्रधर गुलेरी ने किया,[१२] पर राम गुप्त और इस घटना की ऐतिहासिक सत्ता की पहले-पहल घोषणा श्री राखालदास बनर्जी ने की।[१३] राखालदास के बाद डा० अ० स० अल्तेकर ने इसके कुल प्रमाणों को उपस्थित किया।[१४] राखालदास के सामने राजशेखर द्वारा उद्धृत वह पद्य नहीं था जिसमें लिखा है कि **तस्मिन्नेव हिमालये**—उसी हिमालय में—ध्रुवस्वामिनी वाली घटना हुई। इस पद्य की ओर पहलेपहल गुलेरीजी ने ध्यान दिलाया था और फिर डा० अल्तेकर ने। अबुल हसन भी स्पष्ट कहता है कि यह घटना किसी पहाड़ी गढ़ में हुई। यह बात भूल जाने से इस घटना का महत्त्व ही लुप्त हो जाता है। जैसा कि मैंने आज से चार बरस

११. सब प्रमाणों के विवरण के लिए दे० काशीप्रसाद जायसवाल (१९३२)—ज० बि० ओ० रि० सो० १८, पृ० १७ प्र।

१२. चन्द्रधर गुलेरी (१९२०)—ना० प्र० पत्रिका १९७७, पृ० २३४-२३५।

१३. राखालदास बनर्जी (१९२४)—एज ऑफ दि इम्पीरियल गुप्तस् (गुप्त सम्राटों का युग), बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के मणीन्द्रचन्द्र नन्दी व्याख्यान।

१४. अ० स० अल्तेकर (१९२८-१९२९)—ज० बि० ओ० रि० सो० १४ पृ० २२३ प्र०, १५ पृ० १३ प्र०।

पहले लिखा था—"राखालदास के सामने वह पद्य न था, तो भी उन्होंने अपनी सहज सूझ से यह पहचान लिया था कि समुद्र गुप्त के बेटे को इस प्रकार लाञ्छित करने वाला राजा सुराष्ट्र का तुच्छ क्षत्रप नहीं हो सकता, 'काबुल का कनिष्क वंशज शाहानुशाहि होना चाहिए। डा० अल्तेकर के सामने यह पद्य था, तो भी वे शकाधिपति की तलाश में मालवा के पठार और काठियावाड के जंगलों में भटकते रहे; 'तस्मिन्नेव हिमालये' की ओर···उनका ध्यान नहीं गया···।"[१५]

यह मलूम हो जाने पर कि राम गुप्त वाली घटना पच्छिमी हिमालय में हुई और चन्द्र गुप्त ने वहाँ काबुल-बलख के शक राजा को हराया था, महरौली वाले राजा चन्द्र की चन्द्र गुप्त से अनन्यता प्रकट हो जाती है, क्योंकि राजा चन्द्र के काबुल होते हुए बलख तक जीतने की बात पक्की है। महरौली वाली लाट पहले पंजाब की एक पहाड़ी पर खड़ी थी, इससे उसे और पुष्टि मिलती है। चन्द्र और चन्द्र गुप्त की अनन्यता प्रकट हो जाने पर यह आक्षेप भी नहीं टिकता कि इस घटना का समकालिक अभिलेखों में उल्लेख नहीं है।

---

१५. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३७)—ना० प्र० पत्रिका १९९४ पृ० १९।

पाँचवाँ व्याख्यान*

पहला मध्य युग

§१. कन्नौज और कर्णाटक के साम्राज्य

यशोधर्मा के पीछे गुप्त साम्राज्य ने फिर खड़े होने की चेष्टा की, पर अब सम्राट् नाम को रह गया और असल राजशक्ति एक शाखा-वंश के हाथ में आ गई जिसे हम पिछले गुप्तों का वंश कहते हैं। इन पिछले गुप्तों के आदिपुरुष कृष्णगुप्त का गुप्त सम्राटों के वंश से क्या सम्बन्ध था सो इनके अभिलेखों में कहीं बताया नहीं गया। प्रकटतः वह सम्बन्ध बताने लायक नहीं था—ये राजा किसी गुप्त सम्राट् के खैल से उत्पन्न वंशज होंगे।

पिछले गुप्तों के मुकाबले में मौखरियों का एक वंश, जिसने यशोधर्मा के नेतृत्व में हूणों को खदेड़ने में विशेष भाग लिया था, उपरले गंगा काँठे में उठ खड़ा हुआ। मौखरि राजा ईश्वरवर्मा, उसके बेटे ईशानवर्मा, और ईशान के बेटे शर्ववर्मा (५५६—५७० ई०) के राज्यकालों में वह राज्य साम्राज्य बन गया, जिसकी सीमाएँ सुराष्ट्र, आन्ध्र और गौड (पच्छिमी बंगाल) तक पहुँच गईं। मौखरियों के प्रताप से ही अब उत्तर भारतीय साम्राज्य का गुरुताकेन्द्र पटने से कन्नौज चला आया। एक हज़ार बरस तक पटना उत्तर भारतीय साम्राज्यों की राजधानी रही थी, अब अगले साढ़े छः सौ बरस तक कन्नौज का वही पद रहा।

महाराष्ट्र-कर्णाटक में वाकाटकों की जगह पर चालुक्य वंश उठ खड़ा हुआ, पर दक्खिन भारत के दक्षिणार्ध में पल्लव वंश ज्यों का त्यों, बल्कि पहले से भी अधिक समृद्ध दशा में, जारी रहा। और कृष्णा नदी

* ४ अप्रैल १९४१ को दिया गया।

के उत्तर और दक्खिन की इन शक्तियों में बराबर स्वाभाविक उठा-पटक चलती रही।

छठी शताब्दी के अन्त में थानेसर के बैस या वर्धन राजाओं ने कश्मीर में हूणों पर चढ़ाई कर प्रसिद्धि पाई और पंजाब-पारियात्र में अपना राज्य फैला लिया। मौखरि पंचाल जनपद के राजा थे, वर्धन कुरु के। प्रभाकरवर्धन की बेटी राज्यश्री का ग्रहवर्मा मौखरि से विवाह होने पर वर्धनों की हैसियत और ऊँची हो गई, और ग्रहवर्मा के मारे जाने पर जब हर्ष राज्यश्री के नाम पर कन्नौज का भी शासन करने लगा तब कुरुपंचाल मिल कर एक साम्राज्य हो गये।

§ २. तिब्बत कम्बुजराष्ट्र श्रीविजय

इसी समय भारत के उत्तरी पड़ोसी तिब्बत ने भारत से दीक्षा पा कर सभ्यता के क्षेत्र में प्रवेश किया। इसके पहले सीता काँठे और गंगा पार के हिन्द द्वारा भारत और चीन का सम्बन्ध हो जाने पर भी दोनों के बीच का यह विशाल देश अँधियारा पड़ा था। भारतीय सभ्यता ने तिब्बत को उत्तर, पच्छिम और दक्खिन तीन तरफ से घेर रक्खा था और तीनों तरफ से उसमें प्रवेश किया। भारतीय लिपि वाङ्मय और धर्म तिब्बत ने अपना लिये, कृषि और शिल्प भी सीखे। चीन और भारत के बीच के सब रास्ते अब से खुल गये। गंगा पार के हिन्द में इसी युग में कम्बुज राष्ट्र का उदय हुआ और सुमात्रा की राजधानी श्री-विजय में शैलेन्द्र वंश ने स्थापित हो कर एक बड़े समुद्री साम्राज्य की नींव डाली।

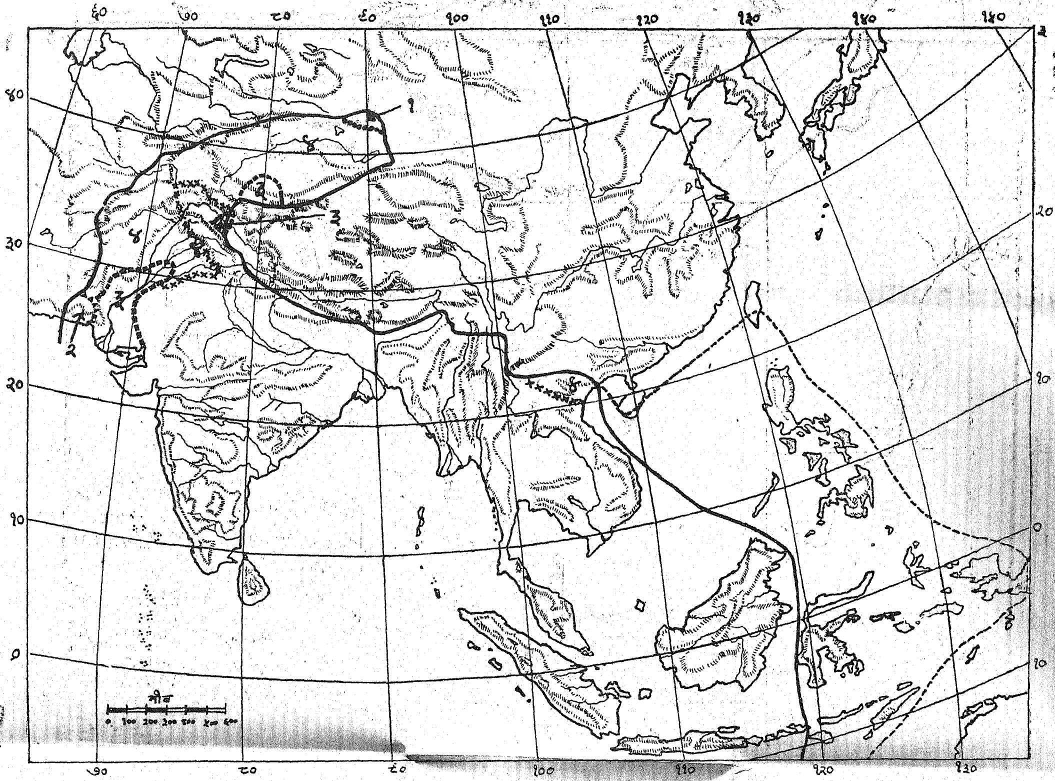
§ ३. मध्य एशिया पर तुर्क और चीनी आधिपत्य—कौशाङ राज्य

हर्षवर्धन के समकालीन चीनी यात्री य्वान च्वाङ के यात्रा-विवरण से मध्य एशिया और भारत के उत्तरपच्छिमी सीमान्त का इस युग का ठीक ठीक चित्र प्राप्त होता है। मध्य एशिया में तुर्कों की प्रभुता ५६५

ई० से स्थापित हुई थी। सीता काँठे के भारतीय राज्यों पर थियानशान पर्वत को लाँघ कर हूणों तुर्कों ने अनेक चढ़ाइयाँ की थीं, पर उन आक्रमणों की बाढ़ य्वान के समय (६२६-६४४ ई०) तक उतर चुकी थी, और वे राज्य—एक को छोड़ कर—सब ज्यों के त्यों थे। चीनहिन्द के उत्तरपूर्वी छोर पर जहाँ थियानशान की शृंखला ढल जाती है और उत्तर से चीनहिन्द में घुसने को खुला रास्ता है, वहाँ आधुनिक तुरफान के स्थान पर सातवाहन और गुप्त युगों में एक भारतीय राज्य था। छठी शताब्दी में तुर्कों ने उसे मिटा कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया जिसे चीनी लोग काओशाङ या कौशाङ कहते थे। ६३९ ई० में चीन सम्राट् ने कौशाङ के तुर्क राज्य को "बुझा" कर उसका इलाका अपने साम्राज्य में मिला लिया और यों चीन की सीमा उसके पच्छिम के भारतीय राज्य अग्नि (=आधुनिक यंगी-शहर) से लगा ली। यों तुरफान भारत की सीमा का पहला प्रदेश था जो मध्य काल के आरम्भ में भारत से कट गया।

तुर्कों के दो विभाग चीनी लोग करते थे—उत्तरी और पच्छिमी। उत्तरी तुर्क वे थे जो चीन के उत्तर तरफ अपने मूल घरों में रहते थे। पच्छिमी तुर्कों के खाकान या सम्राट् की राजधानी ईसिक-कुल झील के पास आधुनिक तोकमक की जगह पर थी। वहाँ से हिन्दूकश अर्थात् भारत की सीमा तक समूचे पच्छिमी मध्य एशिया पर उस खाकान का आधिपत्य था। उसका एक उपराज वंक्षु नदी के दक्खिन बदख्शाँ की पच्छिमी सीमा के कुन्दूज शहर में रहता था।

तुर्क सम्राट् के आधिपत्य के नीचे पुराने राज्य बने हुए थे और मध्य एशिया की जनता अभी तक पुरानी ही थी। ईसिककुल के पास से समरकन्द के दक्खिन वाले पर्वत तक शूलिक लोग रहते थे, जो पुराने ऋषिकों में से थे। उनका राजा समरकन्द में राज करता था। उनके दक्खिन आधुनिक हिसार-स्तालिनाबाद बलख बदख्शाँ पामीर में—अर्थात् पुराने कम्बोज देश में—तुखार लोग थे। तुखारों की लिपि भारतीय थी।

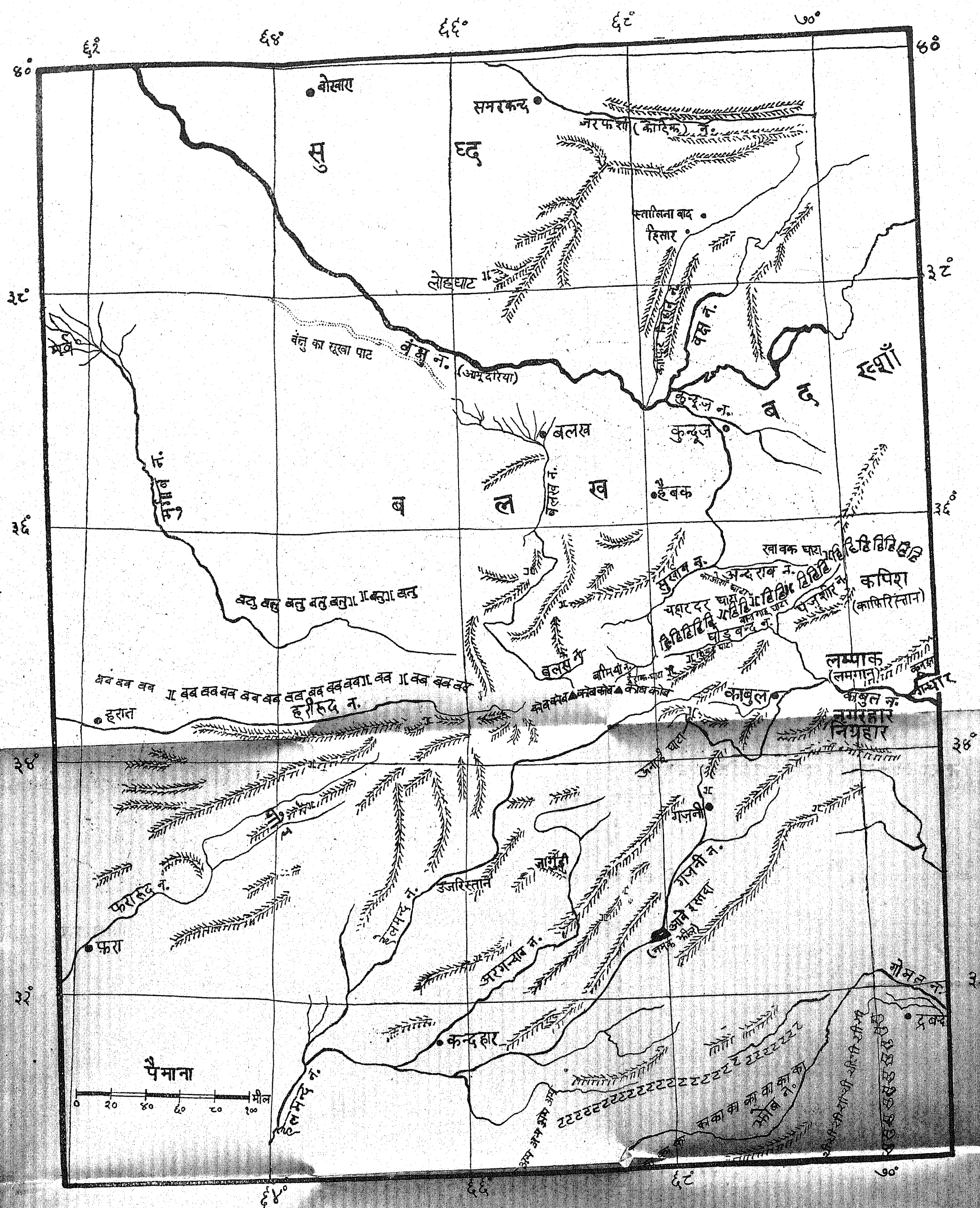


नक्शा ११—भारतीय राज्यक्षेत्र का विस्तार और ह्रास

(भारतीय राज्य क्षेत्र का चरम विस्तार तथा गुप्त युग के बाद क्रमिक ह्रास)

संकेत

———	रेखा के अन्तर्गत वह भूमि जो गुप्त युग तक भारतीय राज्यों के क्षेत्र में निश्चय से थी
- - - - -	रेखा के अन्तर्गत वह भूमि जिसके बहुतेरे अंश गुप्त युग में भी भारतीय राज्यक्षेत्र में रहे हो सकते हैं, पर जो बाद के श्रीविजय और बिल्वतिक्त साम्राज्यों में निश्चय से थी।
••••••••• १	रेखा के अन्तर्गत कौशाङ या तुरफ़ान प्रदेश जिसे छठी शताब्दी ई० में तुर्कों ने लिया।
▲▲▲▲▲▲▲ २	रेखा के अन्तर्गत मकरान प्रदेश जो ६४४ ई० में अरब साम्राज्य में गया।
▬▬▬▬ ३	रेखा के अन्तर्गत वे प्रदेश जो आठवीं शताब्दी में भारतीय राज्यक्षेत्र से निकले— (अ) सिन्ध-मुलतान जो अरब साम्राज्य में गया (इ) बोलौर जो तिब्बती प्रभाव में गया। (उ) खोतन राज्य जिसे तिब्बतियों ने मिटा दिया।
×××××××× ४	रेखा के अन्तर्गत वे प्रदेश जिन्हें १०वीं शताब्दी के अन्त और ११वीं के आरम्भ में तुर्कों या आनामियों ने जीता।



नक्शा १२—भारत का उत्तरपच्छिमी सीमान्त

संकेत

सुसुसु =सुलेमान शृंखला

शी शी शी =शीनग़र शृंखला

का का का =काकड़ शृंखला

टटटट =टोबा शृंखला

अम अम =ख्वाजा अमरान शृंखला

ЛГ घाटा

हि हि हि =हिन्दूकश शृंखला (हिन्दकोह)

कोब कोब =कोहे-बाबा शृंखला

बब बब बब =बन्दे-बाबा शृंखला

बतु बतु =बन्दे-तुर्किस्तान शृंखला

=अन्य पर्वत

● नगर

पामीर के छोटे छोटे तुखार र
तुर्क आधिपत्य में नहीं थे
पच्छिमी पहलू तुर्कों द्वारा घेर

हिन्दूकश के दक्खिन अ
और कपिश राज्य क्षत्रियों के

६१८ ई० में चीन में प्र
ई० में चीन सम्राट् ने उत्तरी
के राजा विजयसंग्राम ने तुर्कों
की सेनाओं ने पच्छिमी तुर्कों
तुखार राज्यों को अपने आधि

§४ अरब बाढ़

इस बीच अरब में इस्ल
और अरब लोग भी मध्य ए
साम्राज्य के पूरबी प्रान्तों पर
से मदद माँगी। पर ची
अरबों ने रोम का सीरिया प्र
के समुद्र-तट पर कई विफल
पूरबी प्रान्त किरमान और सि
हेलमन्द पर पहुँच गये। यह
भी भारत की सीमा मान
अन्तर्गत था। अगले बरस
लिया। फिर जब ६५० ई० में
के राज्य (बामियाँ जागुड
चीन का साम्राज्य पच्छिमी
ईरान में अरब अपने पैर ज
सातवें शतक के उत्तर

पामीर के छोटे छोटे तुखार राज्य सीता काँठे के भारतीय राज्यों की तरह तुर्क आधिपत्य में नहीं थे। पर पामीर और सीता काँठे के उत्तरी और पच्छिमी पहलू तुर्कों द्वारा घेर लिये गये थे।

हिन्दूकश के दक्खिन आधुनिक अफगानिस्तान में बामियाँ जागुड और कपिश राज्य क्षत्रियों के थे। प्रकटतः वे भारत में गिने जाते थे।

६१८ ई० में चीन में प्रतापी ताङ सम्राट् वंश स्थापित हुआ। ६३० ई० में चीन सम्राट् ने उत्तरी तुर्कों का देश जीत लिया। उसी वर्ष खोतन के राजा विजयसंग्राम ने तुर्कों के देश पर चढ़ाई की। ६५७—५९ में चीन की सेनाओं ने पच्छिमी तुर्कों का भी सारा देश जीत कर शूलिक और तुखार राज्यों को अपने आधिपत्य में ले लिया।

§४ अरब बाढ़ और मध्य एशिया का संघर्ष

इस बीच अरब में इस्लाम और खिलाफत का उदय हो चुका था और अरब लोग भी मध्य एशिया की ओर बढ़ रहे थे। उन्होंने रोम साम्राज्य के पूरबी प्रान्तों पर चढ़ाई की तो रोम सम्राट् ने चीन सम्राट् से मदद माँगी। पर चीनी सेनाएँ अभी मध्य एशिया में ही थीं कि अरबों ने रोम का सीरिया प्रान्त काट लिया। इधर खलीफाओं ने कोंकण के समुद्र-तट पर कई विफल हमले किये। सन् ६४३ ई० में ईरान के पूरबी प्रान्त किरमान और सिजिस्तान (शकस्थान) को ले कर अरब हेलमन्द पर पहुँच गये। यह ध्यान देने की बात है कि हेलमन्द इस वक्त भी भारत की सीमा मानी जाती थी अर्थात् कन्दहार प्रदेश भारत के अन्तर्गत था। अगले बरस अरबों ने सिन्ध के राजा से मकरान छीन लिया। फिर जब ६५० ई० में उन्होंने हरात भी ले लिया तब अफगानिस्तान के राज्य (बामियाँ जागुड कपिश) दो तरफ से घिर गये। यों जब चीन का साम्राज्य पच्छिमी मध्य एशिया में पहुँचा तब उसके दक्खिन ईरान में अरब अपने पैर जमा चुके थे।

सातवें शतक के उतरार्द्ध में अरबों ने अफगानिस्तान पर कई

चढ़ाइयाँ कीं। सब विफल। हरात से उन्होंने मध्य एशिया की ओर बढ़ने की चेष्टा की, तब उनकी चीन से ठन गई। चीनियों नें खोतन कश्मीर और काबुल (कपिश) के भारतीय राज्यों के सहयोग से अरबों को सफलतापूर्वक रोके रक्खा। लेकिन तिब्बत ने कई बार चीन की मध्य एशिया से लाँघने वाली सेनाओं का रास्ता काटने की कोशिश की। ६७४ ई० में तिब्बतियों ने राजा विजयकीर्ति को हरा कर खोतन दखल कर लिया जो १६ बरस तक उनके अधिकार में रहा। इसी समय, जान पड़ता हैं, वे दरद देश के पूरबी हिस्से—आजकल के बोलौर और उसके पूरब लगे हुए लदाख के पच्छिमी कोने—में घुस आये। दरद लोग भारतीय जाति हैं जो कश्मीर और पामीर के बीच पहाड़ों में रहते हैं।

७१०-१२ ई० में अरबों ने सिन्ध ले लिया। तभी कोतैबा के नेतृत्व में वे मध्य एशिया में भी घुसे पर ७१५ ई० से चीन की शक्ति फिर चमकी और कास्पी समुद्र तक जा पहुँची। बलख और गज़नी (जागुड) तक के राज्यों को सहायता दे चीन ने अरब बाढ़ रोकने को बाँध बनाये रक्खा। चीनी सेना ने बोलौर से तिब्बतियों को मार भगाया। कश्मीर के राजा ललितादित्य (७३३—७६६) ने समूचे उत्तरपच्छिमी भारत को अपने अधीन कर चीन सम्राट् को सहयोग दिया।

पर उस शताब्दी के मध्य में आ कर मध्य एशिया का चीन-भारतीय बाँध टूट गया। अरबों ने ७५१ ई० में समरकन्द पर चीनियों को हरा दिया। तुर्क भी फिर मध्य एशिया में घुस आये। ७८० में तिब्बतियों ने खोतन के भारतीय राज्य को मिटा दिया। ७८६ ई० में अरबों ने काबुल पर फिर चढ़ाई की, पर फिर विफल।

छठी शताब्दी में भारतीय राज्यक्षेत्र में से तुरफान निकल गया था। सातवीं-आठवीं के संघर्ष में मकरान-सिन्ध और खोतन निकल गये, तथा बोलौर तिब्बती प्रभाव में चला गया। वहाँ से एक बार चीनियों द्वारा निकाल दिये जाने पर भी वे फिर कभी घुस आये क्योंकि आज बोलौर की भाषा

तिब्बती है, चाहे वहाँ की जनता का रक्त और रंग-रूप दरद आर्य है।[1]

§५. पाल प्रतिहार राष्ट्रकूट

इधर सिन्ध में अरब राज्य स्थापित हुआ, उधर पूरबी भारत में पिछले गुप्त राजवंश का अन्त हुआ। कन्नौज और कर्णाटक के पहले साम्राज्य भी प्रायः जीर्ण हो चुके थे। मगध मिथिला बंगाल में गुप्तों की जगह पाल राजवंश स्थापित हुआ, कर्णाटक में चालुक्यों का स्थान राष्ट्रकूटों ने ले लिया, और पच्छिम भारत (पारियात्र-गुजरात) में प्रतिहारों का नया वंश उठा। कन्नौज साम्राज्य को अपनी कठपुतली बनाने के लिए पालों और प्रतिहारों में होड़ लग गई, और राष्ट्रकूटों ने उत्तर भारत पर अपना प्रभाव जमाना चाहा। अन्त में प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने कन्नौज को जीत कर अपनी राजधानी बना लिया (लगभग ८३६ ई०)। इसके बाद एक शताब्दी तक पुण्ड्रवर्धन (पुर्णिया-राजशाही) से सुराष्ट्र तक तथा सुराष्ट्र से मुलतान और कश्मीर की सीमा तक प्रतिहारों का साम्राज्य और दक्खिन भारत में राष्ट्रकूट साम्राज्य बना रहा। सिन्ध के अरब शासकों ने प्रतिहारों के डर से राष्ट्रकूटों से मैत्री की।

इस युग के भारतीय राज्यों के बारे में विन्सेंट स्मिथ ने अपनी सुपरिचित शैली में लिखा था—"हर्ष की मृत्यु से वे बंद ढीले पड़ गये जो भारत में सदा उद्यत विभेदक शक्तियों को थामे हुए थे, और उन शक्तियों को छूट मिल जाने से उनका स्वाभाविक फल पैदा हो गया, जो था सदा बदलती सीमाओं वाले तुच्छ राज्यों का जमघट जो कभी न रुकने वाले घरेलू युद्ध में लगे रहते।......भारत क्षण भर में अराजकतामय स्वराज की अपनी साधारण दशा पर उतर आया।"[2]

१. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३०)—भारतभूमि, पृ० १२२-१२३, १३९-१४०, २३२; फ्रांके (१९०४)—ए लैंग्वेज मैप ऑफ दि वेस्ट तिबत (पच्छिमी तिब्बत का भाषा-नक्शा) ज० ए० सो० बं० ७३, भाग १ पृ० ३६२ प्र० के आधार पर।

२. वि० स्मिथ (१९१४)—अर्ली हिस्टरी ऑफ इंडिया (भारत का प्राचीन इतिहास) पृ० ३५६-३५७।

अनेक भारतीय लेखकों ने भी स्मिथ की इस बात को सच मान रक्खा है, भले ही वे इसे इस तरह नमक-मिर्च लगा कर न कहें। पर हर्षवर्धन के साथ प्राचीन भारत के साम्राज्यों का सिलसिला समाप्त हो गया और छोटे राज्यों के युग का आरम्भ हुआ यह उनकी साधारण धारणा है। किन्तु इतिहास के जो विद्यार्थी ऐतिहासिक घटनाओं और परिस्थितियों को ठीक-ठीक देखेंगे वे यह पायेंगे कि नौवीं शताब्दी के "प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के साम्राज्य (विस्तार में) हर्ष और पुलकेशी के साम्राज्यों के प्रायः बराबर" और जीवन की दीर्घता में उनसे बढ़ कर थे, और कि "आठवीं नौवीं और दसवीं सदी में जितने बड़े राज्य भारतवर्ष में रहे उतने बड़े राज्यों का परस्पर लड़ना यदि अराजकता कहलाय तो संसार के सब देशों में सदा ही अराजकता रही है।"[३]

स्मिथ ने अपनी लालबुझक्कड़ी शैली में लिखा है कि भारत के भीतरी भाग पर छठी शताब्दी के बाद पाँच सदियों तक कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ, इसलिए भारत अपनी "साधारण अराजकता" की दशा में रहा। पर जिन विदेशी अरबों ने युरोप के पूरबी छोर पर रोमी साम्राज्य को और पच्छिमी छोर पर स्पेन को पददलित किया और जिनके सामने स्पेन से सिन्ध तक कोई शक्ति न ठहर सकी, वे अनेक चेष्टाएँ करने पर भी भारत में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके, प्रतिहार सम्राटों तथा कपिश और महाराष्ट्र के राजाओं ने उन्हें बराबर रोके रक्खा, इतिहास की यह मोटी घटना भी स्मिथ को दिखाई नहीं दी, इसे देखते हुए डा० देवदत्त रा० भंडारकर ने ठीक ही आश्चर्य प्रकट किया है।[४] वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिहार और राष्ट्रकूट साम्राज्य हमारे इतिहास में वैसी ही महत्त्व की उपज थे जैसे हर्षवर्धन और पुलकेशी के साम्राज्य।

---

३. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३८)—इतिहासप्रवेश पृ० ३०१।

४. दे० रा० भंडारकर (१९२९, १९३०) स्लो प्रोग्रेस ऑफ इस्लाम इन इंडिया (इस्लाम की भारत में मन्द प्रगति), ऐनल्स ऑफ दि भंडारकर इन्स्टीट्यूट, १९२९ पृ० २६–२८, १९३० पृ० १४६।

नौवीं शताब्दी के अन्त में, जब ये साम्राज्य बने हुए थे, सुदूर कोनों में महत्त्व के परिवर्तन हुए। बोखारा के अमीरों के काबुल पर हमले करने के कारण ८७० ई० में वहाँ के हिन्दू राजा अपनी राजधानी अटक नदी के किनारे ओहिन्द ले आये। ८८० ई० में तांजोर में चोल राजवंश का उदय हुआ।

§६. पहले मध्य युग के प्रादेशिक राज्य

उत्तर और दक्खिन भारत के सम्राटों की चढ़ाऊपरी के सिलसिले में ९१६ ई० में इन्द्रराज राष्ट्रकूट ने कन्नौज नगरी को लूटा। तब से दूसरे कन्नौज साम्राज्य की अवनति होने लगी और प्रादेशिक राज्य खड़े होने लगे। चेदि (जबलपुर प्रदेश) जझौती (बुन्देलखण्ड) मालवा गुजरात पारियात्र में नये राजवंश उठ खड़े हुए; ओहिन्द के शाहियों ने सारा पंजाब ले लिया; मगध-बंगाल के पालों ने अपने राज्य का पुनरुद्धार करना चाहा। इन प्रादेशिक राज्यों के बीच कन्नौज का साम्राज्य भी बचा रहा। उस साम्राज्य में से निकले हुए इन नये राज्यों में से एक—मालवा—के राजा ने ९७२ ई० में दक्खिन के राष्ट्रकूट सम्राट् की राजधानी मान्यखेट पर चढ़ाई की। तब वह साम्राज्य समाप्त हुआ और उसका स्थान कल्याणी के नये चालुक्य राज्य ने ले लिया। इस प्रकार दसवें शतक में समूचे भारत में दो साम्राज्यों के बजाय अनेक प्रादेशिक राज्य स्थापित हो गये।

§७ तुर्क और आनामी

मध्य एशिया के तुर्क, जो पहले भारत और ईरान की सभ्यता से प्रभावित हुए और फिर चीन और अरब के आधिपत्य में रहे, दसवें शतक से अरबों-ईरानियों से स्वतन्त्र होने लगे। उनमें से पच्छिमी सब अब तक मुसलमान हो चुके थे। उनके एक सरदार ने, जो बोखारा के ईरानी अमीर का हाजीब अर्थात् प्रतिहार (द्वारपाल) था, दसवीं शताब्दी के अन्त में गज़नी में एक जागीर बना ली।

बोखारा से गज़नी का सीधा रास्ता काबुल हो कर है (जो कुन्दूज़ की दून से हिन्दूकश चढ़ कर उसे खावक, काओशाँ या चहारदर घाटे से पार करके उतरता है।) काबुल राज्य के स्वतन्त्र रहते बोखारा से उसके सामन्त गज़नी कैसे और किस रास्ते पहुँचे यह हमारे इतिहास की समस्या है जिसकी ओर मेरे जानते आज तक किसी ऐतिहासिक का ध्यान नहीं गया। दो ही रास्तों से वे पहुँच सकते थे (१) या तो बोखारा से हरात और हरात से अफ़गान पठार की तलहटी के साथ-साथ कन्दहार हो कर अर्थात् अफ़गान पठार की उत्तर से पच्छिम और दक्खिन परिक्रमा करते हुए और (२) या बलख से बामियाँ के रास्ते। अफ़गान पठार की रीढ़ हिन्दूकश-कोहे बाबा-बन्दे बाबा शृंखला से बनी है। हिन्दूकश और कोहे बाबा जहाँ अपने कन्धे एक-दूसरे से भिड़ाते हैं वहीं अफ़गानिस्तान का केन्द्रीय पनढाल है जिसके तले बामियाँ नदी है जिसका पानी कुन्दूज़ द्वारा वंक्षु में जाता है। बलख़ नदी की दून से हैबक और बाज़गाह हो कर बामियाँ की उस दून तक चले आने से अफ़गान पठार के केन्द्र में पहुँचा जा सकता है। बामियाँ और (काबुल दून की) घोड़बन्द नदी के बीच केवल शिबर घाटा है, उसी प्रकार बामियाँ और काबुल नदी के बीच केवल ईराक और ऊनाई घाटे। प्रकट है कि बोखारा के तुर्क सामन्त अफ़गानिस्तान के केन्द्रीय पनढाल से काबुल दून ले जाने वाले इन घाटों पर भी नहीं चढ़े, जैसे वे कुन्दूज़ दून से काबुल की ओर ले जाने वाले हिन्दूकश के घाटों पर नहीं चढ़े। इन घाटों को बाँये छोड़ते हुए वे बामियाँ से दक्खिनपूरब गज़नी की ओर बढ़ गये। मेरे विचार में वे हरात-कन्दहार और बलख़-बामियाँ दोनों रास्तों से गज़नी पहुँचे, और इस प्रकार उन्होंने अफ़गानिस्तान का पच्छिमी भाग ले कर काबुल राज्य को तीन तरफ से घेर लिया।

कपिश-काबुल राज्य में मूलतः ठेठ कपिश (हिन्दूकश के दक्खिनी ढालों का प्रदेश, पूरब तरफ कूनड़ नदी तक), काबुल दून, लम्पाक (लमगान), नगरहार (निंग्रहार = जलालाबाद प्रदेश) और पच्छिमी

गन्धार (पेशावर-पुष्करावती प्रदेश, पच्छिमें तरफ कूनड़ नदी तक) सम्मिलित थे। दसवीं शताब्दी में जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, उस राज्य ने सारा पंजाब भी जीत लिया था। प्रकट है कि वह राज्य अभी इतना मजबूत था कि उसपर सीधी चढ़ाई करने की सुविधा न देख बोखारा के तुर्कों ने उसे पहले घेरना उचित माना; साथ ही वह इतना सजग और सचेष्ट न था कि अपने को यों घेरे जाने से भी बचाता, तुर्कों को अफगानिस्तान में घुसने से ही रोकता।

गज़नी के तुर्क सुल्तानों ने दसवीं शताब्दी के अन्त और ग्यारहवीं के आरम्भ में उत्तर और पच्छिम भारत के सब राज्यों को झकझोर दिया। काबुल और पंजाब गजनी-साम्राज्य में चले गये; उत्तर भारत के दूसरे सब राज्य भी गज़नवी तुर्कों के धावों के लिए खुल गये। इसी समय से पूरबी मध्य एशिया अर्थात् चीनहिन्द की जनता में भी तुर्कों की संख्या बढ़ती गई और वहाँ के लोग बौद्ध मार्ग को छोड़ मुसलमान बनते गये। ग्यारहवें शतक में यों सीता काँठे के भारतीय राज्यों के अन्तिम चिह्न लुप्त हो गये।

गज़नी में जब तुर्क सल्तनत का उदय हुआ, ठीक उसी समय परले हिन्द के पूरबी सीमान्त में आनामी लोगों ने चीन से स्वतन्त्र अपना राज्य खड़ा किया। १००१ ई० में महमूद के हमलें के कारण आनन्दपाल को अपनी राजधानी ओहिन्द से भेरा हटानी पड़ी थी। उससे पहले बरस, १००० ई० में, आनामियों के दबाव से चम्पा के राजा सिंहवर्मा ने अपनी राजधानी दक्खिन हटा कर विजय प्रान्त में रक्खी थी। फिर १०६९ में रुद्रवर्मा को उत्तरी प्रान्त आनामियों को देना पड़ा।[५] यों दसवीं शताब्दी के अन्त और ग्यारहवीं के आरम्भ में भारतीय राज्यक्षेत्र से उत्तर-पच्छिम तरफ अफगानिस्तान पंजाब और सीता काँठा तथा पूरब तरफ चम्पा का उत्तरी प्रान्त निकल गये।

५. फीनो (१९२५)—हिन्दू किंगडम्स् इन इंडोचाइना (हिन्दचीन में हिन्दू राज्य), इं० हि० क्वा० १ पृ० ६०१ प्र०।

§८. तमिळ और कर्णाट

गज़नी के तुर्क जब उत्तर और पच्छिम भारत के राज्यों पर ठोकरें लगा रहे थे, तभी तांजोर के तमिळ राजा दक्खिन और पूरब भारत पर चढ़ाइयाँ कर रहे थे। तमिळ राजा ने अपने बेड़े से चढ़ाई कर सुमात्रा-जावा-मलाया के श्रीविजय साम्राज्य को भी अधीन किया।

महमूद गज़नवी के विद्वान् कैदी अल्बरुनी ने भारतीय लिपियों के वर्णन-प्रसंग में कर्णाट लिपि का परिचय यह कह कर दिया है कि वह उस "कर्णाट देश में चलती है जहाँ से वे सैनिक आते हैं जो सेनाओं में कनाड़ कहलाते हैं।"[६] इससे जान पड़ता है कि कन्नड सैनिक महमूद के समय में भी प्रसिद्ध थे और पंजाब तक में उनकी ख्याति पहुँची थी। तमिळ राजाओं की सेना में सम्भवतः उनकी बड़ी संख्या थी। अल्बरुनी का कथन बाद के इतिहास की घटनाओं से और पहले के ऐतिहासिक लेखों से भी पुष्ट होता है। इन लेखों से प्रकट होता है कि उत्तर भारत में भाड़े के सिपाहियों के रूप में कर्णाटक के सैनिकों की माँग रहती थी। नमूने के लिए मगध-बंगाल के पाल राजाओं के लेखों में राजकर्मचारियों की गिनती में कर्णाट और हूण सैनिकों का बारबार उल्लेख आता है।[७]

§९. भारतीय राज्यों में तुर्क सैनिक

हूणों के इन उल्लेखों से आधुनिक विद्वानों को परेशानी हुई है, और उनमें से कइयों का यह विचार रहा है कि इस समूचे युग में भारत

---

६. अल्बरूनी जि० १ पृ० १७३, जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारत-भूमि और उसके निवासी पृ० २१५ पर उद्धृत।

७. देवपाल (८०९-८५१ ई०) का नालन्दा ताम्रशासन, एपि० इं०िडका १७ (१९२३-२४), पृ० ३१५—कर्णाटहूणचाटभटसेवकादीन्; नारायणपाल (८५४-९०८ ई०) की भागलपुर प्रशस्ति, इं०, आं० १५ (१८८६) पृ० ३०६—गौडमालवखशहूणकुलिक कर्णाटलाटचाटभट सेवकादीन्। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि, पृ० २१५।

में हूण जाति का कोई केन्द्र कहीं बना हुआ था। मेरी नम्र सम्मति में इन लेखों के हूण सीमा पर के तुर्कों के सिवाय कोई न थे। मध्य एशिया में वे छठे शतक से तुर्क कहलाने लगे थे, पर भारत में उनका पुराना नाम हूण ही चलता रहा। और इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस युग में उत्तर भारत के राज्यों में भाड़े के तुर्क सैनिकों की बराबर माँग थी।

इतिहास में बराबर यह देखा गया है कि वैभवशाली अवनतिमुख राष्ट्रों के लोग अपनी रक्षा के कार्य से स्वयं विमुख हो कर जिन तरुण और निर्धन जातियों के लोगों को वेतन दे कर वह काम सौंप देते हैं, वही जातियाँ कुछ समय बाद उन राष्ट्रों की भीतरी हालत को अच्छी तरह जान कर उन्हें जीत लेती हैं। हमने देखा है कि ईरानी साम्राज्य को अलक्सान्दर ने जब जीता उससे पहले भाड़े के यूनानी सैनिक समूचे ईरानी साम्राज्य से परिचित हो चुके थे। महमूद से पहले उत्तर भारत के राज्यों में भी वैसी ही दशा रही जान पड़ती है।

§९. पहले मध्य काल के अन्तिम राज्य

भारत के ठीक बीच के दो राज्य—मालवा और चेदि—महमूद और राजेन्द्र चोल दोनों की चोटें खाने से बच गये थे। उनके पीछे इन्होंने अपनी शक्ति बढ़ा ली। भारत के दूसरे राज्य भी सँभल गये। उत्तर भारत में उन्होंने तुर्कों की रोकथाम की और हरियाने (रोहतक-हिसार) के इलाके से उन्हें पीछे खदेड़ा। कन्नौज के क्षीण साम्राज्य को समाप्त कर चन्द्र गाहड्वाल ने वहाँ चौथे[८] साम्राज्य की नींव डाली (१०८० ई०), लेकिन यह साम्राज्य उतना विस्तृत नहीं हुआ। तभी कन्नड सैनिकों ने बंगाल और तिरहुत में दो नये राज्य स्थापित किये। ११११ से ११८६ ई० तक दक्खिन का चालुक्य साम्राज्य भी धीरे-धीरे टूटता गया, और उसके स्थान में कर्णाटक (धोरसमुद्र) आन्ध्र (ओरंगल) और महाराष्ट्र (देवगिरि) के प्रादेशिक राज्य स्थापित हुए। बारहवीं शताब्दी

८. दे० परिशिष्ट ३।

के प्रायः अन्त तक उत्तर भारत के राज्य बने रहे। उसके बाद उनकी भीतरी कमज़ोरी एकाएक प्रकट होने लगी।

§१०. पहले मध्य युग का तलपट[१]

११६४ ई० में जब कन्नौज-सम्राट् जयच्चन्द्र चन्दवार की लड़ाई में मारा गया, इस युग का अन्त हुआ। उससे पाँच ही बरस पहले दक्खिन के चालुक्य साम्राज्य का विघटन भी पूरा हो चुका था। इस युग को हम कन्नौज और कर्णाटक साम्राज्यों का युग या पहला मध्य युग कहते हैं। इस युग में आर्यावर्त्ती राज्यों का क्षेत्र न केवल बढ़ा नहीं, प्रत्युत छठी शताब्दी में उससे उसका तुरफान राज्य, फिर सातवीं-आठवीं में मकरान-सिन्ध और खोतन राज्य तथा बोलौर का जिला कट गये, और दसवीं-ग्यारहवीं में और अढ़ाई प्रान्तों—अफगानिस्तान पंजाब तथा उत्तरी चम्पा—की भी स्वतन्त्रता जाती रही। चीन-हिन्द लुप्त हो गया; परले हिन्द का मुख्य अंश अभी बना रहा। तो भी यह बात ध्यान में रखने की है कि अरबों का मुकाबला आने पर जैसे रोम-साम्राज्य ने एकाएक अपना बड़ा भाग गँवा दिया और ईरानी साम्राज्य एक ही चोट में गिर पड़ा, वैसी बात यहाँ न हुई। अरब हमले के समय तक भारत ने काफी दृढ़ता दिखाई, और एक प्रान्त के सिवाय अरबों को यहाँ सब जगह विफलता हुई। उस प्रान्त को वापिस लेने की कोशिश नहीं हुई और तीन शताब्दी बाद पहला तुर्क हमला होने पर और कमज़ोरी प्रकट हुई। उस समय भी पंजाब ने डट कर मुकाबला किया। लेकिन दो शताब्दियाँ और बीत जाने पर पूरी-पूरी जीर्णता आ गई, और भारत के राज्य बोदे पेड़ों की तरह गिरने लगे।

---

१. वर्ष भर के व्यापार का परिणामभूत जमा-खर्च लेन-देन और नफा-नुकसान का जो व्यौरा तैयार किया जाता है उसे पच्छिमी पंजाब के व्यापारी पोता-मेल और बनारस में बसे मारवाड़ी व्यापारी तलपट कहते हैं। खड़ी बोली क्षेत्र के चिट्ठा शब्द से मुझे वह अधिक सुन्दर और सार्थक लगा।

परिशिष्ट ३

कन्नौज के चार सम्राट् वंश

पहला कन्नौज साम्राज्य मौखारियों का था जो ५४० ई० के शीघ्र बाद खड़ा हुआ और सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के हाथ आ गया। उस शताब्दी के अन्त में फिर मौखरि राजा भोगवर्मा का उल्लेख मिलता मिलता है, जो गुप्त राजा आदित्यसेन का दामाद था। लग० ७२०—७४० ई० में कन्नौज का राजा यशोवर्मा था जिसने गौड़ पर चढ़ाई की और स्वयं ललितादित्य से हारा। अपने नाम और सिक्कों की शैली से वह भी मौखरि प्रतीत होता है।

आठवीं शताब्दी के पिछले अंश और नौवीं के आरम्भ में हमें कन्नौज के राजा वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध के नाम मिलते हैं। इन्द्रायुध प्रतिहार राजा वत्सराज का कठपुतली बना रहा। मगध बंगाल के राजा धर्मपाल ने उसे पदच्युत कर चक्रायुध को गद्दी पर बिठाया, जिसके पद को उत्तर भारत के सब राज्यों ने स्वीकार किया। उन राज्यों में कीर (कांगड़ा), मद्र (स्यालकोट), गन्धार और यवन के भी नाम हैं। गन्धार से अभिप्राय ओहिन्द और पेशावर के शाहि राज्य का होना चाहिए और यवन से सिन्ध के मुस्लिम राज्य का। प्रकटतः कन्नौज के राजा चाहे दूसरों के हाथ की कठपुतली बने हुए थे, तो भी उत्तर भारत के सम्राट् माने जाते थे।

वत्सराज प्रतिहार के अभिलेख में कहा है कि उसने "विख्यात भण्डिकुल से···साम्राज्य को युद्ध में···बलात् ले लिया।" इस वाक्य के साथ स्व० राखालदास बनर्जी ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि हर्षवर्धन के ममेरे भाई और सेनापति का नाम **हर्षचरित** में भण्डि दिया है। इसपर उन्होंने लिखा कि सम्भवतः हर्षवर्धन के बाद उसके मामा के पुत्र भण्डि के वंश ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया, पर भंडिवंश के

किसी कन्नौजराज का नाम नहीं मिला।[१०] मेरी नम्र सम्मति में आयुध नाम वाले राजा ही भण्डि के वंशज रहे होंगे, क्योंकि वत्सराज ने उन्हीं से राज लिया था, और उस वंश ने हर्षवर्धन के बाद नहीं प्रत्युत यशोवर्मा के बाद कन्नौज साम्राज्य को हथियाया।

इन आयुध नाम वाले भण्डिवंशी सम्राटों के बाद प्रतिहारों ने कन्नौज में तीसरा साम्राज्य स्थापित किया और अन्त में गाहड्वालों ने चौथा।

---

१०. राखालदास बनर्जी (१९१४)—बांगलार इतिहास (बंगाल का इतिहास) १म भाग, पृ० १२०।

छठा व्याख्यान *

पिछला मध्य युग या सल्तनत युग

§ १. ऐतिहासिक भूअंकन पर ध्यान देने की आवश्कता, प्रचलित इतिहासों की भ्रमात्मकता

दिल्ली की पहली सल्तनत के युग में भारतीय इतिहास की मीमांसा करने से पहले उस इतिहास के प्रचलित पाठ्य ग्रन्थों से सावधान होना आवश्यक है। घटनाओं का स्वरूप ठीक-ठीक जाने बिना उनके विषय में मीमांसा करने लगना अन्धपरम्परा में फँसना होगा। इन ग्रंथों में घटनाओं का जो वर्णन दिया गया है उसपर भरोसा नहीं किया जा सकता। तवारीखों और भाटों की कहानियों का उपयोग करने में इनके लेखक विवेक का परिचय नहीं देते, और अनेक बार वे स्पष्ट परस्परविरोधी बातें कह जाते हैं। डा० ईश्वरीप्रसाद की प्रसिद्ध पुस्तक के विषय में **नागपुर-अभिभाषण**[1] में कह चुका हूँ। यहाँ **भारत के कैम्ब्रिज इतिहास** जिल्द ३ के सम्पादक लैफ्टिनैंट-कर्नल वूल्सी हेग की विवेचना-पद्धति के कुछ नमूने पेश करता हूँ।

सुप्रसिद्ध ग़ोर प्रदेश के विषय में सर वूल्सी ने पृ० १६ पर ठीक लिखा है कि वह गज़नी और हरात के बीच एक छोटा ज़िला है। पर उसी पृष्ठ के सामने महमूद गज़नवी के राज्य का जो नक्शा है उसमें ग़ोर

---

* ८ सितम्बर १९४१ को दिया गया।

१. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३६)—२५वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण, पृ० १३-१४, परिशिष्ट ४ अ में उद्धृत। "एक प्रसिद्ध अध्यापक" से वहाँ डा० ईश्वरीप्रसाद का निर्देश किया गया था।

को गज़नी-हरात-रेखा के ४०० मील उत्तर—हिन्दूकश के उस पार—बैठाया है।[२] महमूद को कश्मीर के नीचे लोहर किले से हार कर लौटना पड़ा था, यह बात भी सर वूल्सी को मालूम है (पृ० १८)। पर उस नक्शे में महमूद के राज्य में न केवल कश्मीर का बड़ा भाग सम्मिलित है, प्रत्युत उसकी उत्तरी सीमा पूरबी किनारे पर गंगोत्री तक पहुँच गई है, वहाँ से उत्तरपच्छिम जाती हुई किश्टवार के उत्तर जा निकली है, और फिर कश्मीर को बीचोंबीच काटती हुई हिमालय के उस पार सिन्ध नदी को गिल्गित के दक्खिनपच्छिम वाले मोड़ पर जा छूती है! और उस सीमा के पार दरद देश और बोलौर में कर्कोटों का राज्य दिखाया गया है—कश्मीर के उन कर्कोटों का जिनका राजवंश महमूद से १५० वर्ष पहले लुप्त हो चुका था!

सन् १२०२ में १८ सवारों द्वारा मुहम्मद-बिन-बख्तियार के नदिया पर हमला करने और राजा लक्ष्मणसेन के वहाँ से निकल भागने की कहानी को सर वूल्सी ने कुछ सन्देह के बावजूद भी अपना लिया है।[३] पर स्व० राखालदास बनर्जी दिखला चुके हैं कि एक तो लक्ष्मणसेन सन् ११७० में ही मर चुका था, दूसरे नदिया कभी सेनों की राजधानी न थी, और तीसरे गौड़ की तुर्क सल्तनत नदिया तक पहलेपहल सन् १२५५ में पहुँची इस बात के स्मारक सिक्के मौजूद हैं।[४]

मुहम्मद-बिन-बख्तियार ने बिहार यानी मगध को जीता था। सर वूल्सी बिहार से आधुनिक बिहार समझ कर तिरहुत को हर नक्शे में दिल्ली सल्तनत में शामिल दिखाते हैं। असल बात यह है कि तुगलकों के

---

२. वूल्सी हेग (१९२८)—कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (भारत का कैम्ब्रिज इतिहास), जि० ३।

३. वहीं, पृ० ४६।

४. राखालदास बनर्जी (१९१४)—बांगलार इतिहास (बंगाल का इतिहास) १म भाग, पृ० ३२२–३२५; (१९२१) २य भाग, पृ० ४ से १२, १७-१८, २६-२७, ४०-४१, ६३।

राज्यकाल के सिवाय तिरहुत उस युग में बराबर दिल्ली से स्वाधीन था।[५] कैंब्रिज इतिहास में विद्यापति कवि के आश्रयदाता शिवसिंह और तिरहुत के अन्य राजाओं का कहीं नाम भी नहीं है।

गौड की सल्तनत के सीमान्त किलों के नाम तवारीखों में ही मौजूद हैं। उनसे और संस्कृत लेखों से यह भी मालूम हो चुका है कि उड़ीसा राज्य की सीमा हुगली ज़िले के मन्दारण कस्बे तक पहुँचती थी।[६] लेकिन सर वूल्सी समूचे उत्तरी उड़ीसा को भी बंगाल में शामिल मान लेते हैं।

इसी प्रकार वे कहते हैं कि इल्तुतमिश ने रणथंभोर वापिस लिया (पृ० ५३)। वे यह नहीं सोचते कि उससे पहले वह जीता ही कब गया था, और उस आधार पर वे उसी युग में समूचे राजपूताने और मालवे को दिल्ली सल्तनत के भीतर रख देते हैं, और वैसा करते हुए यह भी नहीं सोचते कि अलाउद्दीन खिलजी को उन्हें फिर जीतने की ज़रूरत क्यों पड़ी। फिर अलाउद्दीन के प्रसंग में वे रानी पद्मिनी के किस्से[७] को ऐतिहासिक सत्य मान लेते हैं (पृ० १११)!

५. वहीं (१९२१), पृ० ८, १३०–१३८, १९२–२०५। राखालदास के १९२१ में यह स्पष्ट दिखला देने के बाद भी इस युग के इतिहास के प्रायः सभी लेखक सर वूल्सी हेग की तरह यह गलती करते हैं। डा० ईश्वरीप्रसाद ने अपने ग्रन्थ के अन्त में उन ग्रन्थों की सूची दी है, जिनके आधार पर या जिनकी सहायता से उन्होंने अपना ग्रन्थ लिखा। उस सूची में बांगलार इतिहास और ओझाजी के राजपूताने के इतिहास के भी नाम हैं। फिर भी वे सब गलतियाँ उन्होंने की हैं जिनसे वे बचे होते यदि राखालदास और ओझाजी के ग्रन्थ उन्होंने देखे होते। प्रकट है कि उन ग्रन्थों को बिना देखे उन्होंने उनका नाम अपनी प्रमाणग्रन्थसूची में दिया है, जैसा कि हमारी युनिवर्सिटियों के कुछ अध्यापक अपने पाठकों पर झूठ-मूठ रोब डालने के लिए किया करते हैं।

६. वहीं, पृ० ५०–५८, २११। राखालदास बनर्जी (१९३०)—हिस्टरी ऑफ़ उड़ीसा (उड़ीसा का इतिहास) जि० १, पृ० २६३–२६८, २७२–२७४।

७. गौरीशंकर ही० ओझा (१९२५)—राजपूताने का इतिहास जि० १, पृ० ४८६–४९५; विशेष कर पृ० ४९१-४९२ जहाँ यह स्पष्ट दिखाया गया है कि अलाउद्दीन के पद्मिनी को देखने की बात निरा किस्सा है।

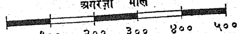
इन सबसे बढ़ कर विवेक का नमूना एक और है। सर वूल्सी स्वयं यह कहते हैं कि इल्तुतमिश ने बिजनौर के आठ मील उत्तर एक किला जीता था (पृ० ५३) जो कि स्पष्टतः हिमालय तराई का कोई सीमा का गढ़ था। लेकिन दिल्ली सल्तनत के नक्शों में वे न केवल बिजनौर के उत्तर के समूचे गढ़वाल और कुमाऊँ को सम्मिलित करते हैं, प्रत्युत उसकी सीमा को मानसरोवर के सामने से उत्तरपच्छिम बढ़ाते हुए रामपुर-बशहर को उसके भीतर लेते हुए, चन्द्रभागा के स्रोत पर हिमालय के पार लँघा कर स्पीती के स्रोत तक पहुँचा देते हैं! हिमालय का यह ४४००० वर्गमील का इलाका कब दिल्ली के सुल्तानों ने जीत लिया इस प्रश्न की जूँ भी उनके कान पर नहीं रेंगती। उनके भू-अंकन-विषयक विचार मुहम्मद तुगलक के दिमागी साँचे में ढले जान पड़ते हैं।[८]

§२. तुर्क सल्तनत की पहली सीमाएँ

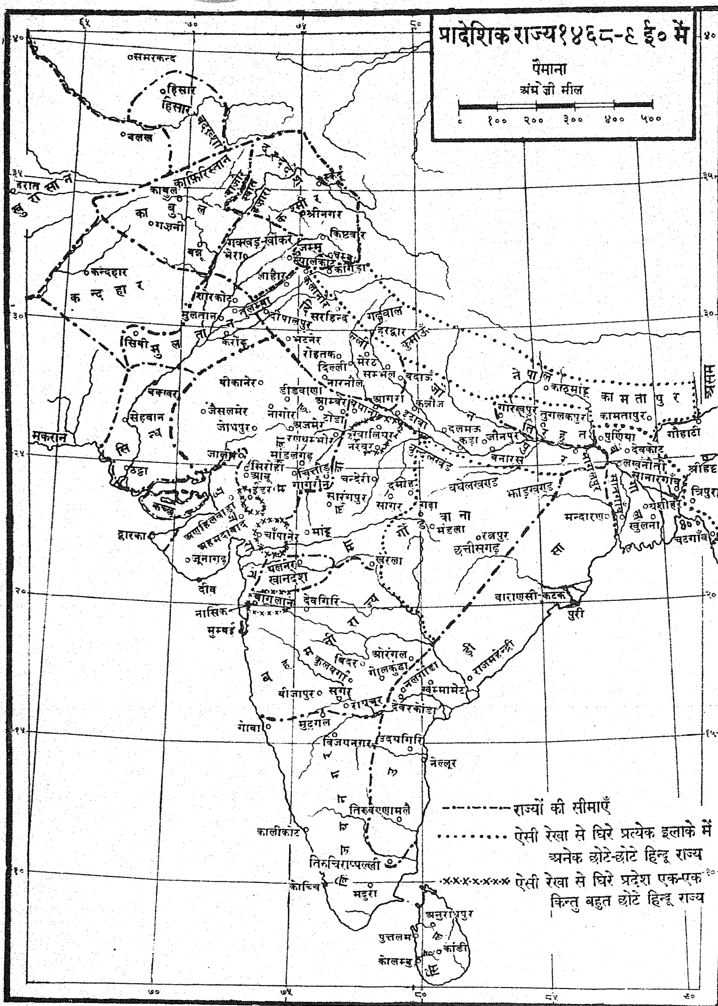
स्वप्नलोक की इस सृष्टि से अब हम यथार्थ इतिहास की तरफ वापिस आवें।

---

८. सच बात यह है कि डा० ईश्वरीप्रसाद और सर वूल्सी हेग दोनों ने चार्ल्स जौपन की १९०७ में प्रकाशित हिस्टौरिकल ऐटलस औफ़ इंडिया का आभार स्वीकार किये बिना मक्खी पर मक्खी मारते हुए अनुसरण किया है। जौपन का प्रयत्न उस जमाने में स्तुत्य था, पर उसकी "प्रामाणिकता" के अनेक मनोरंजक नमूने हैं। सन् १८१४-१५ के अंग्रेज़-नेपाल-युद्ध में अमरसिंह थापा और औक्टरलोनी की डट कर लड़ाई हुई थी। अमरसिंह नेपाल राज्य के जमना-पच्छिम के पहाड़ी प्रदेश का शासक था। शिमले से १३ मील पच्छिम अर्की में उसका अधिष्ठान था, जिसके पास मलौन के गढ़ से उसने युद्ध का संचालन किया था। औक्टरलोनी लुधियाने से उसके विरुद्ध बढ़ा था। मई १८१५ में औक्टरलोनी के मलौन का गढ़ ले लेने से उस युद्ध का अन्त हुआ था। जौपन की ऐटलस में मलौन को नेपाल राज्य में हिमालय पार तिब्बत की सीमा पर बनाया है! अर्थात् असल मलौन से ५०० मील हटा कर! दे० जौपन और गैरट (१९३८)—हिस्टौरिकल ऐटलस औफ़ इंडिया, ४र्थ संस्क०, नक्शा २९।



नक्शा १३—भारत की तुर्क सल्तनतें



नक्शा १४—पिछले मध्य-युग के प्रादेशिक राज्य (१४६८-६९ ई०)

ग़ोरियों के विजय की कहानी उनके ग़ज़नी जीतने से शुरू होती है। ग़ज़नी से दक्खिन उतर कर मुहम्मद-बिन-साम सबसे पहले उच्च के भाटिया राज्य[९] को जीतता है। सतलज और चनाब के संगम से पंजाब की पाँच नदियों के पानी की जो धारा बनती है, वह सिन्ध में मिलने से पहले पंजनद कहलाती है। उसी के बाएँ तरफ़ उच्च नगरी आज तक उपस्थित है, और वह जैसलमेर राज्य से, जो कि अब भाटियों का केन्द्र है, प्रायः १५० मील उत्तर है। उच्च के बाद मुहम्मद-बिन-साम मुलतान और सिन्ध जीतता है, और फिर महमूद ग़ज़नवी का अनुसरण कर ११७८ ई० में गुजरात पर चढ़ाई करता है। इसमें उसकी हार होती है, उसकी सेना का बड़ा अंश कैद होता है, और उन कैदियों को (तारीख़-ए-सोरठ के अनुसार) गुजराती लोग हिन्दू बना कर अपनी जातों में मिला लेते हैं।[१०] इधर से परास्त हो कर गोरी लाहौर लेता है, जिससे उसकी सीमा अजमेर-दिल्ली के चौहान राज्य से जा लगती है।

चौहानों की मुख्य राजधानी महमूद ग़ज़नवी के समय शाकम्भरी या साँभर थी। एक छोटा चौहान राज्य दक्खिनी मारवाड़ में, जालोर में, भी था। महमूद के आधी शताब्दी बाद चौहान राजा अजयराज ने अजमेर की स्थापना की।[११] उसके पोते विग्रहराज उर्फ बीसलदेव ने

---

९. दे० परिशिष्ट ४ इ।

१०. बेली और डाउसन (१८८६)—हिस्टरी ऑफ़ गुजरात (गुजरात का इतिहास) पृ० ३५; वाटसन तथा फ़ज़लुल्ला ल० फरीदी (१८९६)—बम्बई गज़ैटियर (बम्बई प्रान्तविवरण) जि० १ भाग १ खण्ड २ पृ० २२९। जय-चन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि पृ० ३७४।

११. डा० ईश्वरीप्रसाद ने सोमनाथ के रास्ते में महमूद का अजमेर लूटना लिखा है। सिन्ध से सोमनाथ का रास्ता जालोर हो कर जाता था, और उसी को महमूद ने लूटा भी था। उसके खँडहर अब तक विद्यमान हैं। फ़रिश्ता आदि पिछले मुस्लिम ऐतिहासिकों ने चौहानों की उस पुरानी राजधानी को अजमेर से गड़बड़ा दिया। नक्शे पर, चौहान इतिहास पर और जालोर के खँडहरों पर ध्यान देने से उनकी यह गलती प्रकट हो जाती है।

दिल्ली जीती और गज़नवी तुर्कों से हाँसी छीन कर हिमालय तराई तक अपना राज्य पहुँचा दिया। नागोर या उत्तरी मारवाड़ भी उसके अधीन था। हिमालय तराई की अशोक वाली लाट पर जिसे पीछे फीरोज़ तुगलक दिल्ली उठवा लाया, बीसलदेव अपने वंशजों के लिए यह सन्देश छोड़ गया कि हरियाने का इलाका तो मैंने विदेशियों से वापिस लिया, बाकी (यानी पंजाब) को लेने के लिए तुम उद्योग न छोड़ना। बीसलदेव का अदूरदर्शी भतीजा पृथ्वीराज उसकी शिक्षा पर ध्यान देने के बजाय जझौती (बुन्देलखंड) के चन्देल राजा परमर्दी से लड़ कर दोनों राज्यों की शक्ति नष्ट करता रहा। तरावड़ी की दूसरी लड़ाई में उसके मारे जाने पर दिल्ली अजमेर नागोर सब तुर्कों के अधीन हुए। पर पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने कुछ समय के लिए अजमेर वापिस ले लिया। उसने दिल्ली को भी वापिस लेने की कोशिश की, पर उसमें उसके विफल होने पर अजमेर भी फिर तुर्कों के हाथ चला गया। पृथ्वीराज का बेटा गोविन्दराज वहाँ से पूरब हट कर चम्बल नदी पर रणथम्भोर में जा बसा। उसने वहाँ अपनी स्वतन्त्रता जारी रक्खी।[१२] जालोर स्वतन्त्र ही रहा।

गोरी की अगली चोट कन्नौज साम्राज्य पर पड़ी, जो तब दिल्ली के पूरब से भागलपुर तक फैला था।[१३] सम्राट् जयचन्द्र के मारे जाने पर भी उसके नौजवान बेटे हरिश्चन्द्र ने कन्नौज के गढ़ को हाथ से न जाने दिया और अवध में डट कर मुकाबला जारी रक्खा। हिमालय की तराई और मगध में भी उसके सामन्तों ने तुर्कों की अधीनता न मानी। तो भी गंगा पार बदाऊँ और सम्भल तक, दक्खिनी अवध में तथा कन्नौज से बनारस-चुनार तक तुर्क स्थापित हो गये।

---

१२. गौरीशंकर ही० ओझा (१९२५)—राजपूताने का इतिहास जि० १ खंड २ पृ० २७०-२७२। जगनलाल गुप्त (१९३१)—हम्मीर महाकाव्य, ना० प्र० पत्रिका १९८८, पृ० २७५।

१३. दे० परिशिष्ट ४ उ।

चुनार से मुहम्मद-बिन-बख़्तियार ने बिहार और गौड़ पर हमले कर उन्हें जीत लिया। बिहार का अर्थ केवल मगध का मैदान था, क्योंकि रोहतास और झाड़खंड में कन्नौज के भूतपूर्व सामन्त स्वतन्त्र हो गये थे। तिरहुत में नान्यदेव कर्णाट के वंशजों का राज था, और उस पर कोई हमला नहीं हुआ। गौड में तुर्क राज्य-सीमा कहाँ तक थी, इसका पता इससे चलता है कि १२११—१२२६ ई० में वह गंगा के ५० कोस उत्तर देवकोट से ले कर गंगा के ४० कोस दक्खिनपच्छिम लखनोर कस्बे तक थी। लक्ष्मणसेन के बेटों ने ढाके के पास सोनारगाँव को अपनी राजधानी बनाया, और पूरवी और दक्खिनी बंगाल उनके राज्य में रहा।[१४]

जमना के दक्खिन-दक्खिन जझौती के चन्देलों का राज्य था। इसपर भी कुतुबुद्दीन ऐबक ने चढ़ाई की, जिसका स्थायी परिणाम यह हुआ कि कालपी का प्रदेश तुर्क सल्तनत में चला गया।

इसके बाद जेहलम पर रहनेवाली खोकर जाति ने अपने राजा राय साल के नेतृत्व में, जो एक बार मुसलमान बन कर फिर हिन्दू हो गया था, विद्रोह कर लाहौर ले लिया। मुहम्मद-बिन-साम और कुतुबुद्दीन ने विद्रोह दबा दिया, पर उसके बाद शायद एक खोकर के हाथ ही मुहम्मद की मृत्यु हुई। तुर्क सल्तनत की कहानी का पहला कांड यहीं पूरा होता है। मुहम्मद-बिन-साम के सिक्कों पर नागरी में उसका नाम है, और नन्दी और लक्ष्मी की वही मूर्त्तियाँ अंकित हैं जो चौहानों और गाहड्वालों के सिक्कों पर होती थीं। इससे प्रकट है कि उसे मुस्लिम धर्म की विशेष परवा नहीं थी और उसके विजयों की प्रेरणा शुद्ध आर्थिक-राजनीतिक थी।

§ ३. तेरहवीं शताब्दी में राजनीतिक नक्शे का परिवर्त्तन

हमारी कहानी का दूसरा कांड इल्तुत्मिश के राज्यकाल (१२१०—

---

१४. राखालदास बनर्जी (१९२१)—बांगलार इतिहास भाग २, पृ० ९-१०, ४०।

१२३६ ई०) से बनता है। इस समय कन्नौज का गढ़ जीता गया, जिसकी खुशी में चलाये गये सिक्के अभी तक प्राप्य हैं।[१५] हरिश्चन्द्र शायद मारा गया और अवध भी लिया गया जिससे तुर्क सल्तनत की सीमा गोरखपुर तक पहुँच गई।

लेकिन गज़नी की सल्तनत शहाबुद्दीन गोरी के बाद से ही दिल्ली से अलग थी। और जब मध्य एशिया की सब तुर्क सल्तनतें मंगोलों ने मिटा दीं और १२२१ ई० में गजनी सहित अफ़गानिस्तान भी ले लिया, तब से भारत के तुर्कों का मध्य एशिया से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। इसके डेढ़ शताब्दी बाद १३७० ई० में तैमूर ने फिर मध्य एशिया को तुर्किस्तान बनाया। इस बीच दिल्ली की तुर्क सल्तनत के लिए अफ़गानिस्तान सदा आतंक का कारण बना रहा। खोकर भी बराबर स्वाधीन रहे। अटक और अफ़गानिस्तान के बीच पेशावर कोहाट बन्नू डेरा-इस्माइलखाँ डेरा-गाजीखाँ के मैदान—अर्थात् प्राचीन पच्छिमी गन्धार और सिन्धु प्रदेश—प्रकटतः मंगोलों के अधीन थे।[१६] कश्मीर में हिन्दू राज्य बना ही था। दिल्ली सल्तनत की उत्तरपच्छिमी सीमा कभी चनाब और कभी जेहलम तक रहती थी। व्यास नदी तब आजकल की तरह सतलज में मिलने के बजाय मुलतान के नीचे चनाब में मिलती थी। इस

---

१५. राखालदास बनर्जी (१९१४)—बांगलार इतिहास भाग १ पृ० ३१२। नेलसन राइट (१९३६)—दि कौयनेज ऐंड मेटलौजी औफ दि सुल्तान्स औफ देल्ही (दिल्ली सुल्तानों के सिक्के और उनकी धातु-विवेचना) पृ० ७२ सं० ५२ अ और ५३, प्लेट १। जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहासप्रवेश (१९३८), १म संस्क० पृ० २४७। राखालदास ने कलकत्ता म्यूज़ियम की सूची में वर्णित इलतुतमिश के इस सिक्के की यह व्याख्या १९१४ में प्रकाशित की थी। नेलसन राइट उनके बंगला ग्रन्थ से अपरिचित रहे, इसी से १९३६ में प्रकाशित दिल्ली म्यूज़ियम की इस सूची में वे कहते हैं कि इस सिक्के पर "विचित्र लेख" है जिसकी व्याख्या वे नहीं कर पाते।

१६. दे० नव-परिशिष्ट ४।

कारण रावी और सतलज की निचली धाराओं के बीच का प्रदेश तब हरा भरा था। खोकर प्रदेश के अर्थात् नमक पहाड़ियों के दक्खिन, सिन्धसागर दोआब का निचला भाग दिल्ली सल्तनत में शामिल था कि नहीं यह एक प्रश्न है। वह शामिल रहा हो या न रहा हो, उसके और दक्खिन मुलतान-उच्च का इलाका दिल्ली सल्तनत में निश्चय से था, और वह इलाका एक तरफ को आगे बढ़ा होने के कारण मंगोलों को विशेष आकर्षित करता था। उच्च के सामने सिन्ध को पार कर के ही मंगोल दिल्ली सल्तनत में घुसते थे। और चूँकि वे खोकर प्रदेश के किनारे किनारे घूम कर इसी रास्ते आते थे, इसीलिए न केवल उच्च प्रत्युत व्यास के पुराने पाट पर दीपालपुर भी प्रमुख सरहद्दी थाना गिना जाता था। इस युग के इतिहास की इस परिस्थिति को पूरी तरह हृदयंगत करना आवश्यक है, पर हमारे पाठ्य-पुस्तक-लेखक इसे तनिक भी नहीं समझते और इसी से उनका कहानी के बीच में जहाँ तहाँ दीपालपुर को सरहद्दी थाना कहना शायद उन्हें स्वयं भी पहेली सा लगता है।

इल्तुत्मिश ने रणथंभोर ले लिया और जझौती मालवा मेवाड़ पर भी चढ़ाइयाँ कीं। रणथंभोर १० बरस दिल्ली सल्तनत में रहा। बाकी चढ़ाइयाँ निरे धावे थे जिनसे सल्तनत की सीमाओं में परिवर्त्तन नहीं हुआ।

इल्तुत्मिश की मृत्यु से बलवन के हाथ में राजशक्ति आने तक अर्थात् १२३६ से १२४६ ई० तक सल्तनत युग के इतिहास का तीसरा काण्ड है, जिसमें सुल्ताना रज़िया उसके एक भाई और भतीजे का राज्य-काल सम्मिलित है। यह उस सल्तनत की दुर्बलता का काल है। चौहान राजा वाग्भट्ट ने रणथम्भोर वापिस ले लिया,[१७] अनेक प्रान्त सल्तनत से

१७. जगनलाल गुप्त (१९३१)—हम्मीर महाकाव्य, ना० प्र० पत्रिका १९८८, पृ० २७६—२७८, ३०३—३०९। श्री गुप्त का यह कहना (पृ० २९९) ठीक है कि हम्मीर महाकाव्य के षर्प्पर या खर्प्पर वास्तव में खोकर ही हैं। पर वाग्भट्ट ने "खर्प्परों की सहायता से रणथम्भोर पर अधिकार कर लिया" (पृ० २७८) इसके बजाय मूल श्लोक का यह अर्थ करना चाहिए कि दिल्ली के सुल्तान पर जब

अलग हो गये, मंगोलों की चढ़ाइयाँ जारी थीं। उड़ीसा के राजा नरसिंह-देव ने गौड पर चढ़ाई की और हुगली तक इलाका दखल कर लिया।[१८] दक्खिन-पच्छिमी बंगाल तब से सेनों के बजाय उड़ीसा के गंगों के अधीन रहा।

सन् १२४६ से १२८६ तक इस इतिहास का चौथा काण्ड है, जिसके पूर्वार्ध में बलबन ने मन्त्री रूप से और उत्तरार्ध में सुल्तान रूप से शासन किया। इस समय सल्तनत अपने पूरे जोरों पर थी। १२४७ ई० में बलबन खोकरों पर चढ़ाई करता है। सुल्तान नासिरुद्दीन को चनाब पर छोड़ वह खोकरों के देश में घुसता और सिन्ध के किनारे उनके राजा जसपाल को हराता है। लेकिन खोकरों ने सिन्ध-जेहलम के बीच तमाम बस्ती और खेती उजाड़ दी थी, इसलिए उसे शीघ्र लौटना पड़ता है। इसका यह अर्थ है कि खोकर दिल्ली सल्तनत पर धावे न मारें इस हेतु उन्हें दण्ड दिया गया, पर वे अधीन न हुए। बलबन की मालवा-जझौती पर चढ़ाइयाँ भी निरे धावे ही थीं। इसी समय लखनौती का हाकिम बंगाल में तुर्क सल्तनत की सीमाओं को उत्तर तरफ बगुड़ा जिले में वर्धनकोट तक और दक्खिन तरफ नदिया तक पहुँचा देता है।[१९]

तेरहवीं शताब्दी के हिन्दू राज्यों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। खोकर प्रदेश की तरह पहाड़ी प्रान्तों और मालवे का इतिहास भी अभी बहुत धुँधला है।[२०] गुजरात में चालुक्य या सोलंकी वंश और तिरहुत में कर्णाट वंश बना था। जझौती में १२१२ से १२८६ ई० तक दो

खोकरों ने चढ़ाई की तभी वाग्भट्ट ने रणथम्भोर ले लिया।

१८. राखालदास बनर्जी (१९२१)—बांगलार इतिहास भाग २ पृ० ५२–५८; (१९३०) हिस्टरी ऑफ़ उड़ीसा (उड़ीसा का इतिहास) भाग १ पृ० २६२–२६८।

१९. राखालदास बनर्जी (१९२१) बांगलार इतिहास भाग २ पृ० ६३ प्र०।

२०. दे० नव-परिशिष्ट ४।

चन्देल राजाओं ने राज्य किया। उनके दक्खिन त्रिपुरी के चेदि राज्य पर कोई हमला नहीं हुआ, तो भी वह आप से आप जीर्ण हो कर टुकड़े टुकड़े हो गया। उड़ीसा के गंग राजा इस शताब्दी में सब से प्रबल रहे। दक्खिन में चोल राज्य टूट कर पाण्ड्य राज्य खड़ा हुआ। धोरसमुद्र के होयशलों और ओरंगल के काकतीयों ने चोल राज्य की फाँकें काटनी चाहीं, पर पाण्ड्यों से उन्हें दबना पड़ा। पांड्यों ने सिंहल भी जीता।[२१]

§४. परले हिन्द के अन्तिम हिन्दू राज्य

मंगोलों के विश्वविजय के कारण परले हिन्द में महान् परिवर्त्तन हुए। उनका साम्राज्य चंगेज़ के बेटे और पोते के समय बाल्तिक सागर से दक्खिनी चीन सागर तक फैल गया था। मुहम्मद-बिन-बख्तियार के बिहार पर हमले के समय विक्रमशिला विहार से श्रीभद्र नामक विद्वान् नेपाल होते हुए तिब्बत निकल गया था। श्रीभद्र के एक तिब्बती शिष्य ने अब चंगेज़खान के बेटे सम्राट् ओगोतई को बौद्ध बनाया, और चंगेज के पोते मानकूखान ने बौद्ध धर्म को राजधर्म बना लिया।[२२] मंगोलों के अधीन अफगानिस्तान भारतीय इतिहास का एक और धुँधला कोना है जिसपर चीनी तिब्बती और फारसी ग्रन्थों से काफी रोशनी पड़ सकती है।[२३] वैदिक काल से गज़नवी तुर्कों के शासन-युग तक अफगानिस्तान के इतिहास को हम भारतीय इतिहास में सम्मिलित करते हैं;

---

२१. चेदि के लिए दे० हीरालाल (१९३२)—इंस्क्रप्शन्स इन दि सी० पी० ऐंड बरार (मध्य प्रदेश और बराड में के अभिलेख) भूमिका। दक्खिन भारत के लिए सा० कृष्णस्वामी ऐयंगर (१९२१)—साउथ इंडिया ऐंड हर मुहम्मडन इन्वेडर्स (दक्खिन भारत और उसके मुस्लिम आक्रान्ता), व्याख्यान १, २।

२२. प्रबोधचन्द्र बाग्ची (१९२७)—इंडिया ऐंड चाइना (भारत और चीन) पृ० ३१-३२। राहुल साँकृत्यायन (१९३३)—तिब्बत में बौद्ध धर्म पृ० ३०—३२।

२३. दे० नव-परिशिष्ट ४।

ठीक इसी युग में हम उसे भूल जाते हैं और तैमूर के समय से फिर उस-पर ध्यान देने लगते हैं।

मंगोलों के चीन जीतने से वहाँ की जातियों में उथलपुथल मची और उनमें से कुछ "गंगा पार के हिन्द" में उत्तर आईं। उन्हीं में से एक अहोम जाति के हमारी पूरबी सीमा के प्राग्ज्योतिष प्रान्त में आ जाने से वह प्रान्त असम कहलाने लगा। दै (तइ)[२४] नाम की एक दूसरी जाति कम्बुज में पहुँची और एक दै सरदार उसके सुखोदय प्रान्त पर अधिकार कर इन्द्रादित्य नाम से स्वतन्त्र राजा बन बैठा। इन्द्रादित्य के बेटे राम-खाम-हेङ ने और विजय कर अपना राज फैला लिया, जो इस जाति के नाम से स्याम कहलाने लगा, और जिसे इधर हाल में दै-खण्ड[२४] कहा जाने लगा है। यद्यपि इन नये विजेताओं ने भी हिन्दू कृष्टि धर्म वाङ्मय और लिपि बहुत कुछ अपना लीं, तो भी परले हिन्द के पुराने हिन्दू राष्ट्र बहुत कुछ टूट गये, और वहाँ की सभ्यता में हिन्दू सभ्यता का प्रतिशत अंश कुछ कम हुआ।

चंगेजखान के पोते कुबलै खान ने १२९३ ई० में सुमात्रा-जावा पर भी चढ़ाई की जिससे वहाँ के पुराने राज्य समाप्त हो गये। पर वे द्वीप मंगोल साम्राज्य में सम्मिलित न हुए, और कृतरजस जयवर्द्धन ने वहाँ बिल्वतिक्त (मजपहित) राज्य की स्थापना की, जो उसकी बेटी त्रिभुवनोत्तुंगदेवी जयविष्णुवर्धिनी के लम्बे राज्यकाल में साम्राज्य बन गया।[२५] एक शताब्दी भर उस साम्राज्य का गौरव बना रहा, और आगे एक

---

२४. स्यामी लिपि भारतीय वर्णमाला में ही लिखी जाती है। स्याम के लोग अपने राष्ट्र का नाम दै लिखते हैं, जिसका उच्चारण वे तै [तइ] करते हैं। अंग्रेज़ी से नकल करने में वही थाइ बन जाता है। अपने देश को वे प्रदेस-दै अर्थात् दै-प्रदेश या दै-खण्ड कहते हैं, जिसका अंग्रेज़ी रूपान्तर दै-लैंड = थाइलैंड बन गया है।

२५. बिजनराज चटर्जी (१९२७)—इंडियन कल्चर इन जावा ऐंड सुमात्रा (जावा और सुमात्रा में भारतीय कृष्टि) पृ० ७–१२।

शताब्दी तक भी वह जारी रहा। एक तरह से वह परले हिन्द में भारतीय गौरव का अन्तिम मूर्त्त रूप था।

यह उल्लेखयोग्य है कि इसी युग में जावा की स्थानीय कवि भाषा में, जो भारतीय लिपि में लिखी जाती थी, भारतीय विचारों से ओतप्रोत वाङ्मय का विकास हुआ।

§५. सल्तनत का चरम उत्कर्ष

बलबन के साथ दिल्ली सल्तनत के इतिहास का चौथा काण्ड समाप्त होता तो कैकोबाद के चार बरसों के व्यवधान के बाद जलालुद्दीन खिलजी से पाँचवाँ आरम्भ होता है। तब से गयासुद्दीन तुगलक के अन्त तक अर्थात् १२९० से १३२५ ई० तक सल्तनत बराबर बढ़ती जाती और १३२५ में अपने अन्तिम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है।

जलालुद्दीन के समय मालवा पूरी तरह जीत कर दिल्ली सल्तनत का सूबा बनाया जाता है, जिससे प्रकट है कि इल्तुत्मिश और बलबन की उसपर चढ़ाइयाँ निरे धावे थीं। मालवे के रास्ते गुजरात लिया जाता है, और १२९७ में उसके लिये जाने पर मेवाड़-मारवाड़-ढूँढाड़ के राज्य चारों तरफ से घिर जाते हैं। तब रणथम्भोर और चित्तोड लिये जाते हैं। यों रणथम्भोर का चौहान राज्य पहले ११९५ से १२२६ ई० तक और फिर १२३६ से १३०१ तक बराबर स्वतन्त्र था। गुजरात के बाद एक तरफ देवगिरि ओरंगल धोरसमुद्र और पाण्ड्य राज्यों का तथा दूसरी तरफ मेवाड़-मारवाड़ के सब राज्यों का जीता जाना सुविदित है।

परन्तु इसका अर्थ समूचे भारत का खिलजी प्रशासन में चले जाना न था, जैसा कि हमारे पाठ्य-पुस्तक-लेखकों ने मान रक्खा है। एक तो गौड की सल्तनत कैकोबाद के समय से ही दिल्ली से अलग थी, और बिहार का सूबा भी गौड के अन्तर्गत था।[२६] दूसरे, दिल्ली और गौड

२६. राखालदास बनर्जी (१९२१)—बांगलार इतिहास भाग २, ४र्थ परिच्छेद।

की सल्तनतों के बीच में तिरहुत का राज्य स्वतन्त्र था और इस समय उसमें नेपाल भी सम्मिलित था।[२७] तीसरे, मालवा और चन्देरी सूबों के पूरब से समुद्र तक का विशाल प्रदेश, जिसके उत्तर तरफ बिहार और गौड की सल्तनत तथा दक्खिन तरफ ओरंगल का राज्य था, और जिसमें जझौती चेदि छत्तीसगढ़ उड़ीसा और झाड़खंड सम्मिलित थे, कभी जीता नहीं गया था।

दिल्ली-सल्तनत के साथ ही साथ ठीक इसी समय गौड की सल्तनत भी फैलती है, और दक्खिन बंगाल का मुख्य नगर सातगाँव तथा पूर्व बंगाल का सोनारगाँव उसमें सम्मिलित हो जाते हैं। तो भी दक्खिन और पूरब तरफ जसोर (यशोहर) खुलना सिलहट (श्रीहट्ट) और त्रिपुरा जिले स्वतन्त्र रहते, और उत्तर तरफ सल्तनत की सीमा दीनाजपुर जिले में कामतापुर राज्य की सीमा तक ही रहती है।

गयासुद्दीन तुगलक के समय में तिरहुत राज्य और बंगाल सल्तनत के दिल्ली सल्तनत में मिलाये जाने से वह सल्तनत अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है।

§६. पिछले मध्य युग के प्रादेशिक राज्य

पर सिन्ध उससे पहले ही साम्राज्य से अलग हो चुकता और सन् १३२६ में मेवाड़ के स्वतन्त्र हो जाने से साम्राज्य का टूटना निश्चित रूप से आरम्भ हो जाता है।

१३२६ से १३९८ ई० तक साम्राज्य के ह्रास और प्रादेशिक राज्यों के उदय का युग है। वह दिल्ली सल्तनत के इतिहास का छठा काण्ड है। इस अवधि के आरम्भ में ही दूर के प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्य उठ खड़े होते हैं, पर लाहौर से जौनपुर और गुजरात तक दिल्ली का साम्राज्य भी बना रहता है। यह वैसी ही स्थिति है जैसी दसवीं शताब्दी में कन्नौज-साम्राज्य के शिथिल होने पर पैदा हुई थी। और महमूद गजनवी की

२७. वहीं पृ० १३०–१३४।

चढ़ाई से जैसे कन्नौज साम्राज्य का पतन हुआ और उसका स्थान प्रादेशिक राज्यों ने ले लिया था, वैसे ही तैमूर की चढ़ाई से दिल्ली साम्राज्य धूल में मिल जाता और सारा भारत प्रादेशिक राज्यों में बँट जाता है। १३९८ से १५०६ ई० तक शुद्ध प्रादेशिक राज्यों का युग और सल्तनत युग का सातवाँ और अन्तिम काण्ड है। इस अवधि में यदि लोदियों के नेतृत्व में दिल्ली की सल्तनत फिर स्थापित हो जाती है तो वह दूसरे प्रादेशिक राज्यों की तरह एक प्रादेशिक राज्य ही थी, साम्राज्य बनने की प्रवृत्ति उसमें दूसरे राज्यों से अधिक न थी।

§७. पिछले मध्य युग में हिन्दुओं और तुर्कों की राजनीतिक मनोवृत्ति

हमने देखा है कि तेरहवें शतक के आरम्भ में ही भारतीय तुर्कों का मध्य एशिया से सम्बन्ध बिलकुल टूट गया था। तो भी उनके छोटे से दल का यहाँ के हिन्दू राज्यों पर आतंक बना रहा। इसका एक मात्र कारण इस युग के हिन्दुओं की मनोवृत्ति थी। दक्खिन के राज्य अलाउद्दीन की चोटों से जिस प्रकार एकाएक गिर पड़े, उससे प्रकट है कि वे मानो किसी नींद के नशे में चूर थे। चेदि का राज्य बिना किसी हमले के ही टुकड़े टुकड़े हो गया। वही दशा १४७८ ई० के बाद बिल्वतिक्त के साम्राज्य की हुई। यदि चौहानों और गुहिलोतों ने बहादुरी से मुकाबला किया तो वह बहादुरी केवल आत्मरक्षापरक थी। दुश्मन ने उनके दरवाजे पर आ कर ठोकर लगाई तो वे उठे और वीरता से लड़े। वह लौटा और वे फिर सो गये। राज्यों और साम्राज्यों को खड़ा करने और चलता रखने के लिए जिस सामूहिक चेष्टा की क्षमता और जागरूकता की अपेक्षा होती है, वह इस युग में हिन्दुओं में समाप्त हो चुकी थी। हिन्दू मन मानो तीन हजार वर्ष के लम्बे श्रम के बाद थक चुका था। वह अब कोई गम्भीर ज़िम्मेदारी उठाने को तय्यार न था और तुच्छ बातों में ही अपने को बहलाना चाहता था। ऐसी दशा में यदि तुर्कों की चढ़ाइयाँ न

भी होतीं, तो भी क्या चेदि की तरह भारत के सभी राज्य किसी भी हवा के झोंके से गिर और टूट न जाते ?

जहाँ तक तुर्कों का प्रश्न है, उन्होंने भारत को अपना लिया और एक शताब्दी के भीतर ही भारतीय बन गये। मलिक खुसरो के समान हिन्दी कवि का उनमें पैदा होना इसका प्रमाण है। खुसरो बलबन का समकालीन था। उसके नाम से आज जो कविता प्रसिद्ध है, यदि उसकी सब भाषा उसी की न हो, तो भी उसमें की साधारण मनोवृत्ति उसकी है और वह सर्वथा भारतीय है। इसके बावजूद भी यदि तुर्क पुराने यवनों शकों की तरह हिन्दू समाज में मिल न पाये तो उसका कारण इस युग में हिन्दू समाज का कठिया जाना ही था। हिन्दुओं की ग्रहण शक्ति सर्वथा लुप्त न हो गई थी यह तो शहाबुद्दीन गोरी (मुहम्मद बिन साम) के गुजरात में कैद होने वाले सैनिकों तथा अहोमों के हिन्दुओं में मिल जाने से सूचित है। तो भी इस युग की हिन्दू मनोवृत्ति जैसे राजनीति में वैसे ही सामाजिक आदान-प्रदान में भी निश्चेष्टता और अकर्मण्यता की थी। यदि कुछ चेष्टा उसमें जागती थी तो ठोकर खाने पर आत्मरक्षा करने मात्र के लिए। हिन्दू और मुस्लिम मनोवृत्ति का यह भेद मलिक काफूर जैसे दृष्टान्तों में स्पष्ट दिखाई देता है। हिन्दू रहने की दशा में काफूर शायद अपनी उम्र बर्तन माँजने और कपड़ा फींचने में बिता देता। मुस्लिम हो जाने पर उसकी शक्तियाँ किस प्रकार जाग उठीं !

§८. पन्द्रहवें शतक का राजनीतिक संतुलन

हिन्दुओं की जैसी निश्चेष्टता इस युग में थी उसके रहते उनका कोई साम्राज्य खड़ा करना या किसी साम्राज्य के संचालन की जिम्मेदारियों का बोझ उठाना सम्भव न था। तो भी इतनी जान उनमें थी कि सिर पर आ बने तो जान पर खेल जायँ। इसी से दुर्गम प्रान्तों में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की चेष्टा उन्होंने बराबर की, और उनकी वही चेष्टा तुर्कों का साम्राज्य बना रहने में बाधक हुई। दूसरी तरफ तुर्कों की मनोवृत्ति भी

अब एक साम्राज्य को बनाये रखने की न थी। वे जब पहलेपहल भारत में आये तब "एक नये और अपरिचित विशाल देश में एक छोटे से दल की तरह थे। अपनी रक्षा के लिए ही तब यह ज़रूरी था कि वे आपस में मिल कर और एक शासन में संघटित हो कर रहते। किन्तु डेढ़ शताब्दी में वे भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से परिचित हो चुके थे। प्रत्येक प्रान्त में कुछ लोग मुसलमान बन चुके थे और बाहर से आये हुए तुर्क उनमें घुल मिल गये थे। अब जब अपने-अपने प्रदेश में वे निःशंकता के साथ राज्य खड़े कर सकते और चला सकते थे, तब उन्हें किसी सम्राट् की आज्ञा मानने की ज़रूरत न थी।"[२८] यों पुराने भारतीयों का थक कर निश्चेष्ट हो जाना और तुर्कों का भारतीय बन जाना ही पन्द्रहवीं शताब्दी में एक भारतीय साम्राज्य न बनने का कारण हुआ।

परन्तु उस शताब्दी के प्रादेशिक राज्यों में भी सुन्दर संतुलन बना रहता है, और उस संतुलन के कारण सारे भारत की राजनीति में एकसूत्रता रहती है, जिसपर ध्यान दिये बिना हम विभिन्न प्रदेशों के इतिहास का पूरा अर्थ नहीं समझ पाते। दक्खिनी मंडल में विजयनगर और बहमनी सल्तनत में बराबर संघर्ष चलता है जिसके कारण उनका इतिहास एक दूसरे में गुँथा है। किन्तु उन दोनों के इतिहास की सरणि बहमनी सल्तनत के गुजरात मालवा गोंडवाना और उड़ीसा के राज्यों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर रहती है, और ये सम्बन्ध गुजरात और मालवा के पारस्परिक तथा मेवाड़ दिल्ली और जौनपुर के साथ के सम्बन्धों को और उसी प्रकार उड़ीसा के गौड और जौनपुर के साथ के सम्बन्धों को अनेक मार्मिक अवसरों पर प्रभावित करते हैं। गुजरात मेवाड़ और मालवा पच्छिमी मंडल के राज्य हैं जो एक दूसरे का संतुलन किये रखते हैं; इसी प्रकार पूरबी मंडल के जौनपुर तिरहुत गौड और उड़ीसा एक दूसरे का। किन्तु यदि पच्छिमी मंडल में कभी मालवा

२८. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहास-प्रवेश पृ० २८२।

प्रबल हो कर दिल्ली की ओर बढ़ता है तो उसे रोकने को जौनपुर उपस्थित हो जाता है, और उसी प्रकार जौनपुर को मालवा। यों जब भारत में एक साम्राज्य नहीं रहता तब भी समूचे देश की राजनीति की एक धारा बनी रहती है, उस अखिल-भारतीय धारा पर ध्यान दिये बिना प्रादेशिक धाराओं का ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

हमने देखा कि तेरहवीं शताब्दी के अन्त में ही तुर्क भारतीय बन गये और भारतीय मुसलमानों में घुलने-मिलने लगे थे। इसी से पन्द्रहवीं शताब्दी की भारतीय सल्तनतों में से कुछ तुर्कों की थीं तो कुछ भारतीय मुसलमानों की। गुजरात के सुल्तान कुरुक्षेत्र के टांक (बाद के 'टांक राजपूत') थे, मालवे के गोरी और पिछली दिल्ली सल्तनत के लोदी भी पठान होने से भारतीय मुस्लिम ही थे, और अहमदनगर और बराड़ के निज़ामशाह और बरीदशाह ब्राह्मण थे। तो भी विदेशियों का आना जारी था, और जैसा कि दक्खिनी सल्तनतों के इतिहास से प्रकट होता है, विदेशी और हिन्दी मुसलमानों में बराबर संघर्ष रहता था।

इस्लाम का भारत में फैलना वस्तुतः प्रादेशिक राज्यों के युग में ही और प्रायः भारतीय मुसलमानों द्वारा ही हुआ। उनमें से अनेक कट्टर मुस्लिम और उग्र धर्मप्रचारक थे। दूसरी तरफ उनमें कश्मीर के जैनुलाबिदीन (१४२०–१४७०) और बंगाल के हुसेनशाह (१४९३–१५१८) जैसे उदार शासक भी हुए। शेरशाह और अकबर वाली उदार नीति को आरम्भ करने का श्रेय वास्तव में जैनुलाबिदीन को ही है।

§९. १४३७ ई० से राज्यों के बढ़ने की नई प्रवृत्ति

हमने दिल्ली साम्राज्य के विकास और ह्रास की दृष्टि से १३६८ से १५०६ ई० तक की समूची अवधि को एक ही काण्ड कहा है, पर उसके भीतर कई पर्व हैं। राणा कुम्भा के समय (१४३३–१४६८) से सभी प्रादेशिक राज्यों में नया जीवन आया प्रतीत होता और एक नई प्रवृत्ति प्रकट होती है। वह नई प्रवृत्ति थी दूर के कोनों के इलाकों को, जिनमें

उच्छृंखल सरदार तब तक अपनी स्वतन्त्रता बनाये चले आते थे, जीत कर अधीन करने की। कुम्भा ने आबू को जीत कर और "नागोर को कथा-शेष"[२९] कर के इस प्रवृत्ति के उदय की सूचना दी। १४३७ ई० में उसने आबू जीता, ठीक उसी साल अलाउद्दीन बहमनी (१४३५–१४५८) ने कोंकण को अधीन किया। उड़ीसा के कपिलेन्द्र का राज्यकाल (१४३५–१४७०) कुम्भा से दो बरस पीछे आरम्भ और दो बरस ही पीछे समाप्त हुआ। उसने तिरुचिराप्पल्ली से राजमहल तक अपना राज्य फैलाया[३०]—१५वें शतक के भारत में पहला साम्राज्य उसी का था। बंगाल में भी दूर के कोने जीतने की प्रवृत्ति पहले १४५४ से १४८२ तक प्रकट हुई, जब कि यशोहर खुलना और सिलहट जीते गये, और फिर हुसेनशाह के समय (१४६३–१५१८ ई०) जब कि कामतापुर तिरहुत और त्रिपुरा जीते गये।[३१] वही प्रवृत्ति गुजरात के महमूद बेगड़ा (१४५६–१५११) ने चांपानेर जूनागढ़ और कच्छ को जीत कर दिखाई। और अन्त में दिल्ली की लोदी सल्तनत का जौनपुर (१४७६) और बिहार जीतना (१४६४) भी उसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति थी। और कुम्भा के आबू जीतने से हुसेनशाह के त्रिपुरा जीतने तक में जो अग्रसर प्रवृत्ति प्रकट हुई, वही १६वें शतक में आ कर अखिल-भारतीय साम्राज्य स्थापित करने की नई कशमकश में रूपान्तरित हो गई।

§१०. पिछले मध्य युग का तलपट

१५०६ ई० पर आ कर वह युग समाप्त होता है जो तरावड़ी (११६२) या चन्दवार (११६४) की लड़ाई से शुरू हुआ था। इस

२९. गौरीशंकर ही० ओझा (१९२७)—राजपूताने का इतिहास जि० १ खंड २ पृ० ६१३-१४।

३०. राखालदास बनर्जी (१९३०)—हिस्टरी ऑफ़ उड़ीसा (उड़ीसा का इतिहास) भाग १, अध्याय १९।

३१. वही (१९२१)—बांगलार इतिहास भाग २ पृ० २१०–२१७, २४३–५६४।

तिथि के महत्त्व को और इसे युग-परिवर्तन-सूचक मानने के कारणों को हम आगे देखेंगे। इससे पहले युग अर्थात् कन्नौज और कर्णाटक साम्राज्यों के युग में आर्यावर्त्ती जाति की राजशक्ति का विकास बन्द हो गया और थोड़ा-बहुत ह्रास भी होने लगा था। यह युग उसके चौमुखे ह्रास का युग है।[३२] विकास या प्रगति बन्द हो जाने का स्वाभाविक परिणाम यह ह्रास या पश्चाद्गति थी। तो भी कुछ प्रान्तों में—विशेष कर गन्धार (जेहलम से सिन्ध तक नमक पहाड़ियों के उत्तर तथा सिन्ध से कूनड़ नदी तक काबुल नदी के उत्तर के प्रदेश) पारियात्र चेदि (बुन्देलखण्ड बघेलखण्ड छत्तीसगढ़ गोंडवाना) उड़ीसा तिरहुत और कर्णाटक में—पुराने आर्यावर्त्तियों ने नये आगन्तकों के मुकाबले में अपनी स्वाधीनता बनाये रक्खी। नये आगन्तुक जो इस युग में आये वे पुराने आर्यावर्त्तियों के विचित्र सामाजिक पद्धति को उत्पन्न कर लेने से उनमें मिल न सके, और न वे सब पुराने निवासियों को अपने सा बना सके। यों देश के सामाजिक जीवन में भी एक नई समस्या उपस्थित हो गई है।

परिशिष्ट ४

अ. सल्तनत युग के प्रचलित इतिहासों की भ्रमात्मकता

[इस सम्बन्ध में मैंने सन् १९३६ के नागपुर अभिभाषण (= हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २५वें नागपुर अधिवेशन में इतिहास-परिषद् के सभापति-पद से अभिभाषण) में जो कहा था उसकी ओर ऊपर पृ० ६३ पर निर्देश किया गया है। नागपुर अभिभाषण अब अप्राप्य होने से उसका वह अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।]

"विंसेंट स्मिथ के इतिहास की आलोचना करते हुए प्रो० विनयकुमार सरकार ने लिखा था कि उसका दिल्ली की पहली तुर्क सल्तनत वाला

---

३२. दे० नव-परिशिष्ट ४।

अंश सब से अधिक पक्षपातपूर्ण और असन्तोषजनक है। इस अंश पर स्वदेशी लेखकों की कृतियाँ भी सब से अधिक निराश करने वाली हैं। एक प्रसिद्ध अध्यापक अपने ग्रन्थ के पहले ही पैराग्राफ़ में सिजिस्तान और सिविस्तान में गड़बड़ कर गये हैं। अरबों ने सिजिस्तान अर्थात् शकस्थान या सीस्तान को जीता ६४३-४४ ई० में, और सिविस्तान अर्थात् उत्तरपच्छिमी सिन्ध को ७१२ ई० में। लेकिन हमारे अध्यापक सिविस्तान को जिता देते हैं ६४३-४४ ई० में, और ७१२ ई० में सिविस्तान के जीते जाने का जहाँ मूल ग्रन्थों में उल्लेख है वहाँ उसपर हरताल फेर देते हैं।[३३] वे नक्शा देख कर यह समझने का भी जतन नहीं करते कि दक्खिनी सिन्ध लिये बिना सिविस्तान कैसे जीता जा सकता था। और फिर टिप्पणी में वे इस बात की सूचना भी नहीं देते कि उन्होंने मूल ग्रंथों की बात का दो जगह "संशोधन" किया है। दूसरे परिच्छेद में वे बतलाते हैं कि महमूद गज़नवी ने सोमनाथ जाते हुए अजमेर को लूटा।[३४] परन्तु अजमेर की स्थापना महमूद के आधी शताब्दी बाद हुई थी! १२४४ ई० में उड़ीसा के राजा ने लखनौती पर चढ़ाई की थी; हम अपने अध्यापक पर विश्वास करें तो वह तिब्बत के रास्ते मंगोलों का हमला था! चन्द बरदाई का पृथ्वीराज के दरबार में रहना, संयोगिता का स्वयंवर, १७ सवारों द्वारा मुहम्मद-बिन-बख्तियार का नदिया जीतना, अलाउद्दीन का पद्मिनी को दर्पण में देखना, आदि अनेक तोता-मैनाओं

---

३३. ईश्वरीप्रसाद (१९२५)—हिस्टरी ऑफ़ मेडीवल इंडिया (मध्यकालीन भारत का इतिहास) ४र्थ मुद्रण (१९४०) पृ० ५२। यह सन्दर्भ दूसरे अध्याय के पहले पैराग्राफ में हैं जिसमें मुस्लिम विजय की कहानी शुरू होती है। मैंने नागपुर अभिभाषण मुसाफिरी में लिखा था और उसमें सब बातें याद से ही लिखी थीं। तब मुझे यह याद नहीं रहा कि उस ग्रन्थ में मुस्लिम विजय की कहानी पहले अध्याय से नहीं दूसरे से शुरू होती है।

३४. वहीं, पृ० ९०-९१। यह विषय उस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में है, दूसरे में नहीं।

के किस्से इस युग के इतिहासों में प्रलम्बित हैं। सिक्कों, अभिलेखों, संस्कृत ग्रन्थों आदि की सामग्री की ओर इस युग के इतिहासों में ध्यान ही नहीं दिया जाता। उनकी दृष्टि भी अत्यन्त संकुचित है। सिन्ध को अरबों से जिता कर वे एकाएक महमूद गज़नवी पर कूद पड़ते हैं। हिन्दू अफ़गानिस्तान के अरबों से संघर्ष का उन्हें कुछ पता नहीं, खोतन राज्य या परले हिन्द के हिन्दू राज्यों की तो बात ही दूर। उन्हें यह मालूम नहीं कि उत्तरपच्छिमी पंजाब में हिन्दू गक्खड़ और खोकर इस युग में बराबर स्वतन्त्र रहे, और यागिस्तान (बाजौर-दीर-स्वात) और काफ़िरिस्तान की प्रजा बराबर हिन्दू रही। दीपालपुर क्यों दिल्ली सल्तनत का सीमान्त किला था, और सीमा पार का रास्ता क्यों मुलतान-उच्च घूम कर जाता था, ये प्रश्न उन्हें कुछ कष्ट नहीं देते। उन्हें यह भला कैसे मालूम हो कि व्यास उन दिनों मुलतान के नीचे चनाब में मिलता था? तिरहुत और चेदि में मुस्लिम प्रभुता नहीं घुस सकी, और पूरबी और दक्खिनी बंगाल में १३वीं सदी में बराबर सेन राज्य बना था, इसका उन्हें पता नहीं। उड़ीसा के राज्य को वे एक ज़िले के बराबर समझते हैं; उसकी सीमा हुगली [ज़िले] के मन्दारण कस्बे तक पहुँचती थी इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि उन्हें इस ठोस सत्य का पता लगे कि अलाउद्दीन के साम्राज्य की पूरबी सीमा प्रयाग तक ही थी, तो वे चौंक पड़ें। जिन मंगोलों की वेधशालाएँ पेकिंग में अभी मौजूद हैं, जिन्होंने मुसलमानों, ईसाइयों और बौद्धों की धर्म-चर्चाएँ बड़ी शान्ति से सुनीं, जिन्होंने युरोप वालों को बारूद का ज्ञान दिया, जिनकी विशाल दृष्टि की प्यास पीले सागर से न बुझ कर उन्हें बाल्तिक के तीर ले गई, उन्हें वे सभ्यता के शत्रु क्यों कहते हैं, इसका वे क्या उत्तर दे सकेंगे? तुग़लक साम्राज्य के पतन के बाद वे इस युग के इतिहास में प्रान्तों और वंशों का अलग-अलग असम्बद्ध वृत्तान्त देते हैं, उसे वे एकात्मक दृष्टि से नहीं देख पाते। इसी से राजा गणेश, इब्राहीम शर्की, राणा कुम्भा, महमूद बेगड़ा और हुसेनशाह बङ्गाली जैसे चरितों का महत्त्व स्पष्ट नहीं हो पाता।"

इ. भाटिया

महमूद गज़नवी की दूसरी या तीसरी भारतीय चढ़ाई **भाटिया** के खिलाफ थी। श्री चिन्तामण विनायक वैद्य ने इसका विशद वर्णन किया है। वे इस परिणाम पर भी पहुँचे हैं कि भाटिया मुलतान के दक्खिनपच्छिम था,[35] परन्तु ठीक कहाँ था सो तय नहीं कर सके। वैद्य से पहले जिन विद्वानों ने इस विषय का विवेचन किया, वे भी महमूद की भाटिया चढ़ाई की गुत्थी को नहीं सुलझा सके। ईलियट का कहना था (१८६६) कि **भाटिया** के बजाय **भेरा** होना चाहिए। डा० ईश्वरीप्रसाद यह बताये बिना कि यह पाठ-सुधार का प्रस्ताव ईलियट का है, भेरा को निश्चित ही मान लेते हैं, और कहते हैं कि फरिश्ता ने गलती से भाटिया लिखा है और एल्फिंस्टन ने उसे गलती से मुलतान के दक्खिन बताया है।[36] वैद्य भाटिया राजधानी का स्थान निश्चय नहीं कर पाये, पर भाटिया देश की उनकी पहचान बिलकुल ठीक हुई है। शहाबुद्दीन गोरी ने भी भाटिया पर चढ़ाई की थी और उस प्रसंग में वहाँ की राजधानी का नाम स्पष्ट ही **उच्च** लिखा है।[37] उच्च या उच्चापुरी अब मुलतान के दक्खिन-पच्छिम पंजनद (पंजाब की पाँचों नदियों की सम्मिलित धारा अर्थात् सिन्ध में मिलने से पहले सतलज की धारा) के बाएँ तरफ है। मध्य काल में वह एक प्रसिद्ध नगरी थी, सो बलबन के राज्यकाल के

---

३५. चिन्तामण विनायक वैद्य (१९२६)—हिस्टरी ऑफ़ मैडीवल हिन्दू इंडिया (मध्यकालीन हिन्दू भारत का इतिहास) जि० ३ पृ० ३४—३८ तथा ४७१।

३६. ईश्वरी प्रसाद (१९२५)—पूर्वोक्त पृ० ७८।

३७. वहीं पृ० १२०। इस प्रसंग में भाटिया के केन्द्र को छू लेने के बावजूद डा० ईश्वरीप्रसाद यह नहीं पहचान सके कि भाटिया कहाँ था, इससे प्रकट है कि किस प्रकार आँखों पर पट्टी बाँधे हुए—सर्वथा अनालोचक दृष्टि से—उन्होंने इतिहास की यात्रा की है। मूल ग्रन्थ में उच्च का उल्लेख था, सो उन्होंने दोहरा दिया, पर यह समझने का यत्न नहीं किया कि उस लेख से क्या सिद्ध होता है। इस प्रकार परस्परविरोधी उक्तियों से उनके ग्रन्थ भरे रहते हैं।

१३३७ वि० के पालम के संस्कृत अभिलेख[३८] से भी प्रकट है। पर उस लेख से यह भी सूचित होता है कि उच्च उस युग में सिन्ध के तट पर थी। सतलज और सिन्ध का संगम तब और ऊपर होता रहा होगा। महमूद के समय में भी भाटिया की राजधानी प्रकटतः उच्च ही थी।[३९]

उ. मगध बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में

इतिहासप्रवेश १म संस्करण (१९३८) में मैंने राखालदास (१९१४)—(**बांगलार इतिहास** जि. १ पृ० ३१४-३१५) का अनुसरण करते हुए लिखा था कि "११४५ ई० के बाद १२वीं सदी के अन्त तक कभी तो मगध सेन राजाओं के हाथ आ जाता और कभी गाहड्वालों के, और बीच बीच में कभी राजा गोविन्दपाल भी स्वतन्त्र हो जाता था।" सन् १९४० के आरम्भ में श्री पृथ्वीसिंह महता ने अपने बिहार के इतिहास की पाण्डुलिपि दिखाते समय मेरा ध्यान इस ओर खींचा कि राखालदास ने जिन प्रमाणों के आधार पर यह मत बनाया था उनसे यह सिद्ध नहीं होता। जाँच करने पर मुझे भी यह मानना पड़ा। श्री महता के ग्रन्थ में हमारा नया मत विवेचनापूर्वक दिया गया है।[४०]

---

३८. गुलाम यज्दानी (१९१३-१४)—एपिग्राफिया इन्दोमुस्लेमिका (भारतीय मुस्लिम अभिलेख पत्रिका), पृ० ३५ प्र०।

वितस्ताविपाशाशतद्रूभिरभिर्मिलित्वामला चंद्रभागा विभागा।
पुरस्तादुदस्तैस्तरंगैरभंगैः स्थितो यत्र सिंधुस्सुबंधुस्सबंधुः॥
श्लोक १४

तत्सिन्धुदिव्यसुधया परिधौतभूमिभारस्थले सकलतापहरे पवित्रे।
उच्चैरुदंचति हसंत्यमरावतीमप्युच्चापुरी सुरधुनीतटवासिनीं सा॥
श्लोक १६

३९. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्करण पृ० २१०।

४०. पृथ्वीसिंह महता (१९४०)—बिहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन पृ० १९०।

वह यह है कि "गोविन्दचन्द्र के बाद मगध गाहड्वालों के आधिपत्य में था और पाल राजा अब गाहड्वालों की संरक्षकता में मगध के जमींदार मात्र रह गये थे।......११२५-११२६ ई० से, जब गोविन्दचन्द्र ने मगध जीता, कन्नौज साम्राज्य के पतन तक बिहार बराबर कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत रहा।"

पादटिप्पणी में इसकी और मीमांसा वहाँ यों की गई है—"गोविन्द-चन्द्र की मृत्यु ११५४ ई० में हुई। उसके बाद विजयचन्द्र ने ११७० ई० तक और जयचन्द्र ने ११७० से ११९४ ई० तक राज किया। ठीक ११७० और ११९४ ई० के गया के दो अभिलेखों में लक्ष्मणसेन-संवत् का प्रयोग हुआ है, जिससे विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि बीच-बीच में बंगाल के सेन राजा गाहड्वालों से मगध छीन लेते रहे। यदि यह बात ठीक हो तो कहना होगा कि ११७० ई० में विजयचन्द्र के मरने पर उन्होंने मगध पर आक्रमण किया, पर जयचन्द्र ने गद्दी पर स्थापित होते ही सेनों से मगध वापस ले लिया, और फिर जब ११९३ ई० में जयचन्द्र का ध्यान पच्छिम में अपने देश को तुर्कों से बचाने की तरफ लगा था तब सेनों ने मगध पर फिर हमला किया। परन्तु सिर्फ दो अभिलेखों में लक्ष्मणाब्द के प्रयोग मात्र से यह परिणाम निकाल लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। बंगाल और मगध एक दूसरे से लगे हैं, अतः मगध में किसी एक व्यक्ति का बंगाली संवत् का प्रयोग कर देना बंगाली राज्य के विना भी हो सकता है।"

सातवाँ व्याख्यान*

मुगल-मराठा युग (१) भीतरी विकास

§१. साम्राज्यस्थापना के तीन संघर्ष

सन् १५०६ ई० में राणा सांगा का मेवाड़ में तथा कृष्णदेवराय का विजयनगर में अभिषेक हुआ। १५१० में मालवे में महमूद दूसरा तथा १५११ में गुजरात में मुजफ्फरशाह दूसरा गद्दीनशीन हुआ। पच्छिमी मंडल के संघर्ष में अपने गुजरात मालवे के प्रतिद्वन्द्वियों को दबा कर सांगा ने आगरे से कालपी तक जमना को अपनी सीमा बना लिया[1] और अन्तर्वेद में घुसने की ठानी। यह नई साम्राज्य-चेष्टा थी।

१३७० ई० में तैमूर ने मध्य एशिया और अफगानिस्तान में फिर से तुर्कों का आधिपत्य स्थापित किया था। पर १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्तरपूरबी एशिया से उज़बक नामक नई मंगोल जाति की बाढ़ मध्य एशिया में आई, और यद्यपि १५१० ई० की मर्व की लड़ाई में ईरान के सफावी राजवंश के संस्थापक ने उन्हें पूरी तरह हरा दिया, तो भी दो बरस बाद उज़बकों ने तैमूर के वंशज बाबर को समरकन्द से खदेड़ दिया। बाबर के १५१३–१४ ई० में काबुल में स्थापित होने से भारत के उत्तरपच्छिमी मंडल में वैसी ही साम्राज्य-चेष्टा शुरू हुई जैसी सांगा के गद्दी पर बैठने से पच्छिमी मंडल में हुई थी। १५१६ ई० में बाबर ने बाजौर-बुनेर प्रदेशों अर्थात् पच्छिमी गन्धार (कूनड़ और सिन्ध नदियों के बीच के काबुल नदी के उत्तर के प्रदेश) पर चढ़ाई की। समकालिक

---

* ९ सितम्बर १९४१ को दिया गया।

१. गौरीशंकर हीराचंद ओझा (१९२७)—राजपूताने का इतिहास जि० २ (खंड २) पृ० ६९७-६९८।

लेखकों ने इसे उसकी भारत पर पहली चढ़ाई गिना था, और वस्तुतः वह भारत पर उसकी पहली चढ़ाई थी, क्योंकि भारत का आरंभ पानीपत से नहीं, हिन्दूकुश के दक्खिन से होता था। बाजौर-बुनेर के लोग बाबर के समय तक हिन्दू थे, पूरबी गन्धार के निवासी खोकर और गक्खड़ भी। खोकरों और गक्खड़ों के खिलाफ अगली दो चढ़ाइयों के सिलसिले में बाबर स्यालकोट तक पहुँच गया। उसके बाद सन् १५२५ में उसका दिल्ली सल्तनत से लाहौर-दीपालपुर छीनना और १५२६ में इब्राहीम लोदी को पानीपत पर हरा कर दिल्ली ले लेना उसकी उसी चेष्टा के सिलसिले में था जो उसके काबुल आने से शुरू हुई थी। काबुल से आती इस बाढ़ का चित्तौड़ से उठती बाढ़ के साथ टकराना आवश्यक था, और खानवे में वह टक्कर हुई। बाबर का घाघरा पर बंगाल की बाढ़ को रोकना इसका स्वाभाविक परिणाम था।

यों १५०६ से १५२६ ई० तक उन संघर्षों में से पहला होता है जिसका परिणाम होता है उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना। १५३० से १५४५ तक दूसरा संघर्ष होता है जिसके प्रमुख पात्र हैं बहादुर-शाह गुजराती, हुमायूँ, शेरखाँ और मालदेव। दस बरस बाद तीसरा संघर्ष शुरू होता है, जिसकी समाप्ति अकबर के गुजरात बंगाल जीत लेने पर सन् १५७६ में होती है। मुगल साम्राज्य का बढ़ना उसके बाद भी जारी रहता है, पर साम्राज्य को खड़ा करने का संघर्ष १५७६ ई० तक पूरा हो चुकता और साम्राज्य की जड़ें तब तक जम चुकती हैं।

§२. सोलहवीं शताब्दी की युगसन्धि

इस प्रकार १५०६ ई० एक युगसन्धि की तिथि है। परन्तु जिन लोगों को राष्ट्रीय इतिहास की प्रवृत्तियों के बजाय किसी एक राजवंश की घटनाओं की रस्सी पकड़ कर चलने की आदत है, उन्होंने १५२६ ई० पर उस सन्धि को मान रक्खा है, क्योंकि उस वर्ष दिल्ली के लोदी राजवंश का अन्त हुआ। पर दिल्ली की लोदी सल्तनत पन्द्रहवीं शताब्दी के अनेक

भारतीय राज्यों में से एक थी और उसका दूसरे राज्यों के बीच कोई अग्रस्थान नहीं था। जिन लहरों के बीच पड़ कर १५२६ ई० में वह चकनाचूर हो गई, वे १५०६ से उठने लग चुकी थीं।

§३. भारतीय इतिहास में पच्छिम-युरोपियों का प्रवेश

उस तिथि का महत्त्व एक और कारण से भी है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में जब पुर्तगालियों ने अफरीका का चक्कर लगा कर भारत पहुँचने का रास्ता निकाला, तब भारतीय समुद्र का व्यापार 'मूरों' के, अर्थात् अरबों तथा अन्य पूर्वी लोगों के जो पुर्तगालियों को अरबों जैसे जान पड़ते थे, हाथ में था। गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा ने इन नये आगन्तुकों को भारतीय समुद्र से निकालने की कोशिश की और इस कार्य में मिस्र के सुलतान की मदद पाई। एक बार उन्हें सफलता होती दिखाई दी। पर १५०६ ई० में दीव बन्दर के सामने पुर्तगालियों ने दोनों सुलतानों के सम्मिलित बेड़ों को हरा कर फूँक दिया, और उसके बाद जहाँ तहाँ 'मूरों' के जहाजों का संहार कर भारतीय समुद्र पर एकाधिपत्य जमा लिया। सन् १५०८ से १५११ तक उन्होंने बिल्वतिक्त साम्राज्य के उत्तराधिकारी देमाक के सुलतानों से मलक्का छीन लिया। यों १५०६ ई० में भारतीय समुद्र पर युरोपियों की वह प्रभुता स्थापित हुई जिसे फिर वापिस लेने की हमने अभी तक कोशिश नहीं की है।

और भारतीय समुद्र की इस नई शक्ति का प्रभाव भारत की राजनीति में तुरत दिखाई देने लगता है। बहादुरशाह गुजराती हुमायूँ के मुकाबले में पुर्तगाली तोपचियों की मदद लेता और बदले में उन्हें मुम्बई साष्टी और बसई के द्वीप दे देता है। शेरशाह से मुकाबला पड़ने पर बंगाल का महमूदशाह उसी तरह गोवा के गवर्नर की मदद माँगता और पुर्तगाली तोपचियों को तेलियागढ़ी पर तैनात करता है।[२] मुगल-मराठा युग

२. कालिकारंजन कानूंगो (१९२१)—शेरशाह पृ० ११३–११४, ११९, ४४७।

की राजनीति में युरोपियों का यह प्रभाव बराबर जारी रहता है, और इसपर ध्यान रक्खे बिना हम उस युग के इतिहास को ठीक ठीक समझ नहीं सकते। इसके विभिन्न पहलुओं और इससे सम्बद्ध प्रश्नों पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ हमें इस बात पर ध्यान देना है कि इस प्रभाव का आरम्भ १५०६ ई० से ही हुआ।

§४. अकबर की उदार नीति और मुगल साम्राज्य का वैभव

अकबर की साम्राज्यस्थापना के बाद मुगल साम्राज्य का जो वैभव शुरू हुआ, वह जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में तथा औरंगजेब के पहले वर्षों में भी—उसके चटगाँव जीतने और शिवाजी के उसकी कैद से भागने तक—जारी रहा। इस १५७६ से १६६६ ई० तक की अवधि को हम मुगल साम्राज्य के वैभव का युग कह सकते हैं। इस वैभव की बुनियादों में अकबर की चलाई हुई उदार साम्प्रदायिक नीति का विशेष स्थान था। वह नीति उस ज़माने की उपज थी। नमूने के लिए तीर्थकर और जज़िया हटवाने में सिक्खों के गुरु अमरदास का हाथ था। जब उससे हरद्वार जाने का तीर्थकर माँगा गया, उसने उसे देने से इनकार कर दिया और अपने अनुयायियों को भी देने से रोका। अकबर ने तब उसके समझाने से वह कर ही उठा दिया। यह तो सुपरिचित बात है कि अकबर से पहले शेरशाह और उसके वंशज वैसी ही उदार नीति को चरितार्थ कर दिखा चुके थे। परन्तु शेरशाह से भी पहले हुसेनशाह और जैनुलाबिदीन ने उसे प्रवर्तित किया था। वास्तव में वह तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष और विचारों के आदान-प्रदान का परिणाम थी। सन् १५६३ में अकबर ने अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता दी। उसके पाँच बरस पीछे युरोप में फ्रांस के राजा हेन्री चौथे ने उसी आशय का नान्ते का आदेश निकाला। यों भारत और युरोप दोनों में ही यह धार्मिक संशोधन की लहर एक सी थी। वह सोलहवीं शताब्दी का युगधर्म था।

§५. "मुगलों" और राजपूतों के राजनीतिक ध्येय

धार्मिक संशोधन का परिणाम राजनीतिक पुनरुत्थान हुआ। शिवाजी का उदय भारत के राजनीतिक इतिहास में जिस नवजीवन को सूचित करता है, उसका आरम्भ धार्मिक संशोधन से हुआ था, यह बात स्व० महादेव गोविन्द रानाडे के समय से सुपरिचित हो चुकी है। शिवाजी से पहले हिन्दुओं का स्वभाव आत्मरक्षा-मात्र-परक बन गया था। शिवाजी के समय से वे फिर विजेता बनते और आगे बढ़ने लगते हैं। तब तक भारतीय साम्राज्य का ध्येय भारत में किसी के सामने था तो 'मुगलों' के। सांगा के समान व्यक्ति को हिम्मत नहीं होती कि भारत के साम्राज्य का दायित्व अपने कन्धों पर उठा ले। उसके दिल्ली जीतने का मौका आता है तो उसे मानो झिझक होती है और वह बाबर के पास काबुल संदेश भेजता है कि आधा हिस्सा तुम ले लो और आधा मैं ले लूँ! बाबर को पूरा लेने में झिझक नहीं होती। और अकबर के सामने जो ध्येय था वह एक तरफ भारत के सुदूर दक्खिनी कोने तक जीतने का और दूसरी तरफ अपने पुरखों की भूमि तूरान को उजबकों से वापिस लेने का। वह ध्येय उसके वंशजों को विरासत में मिला और वे बराबर उसके अनुसार चेष्टा करते रहे।

१४वीं-१५वीं शताब्दी के धार्मिक संशोधन के बाद हिन्दू पहले की तरह ठोकरें खाने को तैयार न थे। उनमें उदार शासन की माँग थी, और वैसा शासन उन्हें मिल गया। लेकिन इसके आगे उनके सामने अपना कोई राजनीतिक ध्येय न था। वे बलख और कन्दहार जीतने जा सकते थे और गौहाटी और गोलकुंडा पर चढ़ाई कर सकते थे, पर कुछ भी अपनी प्रेरणा से नहीं! वह विजयों और साम्राज्य की कल्पना मुगल सम्राटों की थी। राजपूतों की अपनी मनोवृत्ति तो ऐसी थी कि वे वहाँ तक भी जाने को तैयार न थे जहाँ तक सांगा ने जाने की हिम्मत की थी। खानवे की लड़ाई में बेहोश होने के बाद सांगा को जब पहलेपहल चेतना आई, तब वह इस बात पर झुँझलाया कि उसे युद्धक्षेत्र से दूर क्यों लाया

गया, और उसने प्रण किया कि बाबर को जीते बिना चित्तौड़ न लौटूँगा। उसके साथियों ने देखा कि उसके पीछे उन्हें भी चैन न मिलेगा, और इसलिए सन् १५२८ के शुरू में, जब सांगा बाबर को रोकने के लिए कालपी की तरफ बढ़ रहा था, उन्होंने विष दे कर उसका काम तमाम कर डाला![3] एक जात के अर्थ में राजपूत शब्द हमारे इतिहास में पहले-पहल १६वें शतक में बर्त्ता जाने लगता है[4], और उस युग में हमारे समाज के जो वर्ग राजपूत कहलाने लगते हैं उनके चरित्र की झलक इस घटना से मिलती है।

§ ६. शिवाजी और हिन्दू पुनरुत्थान

किन्तु सत्रहवें शतक के मध्य में आ कर हिन्दुओं में राजनीतिक महत्त्वाकाङ्क्षा फिर जाग उठती है, और उसको जगाने का श्रेय शिवाजी को है। जहाँ तक हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के साथ साथ रहने का प्रश्न है, शिवाजी अकबर की उदार नीति का अनुयायी और प्रशंसक था, उसने इस्लाम को दबाने की नहीं सोची। लेकिन उसने पुराने आर्यावर्त्तियों में नया राजनीतिक जीवन फूँक दिया, नई महत्त्वाकांक्षा जगा दी, और वह आकांक्षा केवल अपनी रक्षा की नहीं, विजय की थी। यों तो कुम्भा कपिलेन्द्र और सांगा में भी वह विजय की भावना मौजूद थी, वे भी केवल आत्मरक्षा के लिए नहीं लड़े, प्रत्युत खोई हुई या नई ज़मीनों को जीतने के लिए भी लड़ते रहे। उस दशा में उनकी और शिवाजी की मनोवृत्ति में केवल मात्रा का भेद था—शिवाजी की उमंग उनसे अधिक ऊँची थी। इसके अतिरिक्त शिवाजी की विजय-भावना ने हिन्दुओं के बड़े भाग में नया जीवन ज़गा दिया जिसे वे न जगा सके थे, और इसलिए यह स्पष्टतः नई लहर थी। पानीपत की दूसरी लड़ाई (१५५६)

---

३. गौरीशंकर हीराचंद ओझा (१९२७) पूर्वोक्त पृ० ६९५।

४. गौरीशंकर हीराचंद ओझा (१९२५) राजपूताने का इतिहास जि० १ (खंड १) पृ० ३३-३७। दे० परिशिष्ट ५।

के बाद एक शताब्दी तक मुगल साम्राज्य का गौरव बढ़ता ही गया था। मुगल सेना तब अजेय मानी जाती थी और मुगल राज्यसीमाएँ अनुल्लंघनीय। शिवाजी ने उस धाक को तोड़ दिया।

प्रचलित विश्वास है कि औरंगज़ेब की धर्मान्ध नीति की प्रतिक्रिया रूप में हिन्दुओं की यह उत्थान चेष्टा जागी। घटनाओं का पौर्वापर्य ही इस विश्वास को भ्रममूलक सिद्ध करता है। शिवाजी १६४६ ई० में अपना कार्य आरम्भ करता है, औरंगज़ेब उसके तेरह बरस बाद गद्दी पर बैठता है। यदि दोनों बातों में कारण-कार्य-सम्बन्ध जोड़ना हो तो उलटा शिवाजी की उत्थान-चेष्टा को औरंगज़ेब का धर्मोन्माद भड़काने का कारण कहना चाहिए। पर सच बात यह है कि दोनों ने यद्यपि एक दूसरे को उत्तेजित किया, तो भी दोनों में से कोई एक भी दूसरे का कारण नहीं थी। शिवाजी की चेष्टा का मूल कारण हिन्दुओं में नवजीवन का जाग उठना था। औरंगज़ेब के अपने पड़दादा से ठीक उलटा रास्ता पकड़ लेने के भी कुछ स्वाभाविक कारण थे जिनपर हम आगे विचार करेंगे। यह बात मनोरंजक है कि जैसे अकबर के धार्मिक सहिष्णुता के फरमान निकालने के पाँच बरस पीछे हेन्री चौथे ने नान्ते का आदेश निकाला था, वैसे ही औरंगज़ेब के अकबर की नीति को रद्द कर जज़िया लगाने (१६७६) के छः बरस पीछे लुई चौदहवें ने नान्ते के आदेश को रद्द किया।

§७. महाराष्ट्र के नव जीवन की अन्य प्रान्तों पर प्रतिक्रिया

महाराष्ट्र से पुनरुत्थान की भावना किस प्रकार भारत के दूसरे प्रान्तों में पहुँची सो देखना चाहिए। घटनाओं के पौर्वापर्य पर ध्यान देने से हम कारण-कार्य-सम्बन्ध को ठीक टटोल सकेंगे।

शिवाजी ने अपनी लड़ाई १६४६ ई० में शुरू की। आरम्भ में वह बीजापुर के खिलाफ थी; १६५७ में उसने मुगलों से युद्ध छेड़ दिया। १६६५ में पुरन्दर की सन्धि हुई, जिसके फलस्वरूप अगले बरस वह आगरे गया। वहाँ वह कैद हो गया, पर उसी साल कैद से भाग कर तीन

बरस उसने नई तैयारी और संघटन में बिताये, और १६७० में फिर युद्ध छेड़ा, जो १६८० में उसकी मृत्यु होने तक जारी रहा। यों १६४६ से १६६५ तक शिवाजी के संघर्ष की पहली मंजिल है, और १६६६ से १६८० तक दूसरी। उत्तर भारत में जो पहले छिटपुट विद्रोह हुए—व्रज में गोकला जाट का (१६६६), नारनौल में सतनामियों का (१६७२), पंजाब में गुरु तेगबहादुर का (शहादत १६७५)—वे सब शिवाजी के दूसरी मंजिल में अग्रसर हो चुकने के बाद ही हुए। छत्रसाल शिवाजी से १६७१ में मिलता, और शिवाजी की शिक्षा के अनुसार बुन्देलखंड आ कर लड़ाई छेड़ता है। शिवाजी की मृत्यु के समय तक वह भी बुन्देलखंड में एक छोटा सा 'स्वराज्य' स्थापित कर लेता है। छत्रसाल के पिता चम्पतराय का संघर्ष (१६३६–४२, १६५६–६१) और पंजाब में गुरु हरगोविन्द का संघर्ष (१६०६–४४) शिवाजी के उदय से पहले की घटनाएँ हैं; पर वे आरम्भिक बलिदान हैं जिन्होंने धार्मिक संशोधन के साथ मिल कर पुनरुत्थान की भावना को जगाया था। पुनरुत्थान की संघटित चेष्टा पहलेपहल शिवाजी ने ही शुरू की, और भारत के दूसरे प्रान्तों में उसी की प्रतिध्वनि हुई।

बुन्देलखंड के नेता ने शिवाजी से सीधे प्रेरणा पा कर १६७१ में लड़ाई छेड़ी थी। व्रजभूमि के जाटों की पहली संघटित चेष्टा सन् १६८५ में सिनसिनी और सोगर गाँवों के राजाराम और रामचेहरा के नेतृत्व में प्रकट हुई। राजाराम १६८८ में मारा गया, पर व्रज की यह पहली लड़ाई १६९०-९१ तक जारी रही।

सन् १६८९ में सम्भाजी मारा जाता और १६८६ से ९२ तक मुगल साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाता है। बीजापुर और गोलकुंडा की सल्तनतें जीती जाती हैं (१६८६-८७)। उत्तरपच्छिमी सीमान्त पर पठानों ने १६७२—७७ में घोर विद्रोह किया था; उनका नेता खुशालखाँ खटक भी १६९० में पकड़ा जाता है। व्रज के विद्रोही गढ़ जीते जाते और छत्रसाल को भी दबा दिया जाता है। परन्तु महाराष्ट्र के

६-७ गढ़ औरंगज़ेब के काबू में नहीं आते और महाराष्ट्र के नेता स्वतन्त्रता-युद्ध छेड़ देते हैं, जो १६६० से १७०७ ई० तक जारी रहता है। और मुगल साम्राज्य के चरम उत्कर्ष के समय जब १६६२ ई० में सन्ताजी घोरपडे मुगल सेनाओं को परास्त करना शुरू करता और अगले तीन बरस में उसके और धनाजी जादव के नाम की धाक बैठ जाती है तब समूचे भारत में उन विजयों की प्रतिध्वनि होती है। छत्रसाल धामुनी और कालंजर ले कर फिर लड़ाई छेड़ देता है, राजाराम के भतीजे चूड़ामन के नेतृत्व में व्रज के लोग फिर उठ खड़े होते हैं, और पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों को सैनिक सम्प्रदाय बना देता है (१६६५)। सिक्खों की यह पहली संघटित लड़ाई जो १७०१ ई० तक जारी रही, तथा बुन्देलखंड और व्रज की दूसरी लड़ाई जो १७०५—०७ तक जारी रही, स्पष्ट ही सन्ताजी के कारनामों से जगी थी। बंगाल-बिहार में शोभासिंह और रहीमखाँ का विद्रोह भी दक्खिन की घटनाओं का फल था।

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका छोटा बेटा आज़म शाहू को जाने दे कर मराठा युद्ध को समाप्त करता और पीछे आज़म का भाई बहादुरशाह भी उस स्थिति को स्वीकार करता है। बहादुरशाह पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह से समझौता कर उसे अपनी सेवा में लेता (१७०७), और राजपूतों छत्रसाल और चूड़ामन से भी समझौता करता है। छत्रसाल और चूड़ामन भी शाही सेवा में आना स्वीकार करते हैं (अप्रैल-मई १७१० ई०)। २२ मई १७१० ई० को राजपूतों से समझौता होता है, पर उसी दिन सिक्ख सरहिन्द के फौज़दार को मार डालते हैं, जिसकी खबर बादशाह को अजमेर में ३० मई को मिलती है।[५] बन्दा के नेतृत्व में

५. विलिमम अर्विन और यदुनाथ सरकार (१९२९)—लेटर मुगल्स (पिछले मुगल) जि० १ पृ० ७२। उक्त तिथियों पर ध्यान देने से इस प्रश्न का समाधान हो जाता है कि छत्रसाल और चूड़ामन ने बन्दा के खिलाफ चढ़ाई में बादशाह का साथ क्यों दिया। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद पंजाब व्रज राजस्थान बुन्देलखंड महाराष्ट्र सभी जगह के लोगों ने बादशाह से समझौता कर लिया था। उस दशा में छत्रसाल

सिक्खों की यह दूसरी स्वाधीनता की लड़ाई छः बरस तक जारी रहती है। यह उस कसक के कारण थी जो पहली लड़ाई में अधिक कुछ न कर पाने के कारण गुरु गोविन्दसिंह और सिक्खों के दिलों में रह गई थी।

मराठे इस बीच अपने घरेलू युद्ध में लगे थे, और बुन्देले और व्रज वाले भी अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे। सैयद हुसेनअली के साथ दिल्ली आ कर मराठे अपने 'स्वराज्य' को स्वीकार करवा लेते हैं तो छत्रसाल और चूड़ामन भी फिर लड़ाई छेड़ देते हैं। चूड़ामन की आत्महत्या के बाद व्रज तो कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है, पर छत्रसाल को बाजीराव की प्रत्यक्ष सहायता मिलती है। उत्तर भारत पर मराठा बाढ़ आने पर १७३५ ई० के आस-पास सिक्खों के दल फिर सिर उठाने लगते हैं।

इसके बाद जब महाराष्ट्र पानीपत की भारी चोट खाने के बाद पेशवा माधवराव के नेतृत्व में फिर उठ रहा था ठीक उसी समय हम पंजाब में सिक्खों को और नेपाल में गोरखों को भी राज्य स्थापित करता देखते हैं। अन्त में, अंग्रेज़ों के मुकाबले में मराठों की हार का प्रभाव रणजीतसिंह पर इतना पड़ता है कि जब कभी उसके सरदार उसे अंग्रेज़ों से लड़ने को उकसाते हैं, वह उनसे कहता है मराठों के दो लाख भाले कहाँ गये, और मराठों की असफलता का उदाहरण दे कर उन्हें रोकता है।

इस सबसे प्रकट है कि नवजीवन की इस लहर में नेतृत्व बराबर महाराष्ट्र का था। लहर शुरू वहाँ से होती और बुंदेलखण्ड और व्रज-भूमि हो कर पंजाब और नेपाल तक पहुँचती थी।

किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि "गंगा के काँठे, सिन्ध, गुजरात, आन्ध्र और तमिळ मैदानों में—अर्थात् भारतवर्ष के सब से उपजाऊ प्रान्तों में—वह पुनरुत्थान प्रकट नहीं हुआ और इन्हीं प्रान्तों में अंगरेज़ों को पहलेपहल पैर जमाने का अवसर मिला।...जिन प्रान्तों

और चूड़ामन ने शाही सेवा स्वीकार की। उनके वैसा करते ही सिक्खों ने फिर युद्ध छेड़ दिया। व्रज और बुन्देलखंड के नेता एकाएक शाही सेवा न छोड़ सकते थे।

में पुनरुत्थान नहीं हुआ वहाँ दिल्ली साम्राज्य के टुकड़े कुछ समय पीछे तक बचे रहे। यदि फ्रांसीसी और अंगरेज बीच में न आ पड़ते तो वे भी मराठों या सिक्खों के हाथ आने को थे।"[६]

इस साधारण स्पष्ट बात पर और इससे खड़े होने वाले प्रश्न पर इतिहास-विवेचकों का ध्यान नहीं गया। क्यों यह पुनरुत्थान की लहर महाराष्ट्र से बुन्देलखंड और व्रजभूमि हो कर पंजाब और नेपाल तक पहुँची तथा दूसरे प्रान्तों को इसने प्रभावित नहीं किया, इस प्रश्न के उत्तर में मुझे अब भी कुछ नहीं सूझता और न यही सूझता है कि किस रास्ते पर खोजने से इसका उत्तर मिल सकेगा।

§८. मराठा प्रमुखता का युग

सन् १६६६ के बाद भी १६६२ ई० तक मुगल साम्राज्य आगे बढ़ता ही जाता है। १७२० ई० तक भी उसमें से बाजाब्ता कोई प्रान्त अलग नहीं होता और भारत की प्रमुख राजनीतिक शक्ति मुगल दरबार में ही रहती है। पर बाजीराव पेशवा के समय से भारतीय राजनीति का गुरुताकेन्द्र दिल्ली से पूना चला आता, और सन् १७६८ तक पूने में ही रहता है। बाजीराव के उत्तराधिकारी के समय (१७४०–६१ ई०) अंग्रेज भारतीय राजनीति की एक शक्ति रूप में उठ खड़े होते हैं; पर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उनका स्थान मराठों से दूसरे दर्जे पर ही रहता है। हैदराबाद और मैसूर के उनके आश्रित हो जाने पर (१७६८-६६) वे भारत की प्रमुख शक्ति बन जाते हैं। यों १७२० से १७६८ ई० तक मराठा प्रमुखता का युग है। पर वह मुगल साम्राज्य-युग का ही परिशिष्ट पर्व है, क्योंकि उस बीच मुगल साम्राज्य भी गिरता-पड़ता बना रहता है। बाजीराव की दिल्ली चढ़ाई के बाद से मराठों की अपनी नीति ही उसे बनाये रखने की रहती है। वे उससे अच्छे और

---

६. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश (१म संस्करण) पृ० ४८१।

किसी भारतीय साम्राज्य की सृष्टि नहीं कर सकते और उसी के नाम पर शासन करते हैं। यों १५०६ से १७६८ ई० तक हमारे इतिहास का मुगल साम्राज्य युग या मुगल मराठा युग है।

§९. मराठा पुनरुत्थान का मूल्यांकन

अ. मराठों की सफलता-विफलता के विषय में प्रचलित मत

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी का वह पुनरुत्थान, जिसे हम संक्षेप में मराठा पुनरुत्थान कहते हैं, कहाँ तक सफल हुआ और किन अंशों में विफल रहा? हम जानते हैं कि अंग्रेजों के मुकाबले में मराठे और सिक्ख नहीं ठहर सके। इतिहास के उस महत्त्वपूर्ण पहलू पर हम आगे विचार करेंगे। किन्तु थोड़ी देर के लिए उसे अलग रखते हुए यह देखें कि वह पुनरुत्थान अपने अन्य उद्देशों में कहाँ तक सफल हुआ। अथवा, यदि अंग्रेज बीच में न आ पड़ते तो उसके सफल होने की या अपने ध्येयों को पा लेने की कहाँ तक सम्भावना थी? और ठीक किन पहलुओं में वह विफल रहा और उस विफलता के कारण क्या थे?

इन प्रश्नों को इतिहास-विवेचकों ने खूब मथा है जिससे उस पुनरुत्थान की उपज के गुण-दोष काफी प्रकट हो चुके हैं। किन्तु उस मथन की गर्मी ने बहुत बार विवेचकों की दृष्टि को धुँधला भी कर दिया है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सर यदुनाथ सरकार ने "शिवाजी के टिकाऊ राज्य खड़ा करने में विफल होने के कारणों"[७] की मीमांसा करते हुए शिवाजी के सनातनी हिन्दू आदर्शों और जात-पाँत में फटे हुए हिन्दू समाज को पुनःस्थापित करने की चेष्टा को विफलता का पहला और मुख्य कारण कहा है। आपने लिखा है—"जात-पाँत...राष्ट्रीय एकता की विरोधिनी है। जिस अंश तक शिवाजी का हिन्दू स्वराज का आदर्श सनातनी विश्वासों पर आश्रित था उस अंश तक वह अपने भीतर अपनी मृत्यु के

७. यदुनाथ सरकार (१९१९)—शिवाजी ऐंड हिस टाइम्स (शिवाजी और उसका युग) ३य संस्क० (१९२९) पृ० ३८८ प्र०।

बीज लिये हुए था। जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—

"'देश में सामयिक उत्साह की बाढ़ आ जाती है और हम मान लेते हैं कि उसमें एकता स्थापित हो गई। किन्तु हमारे समाज-देह के भीतर के फटन और दरार चुपचाप अपना काम करते चलते हैं। हम किसी उदात्त विचार को चिर तक धारण नहीं कर पाते। शिवाजी का उद्देश था उन दरारों को बनाये रखना। वह मुगल आक्रमण से उस हिन्दू समाज को बचाना चाहता था जिसके प्राण हैं वर्ण-भेद और जातों का पार्थक्य। इस भीतर से फटे हुए समाज को वह सारे भारत पर विजयी बनाना चाहता था। उसने बालू की भींत खड़ी की, असम्भव कार्य करना चाहा। भारत जैसे विशाल महादेश पर इस तरह के जात-पाँत से दबे हुए, अपने को सब से अलग रक्खे हुए, भीतर से फटे सम्प्रदाय का स्वराज स्थापित करना किसी भी मनुष्य की शक्ति के बाहर है, 'विधाता के विधान के विरुद्ध है।' "[८]

ठीक। पर क्या शिवाजी का "मुगल आक्रमण से हिन्दू समाज को बचाने" का ध्येय सफल नहीं हुआ? मराठे अंग्रेजों के मुकाबले में तो हारे, पर क्या उन्होंने मुगल साम्राज्य को जीत नहीं लिया था? क्या यहाँ कवि की कविता का प्रवाह बुजुर्ग ऐतिहासिक को बहा नहीं ले गया?

कुछ लोगों का यह विचार प्रतीत होता है कि मुगल साम्राज्य को वस्तुतः नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की चढ़ाइयों ने तोड़ा, और कि यदि ये बाहरी चढ़ाइयाँ न होतीं तो मराठे उसे थोड़ा-बहुत परेशान भले ही कर लेते, पर जीत न पाते। सर यदुनाथ का यह विचार प्रतीत होता है कि पिछले क्षीण मुगलों के मुकाबले में मराठों की छापामार युद्ध-शैली की भले ही दाल गल गई, अहमदशाह अब्दाली से वास्ता पड़ने पर वह बिलकुल निकम्मी सिद्ध हुई।

---

८. कवि के जिस बँगला लेख से सर यदुनाथ ने अनुवाद कर यह उद्धरण दिया है उसे मैं नहीं पा सका। बँगला से हिन्दी में सीधा अनुवाद किया जाता तो मूल के बहुत से सुन्दर अर्थपूर्ण शब्द ज्यों के त्यों आ सकते।

मराठों की विफलता के अन्य पहलुओं और कारणों में उनका व्यवस्थित सुशासन खड़ा न कर सकना और देश का धन बढ़ाने वाली अर्थनीति पर ध्यान न देना कहे जाते हैं। यह समझा जाता है कि उनका शासन लूटमार-प्रधान था।

इ. मराठा पुनरुत्थान और जात-पाँत

सब से पहले जात-पाँत की बात को लें। यह ठीक है कि हिन्दुओं के सामूहिक चिन्तन और जीवन का जात-पाँत के तंग दायरों में बँधा रहना उनकी अपने जनपद या राष्ट्र का हिताहित देखने की प्रवृत्ति में बाधक होता है। किन्तु जब हम यह देखते हैं कि वे मुसलमान जिनके समाज में जात-पाँत की दरारें न थीं, इस युग में मराठों और सिक्खों से बराबर पिटते रहे और अंग्रेज़ों के मुकाबले में उतना भी न खड़े हुए जितना मराठे और सिक्ख, तब यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मराठा पुनरुत्थान की कमज़ोरी के कारणों की खोज जात-पाँत के जंगल के बाहर किसी और दिशा में करनी चाहिए। इस खोज की ठीक दिशा दूसरे बुज़ुर्ग ऐतिहासिक गोविन्द सखाराम सरदेसाई ने इसी युनिवर्सिटी में व्याख्यान देते हुए दिखाई थी। उन्होंने कहा था—

"अनेक लेखकों ने मराठों के पतन का प्रत्यक्ष कारण जातों की पारस्परिक ईर्ष्या...को बताया है। उनका तर्क गोलमाल है...निश्चित तथ्यों और आँकड़ों से उसकी पुष्टि नहीं होती। जात-पाँत...की बुराई से भारत ने निःसन्देह बहुत प्रकार से हानि उठाई है...। पर उस धार्मिक पहलू को अलग रखते हुए मैं यह नहीं समझ सका कि विशेष कर मराठों पर जात-पाँत का प्रत्यक्ष प्रभाव कैसे पड़ा।...मराठों के बलिष्ठ और स्वतन्त्र राज्य खड़ा करने में और उसे प्रायः १५० वर्ष तक शस्त्रों और नीति के बल से बनाये रखने में जात-पाँत बाधक नहीं हुई। (उस युग का) एक पत्र मौजूद है जिसमें प्रचलित भावना इन शब्दों में अचूक रूप से प्रकट की गई लगती है—'शासन को चलाने के लिए बड़े-छोटे

अच्छे बुरे सब किस्म के लोगों की आवश्यकता होती है, जात के आधार पर उनमें कोई भेद न किया जाना चाहिए। सभी राज्य की एक सी सन्तान हैं। जो राज्य की सेवा करे उसे बढ़ावा मिलना चाहिए। सब के साथ एक सा बर्त्ताव होना चाहिए...। जो राज्य को हानि पहुँचायें उन्हें जात का विचार किये बिना दण्ड मिलना चाहिए'। उसी दशा में शासन निरुपद्रव चलेगा।...देशस्थ, कोंकणस्थ, कर्हाडे, प्रभु, शेणवी, मराठे, सभी जातें राज्य की अपनी हैं और सबका राज्य के मुखिया पर वैसा ही अधिकार है जैसा पुत्रों का पिता पर। उनकी योग्यता उनकी सेवा से मापी जानी चाहिए न कि जात से।'

"सब कुछ देखते हुए मैं पहले पेशवाओं पर यह दोष लगाने को तैयार नहीं हूँ कि उन्होंने ब्राह्मणों का अनुचित पक्षपात किया। हम ठीक ठीक गणना करें तो देखेंगे कि पेशवाओं के प्रशासन में महत्त्व के पद पाने वाले परिवारों में से ७५% ब्राह्मण न थे और अधिकतर बड़े बड़े जागीरदार निश्चय से अब्राह्मण थे।...ऐसा कोई उदाहरण मेरे देखने में नहीं आया जब कि पेशवाओं ने अपनी जात के लोगों को बढ़ाने के लिए दूसरों को जान-बूझ कर वञ्चित किया हो...। शिवाजी ने मोरे, मोहिते, घोरपदे आदि अनेक (अपनी) मराठा (जात के) बड़े परिवारों को दृढ़ता से दबाया, और प्रभुओं (कायस्थों) और ब्राह्मणों को उठा कर शक्ति और प्रभाव के पदों पर बिठाया।...नारायणराव (पेशवा) की हत्या के अपराधी पाये गये ४९ व्यक्तियों में से २४ पेशवा की अपनी जात के दक्खिनी ब्राह्मण थे, २ सारस्वत, ३ प्रभु, ६ मराठे, १ मराठा नौकरानी, ५ मुसलमान और ८ उत्तर-भारतीय हिन्दू।...यदि शिवाजी के समय के कुछ मराठे परिवारों ने बाद के दिनों में अपना प्रभाव खो दिया तो इस कारण नहीं कि पेशवाओं ने उन्हें जान-बूझ कर दबाया। शिवाजी के समय के बहुत से ब्राह्मण परिवार—पिंगले, हनुमन्ते...आदि भी इसी तरह पिछड़ गये...। सच तो यह है कि मराठा प्रशासन इस दृष्टि से विशेष रूप से अच्छा था कि वह देश के हर किसी व्यक्ति को चाहे उसकी कोई

भी जात या समाज में कोई भी पद हो, अपनी योग्यता दिखा कर उठने का अवसर देता था। लोगों को उन दिनों अपने स्वराज से यह बड़ा व्यावहारिक लाभ हुआ था। मैंने १०० से अधिक विभिन्न परिवारों के वृत्तान्त भरसक बारीक़ तफसील के साथ दिये हैं। उनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि लोगों को सेवा के लिए और ऊँचा पद पाने के लिए समान अवसर मिलते थे। व्यक्तिगत ईर्ष्याएँ...सदा रहीं और सदा रहेंगी, पर वे जात पर निर्भर न थीं।...यह कहा जाता है कि माधवराव और नारायणराव के प्रशासनों में देशस्थ और कोंकणस्थ एक दूसरे के जान के प्यासे बने हुए थे, पर यह बात परख पर पूरी नहीं उतरी। मैं दिखा सकता हूँ कि हर बार परस्पर-विरोधी पक्षों में दोनों जातों के लोग मिले-जुले थे।...शिवाजी के समय और बाद में भी (मराठा) राज्य की शक्ति सब से अधिक इसी कारण रही कि उसमें सब जातों का खुशी-खुशी सहयोग होता।...बाजीराव प्रथम के श्राद्ध पर पूने में भोज किया जाता जब कि शिन्दे, होलकर और बाजीराव के अन्य गहरे साथी निमन्त्रित किये जाते और पेशवा के घर की प्रधान स्त्री सब अतिथिओं को एक साथ खाना परसती। एक बार ऐसा हुआ कि मल्हारराव होलकर भोज के समय अपने कुत्ते साथ ले आया। गोपिकाबाई ने जो अतिथियों को खाना परस रही थी मल्हारराव से कहा कि कुत्तों को भीतर न लायँ। उसने कहा मैं कुत्तों के बिना न खाऊँगा और भीतर आ कर ब्राह्मणों को जूठ लगाने के बजाय बाहर बरामदे में कुत्तों के साथ जीम लूँगा। उसने बाहर भोजन परसा जाने में कुछ बुरा नहीं माना। मराठा (राज्य के) दिनों में लोग जात-पाँत का भेद केवल धार्मिक मामलों में मानते थे, काम-काज के जीवन में उसका कोई प्रभाव न होने देते थे।......केवल धार्मिक कृत्यों में जात की ऊँच-नीच का प्रभाव होता था, जीवन के साधारण मामलों में नहीं।"[९]

९. गो० स० सरदेसाई (१९२६, १९३३)—पटना युनिवर्सिटी में १९२६ में दिये व्याख्यान मेन करेंट्स ऑफ मराठा हिस्टरी (मराठा इतिहास की मुख्य धाराएँ) नाम से १९३३ में प्रकाशित, पृ० २१४ प्र०।

इस प्रामाणिक मीमांसा के बाद मराठा पुनरुत्थान युग में जात-पाँत के प्रभाव के बारे में कुछ कहने को नहीं रह जाता। जहाँ तक जात-पाँत के कारण भारतीयों की प्रगतिशीलता रुकी, उसपर हम इस ग्रन्थ के दूसरे तीसरे चौथे खण्डों में विचार करेंगे।

उ. अठारहवीं शताब्दी की राजनीति में मराठों सिक्खों का स्थान

अब हम दूसरे प्रश्न को लें कि मराठे (और सिक्ख आदि) मुगल साम्राज्य से राजशक्ति ले लेने में कहाँ तक सफल हुए, अथवा यों कहिए कि अठारहवीं शताब्दी की राजनीति में मराठों (और सिक्खों आदि) का क्या स्थान है।

शिवाजी के राज्य को उसके शीघ्र बाद अग्निपरीक्षा में से गुज़रना पड़ता है जो कि औरंगज़ेब की मृत्यु—१७०७ ई०—पर समाप्त होती है। छः बरस डगमगाने के बाद वह नये रूप में फिर खड़ा होता और १७२० ई० से बाजीराव की पेशवाई में भारत में साम्राज्य स्थापित करने का उद्देश सामने रख कर आगे बढ़ता है। बाजीराव ने समृद्ध और क्षीण मुगल साम्राज्य की जड़ पर चोट करने और उसे गिरा कर मराठा साम्राज्य स्थापित करने की प्रतिज्ञा की थी। पर जब १७ बरस बाद वह दिल्ली के दरवाजे पर पहुँच कर (६-४-१७३७) देखता है कि "बादशाह और…(भारतीय मुसलमान) हमसे सन्धि करना चाहते हैं, पर मुगल (विदेशी मुसलमान) नहीं करने देते…" तब उसे अपनी नीति को कुछ बदलना उचित दिखाई देता है। मुगल साम्राज्य को तोड़ने के बजाय उसे अपने हाथ में कर लेना तब से मराठा राज्य की नीति रहती है। आठ महीने के मोलभाव और रस्साकशी के बाद मुगल साम्राज्य उसे चम्बल तक का इलाका सौंप देता है (जनवरी १७३८)। दक्खिन पर मराठों का आधिपत्य पहले ही माना जा चुका था, बुन्देलखंड मालवा गुजरात और पूरवी राजस्थान पर प्रभुता स्थापित हो चुकी थी।

उसी वर्ष नादिरशाह मुगल साम्राज्य से काबुल छीन पंजाब पर चढ़

आता है। मुगल बादशाह राजपूत राजाओं और बाजीराव से मदद माँगता है। राजपूत तो टाल देते हैं, पर बाजीराव लिखता है "हमारे राज्य के लिए दिल्ली के बादशाह को ऐसे समय मदद देना बड़े गौरव की बात होगी। मल्हार होलकर, रानोजी शिन्दे और उदाजी पँवार को भेजता हूँ।" यह ठीक बाजीराव जैसे महापुरुष के, जो कि भारतीय साम्राज्य को अपनी ज़िम्मेदारी मानता था, अनुरूप था। किन्तु वे सब सेनापति और मराठों की कुल सेना उत्तरी कोंकण में पुर्तगालियों से उलझी हुई थी। दो वर्ष के घोर युद्ध के बाद मराठे उन्हें उस प्रदेश से निकाल पाते हैं जहाँ से उन्हें बहादुरशाह गुजराती और अकबर १६वीं सदी में बहुत चाहते हुए भी न हटा पाये थे और जिसे दो शताब्दियों से वे दबोचे हुए थे। पुर्त्तगालियों का बसई का गढ़ ढहते ही (१४-५-१७३६) होलकर और शिन्दे बाजीराव से मिलने बुरहानपुर की तरफ दौड़ते हैं, पर तब तक नादिरशाह दिल्ली को लूट कर लौटने लगा था। बाजीराव सचमुच बादशाह की मदद को आना चाहता था और मराठे सेनापति नादिर के हौए से तनिक भी डरे नहीं थे, इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। पर भारत के तट पर बस गये पच्छिमी युरोप के लोग कैसे विकट थे इसका अन्दाज़ बाजीराव को न हुआ था। वास्तव में यह पहला मौका था जब कि अठारहवीं शताब्दी की भारतीय राजनीति ने पच्छिम-युरोपियों के दबाव से पलटा खाया, क्योंकि यदि पुर्त्तगाली सारी मराठा सेना को बसई पर न रोके रखते तो बाजीराव नादिरशाह को पंजाब में रोकने अवश्य पहुँचता और तब हमारे इतिहास का रास्ता कुछ और तरह का बना होता।

नादिरशाह और बाजीराव का सामना होता तो क्या होता? यह काल्पनिक प्रश्न है, पर ऐसे काल्पनिक प्रश्नों पर तर्क-वितर्क अनेक बार इतिहास की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने में सहायक होता है। इस प्रश्न पर आज शायद कुछ लोग हँसें। पर हमें यह जानना चाहिए कि मुगल साम्राज्य के कर्णधारों ने जिन्हें इन दोनों महापुरुषों से वास्ता पड़ा था,

उस समय इनका मूल्य एक समान आँका था। बाजीराव से दुराहासराय पर जो ५० लाख की खंडनी देना तय कर उन्होंने सन्धि की थी, वही ५० लाख की खंडनी उन्होंने नादिरशाह से करनाल पर तय की थी, और यदि मुगल उमराव अपनी आपसी चख-चख में बन्दरबाँट करवाने के लिए नादिर को स्वयं दिल्ली न लिवा लाते तो प्रकटतः वह उस खंडनी से सन्तुष्ट हो करनाल से ही लौट गया होता। और यदि नादिर और बाजी की सचमुच बाजी लगी होती तो इतनी बात तो निश्चित है कि करनाल में मुगल सेना जिस तरह अपने को परकोटे में समेट कर नादिर के सामने आँखें मींच कर बैठ गई, बाजीराव की सेना कभी उस तरह न बैठती। यह ठीक है कि पानीपत में अब्दाली के सामने मराठों ने भी कुछ वैसा ढंग किया था, पर उस समय उनके सिर पर युरोपी ढंग से लड़ने का भूत सवार था, जो कि बाजीराव के ज़माने में पैदा नहीं हुआ था। आमने-सामने की लड़ाई में नादिरशाह के जिज़ैल और ज़म्बुरक से लड़ने वाले सैनिकों के आगे भाले बन्दूक से लड़ने वाले मराठे शायद न टहर सकते, पर वैसी लड़ाई के लिए वे कभी खड़े ही न होते, नादिर की छावनियों पर बराबर छापामारी करते रहते और पीछे से उसका रास्ता काटने की बराबर कोशिश करते, जिससे तंग आ कर उसे दिल्ली तक पहुँचे बिना लौटना पड़ता।

पर पुर्त्तगाली उलझन के कारण बाजीराव दिल्ली को बचाने नहीं जा सका और इसी कारण उसके उत्तराधिकारी के सामने उत्तरपच्छिमी आक्रमणों से भारत को बचाने की समस्या दूने ज़ोर से आ खड़ी हुई। १७४८ ई० में नादिरशाह मारा गया। उसके भूतपूर्व सेनानायक अहमद-शाह अब्दाली ने १७५२ तक पंजाब पर तीन चढ़ाइयाँ कीं। उस दशा में मुगल साम्राज्य के वज़ीर सफदरजंग ने मराठों के साथ जो सन्धि १७५२ में की उसके द्वारा साम्राज्य को बाहरी आक्रमणों और भीतरी विद्रोहों से बचाने की पूरी जिम्मेदारी मराठों के पेशवा को सौंपी गई, और उस सन्धि के बल पर सफदरजंग काबुल वापिस लेने की बातें करने

लगा। इससे यह प्रकट है कि उस समय के लोग मराठा राज्य को भारतीय साम्राज्य का भार उठाने योग्य मानते थे। बाजीराव ने १७२० में साम्राज्य स्थापित करने की जो बात कही थी वह ३२ बरस बाद यों चरितार्थ हो कर रही। उस हाथ में आये हुए साम्राज्य को बालाजीराव पेशवा यदि सँभाल नहीं सका तो उसका मुख्य कारण पच्छिम-युरोपी समस्या को ठीक समझ और सुलझा न सकना ही था। बालाजीराव में यदि अपने पिता का सा महापुरुषत्व और दूरदर्शित्व होता तो मराठा साम्राज्य की दशा उतनी न बिगड़ती जितनी उसकी पेशवाई में बिगड़ी। पर एक नेता के गलत रास्ते चलने पर महाराष्ट्र के लोग उसकी गलती को देख-समझ और रोक न सके यह भी हमारे राष्ट्र की कमज़ोरी थी जो पच्छिम-युरोपियों के मुकाबले में प्रकट हुई। इस समूचे पहलू की मीमांसा हम अगले व्याख्यान में करेंगे।

फिलहाल इसे अलग रखते हुए घटनाओं की धारा को निहारें तो भी इतना तो स्पष्ट है कि उस युग के भारत में मराठे ही ऐसे लोग थे जो समूचे भारत की जिम्मेदारी अपने ऊपर मानते और उसे निबाहने को जी-जान से लड़ रहे थे। दूसरे प्रदेशों के लोग जब अपने अपने प्रदेश को भी विदेशी से बचाने के लिए हाथ नहीं हिलाते, तब मराठे कावेरी से अटक तक देश की रक्षा के लिए लड़ते फिरते हैं। राजपूत राजा अब्दाली के मुकाबले को अपने घरों से नहीं निकलते, मराठे कृष्णा से चल कर जमना पार आ कर लड़ते हैं। अब्दाली की १७५७ की चढ़ाई में जब सूरजमल कुम्भेर के गढ़ में दुबक कर अपने "ब्रज की बरबादी देखता रहता" है, तभी अन्ताजी माणकेश्वर ग्वालियर से आ कर दिल्ली के उत्तर और दक्खिन पठानों की बाढ़ रोकने को लड़ता है। बलवन्तराव मेहन्देले नामक सरदार को हम १७५७-५८ में कर्णाटक और तमिळनाड में काम करता पाते हैं, १७६० में वही पानीपत के मैदान में वीर गति पाता है।

पानीपत के बाद स्वयं अब्दाली किस प्रकार पेशवा को मनाने-

समझाने का जतन करता है और किस प्रकार भारत के प्रमुख राज्यों के सहयोग से भारतीय साम्राज्य की व्यवस्था का प्रयत्न करते हुए मराठों को प्रमुख स्थान देना चाहता है इसपर स्वयं सर यदुनाथ ने ही प्रकाश डाला है। क्या इससे यह प्रकट नहीं कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत के साम्राज्य का दायित्व सभी मराठों पर ही मानते थे और कि पानीपत की हार से भी उस स्थिति में अन्तर नहीं पड़ा था? जो कार्य १६वीं-१७वीं सदियों में अकबर और उसके वंशजों का माना जाता था वही १८वीं में मराठों का माना जाने लगा, क्या यह शिवाजी के किये युगपरिवर्तन का फल न था?

बालाजीराव की गलतियों के कारण मराठों को अब्दाली का मुकाबला अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में करना पड़ा। तो भी उस मुकाबले से मराठा रणनीति की उपयोगिता-अनुपयोगिता का प्रश्न सामने आता है और उस काल्पनिक प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है जो हमने बाजीराव के सम्बन्ध में उठाया था। पानीपत पर मराठे हारे, पर उस हार का कारण उनका वह मतिविभ्रम था जो युरोपी शैली को देख कर हुआ था। उस शैली को अधकचरा समझ कर उसे काम में लाने की उन्होंने जो कोशिश की वही उनकी हार का मुख्य कारण हुई, इसे स्वयं सर यदुनाथ ने खूब स्पष्ट किया है। किन्तु जहाँ वे अपनी शैली से लड़े वहाँ उनकी शैली कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हुई?

१७५९ के जाड़े में अब्दाली के सामने मराठों के पंजाब रुहेलखंड से हट आने पर और ९ जनवरी १७६० को जमना के घाट पर दत्ताजी शिन्दे के मारे जाने और अब्दाली के दिल्ली ले लेने पर उत्तर भारत की बची-खुची मराठा सेना नारनौल के दक्खिन कोटपुतली के पास थी, जहाँ १५ जनवरी को मल्हार होलकर ने उसका नेतृत्व लिया। तभी अब्दाली ने दिल्ली से दक्खिन बढ़ कर व्रज के राजा सूरजमल को कर के साथ हाजिर होने का हुक्म भेजा। २७ जनवरी को अब्दाली सूरजमल की तरफ बढ़ा और उसका दीग गढ़ जा घेरा। तभी मल्हार मेवात से दिल्ली

की तरफ बढ़ा। अब्दाली को दीग छोड़ मल्हार के पीछे जाना पड़ा। २६-२७ फरवरी को मल्हार जमना पार कर दोआब में घुसा। अब्दाली ने जहानखाँ को उसका पीछा करने भेजा। मल्हार सिकन्दराबाद पहुँचा। उसे खबर मिली कि अनूपशहर के सामने गंगा पार नजीबखाँ रोहेले का १० लाख रुपये का खजाना अब्दाली की छावनी में लाया जा रहा है। उधर अपने गुप्तचर भेज मल्हार वहाँ ३-४ दिन रुका। इस बीच जहानखाँ ४ मार्च को एकाएक उसपर आ टूटा। मल्हार उससे पिट कर आगरा पहुँचा। जहानखाँ मथुरा के सामने तक आया और उसके पीछे-पीछे अब्दाली भी, जिससे फिर मल्हार दोआब में न घुसा। इसपर सर यदुनाथ का कहना है कि "यों अब्दाली के मुकाबले में छापामार युद्ध की योजना मराठा सवार सेना के योग्यतम नेता मल्हार की नायकता में भी पूर्णतः विफल हुई।"[१०]

मेरा नम्र निवेदन है कि मल्हार की रणनीति अपने उद्देश में सोलह आने सफल हुई। इस लड़ाई में उसका उद्देश क्या था? १७५६-५७ की चढ़ाई में अब्दाली ने दिल्ली से दक्खिन बढ़ कर ब्रज की दौलत और इज्जत को खूब लूटा था। फरवरी में वह दिल्ली से निकला था और २१ मार्च को उसकी हरावल आगरे में घुसी थी, जब कि सड़ती हुई लाशों के कारण उसकी सेना में ज़ोर का हैज़ा फैला और उसे एकाएक लौटने का आदेश देना पड़ा था। उस अधूरी लूट को पूरा करने की कसक प्रकटतः अब्दाली के मन में सालती रही थी और इसीलिए इस बार भी ठीक उसी मौसम में वह ब्रज की तरफ बढ़ा था। मल्हार ने इस बार अपनी छोटी-सी सेना-टुकड़ी से न केवल गर्मी आने तक अब्दाली को व्यस्त रक्खा, प्रत्युत उसे ब्रज से पीछे लौटा कर जमना पार पहुँचा दिया। उसकी सफलता यह थी कि "उसकी दावपेंच की लड़ाई से इस बार"

---

१०. यदुनाथ सरकार (१९३४)—फाल ऑफ़ दि मुगल एम्पायर (मुगल साम्राज्य का पतन) जि० २, पृ० २२९।

(व्रज) का इलाका साफ बच गया।"[११] आखिर नारनौल से सिकन्दराबाद वह नजीव का खजाना लूटने को ही तो नहीं गया था। एक अच्छा शिकार सामने देख वह ३-४ दिन को रुक गया, वहाँ उसकी दाल न गली और उसे मार खा कर भागना पड़ा, यह तो छापामारी के युद्ध में कोई बड़ी बात न थी। अब्दाली को जो उसने दिल्ली के दक्खिन से लौटा दिया और महीना भर इस शशोपंज में रक्खा कि मल्हार क्या करता है, यही उसकी सफलता थी।

१७वीं-१८वीं सदियों के पुनरुत्थान का मूल्य सिक्ख इतिहास में भी दिखाई देता है। पानीपत में अब्दाली की जीत सिक्खों पर उसकी धाक नहीं बैठा पाती। अब्दाली के मुँह फेरते ही वे उठ खड़े होते और ३½ बरस में जेहलम तक और अगले २½ बरस में अटक तक के प्रदेश को उससे छुड़ा लेते हैं। जिस रण-शैली से वे अब्दाली के पठानों को पंजाब से हरा कर भगाते हैं वह मराठों की छापामार रणशैली ही तो थी। जो राजनीतिक सचेष्टता इस युग में वे दिखाते हैं वह महमूद गजनवी के बाद से गुरु हरगोविन्द के समय तक छः शताब्दियों में क्या किसी पंजाबी ने दिखाई थी? हमें यह भूलना न चाहिए कि बिलोचिस्तान को और सीमाप्रान्त के कबीलों के प्रदेशों को छोड़ कर आज जो भारत की उत्तर-पच्छिमी सीमाएँ हैं, जिनसे न केवल खैबर, गिलगित, हुंजा और बोलौर, प्रत्युत पच्छिमी तिब्बत के लदाख, ज़ङ्स्कर, हानले, रूपशू और चुमूर्ति जिले भी भारत की राजनीतिक परिधि में आ गये हैं, वे सिक्ख राज्य की ही बनाई हुई हैं। मुगल युग में और सल्तनत युग से पहले तक भारत की उत्तर-पच्छिमी सीमा हिन्दूकश तक होती थी। सिक्ख वहाँ तक नहीं पहुँच सके और केवल इस कारण नहीं पहुँच सके कि पीछे से अंग्रेजों ने उनकी टाँग खींच ली। समकालीन अंग्रेज निरीक्षकों का मत था कि यदि वैसा न होता और रणजीतसिंह का होनहार तेजस्वी

---

११. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ४४५।

पोता नौनिहालसिंह नई उम्र में एकाएक दुर्घटना से न मर जाता तो वह सिन्ध अफगानिस्तान और हिन्दूकश पार तक बढ़ता, महमूद गज़नवी और तैमूरलंग की भारत चढ़ाइयों का हिसाब चुकाता।[१२] इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि यदि अंग्रेज बीच में न आ पड़ते तो दक्खिन-हैदराबाद तमिळनाड और अवध मराठों के हाथ तथा सिन्ध सिक्खों के हाथ स्वाभाविक प्रक्रिया से चला गया होता।

वास्तव में भारत का साम्राज्य अंग्रेजों ने मराठों सिक्खों और गोरखों से ही लिया। यह कहना भी गलत है कि भारत की राजनीतिक एकता अंग्रेजों ने स्थापित की। सिक्खों का इतिहास लिखने वाले जोसफ डेवी कनिंगहाम ने, जिसने दस बरस तक पंजाब की सीमा पर महत्त्व के पदों पर रहते हुए पंजाब में अंग्रेजी राज फैलाने की घटनाओं में विशिष्ट भाग लिया तथा जिसे उस समय की भारत की स्थिति को देखने-समझने का अद्वितीय अवसर मिला, लिखा था कि काबुल से असम और सिंहल तक सारा भारत एक देश गिना जाता है और इसके एक राज्य के अधीन होने की बात जनता को जँचती है, इसीलिए जनता विजेता को दोष नहीं देती, और जनता में यह धारणा रहने के कारण ही अंग्रेजों को भारत में अपना साम्राज्य फैलाने में सुविधा हुई।[१३] इस धारणा की मशाल को १६वीं-१७वीं सदियों में "मुगलों" ने उठाये रक्खा था, १८वीं सदी में उसे मराठों ने ले कर उठाये रक्खा। मुगल साम्राज्य पर नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने चढ़ाइयाँ अवश्य कीं, पर मुगल साम्राज्य का स्थान वे नहीं ले सके। उसका स्थान लिया मराठों और सिक्खों ने। जिस राजनीतिक सचेष्टता की बदौलत मराठे और सिक्ख यह भार उठा सके वह मराठा पुनरुत्थान से पैदा हुई थी। १३वीं-१४वीं

---

१२. जोसफ डेवी कनिंगहाम (१८४९)—हिस्टरी ऑफ दि सिख्स (सिक्खों का इतिहास), पृ० २४५।

१३. वहीं, पृ० २९१।

शताब्दियों के सामूहिक रूप से सर्वथा निश्चेष्ट निर्जीव हिन्दुओं में जो यह जीवन पैदा हो गया सो उस पुनरुत्थान की देन थी।

मैं तो एक कदम आगे जाऊँगा और यह कहूँगा कि आज के भारतीय पुनर्जागरण में भी हिन्दू जो कुछ आगे प्रतीत होते हैं सो उसी पुनरुत्थान की परम्परा के कारण। शिवाजी वाले पुनरुत्थान की परम्परा-प्राप्त धारा रघुनाथ हरि, गोपाल हरि देशमुख, १८५७ के स्वाधीनता-योद्धाओं और सखाराम गणेश देउस्कर जैसे व्यक्तियों के चरितों द्वारा आज के नव जागरण तक टटोली जा सकती है, भले ही वह धारा बीच-बीच में बहुत पतली और स्रोतोवहा या अन्तःसलिला हो जाती रही हो।

ऋ. मराठा शासन के गुण-दोष

मराठे सुशासन नहीं खड़ा कर सके, उनके राज में लूट-मार चलती रहती थी, यह प्रचलित धारणा है। इसके साथ ही यह कहा जाता है कि शिवाजी ने बहुत अच्छी शासन-पद्धति चलाई, उसका शासन सब सम्प्रदायों के साथ एक सा बर्ताव करने वाला और न्यायपूर्ण था, पेशवा बालाजीराव ने भी शासन को बहुत व्यवस्थित किया और पेशवा माधवराव तो युद्ध के साथ साथ ही नये जीते ज़िलों का बन्दोबस्त करता चलता था। माधवराव ने चुन-चुन कर बहुत ही योग्य व्यक्तियों को विभिन्न महकमे सौंपे; उसके न्यायाधीश रामशास्त्री प्रभुणे के निष्पक्ष न्याय की कहानियाँ जनता में आज भी प्रचलित हैं। तब इन दोनों कथनों में सामञ्जस्य कैसे है? मराठों के शासन को बुरा बताने वाले इस पहलू पर विचार नहीं करते, और इसीलिए वे मराठों की विफलता के कारणों में उनके शासन की बुराई को भी गिनते हैं।

शिवाजी में जिस नई शासन-पद्धति को चलाने का यत्न किया, वह उस जैसे आदर्शपरायण क्रान्तिकारी की कल्पना के अनुरूप थी। उसने शेरशाह की तरह सामन्त-शासन की जागीरों को उखाड़ कर केन्द्रग्रथित राज्य स्थापित किया। लेकिन जैसे शेरशाह के बाद मुगल सम्राट् वैसे

शासन को जारी न रख सके, वैसे ही शिवाजी के बाद उसके उत्तराधिकारी भी। वास्तव में अंग्रेज़ों के मुकाबले में हमारा शासनयन्त्र जिस अंश में कमज़ोर था और जिस कमज़ोरी से उन्होंने खूब फायदा उठाया, वह हमारे शासन की शक्ति का केन्द्रग्रथित न हो कर जागीरदारों में बँटा होना ही था। युरोप में जागीरदारों की सामरिक राजनीतिक शक्ति १७वीं सदी तक टूट गई थी, भारत में वह बनी रही। शासन की उच्छृंखलता का कारण बहुत कुछ वही जागीरदार थे। शिवाजी ने एक बार तो उन्हें दबा कर प्रजा को सुव्यवस्थित न्याय्य शासन का अनुभव करने दिया। पर उसे अपना आदर्श राज्य चारों तरफ से संघर्ष कर स्थापित करना था। एक तरफ दक्खिन की सल्तनतें, दूसरी तरफ मुगल बादशाहत और भीतर उच्छृंखल जागीरदार सभी से लड़ कर उसे वह क्षेत्र बनाना था जिसमें अपने आदर्श राज्य को खड़ा कर सके। इस दशा में उसे अपने पड़ोसी राज्यों की प्रजा के प्रति यह नीति अख्तियार करनी पड़ी कि तुम्हारा बादशाह मुझे सेना रखने को बाधित करता है, इसलिए मैं तुमसे उसका खर्चा लूँगा। थोड़े समय के लिए—केवल राजपरिवर्त्तन-काल के लिए—इसे दोष नहीं दिया जा सकता।

शिवाजी के बाद तो मराठा राज्य को लम्बे संघर्ष में से गुज़रना पड़ा। फिर पेशवा बाजीराव का समय साम्राज्य जीतने में बीता। पर बाजीराव के बेटे और पोते को सुशासन स्थापित करने के लिए जब हम इतना जागरूक पाते हैं तब हमें मानना पड़ेगा कि अच्छा राज्य स्थापित करने का आदर्श पुनरुत्थान की प्रेरणा के कारण बराबर उपस्थित था। यदि स्थायी रूप से वह चरितार्थ नहीं हो सका तो उसका कारण भी वही कमज़ोरियाँ थीं जिनके कारण इस युग के भारतीय युरोपियों का मुकाबला न कर सके।

हमें यह समझना चाहिए कि अंग्रेज़ों ने भारत का साम्राज्य मराठों से लिया और उसे लेने की तैयारी के रूप में भारत की जनता में मराठों के विरुद्ध झूठा-सच्चा प्रचार करना उनकी नियमित नीति रही। मराठा

साम्राज्य के पतन के बाद इधर जो सवा शताब्दी बीती है उसमें भी अंग्रेज़ों ने अपने उस मिथ्या प्रचार को इसलिए जारी रक्खा है कि भारतीयों में अपनी लघुता की मनोवृत्ति और अपनी स्वशासन-अयोग्यता की भावना बनी रहे। और मराठों के कुशासन के बारे में हम जो बहुत सी बातें कहते हैं उनकी जड़ में उस प्रचार का प्रभाव है। किन्तु उन्हीं सूक्ष्मदर्शी अंग्रेज़ों ने दूसरे अवसरों पर वस्तु-स्थिति का सच्चा वर्णन भी किया है। जैसा कि मैंने अन्यत्र लिखा है[१४]—"उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में जिन अंग्रेज़ों ने मराठों को हरा कर दक्खिन और विन्ध्यमेखला में अंग्रेज़ी शासन खड़ा किया, उनमें सर जौन मालकम से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नहीं हुआ। उसके जीवन का मुख्य भाग महाराष्ट्र और मालवे में बीता। मालकम का कहना था कि उसने 'सन् १८०३ में दक्खिनी मराठा ज़िलों को जैसा पाया उससे अधिक धन-धान्य-पूरित प्रदेश कभी कहीं नहीं देखे।' 'पेशवा की राजधानी पूना बड़ी धनी और फूलती-फलती नगरी थी।' 'मालवे में······मैंने आश्चर्य से देखा कि उज्जैन में व्यापारियों के बड़ी रकमों के लेन-देन बराबर चलते थे; ऊँची हैसियत और साख वाले साहूकार बड़ी समृद्ध दशा में थे; न केवल बड़ी तादाद में माल का आना-जाना बराबर जारी था, प्रत्युत वहाँ के बीमे के दफ्तरों ने, जो उस सारे इलाके में फैले हैं,···कभी अपना कारबार बन्द नहीं किया था।' 'कृष्णा-तट के ज़िलों के समान कृषि और व्यापार की समृद्धि भारत के किसी और प्रान्त में न थी। मेरे विचार में इसके कारण थे—(एक तो) उनकी शासनपद्धति जो कभी-कभी ज़्यादतियाँ करने के बावजूद भी नरम है···, (दूसरे) हिन्दुओं की कृषि के विषय में पूरी जानकारी और भक्ति, (तीसरे) हमारी अपेक्षा उनका शासन के कई पहलुओं को, खास कर गाँवों और नगरों को समृद्ध बनाने के उपायों को, अच्छा समझना,······और सब से बढ़ कर जागीरदारों का अपनी जागीरों

---

१४. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ४८६।

पर रहना तथा उन प्रान्तों का ऊँचे दर्जे के ऐसे आदमियों द्वारा शासन होना जिनका जीना और मरना उसी ज़मीन के साथ है।······किन्तु इन सब से भी बढ़ कर समृद्धि का कारण यह था कि गाँवों की पञ्चायतों और अन्य स्थानीय संस्थाओं को सदा बढ़ावा दिया जाता था।' "

'मराठों की शासनपद्धति कभी कभी ज्यादातियाँ करने के बावजूद भी नरम है' इस सत्योक्ति से मराठा शासन के विषय में प्रचलित बातों का विसंवाद दूर होता है।[१५]

परिशिष्ट ५

राजपूतों का उद्भव कब और कैसे ?

ओझाजी ने यह बात विवेचनापूर्वक दिखलाई है कि "प्राचीन काल में राजपुत्र शब्द जातिवाचक नहीं, किन्तु राजकुमारों या राजवंशियों का सूचक था।···यह शब्द जातिसूचक हो कर मुगलों के समय अथवा उसके पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।"[१६] पर मुगल युग में जो वर्ग राजपूत कहलाये उनमें से कइयों के उस युग वाले नाम पहले मध्य काल से चले आते थे, जैसे राठोड (राष्ट्रकूट) चौहान (चाहमान) सोलंकी (चालुक्य) पड़िहार (प्रतिहार) आदि। इससे यह धारणा साधारण रूप से प्रचलित है कि राजपूत जात का उदय पहले मध्य काल से हुआ। इस धारणा के आधार पर यह विवाद खड़ा हुआ कि राजपूत लोग कौन थे और कहाँ से आये। प्राचीन काल के भारत में वे न थे, मध्य काल के आरम्भ में एकाएक कहाँ से आ गये ?

---

१५. दे० नव-परिशिष्ट ५।

१६. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (१९२५)—राजपूताने का इतिहास जि० १, खंड १, पृ० ३६-३७।

किन्तु यह धारणा स्वयं ही भ्रममूलक है। एक तो यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रकूट प्रतिहार सोलंकी चाहमान आदि में से प्रत्येक समूह पहले मध्य काल से एक-एक जात या उपजात था। इनमें से प्रत्येक समूह का समूहत्व किस रूप का था यह एक प्रश्न है जिसपर विचार करने का ठीक स्थान इस ग्रन्थ के दूसरे या चौथे खण्ड में होगा। दूसरे, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इन चारों और अन्य बत्तीस एक कुलों को मिला कर राजपूत जात बनने की कल्पना का सोलहवीं शताब्दी से पहले होने का कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्युत हम ऐसे स्थानों में राजपूत जात का उल्लेख नहीं पाते जहाँ कि यदि वह होती तो उसका उल्लेख ज़रूर मिलता। उदाहरण के लिए अल्बरूनी के समय में प्रतिहार सोलंकी आदि लोग थे, पर अल्बरूनी कहीं उन्हें राजपूत नहीं कहता।

इस सम्बन्ध में यह भी समझना चाहिए कि यदि राजपूत जात का उदय हम पहले मध्य काल में भी मानें तो भी यह आवश्यक नहीं है कि हम उस काल में किन्हीं नये लोगों का भारत में बाहर से आना भी मानें। राजपूत जात के उदय का अर्थ केवल एक नई सामाजिक कल्पना का उदय हो सकता है और था। **इतिहासप्रवेश** प्रथम संस्करण में मैंने भी इस भ्रान्त धारणा का अनुसरण किया था कि राजपूतों का उदय पहले मध्य काल में हुआ। तो भी मेरा यह कहना था कि राजपूतों का उदय केवल एक सामाजिक कल्पना और पद्धति का उदय था, और इसकी व्याख्या मैंने यों की थी—"बहुत बार यह पूछा जाता है कि मध्य युग में जो एकाएक चारों तरफ राजपूत लोग दिखाई देने लगे, वे कौन थे और कहाँ से आये? असल में राजपूत कोई नई जाति न थी। राजाओं के पुत्र इस देश में सदा से पैदा होते थे और अपने बराबर वालों में ही ब्याह-शादी की जाय ऐसा रुझान भी लोगों में सदा से रहा है। ११वीं सदी में भारत में जो राजघराने थे उनमें भी यही चलन था। किन्तु उस समय से एक नई बात होने लगी। जीवन में संकीर्णता आ जाने के कारण लोगों को दूर के और अपरिचित लोगों से शङ्का और डर प्रतीत होने लगा

कि कहीं उनसे मिल कर हमारा कुल बिगड़ न जाय। इस कारण उस समय के सब राजघराने गिन लिये गये और उनका राजपूतपन पत्थर की लकीर हो गया। आगे चल कर उनके बेटों-पोतों के हाथ में राज न रहे तो भी वे राजपूत बने रहे और दूसरे कुलों के लोग राज पा लेने पर भी राजपूत नहीं माने गये। इसी तरह सरकारी दफ्तरों में जो छोटे लेखक या अमले होते थे वे कायस्थ कहलाते थे। उनमें भी सब तरह के लोग थे, जो एक सी हैसियत होने से प्रायः आपस में सम्बन्ध करते थे। उन्होंने भी अब अपनी तमाम खाँपें गिन डालीं और अपना व्याह-शादी का दायरा हमेशा के लिए सीमित कर लिया। सामाजिक ऊँचनीच के और जितने दर्जे थे वे सब भी इसी प्रकार पथरा कर जात-पाँत बन गये। नदी का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे-छोटे जोहड़ बन जाते हैं, वैसे ही भारतीय समाज में ये जातें बन गईं। तो भी हम देखेंगे कि १२वीं-१३वीं सदी तक इन जातों में भी बाहर के आदमियों के आ मिलने की गुञ्जाइश बनी रही।"[१७]

इस सम्बन्ध में मेरा विचार अब इतने अंश तक बदला है कि जात-पाँत का उदय चाहे ११वीं शताब्दी से होने लगा था तो भी राजपूत जात १६वीं शताब्दी से पहले न बनी थी।

---

१७. जयचन्द्र विद्यालङ्कार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० २४१।

आठवाँ व्याख्यान*

मुगल-मराठा युग (२) युरोपीय के मुकाबले में भारतीय

§ १. जहाज़रानी में भारतीयों का पिछड़ना

हम फिर लौट कर १५०६ ई० पर आते हैं। हमने देखा है कि पुर्तगालियों ने उस साल हमारे समुद्र पर एकाधिपत्य कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं के आरम्भ की इस दशा को जब हम अपने प्राचीन इतिहास की परम्परा में देखते हैं तो पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि समुद्रयात्रा के प्रति हिन्दुओं की उपेक्षा कब और कैसे पैदा हो गई। गुप्त युग तक आर्यावर्ती नाविक और उपनिवेशक संसार के नाविकों और उपनिवेशकों के अगुआ थे। चोळ साम्राज्य के समय तक भी उस दिशा में विशेष अवनति नहीं हुई थी। बिल्वतिक्त का समुद्री साम्राज्य तो पुर्तगालियों के आने के चौथाई शताब्दी पहले तक बना हुआ था। लेकिन उनके आने से पहले भारत का सब व्यापार "मूरों" के हाथ में था, और भारतीय उपनिवेशों के राज्य मुसलमानों के हाथ जा चुके थे। यों तो पुर्तगाली लोग अरबों को मूर कहते थे, पर शायद वे अरबों और भारतीय मुसलमानों में या दूसरे भारतीय नाविकों में भी भेद न करते रहे हों। भारतीय नाविकों में भी इस समय तक इस्लाम काफी फैल चुका था। यह बात ठीक कब और कैसे हुई तथा बृहत्तर भारत में भी इस्लाम कब और कैसे गया, ये महत्त्व के प्रश्न हैं।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि इस वक्त समुद्रयान में युरोपियों के मुकाबले में हिन्दू और मुस्लिम सभी भारतीय एक से निकम्मे

---

* १० सितम्बर १९४१ को दिया गया।

सिद्ध हुए। सन् १५७६ के बाद अकबर का साम्राज्य जितना बड़ा था उतना उस ज़माने में और कोई साम्राज्य न था। लेकिन अकबर की प्रजा के जहाजों को भी मक्का तक जाने के लिए पुर्तगालियों का परवाना लेना पड़ता था। सन् १५८० से ८२ तक गुजरात के बन्दरगाहों से पुर्तगालियों को निकालने की अनेक चेष्टाएँ अकबर ने कीं, पर समुद्र-विषयक ज्ञान और शक्ति के न होने से वे सब विफल हुईं। इसके बाद समूचे मुगल-मराठा युग में जहाजरानी और दुनियाँ के भू-अंकन के ज्ञान में युरोपियों के मुकाबले में हिन्दुस्तानियों की कमज़ोरी बराबर लज्जाजनक रूप में प्रकट होती रही।

§ २. उनकी जिज्ञासा का क्षीण होना

इस सम्बन्ध में तीसरी बात जिसपर विचार करने से बड़ा अचरज भी होता है, यह है कि एक बार अपनी कमज़ोरी प्रकट होने पर भी हमारे पुरखों को यह नहीं सूझा कि उस कमज़ोरी को दूर कर लें। पुर्तगाली जब पहले-पहल अफरीका का चक्कर लगा कर हमारे देश में आये, उन्होंने केवल एक नया रास्ता खोजा था। न तो उनके जहाज हमारे जहाजों से कुछ अच्छे थे और न उनके नाविक हमारे नाविकों से। उनके साधन हमारे साधनों से प्रायः घटिया ही थे। अठारहवीं शताब्दी के अंत में व्यावसायिक क्रान्ति के चरितार्थ हो जाने से पहले तक भारतीय शिल्पी अपनी शिल्प-योग्यता में युरोपियों से कहीं आगे थे। सोलहवीं शताब्दी में भारत के पास जितनी संचित पूँजी थी उसे देखते हुए युरोप कंगाल ही था। यदि भारत जागरूकता ने साथ अपनी उस पूँजी-शक्ति और शिल्प-शक्ति का उपयोग करता तो बड़ी आसानी से अपना नेतृत्व बनाये रख सकता था। पुर्तगालियों ने भारत और युरोप के बीच एक नया रास्ता खोज लिया था। भारतीय जहाज उस रास्ते पर भी अग्रसर हो कर उधर के व्यापार में भी अपना प्रमुख स्थान बना सकते थे। एक बार यदि पुर्तगालियों ने उन्हें हरा दिया था तो वे नई तैयारी करके फिर उनका मुकाबला कर

सकते थे। और जिस तरह पहले पुर्तगाली और फिर युरोप के अन्य देशों के नाविक भारतवर्ष अमरीका परले हिन्द चीन और अन्य नये नये देशों का हाल मालूम करते फिरते थे, उसी तरह भारतीय भी उनसे उनके देशों की बात सुन कर युरोप और अमरीका के नये देशों का पता लगाने निकल सकते थे।

लेकिन यह सब कुछ भी नहीं होता! भारतवर्ष के जिन राजनेताओं और व्यापारियों का युरोपियों से बराबर संपर्क होता था, और जो उन देशों के विषय में बराबर सुनते होंगे, उनके मन में भी कोई उत्सुकता नहीं होती कि अपनी आँखों उन देशों का हाल देखें और जानें। युरोपी लोग जब नये समुद्रों और देशों को खोजने और उनपर अधिकार जमाने में लगे थे, हम अपनी पूजा-इबादत और गुड़ियों के जुलूसों में ही मस्त थे!

§३. भारतीय समुद्र में अराजकता

हमारी इस बेहोशी के कारण मुगल-मराठा युग में भारतीय समुद्र का कोई मालिक या सुध-लेवा न रहा और प्रायः डेढ़ शताब्दी तक वह युरोप के साहसी डाकुओं के लिए खुला विचरण-क्षेत्र बना रहा। भारतीय समुद्र की उस अराजक अवस्था का बहुत संक्षिप्त दिग्दर्शन अपने आरा अभिभाषण में करा चुका हूँ।[1]

"जहाँगीर और शाहजहाँ के वक्त पुर्तगाली और मग [अरकानी] डाकू चटगाँव के अड्डे से बंगाल की नदियों के रास्ते साल-ब-साल चढ़ाई करते, गाँवों को जलाते-उजाड़ते और प्रजा को लूटते और पकड़ ले जाते थे। असहाय प्रजा को पकड़ कर, उनके एक-एक हाथ में छेद कर और उन

१. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३७)—१५वें बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन आरा की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण पृ० ११, यदुनाथ सरकार (१९२१)—हिस्टरी ऑफ औरंगज़ेब (औरंगज़ेब का इतिहास) जि० ३ पृ० १९३ प्र० तथा (१९२४) जि० ५ पृ० ३४० प्र० के आधार पर।

छेदों में एक लम्बी रस्सी पिरो कर वे जानवरों की तरह उन्हें अपनी नावों में भर ले जाते और फिर गुलामों की तरह काम कराते या बेच देते थे। मुगल नव्वारा उनके बेड़े को आता देख कर भाग जाता और उन्हें रोक न पाता था। इसी वक्त भारतीय समुद्र में अंग्रेज़ों और ओलंदेज़ों (डचों) ने भी डकैती शुरू की। औरंगज़ेब के समय चटगाँव तो जीता गया, पर अंग्रेज़ों और ओलंदेज़ों की डकैतियाँ बढ़ती ही गईं। यहाँ तब कि एक बार ब्रिगमैन उर्फ़ एवोरी नामक अंग्रेज बदमाश ने खुद बादशाह के जंगी जहाज गंज-ए-सवाई का, जो मक्का से कई हाजी जहाजों को लिवाये ला रहा था, मुम्बई और सूरत के बीच रास्ता छेंका, और उसकी तोपों को बेदम कर तीन दिन तक जी खोल उन जहाजों को लूटा, और मक्का से लौटती कुलीन सैय्यद स्त्रियों पर मनमाना बलात्कार किया! औरंगज़ेब के समय बराबर ऐसी घटनाएँ होती रहीं। भारतीय समुद्र के तमाम नाकों को ये डाकू छेंके रहते थे। बादशाह से जब कुछ न बनता तो वह युरोपी व्यापारी कम्पनियों पर दबाव डालता कि इन डाकुओं की रोकथाम करें। इस प्रकार उसने उन व्यापारी कम्पनियों को जंगी बेड़े रखने को उत्साहित किया और उन बेड़ों का खर्चा दिया। उन व्यापारियों के वंशजों ने औरंगज़ेब के वंशजों को न केवल जल प्रत्युत स्थल की रक्षा की चिन्ता से भी मुक्त कर दिया! इतनी लाञ्छनाओं के होते हुए भी अकबर से औरंगज़ेब तक किसी बादशाह को यह न सूझा कि स्वयं अपनी प्रजा को जलयुद्ध-कला में निष्णात कर अपना जंगी बेड़ा तैयार करें और अपने समुद्र पर अधिकार कर लें। यदि यह सूझ जाता तो औरंगज़ेब के समान दृढव्रती चरित्रवान् और कर्त्तव्यनिष्ठ बादशाह के लम्बे शासन में ही भारतवासियों की यह कमजोरी सदा के लिए दूर हो गई होती।"

और यह हालत इस बात के बावजूद थी कि "सूरत के बन्दरगाह पर उन्नीसवीं सदी के शुरू तक जो जहाज बनते थे वे युरोपी जहाज़ों से ज्यादा मज़बूत और अच्छे होते थे। युरोप वाले उन जहाजों को खरीद

ले जाते थे। लेकिन उन जहाजों से दुनियाँ के समुद्रों के रास्ते नापना और उनपर अधिकार करना युरोपियों को ही सूझता था, हमें नहीं।"[२]

§४. तोपों के काम और मुद्रणकला की उपेक्षा

जिस प्रकार जहाजरानी और समुद्र-यात्रा में हम युरोपियों से पिछड़ गये थे, उसी प्रकार तोपों को बनाने चलाने और उनके उपयोग की कला में भी। पुर्तगालियों के भारत आने के ३०-३२ बरस के भीतर ही पुर्तगाली तोपचियों की माँग भारतीय राज्यों में रहने लगी थी। हमने देखा है कि हुमायूँ के साथ लड़ाई में बहादुरशाह गुजराती ने और शेरखाँ से मुकाबला पड़ने पर बंगाल के महमूदशाह ने उनकी मदद ली थी। उसके बाद से समूचे मुगल-मराठा-युग में युरोपी तोपचियों को भारतीय राज्यों में ऊँची तनख्वाहों पर बराबर काम मिलता रहा, और उस प्रसंग में भारतीय शासन और सेना-संघटन की भीतरी कमज़ोरी देखने का मौका भी। इस सम्बन्ध में भी फिर यह बात उल्लेखनीय है कि उस समय के भारतीय कारीगर यदि इस ओर ठीक-ठीक ध्यान देते तो युरोपियों से अच्छी तोपें बन्दूकें बना सकते थे।

"उधुआ नाला की लड़ाई में मीर कासिम की सेना ने जो बन्दूकें बरती थीं, वे ईस्ट इंडिया कम्पनी की बन्दूकों से कहीं अच्छी पाई गईं थीं। फेरूशहर की लड़ाई के बाद जो सिक्ख तोपें अंग्रेज़ों के हाथ आईं, उनकी मार और मुँह का घेरा अंग्रेज़ी तोपों से ज्यादा था, पछाड़ कम।"[३] लेकिन इस प्रकार अपनी शिल्प-शक्ति का संघटन कर अपनी युद्धकला की कमज़ोरी को दूर करने तथा शिल्प की दौड़ में अपना दो हज़ार बरस पुराना नेतृत्व बनाये रखने की ओर हमारे राष्ट्रनेताओं का

---

२. वहीं पृ० ९, दो-एक शब्दों के फेरफार के साथ।

३. वहीं पृ० ९-१०, वामनदास वसु (१९२०)—राइज़ ऑफ़ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया (भारत में ईसाई शक्ति का उदय) २य संस्क० (१९३१) पृ० १५८, ८८१ के आधार पर।

ध्यान ही न जाता था। और यही बात ज्ञान के प्रत्येक दूसरे क्षेत्र के विषय में भी थी।

"शिवाजी ने जब तमिळ तट को जीता तब उसने देखा कि किलों को ढाने के लिए फिरंगी तोपें और तोपची बड़े उपयोगी हैं। उसने उन्हें अपनी सेवा में लेना चाहा, पर यह कभी न सोचा कि अपनी प्रजा को उस कला में सधा लें।"[४] शिवाजी के "अष्ट प्रधानों" में से एक और महाराष्ट्र के स्वतन्त्रता-युद्ध के प्रसिद्ध नेता रामचन्द्र नीलकंठ बावडेकर ने अठारहवीं शताब्दी के शुरू में राजनीति पर ग्रन्थ लिखा। उसमें उसने यह स्वीकार किया कि 'टोपीकार' (युरोपी) लोग जहाजरानी में तथा तोप-बन्दूक गोला-बारूद बनाने और चलाने में मराठों या कुल भारतीयों से अधिक होशियार हैं। पर उसे केवल यही सूझा कि इस कारण वे खतरनाक हैं और उन्हें भारत में बसने को ज़मीनें न देनी चाहिएँ, अन्यथा वे किले बना कर हमें परेशान करेंगे।[५] उसके ख्याल में यह बिलकुल न आया कि हम उनके देशों में जा कर देखें तो सही कि उनकी इन विषयों में उन्नति का स्वरूप और कारण क्या है, और हम भी इन नई विद्याओं कलाओं और शिल्पों को उनसे सीख लें, चुरा लें या चाहे जिस तरह अपना लें। "बाजीराव ने जब उत्तरी कोंकण और बसई से पुर्तगालियों को निकाल दिया तब बसई की गोदियाँ (डौक यार्ड) सब मराठों के हाथ आ गईं; लेकिन वे यों ही उजड़ने दी गईं। मराठों के ख्याल में यह कभी न आया कि उनमें अपने जहाज बनवाना शुरू करें। मराठों की आँखों के सामने गोवा में पुर्तगाली अपनी किताबें छापते थे,

---

४. वहीं पृ० ११, यदुनाथ सरकार (१९१९)—शिवाजी, ३य संस्क० (१९२९) पृ० ३१२ के आधार पर।

५. श्री० व्यं० पुणताम्बेकर (१९२९)—ए रौयल एडिक्ट औन दि प्रिंसिपल्स औफ़ स्टेट पौलिसी ऐंड और्गनिज़ेशन (रामचन्द्र बावडेकर कृत "राजनीति" अथवा "आज्ञापत्र" का अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ३१-३२।

पर मराठों का ध्यान इस तरफ कभी न गया कि वे भी अपनी मराठी किताबें छाप सकते हैं।"[६]

§५. भारतीय मस्तिष्क की पिनक

सन् १७४० से जब युरोपियों ने भारत में ही फौजें खड़ी कर हमारी ही ज़मीन पर स्थल-युद्ध में भी हमें पछाड़ना शुरू किया, तब लाचार हो हमने उनकी कुछ बातें सीखने की कोशिश की; पर बार-बार ठोकर खाते चलने पर भी हमारी आँखें खुलने में नहीं आईं। वह एक नई बात है जिसपर हम अलग से विचार करेंगे। लेकिन दुनिया के साधारण हाल-चाल और भू-अंकन के प्रति हम किस प्रकार अन्धे बने रहे, उसका उल्लेख यहीं कर दिया जाय। सिराजुद्दौला के राज में अंग्रेज़ों के षड्यंत्र रचने पर उसने उन्हें कलकत्ते से तो निकाला, पर कलकत्ते के दक्खिन फल्ता में बने रहने दिया, सो इस कारण कि एक तो वह उनके व्यापार से होने वाली अपनी आय को खोना नहीं चाहता था, और दूसरे वह उनकी शक्ति को तुच्छ समझता था। उसके ख्याल में युरोप कोई छोटा सा टापू था, जिसके कुल बाशिन्दे १०-१२ हज़ार थे, जिनमें से एक-चौथाई अंग्रेज़ थे।[७] और तो और, हमारे देश की हालत को भी युरोपी हमसे अधिक जान गये थे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का दक्खिन भारत का मराठा नक्शा मौजूद है। उसकी तुलना हम उसी ज़माने के रेनेल के बनाये हुए भारत के नक्शे से करते हैं[८] तो स्पष्ट देखते हैं कि हमारे देश के भू-अंकन को भी अंग्रेज़ हमसे अच्छा जान गये थे।

---

६. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३७)—आरा अभिभाषण पृ० १२, गो० स० सरदेसाई (१९२६) मेन करेंट्स औफ़ मराठा हिस्टरी (मराठा इतिहास की मुख्य धाराएँ) १९३३ संस्क० पृ० १९८-१९९ के आधार पर।

७. वामनदास वसु (१९२०)—पूर्वोक्त पृ० ६२।

८. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ४९०।

§ ६. भारतीय सिपाही का "आविष्कार"

बन्दूक का प्रयोग बढ़ने से युद्ध में पदाति सेना का महत्त्व बढ़ गया, और युरोप वालों ने एक आदेश पर एक साथ चलने और एक साथ प्रहार करने वाली पदातियों की नियमित पाँतें तैयार कर युद्धकला को नया रूप दे दिया। इससे सेनाओं का केन्द्रीय नियन्त्रण बढ़ गया। उन केन्द्रनियन्त्रित सेनाओं के ज़ोर से राजाओं ने अपने उच्छृंखल सामन्तों को काबू में किया, जिससे राज्यों के शासन में भी केन्द्रीय नियंत्रण और सुव्यवस्थितता बढ़ती गई। पर भारत में यह सब कुछ नहीं हुआ। युरोप इन मामलों में जहाँ प्रगतिशील था, वहाँ भारत जहाँ का तहाँ खड़ा था।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में युरोपवाले भारत की इस कमज़ोरी को पहचानने लगे। सन् १७४० से वे स्पष्ट सोचने लगे कि यदि युरोप की सेनाएँ भारत तक आ सकें तो इस देश के कई प्रान्तों को आसानी से जीत लें। युरोपी व्यापारियों की मण्डलियाँ ही इस काम को कर डाल सकेंगी ऐसी उस समय किसी को कल्पना न थी। एक बड़े और सुदूर देश को जीतने की चेष्टा किसी सम्राट् द्वारा होनी चाहिए यह सोचना स्वाभाविक था, और युरोप में तब तक कहने को "पवित्र रोमी साम्राज्य" चला आता था, जो "न तो पवित्र था, न रोमी और न साम्राज्य", पर जर्मन राज्यों का ढीला-ढाला संघ था। सन् १७४६ में बंगाल से कर्नल मिल नामक अंग्रेज़ ने उसी जर्मन साम्राज्य के सम्राट् के लिए एक योजना भेजी, जिसमें लिखा—"मुगल साम्राज्य में सोने चाँदी की बाढ़ है। वह सदा से दुर्बल और अरक्षित है। यह अद्भुत बात है कि किसी जल-शक्ति-सम्पन्न युरोपी राजा ने बंगाल को जीतने की कभी चेष्टा नहीं की। एक ही चोट से असीम धन मिल सकता है जो ब्राज़िल और पेरू की खानों का पलड़ा बराबर कर देगा। मुगलों की नीति बुरी है; उनकी सेना और भी रद्दी है; जंगी बेड़ा उनके पास है ही नहीं।......उनके बन्दरगाह और नदियाँ विदेशियों के लिए खुले हैं। जैसी आसानी से स्पेनियों ने अमरीका के नंगे इंदियों को जीता था, वैसे ही यह देश भी

जीता या करद बनाया जा सकता है। अलीवर्दीखाँ नामक विद्रोही प्रजाजन ने मुगल साम्राज्य के तीन प्रान्त बंगाल बिहार और उड़ीसा खसोट लिये हैं। उसके कोश में तीन करोड़ पौंड धन है। उसकी वार्षिक मालगुज़ारी कम से कम २० लाख (पौंड) होगी। ये प्रान्त समुद्र से लगे हैं। पन्द्रह सौ या दो हज़ार नियमित सेना के साथ तीन जहाज इस काम के लिए काफी होंगे। ब्रितानवी जाति लूट की खातिर साथ हो जायगी...।"[१]

यों भारत को जीतने में युरोपियों को अब यदि कोई कठिनाई दिखाई देती थी तो यह कि युरोप से इतनी दूर फौज कैसे लाई जाय। लेकिन उक्त अंग्रेज़ कर्नल के यह लिखने के बरसों पहले पुदुचेरी (पांदिचेरी) के फ्रांसीसी हाकिम द्यूमा ने इस प्रश्न को भी सुलझा लिया था। द्यूमा ने यह आविष्कार किया था कि भारत में भारतीयों की सेना खड़ी करके उसी से भारत को जीता जा सकता है। द्यूमा की इस सूझ में तीन महान् ऐतिहासिक सत्य अन्तर्निहित थे। पहला यह कि भारत के लोगों में इतनी समझ और भौतिक वीरता है कि वे अच्छे सैनिक बन सकते हैं। अफरीका या अमरीका के जिन जंगली बाशिन्दों से युरोपियों को वास्ता पड़ा था उनमें यह बात न थी। इस भेद का कारण यह था कि वे जातियाँ सभ्यता की आरंभिक दशा में थी जब कि भारतीय एक पुरानी महान् सभ्यता के दायभागी थे जिसकी साधना उनकी नसों में व्याप चुकी थी। दूसरा सत्य यह था कि भारतीयों में सामूहिक जीवन और राष्ट्रीय चैतन्य का इतना अभाव है कि वे स्वयं अपने को वैसी सेनाओं के रूप में संघटित नहीं कर सकते, दूसरे के भाड़े के सिपाही ही बन सकते हैं; और भाड़े के सिपाही रूप में अपने ही भाइयों पर गोली दागने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। तीसरा महान् सत्य यह था कि उनमें जिज्ञासा और महत्त्वाकाङ्क्षा का भी इतना अभाव है कि जितनी बात उन्हें सिखा दी जाय उससे आगे बढ़ कर समूचे ज्ञान को अपनाने की अभिलाषा उनमें नहीं जगती; इसी से जहाँ वे

---

१. वामनदास वसु (१९२०)—पूर्वोक्त पृ० ४४।

अच्छे हथियार बन सकते हैं, वहाँ इस बात का कोई खतरा नहीं है कि वे स्वयं इस विद्या में निष्णात हो कर अपनी सेनाएँ तैयार करने और चलाने लगेंगे।

द्यूमा ने इन तीनों सत्यों को अलग अलग स्पष्ट रूप से पहचाना-समझा हो या न हो, ये उसके आविष्कार में अन्तर्निहित हैं और उसके ज़माने से पहले की अनेक शताब्दियों में भारतीय इतिहास का परिपाक समझने के लिए बड़े ही महत्त्व के हैं। दृश्य जगत् की वस्तुस्थिति के प्रति सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों के भारतीयों की आँखें बन्द होने या उनके मोहनिद्रा में पड़े रहने की जो बात हम देख चुके हैं, ये उसकी पुष्टि करते हैं।

§७. युरोपी सेना-संघटन की चोट से भारतीय मन की प्रतिक्रिया

द्यूमा के आविष्कार के बाद से हमारे इतिहास का घटनाचक्र किस तेज़ी के साथ नई दिशा में चल पड़ा सो सुपरिचित है। हम उन घटनाओं के केवल उन अंशों का दिग्दर्शन करेंगे जिनसे इस युग के भारतीय नेताओं की मनोवृत्ति प्रकाश में आती है।

सन् १७४१ में द्यूमा ने रघुजी भोंसले को अपनी फ्रांसीसी ढंग पर सधाई हुई हिन्दुस्तानी टुकड़ी की कवायद दिखा कर और अंगूरी शराब की बोतलें चखा कर पुदुच्चेरी से लौटा दिया।[१०] कहना चाहिए कि तभी मराठों को पहलेपहल स्थल-युद्ध की इस नई शक्ति के दर्शन हुए। सन् १७४६ में मद्रास के पास अडयार नदी के पुल पर आरकाट के नवाब अनवरुद्दीन की दस हज़ार फौज को द्युप्ले के २३० फ्रांसीसियों और ७०० हिन्दुस्तानियों की टुकड़ी ने हरा दिया; तब भारत भर को इस नई शक्ति की सूचना मिली। उसके बाद जब सन् १७४८ से १७५२ तक हैदराबाद और आरकाट के उत्तराधिकार के झगड़ों में द्युप्ले ने अपने जौहर दिखाये, जिंजी के उस किले को जिसे औरंगज़ेब की सेना सात

१०. किनकेड और पारसनीस (१९२२)—हिस्टरी ऑफ़ दि मराठा पीपुल (मराठा जाति का इतिहास) जि० २ पृ० २७७—२८०।

साल के मुहासरे के बाद सर कर सकी थी एक रात में ले लिया, दि बुसी मराठों को पछाड़ता हुआ पूने से १६ मील कोरेगाँव तक पहुँच गया, और अंग्रेज़ों ने भी फ्रांसीसियों की नकल पर हिन्दुस्तानी फौज तैयार कर भारतीय राजनीति में दखल दिया,—तब मराठों को और समूचे भारत को हठात् भारतीय मैदान की इस नई शक्ति का पूरा-पूरा परिचय मिला।

इस नई युद्ध-शैली से महाराष्ट्र के नेता प्रभावित हुए। उन्होंने दि बुसी को अपनी सेवा में लेना चाहा और उसके न मिलने पर उसके सिखाये कुछ गार्दियों को सेवा में रख लिया। इस कामचलाऊ ढंग से वे सन्तुष्ट हो गये। उन्हें यह हरगिज न सूझा कि इस विद्या या कला के मर्म को पूरी तरह सीखने-समझने की कोशिश करें। पानीपत के मैदान में उन्होंने अपने इस अधकचरे ज्ञान का प्रयोग किया। परिणाम वही हुआ जो होना था। इस नई शैली से सदाशिवराव भाऊ को लड़ना था तो अपने आधार से बराबर सम्बन्ध रखना था। लेकिन भाऊ जब दिल्ली से उत्तर बढ़ा, उसने भरतपुर क्या दिल्ली से भी सम्बन्ध न रक्खा। वह तोपखाने पैदल सेना और स्त्रियों को साथ लिये जहाँ-तहाँ फिरता था। उसका आधार हवा में था! अब्दाली ने उसके नीचे जमना पार कर उसका पीछे से सम्बन्ध काट दिया। तो भी असल लड़ाई का मौका आने पर इब्राहीम गार्दी के तिलंगे बन्दूकचियों ने अपने सामने की पठान पाँतों को आसानी से तोड़ दिया। पर गार्दी के पीछे से मराठा रिसाले की कोई टुकड़ी शत्रु की उन टूटी पाँतों पर हमला कर उन्हें कुचल देने के लिए आगे न बढ़ी। भाऊ ने नई युद्धशैली को ठीक समझा होता तो पैदल बन्दूकची पाँतों के पीछे बराबर रिसाले की टुकड़ियाँ रक्खी होतीं और दोनों के कार्य में लगातार सम्पर्क रक्खा होता। पर उसकी पैदल सेना सब एक किनारे थी और सवार सब उसके दाहिने तरफ![११]

---

११. यदुनाथ सरकार (१९३४)—फ़ाल ऑफ़ दि मुगल एम्पायर (मुगल साम्राज्य का पतन) जि० २ पृ० ३२३—३२५।

पानीपत के बाद महाराष्ट्र के नेता द्युप्ले और दि बुसी के दिये हुए सबक को और उनकी युद्धशैली को सीखने की बात को बिलकुल ही भूल गये। बीस बरस बाद जब पहले अंग्रेजी युद्ध में उन्हें फिर वैसी ही ठोकरें लगीं तब फिर वे आँखें मल कर उठे, और महादजी शिन्दे ने फ्रांसीसी सेनानायकों को सेवा में रख कर जल्दी जल्दी बन्दूकची पाँतें खड़ी करना शुरू किया। इस बीस बरस की अवधि में नवाब मीर कासिम और हैदरअली का ध्यान भी इस नई युद्धशैली की ओर गया। हैदर-अली पहला हिन्दुस्तानी नेता था जिसने स्वयं इसका मनन करके काफी सफलता के साथ प्रयोग किया। लेकिन महाराष्ट्र नेताओं को अब भी यह नहीं सूझता कि इस नई विद्या की जड़ तक प्रवेश कर इसपर पूरा अधिकार पा लें, जिससे स्वयं इसका प्रयोग कर सकें। और, चूँकि वे इसकी जड़ तक नहीं पैठते इसलिए वे यह भी नहीं देख पाते कि इस नई युद्ध-पद्धति के साथ सेना के और उसके साथ-साथ शासन के भी नये संघटन की आवश्यकता थी। उनका ध्यान केवल नई कवायद की ओर जाता है, और जिन विदेशी सेनानायकों को वे अपनी सेवा में लेते हैं उन्हें केवल कवायद सिखाने का और सेना के नेतृत्व का काम ही नहीं सौंपते, प्रत्युत पुरानी सामन्त-शासन-प्रणाली के अनुसार सेना खड़ी करने और रखने का पूरा दायित्व और उस दायित्व को निबाहने के लिए अपने राज्य में बड़ी बड़ी जागीरें भी दे देते हैं, जिससे राज्य की करने न करने की सब शक्ति उन विदेशियों के हाथ चली जाती है। वे फ्रांसीसी नायकों को अपनी सेना सौंप कर स्वयं उनपर निर्भर हो जाते हैं। फल यह होता है कि मौका आने पर जब वे विदेशी नौकर धोखा देते हैं, तब मराठों की सेनाएँ बिना नेता के रह जातीं और मराठा राजनेता अंग्रेजों के मुकाबले में हतप्रतिभ और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो कर बात की बात में अपना देश और अपनी स्वतन्त्रता हार बैठते हैं।

जागरूक और स्पष्टदर्शी अंग्रेज मराठों की इस पिनकभरी चाल से मन ही मन खुश थे, क्योंकि वे जानते थे कि इससे उनमें स्वयं जो कुछ

आरम्भण शक्ति या करने न करने की क्षमता है, वह भी दब जायगी। वे न नई शैली से लड़ सकेंगे और न अपनी पुरानी शैली का ही उपयोग कर पायेंगे, और अपने इस मस्तिष्क-विभ्रम से ही मुँह के बल गिरेंगे। इसीलिए जब महादजी ने नये ढंग की सेनाएँ खड़ी करनी शुरू कीं तब वारेन-हेस्टिंग्स ने कहा कि इन्हीं से इनका पतन होगा। टामस मुनरो का कहना था कि इन्हें "एक सी वर्दी पहना कर कवायद क्या कराई जाती है मानो सजा कर कुर्बानी के लिए ले जाया जाता है।"[१२]

शिन्दे की स्वतन्त्र सेना इसके बाद सन् १८४३ तक बनी रही, और नेपाल और पंजाब के स्वतंत्र राज्यों में भी नई शैली की सेनाएँ खड़ी हुईं। इन सेनाओं के इतिहास का तफसीलवार अध्ययन इस दृष्टि से मनोरंजक होगा कि अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों के भारतीयों ने एक नये विचार और नई पद्धति को अपनाने की क्षमता कहाँ तक दिखाई और किन कारणों से वे इन नई सेनाओं का नेतृत्व करने में या इस नये सेना-हथियार को खुल कर चलाने में सफल न हुए।[१३]

जो भी हो, यह स्पष्ट है कि सन् १७४१ से १७९८ तक मराठा साम्राज्य के राजनेताओं के सामने, और उसके बाद भी सन् १८४६ तक भारत के कई भागों के राजनेताओं के सामने, युरोपी मुकाबले की विकट समस्या बराबर बनी रही, और वे फ्रांसीसियों या अंग्रेजों की हिन्दुस्तानी सेनाओं को देख-देख कर काँपते रहे। युरोपियों के नये सेना-संघटन में ऐसी कोई असाधारण या कठिन बात न थी जिसे वे थोड़ी सी चेष्टा से सीख न सकते। यदि वे साधारण मनुष्यों की तरह सोचते होते तो बड़ी आसानी से उन्हें यह सूझ गया होता कि हमें इस नई युद्धशैली से डरने के बजाय इसे जल्द से जल्द अपना लेना चाहिए।

दूसरी बात जो उन्हें बड़ी आसानी से दिखाई दे सकती और सूझ सकती थी वह यह कि अंग्रेजों की सेना सब हमारे ही देश-भाइयों की बनी

१२. वामनदास वसु (१९२०)—पूर्वोक्त पृ० २८७-२८८।

१३. दे० नव-परिशिष्ट ६।

है और हमें उसे समझा-बुझा कर फोड़ लेना या अपनी तरफ मिला लेना चाहिए। सन् १७९८ तक भारत की प्रमुख शक्ति मराठा साम्राज्य थी और अंग्रेज़ों की शक्ति उससे दूसरे दर्जे पर थी। मराठों का गुप्तचर-संघटन भी बहुत अच्छा था। नाना फडनीस को बम्बई और कलकत्ते की कौंसिलों की कुल कार्रवाई का पता रहता था।[१४] इस दशा में वे यदि केवल साधारण मनुष्य की तरह देखते-सोचते होते तो यह बात उन्हें पहले ही दिन सूझ गई होती कि अंग्रेज़ों की भारतीय सेना को हमें अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए, और अपने शत्रु के उस हथियार को उन्होंने आसानी से निकम्मा कर दिया होता। मराठा साम्राज्य के पतन के बाद भी भारत के बचे हुए स्वतन्त्र या अर्ध-स्वतंत्र अंशों के लिए और भारत के लोगों के लिए साधारण और स्वाभाविक मार्ग यह था कि वे ऐसी चेष्टा करते। लेकिन सन् १८५५-५६ से पहले एकाध अपवाद को छोड़ कर किसी भारतीय राजनेता को यह अत्यन्त स्पष्ट बात भी दिखाई नहीं दी। सच बात तो यह है कि हमारे अठारहवीं शताब्दी के पुरखों को इसमें अपनी मनुष्यता का अपमान लगना चाहिए था कि विदेशी आ कर हमारे देश में हमारे ही मानव साधनों से एक हथियार बना लें और हम उसे देख कर बूढ़ी औरतों की तरह डरते-काँपते रहें! यदि वे साधारण मानव की दृष्टि से देखते-सोचते होते तो इस लाञ्छना को तुरन्त अनुभव करते और विदेशियों की इस चेष्टा को हिमाकत मान कर मर्द की तरह इसका प्रतिकार करने में जुट जाते।

§८. भारतीय राजनेताओं की विचारहीन राजनीति

तीसरी बात जो अठारहवीं शताब्दी के भारतीय राजनेताओं को दिखाई दे सकती और देनी चाहिए थी, वह थी भारतीय और अंग्रेज़ी शासनपद्धति के अन्तर की। हमने देखा कि बम्बई और कलकत्ते की अंग्रेज़ी कौंसिलों की कार्यप्रणाली नाना फडनीस के सामने थी। दूसरी

१४. गो० स० सरदेसाई (१९२६)—पूर्वोक्त पृ० १७०।

तरफ महाराष्ट्र का शासन-यंत्र था जिसके पुर्जों की एक भी गति कठिन संघर्ष के बिना न होती थी, और जिसमें प्रत्येक उत्तराधिकार के प्रश्न से राष्ट्र को बरसों के लिए गठिया मार जाता था। अपनी परिस्थिति और अपने इतिहास पर थोड़ा सा भी विचार करने से मराठे अपनी इस कमज़ोरी को पहचान सकते और दूर कर सकते थे। लेकिन वे अपनी परिस्थिति को देखते ही न थे। उनकी दृष्टि साधारण मनुष्य की नहीं रही थी। वह अपनी ही कल्पना की उपज में उलझी हुई थी।

अपने इतिहास और अपने चारों तरफ की स्थिति को देख-समझ कर उससे प्राप्त विचारों के अनुसार अपने राजनीतिक आर्थिक सामाजिक जीवन को चलाना प्रत्येक जीवित स्वस्थ राष्ट्र का साधारण कृत्य है। सोलहवीं-सत्रहवीं-अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों में भारतीय राष्ट्र अपने इस साधारण जीवन-कृत्य को नहीं निबाहता रहा। इतिहास की परम्परा में वस्तुओं को देखने से मनुष्यों के कार्यों का दीर्घकालीन प्रभाव हमारे सामने आता है और हमें भी ऐसे कार्य और ऐसे उपाय करने की सूझती है जिनका फल चाहे देर में निकले पर टिकाऊ हो। इसी का नाम दूरदर्शिता है। पर जिन लोगों को लम्बे सिलसिले में वस्तुओं और घटनाओं को देखने की आदत नहीं रहती उनके सामने कोई समस्या आने पर उसे सुलझाने के लिए कोई चिरपाकी उपाय करने की सूझ और हिम्मत भी उन्हें नहीं होती, वे कामचलाऊ अदूरदर्शी उपायों से ही सन्तोष मान लेते हैं। वैदिक काल से गुप्त युग तक के भारतीय नई जातियों के संसर्ग में आने पर उनकी बोलियों को अपनी लिपि में लिखने की चेष्टा करते रहे। उनकी उन चेष्टाओं का फल शताब्दियों बाद जा कर निकलता, तो भी उन्हें वैसी चेष्टा करने में कभी झिझक नहीं हुई। उनमें सच्ची हिम्मत और दूरदर्शिता थी और उस दूरदर्शिता के फल आज भी जीवित हैं। अर्वाचीन काल के भारतीयों को युरोपी सेना-संघटन और राज्य-संघटन के मुकाबले की समस्या आज साढ़े चार सदियों से सता रही है। यदि वे ज़रा दूरदर्शिता से सोच कर उचित उपाय करते

तो तीस चालीस बरस में इसे स्थायी रूप से सुलझा सकते। लेकिन इतनी दूर की बात सोचने की भी उन्होंने कभी हिम्मत नहीं की! मानो दूर की बात देखने-सोचने की उन्हें आदत ही नहीं रही।

ऐसी दशा में हमारे जिन राजनेताओं को रोज़-रोज़ राष्ट्र की राजनीति का संचालन करना पड़ता वे क्या करते? अठारहवें शतक में महाराष्ट्र के लोग भारत में सबसे अधिक जागरूक और सचेष्ट, एवं महाराष्ट्र के नेता भारत की उच्चतम प्रतिभा और योग्यता के प्रतिनिधि थे। यह सच है कि राष्ट्र के जीवन को सुधारने और उन्नत करने को, उसकी त्रुटियों को दूर करने और उसे प्रगति के पथ में दुनिया के साथ-साथ चलता रखने को दूरदर्शिता के साथ जिन गहरे और चिरपाकी उपायों को करने की आवश्यकता थी उन्हें इन नेताओं ने नहीं किया, तो भी हमें यह मानना होगा कि रोज़-रोज़ की राजनीति के संचालन में उन्होंने साधारणतया यथेष्ट योग्यता बुद्धिमत्ता और उच्चाशयता का परिचय दिया। बाजीराव १म, माधवराव और नाना फड़नीस उस योग्यता बुद्धिमत्ता और उच्चाशयता के नमूने हैं। पर इस साधारण नियम के अपवाद भी हैं, और ऐसे अपवादों के उपस्थित हो जाने पर उनकी रोकथाम करने का कोई उपाय हमारी राज्यसंस्था में नहीं था। सन् १७४० से भारत और युरोप के इतिहास में गहरे परिवर्तनों की अत्यन्त मार्मिक युगसन्धि उपस्थित होती है। ठीक उसी समय भारत के प्रमुख भाग का शासन-सूत्र बालाजीराव पेशवा के हाथ आता है। बालाजी बुद्धिमान् चरित्रवान् दृढ निश्चय और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति था। शासन-प्रबन्ध में वह बहुत योग्य था; उसका पिता बाजीराव उस अंश में कोरा था। पर शासन-प्रबन्ध एक वस्तु है और राष्ट्र की नीति का निर्धारण और संचालन बिलकुल दूसरी। जिस सहज उच्चाशयता से बाजीराव अपने ठीक नीति-मार्ग को देख लेता था, वह उच्चाशयता—वह महापुरुषत्व—बालाजी में नहीं था। और अपनी परिस्थिति को न समझते या गलत समझते हुए उसने अपने राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्नों पर जो निर्णय किये उनमें

से एक एक बुद्धिहीनता का ज्वलन्त उदाहरण है।

बाजीराव १म ने पेशवाई लेते समय सारे भारत में साम्राज्य-स्थापना को अपना आदर्श बनाया था। उसने कहा था मुगल साम्राज्य समृद्ध और क्षीण है, उसकी जड़ पर चोट करने से शाखाएँ स्वयं गिर पड़ेंगी। गुजरात राजपूताने के बड़े अंश और मालवे और बुन्देलखंड पर उसके समय में मराठा आधिपत्य या प्रभाव स्थापित हो गया। लेकिन जब दिल्ली पर चोट करने का समय आया और बादशाह और उसके हिन्दुस्तानी मुस्लिम सरदारों ने सन्धि की बातचीत शुरू की, तब बाजीराव ने देखा कि बादशाह की गद्दी को नष्ट करने में लाभ नहीं है। तब से मराठा सरकार की नीति यह रही कि मुगल दरबार को भीतर से काबू करके उसके नाम पर शासन किया जाय।

बालाजीराव के पेशवा बनने के तुरत बाद तमिळनाड और बंगाल पर चढ़ाइयाँ की गईं। सन् १७५२-५३ तक गुजरात से उड़ीसा तक पूरी तरह मराठा शासन स्थापित हो चुका और बंगाल बिहार में मराठों की चौथ नियत हो चुकी थी। इसी साल वज़ीर सफदरजंग ने सन्धि करके दिल्ली साम्राज्य की पूरी शक्ति और उसकी रक्षा का भार मराठों को सौंप दिया। लेकिन इसी अवधि में बिलकुल नई परिस्थिति खड़ी हो चुकी थी।

बाजीराव ने राजपूताना मालवा और बुन्देलखंड की प्रजा और राजाओं की सहानुभूति और सहयोग से उन प्रान्तों पर अपना प्रभाव और आधिपत्य स्थापित किया था। बालाजीराव ने राजपूताने के भीतरी झगड़ों में उलझते हुए तुरत के आर्थिक लाभ को ही अपना मुख्य ध्येय माना और इस तरह मामलों का निपटारा किया कि उसके शासन के पहले दस बरसों में राजपूत मराठों से ऊब गये। यह तो भीतरी बात थी, पर इसी बीच साम्राज्य के उत्तरपच्छिमी छोर पर पठानों की और दक्खिनपूरबी छोर पर युरोपियों की समस्या उठ खड़ी हुई थी। यदि बालाजीराव इन समस्याओं को सुलझा सकता तो भारत का साम्राज्य तो

उसकी मुट्ठी में आया हुआ था।

सफदरजंग की सलाह से बादशाह ने पेशवा को साम्राज्य की पूरी शक्ति और जिम्मेदारी जो सौंपी थी सो पठान समस्या के ही कारण। नादिरशाह ने दिल्ली साम्राज्य का पंजाब प्रान्त अपने हाथ में रख लिया था। नादिर का उत्तराधिकारी उसका पठान सेनापति अहमद अब्दाली भी पंजाब छोड़ने को तैयार न था। उत्तर भारत में पठानों की अनेक बस्तियाँ लोदी और सूर सुलतानों के समय की और बाद की थीं। बाबर और हुमायूँ के समय से "मुगल" साम्राज्य के खिलाफ पठानों की कशमकश बराबर चली आती थी। अब्दाली के उदय से उत्तर भारत की पठान बस्तियों में यह हलचल मच गई कि मुगल साम्राज्य को तोड़ कर अब फिर से पठान साम्राज्य खड़ा होगा। बालाजीराव या तो पठानों से समझौता कर सकता था या उनका दमन। यदि उसे उनके दमन के सिवाय कोई चारा दिखाई नहीं देता था तो उसे उत्तर भारत की सब शक्ति उनके खिलाफ संघटित करनी चाहिए थी। राजपूताने और ब्रज के राजाओं की तथा दिल्ली साम्राज्य की भी बची-खुची सैनिक शक्ति पठानों के खिलाफ जुटाई जा सकती थी। लेकिन अगले दो बरसों में दिल्ली के मामलों में भी बालाजीराव ठीक वही क्षुद्राशयता दिखलाता है जो उसने राजपूताने में दिखाई थी। सफदरजंग के बजाय वह एक कमीने नौजवान इमादुल्मुल्क को दिल्ली का वज़ीर बना कर खड़ा करता है, और दिल्ली साम्राज्य की सैनिक शक्ति को जानबूझ कर घरेलू झगड़ों में, जिन्हें वह आसानी से रोक सकता था, नष्ट होने देता है। सफदरजंग के प्रति उसके बर्त्ताव से दुनिया देख लेती है कि मराठा सरकार की मैत्री में कितना पानी है! सफदर अवध का नवाब था, उसका और ब्रज के राजा सूरजमल का इलाका रुहेलखंड फर्रुखाबाद के पठानों को दोनों तरफ से घेरे हुए था। लेकिन बालाजी अवध और ब्रज की मैत्री को ठीक उस समय गँवा देता है जब कि पठानों की समस्या उसके सिर पर मँडरा रही थी और उनसे समझौता करने का कोई विचार उसके दिमाग में न था।

दक्खिन में निजाम-राज्य का संस्थापक गाजिउद्दीन निज़ामुल्मुल्क मराठों के रास्ते का मुख्य काँटा था। सन् १७४८ में उसकी मृत्यु होने पर ऐसा दिखाई देता है कि समूचा दक्खिन अब मराठा साम्राज्य में दो-चार बरस में ही समा जायगा। लेकिन ठीक उसी वक्त फ्रांसीसी उसके उत्तराधिकार के झगड़ों में दखल दे कर एक नई शक्ति के रूप में उठ खड़े होते और उनकी देखादेखी अंग्रेज़ भी सिर उठाते हैं। पाँच वर्ष के युद्ध के बाद नवम्बर १७५२ में नया निज़ाम सलाबतजंग पेशवा से भालकी में सन्धि करता है। पर इस बीच हैदराबाद में फ्रांसीसी प्रभाव स्थापित हो चुका और बालाजीराव उसकी थोड़ी बहुत रोकथाम कर पाया था। तमिळनाड में जिंजी का किला फ्रांसीसियों के हाथ तथा आरकाट और तिरुचिराप्पल्ली अंग्रेज़ों के हाथ जा चुके और मैदान में दोनों का युद्ध जारी था। मैसूरी सेनापति नन्दिराज और गुत्ती का मराठा सरदार मुरारीराव घोरपदे पहले अंग्रेज़ों के कठपुतली नवाब मुहम्मद-अली का साथ देते रहे थे—इस ख्याल से कि उसका प्रतिपक्षी चन्दा-साहब योग्य शासक था और यदि वह आरकाट का अर्थात् तमिळ देश का नवाब बनता तो उन्हें दबा कर रखता। लेकिन बाद में मुहम्मदअली और अंग्रेज़ों की दगाबाजी देख वे अब उनके विरुद्ध लड़ रहे थे।

इसके बाद सन् १७५३ में निजाम आन्ध्र तट के चार उत्तरी सरकार (ज़िले) फ्रांसीसी कम्पनी को जागीर रूप में देता है। १७५४ में फ्रांसीसी कम्पनी युद्ध से ऊब कर दुप्ले को वापिस बुला लेती और अंग्रेज़ों का तमिळनाड पर प्रभुत्व मान लेती है। तो भी हैदराबाद में फ्रांसीसी सेना-पति दि बुसी सर्वेसर्वा था और आन्ध्र तट के चार ज़िले फ्रांसीसियों के हाथ में थे ही।

बालाजीराव यदि फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों के अभिप्रायों और शक्ति को ठीक-ठीक समझता तो उसे यह फैसला करना चाहिए था कि उन दोनों को भारत से निकालना उसका पहला कर्त्तव्य था और इस काम के लिए उसे मैसूर आदि सब छोटे-छोटे दक्खिनी राज्यों का सहयोग

लेना चाहिए था। लेकिन उसने सोचा कि वह फ्रांसीसियों के खिलाफ अंग्रेजों का उपयोग कर सकता है। यही नहीं अपने अन्य कार्यों के लिए भी अंग्रेजी सहायता का "उपयोग" उसने किया। और यों जब कि आन्ध्र और तमिळ मैदानों में फ्रांसीसी और अंग्रेज अपने पैर जमा रहे थे और उत्तर भारत पर पठान आतंक मँडरा रहा था, ठीक उसी समय उसके दिमाग में यह समाता है कि मुगल साम्राज्य की जड़ पर चोट लग चुकी है, केवल उसकी शाखाएँ बटोरना बाकी है, और इस ख्याल से सन् १७५४ में वह मैसूर आदि दक्खिन के छोटे राज्यों के खिलाफ अपनी चढ़ाई शुरू करता जो तीन साल तक जारी रहती है! उत्तर और दक्खिन भारत की कुल भारतीय रियासतों को यों वह ऐसे समय अपना दुश्मन बना लेता है जब उनमें से एक-एक की सहायता की उसे ज़रूरत थी!

लेकिन सन् १७५६ में अपनी घरेलू राजनीति में अपने सयानेपन का जो परिचय वह देता है वह तो एकदम लाजवाब था। बालाजीराव के दादा पहले पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने जिन सामन्त स्तम्भों पर नये मराठा राज्य को खड़ा किया था उनमें से एक था मराठा राज्य का जलसेनापति कोंकणी सरदार कान्होजी आंग्रे। १७१७–१६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उसे कुचलने की कोशिश की थी, लेकिन उसके विजय-दुर्ग और खंडेरी गढ़ों से कम्पनी का बेड़ा हार कर लौटा था। तब कम्पनी ने अपने बादशाह से सहायता माँगी और विलायत से जंगी बेड़ा आने पर १७२२-२३ में गोवा और बसई के पुर्तगाली गवर्नरों से भी सहायता पा कर आंग्रे के कोलाबा गढ़ पर चढ़ाई की थी, लेकिन फिर बेकार। अगले बरस विजयदुर्ग पर ओलंदेज बेड़ा भी उसी तरह हारा था। सन् १७२६ में कान्होजी आंग्रे की मृत्यु होने पर उसके बेटों के झगड़ों में पुर्तगालियों ने दखल देना चाहा और उसी सिलसिले में बाजीराव ने उस ओर ध्यान दिया था। उसी मामले का अन्तिम फल यह हुआ था कि दमन से बसई तक उत्तरी कोंकण का जो साठ-बासठ मील लम्बा फीता दो शताब्दियों से पुर्तगालियों ने दबा रक्खा था, और जिससे उन्हें बहादुरशाह गुजराती

और अकबर बहुत चाहते हुए भी न निकाल सके थे, उससे १७३७–३६ में बाजीराव ने उन्हें निकाल बाहर किया। अब आंग्रे भाइयों में से एक तुलाजी ने विद्रोह किया तो बालाजीराव ने अपने उस प्रजाजन के खिलाफ भी अंग्रेजों से मदद ली! और तैंतीस बरस पहले तक जिस आंग्रे से अंग्रेज सदा हारते रहे थे, उसके मराठा बेड़े को मराठा राज्य के पेशवा ने क्लाइव और वाटसन द्वारा अब खुद डुबवा दिया! आंग्रे के विजयदुर्ग पर अंग्रेजी झंडा फहराने लगा (१२-४-१७५६)।

इस घटना से दो दिन पहले बंगाल के बूढ़े नवाब अलीवर्दीखाँ का देहान्त हुआ और उसका दोहता सिराजुद्दौला उत्तराधिकारी बना था। अंग्रेज उसके खिलाफ पहले से ही षड्यंत्र कर रहे थे, अब वे कलकत्ते का किला बढ़ाने लगे। उसके आगे क्या हुआ सो सुविदित कहानी है। पर उसके दो अंश उतने विदित नहीं हैं। एक तो यह कि चन्द्रनगर के फ्रांसीसी सिराजुद्दौला की मदद को तैयार थे, इसलिए बालाजीराव ने अंग्रेजों की मदद करने और दि-बुसी को बंगाल जाने से रोके रखने में अपना सारा ध्यान लगा दिया था। दूसरे, बालाजी की उत्तर भारत की गलत नीति के कारण सन् १७५६-५७ के जाड़े में अब्दाली की जो दिल्ली-मथुरा पर चढ़ाई हुई, उसके आतंक से पूरा लाभ उठा कर क्लाइव ने सिराजुद्दौला को समझौते की बातों में रख कर चन्द्रनगर पर कब्जा कर लिया था (२३-३-१७५७)।

अब्दाली की उस चढ़ाई की ओर अब हम ध्यान दें। जिस बे-पेंदी के लोटे इमादुलमुल्क को बालाजीराव ने दिल्ली का वज़ीर बनवाया था, उसने जनवरी १७५६ में पंजाब में दखल दे कर अब्दाली के सूबेदार को वहाँ से निकाल दिया। फल-स्वरूप उस साल के अन्त में अब्दाली ने चढ़ाई की और पंजाब को ले कर जनवरी १७५७ में वह दिल्ली की ओर बढ़ा। इमाद ने ब्रज से और अवध से सहायता माँगी; सब बेकार। मराठा सेना सब दक्खिन की चढ़ाई पर जा चुकी थी, एक अन्ताजी माणकेश्वर ग्वालियर से २ हजार की टुकड़ी ले इमाद की मदद को

आया। अब्दाली के नज़दीक आने पर रोहेले उससे जा मिले और कायर इमाद ने भी चुपके से उसकी छावनी में जा आत्मसमर्पण कर दिया। बहादुरी से लड़ते और शत्रु की पाँतों में से रास्ता काटते हुए अन्ताजी मथुरा पहुँचा, जहाँ उसने ब्रज के राजा सूरजमल से कहा, आओ मिल कर लड़ें। पर सूरज तैयार न हुआ और अब्दाली ब्रज की ओर बढ़ा तो सूरज कुम्भेरगढ़ में जा छिपा। उसके बेटे जवाहरसिंह ने मैदान में लड़ कर उस कलंक को कुछ धोया। अब्दाली ने ब्रज में घुसते ही खुली लूट और कत्ले-आम का हुक्म दे दिया। २१ मार्च को अफगान हरावल आगरे पहुँची तो किले की तोपों ने मुकाबला किया। तभी सड़ती हुई लाशों के कारण अफगान सेना में हैजा फैला और अब्दाली ने एकाएक वापसी का हुक्म दिया। नजीबखाँ रोहेले को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियत कर और पंजाब का बन्दोबस्त कर वह वापिस चला गया।

दिल्ली और ब्रज पर जब यह बीत रही थी, तब पेशवा अपनी दक्खिनी चढ़ाई में लगा हुआ था! अब्दाली का पंजाब लेना सुन उसने अपने भाई रघुनाथराव और मल्हार होलकर को उत्तर भेजा, पर स्वयं कर्णाटक की चढ़ाई जारी रक्खी। रघुनाथ १४ फरवरी को इन्दौर पहुँचा, पर उसे सामान जुटाते समय लग गया, और मई में मराठा हरावल आगरे पहुँची तो अब्दाली को वहाँ से लौटे डेढ़ मास हो चुका था। १६ जून को पेशवा भी पूना लौटा। उसके एक हफ्ते बाद पलाशी की लड़ाई हुई (२३-६-१७५७) और बंगाल-बिहार अंग्रेजों के हाथ चले गये।

यह उल्लेखयोग्य है कि रघुनाथराव ने और बाद में उसके चचेरे भाई सदाशिवराव ने राजस्थान ब्रज और अवध के शासकों को समझाने-मनाने की पूरी कोशिश की। समकालीन कागज़ों की नई खोज से यह बात गलत सिद्ध हुई है कि सदाशिवराव भाऊ के अभिमानी वर्त्ताव से खीझ कर राजस्थान और ब्रज के राजा मराठों से अलग हो गये थे। कहना होगा कि इस अंश में मराठा नेताओं ने अपनी गलती किसी कदर पहचान ली और उसे दूर करने की कोशिश भी की। पर यदि राजस्थान के सरदारों

में इसके बावजूद भी वे यथेष्ट उत्साह न जगा सके तो इसमें मराठों के पुराने बर्ताव की याद भी एक कारण हुई होगी।

रघुनाथराव ने रोहेलों से गंगा-जमना दोआब वापिस ले लिया और नजीबखाँ ने उससे सन्धि करके दिल्ली छोड़ दी (६-६-१७५७)। नजीब ने यह भी कहा कि कहो तो मैं अब्दाली के पास जाऊँ और सीमाएँ निश्चित कर के स्थायी सन्धि करा दूँ। लेकिन रघुनाथ ने इस ओर ध्यान न दिया और अगले बरस लाहौर और मुलतान भी ले लिये।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। नजीब ने जब सन्धि का प्रस्ताव किया तब पलाशी की लड़ाई को हुए और भारत के दो बड़े प्रान्तों को अंग्रेजों के हाथ में गये अढ़ाई मास बीत चुके थे। आन्ध्र तट के चार जिले चार बरस से फ्रांसीसियों के हाथ में थे, तमिळनाड में फिरंगी सोलह बरस से दस्तन्दाजी कर रहे थे (१७५४ में वहाँ अंग्रेजी प्रभुत्व माना जा चुका, पर १७५७ में फ्रांसीसियों ने फिर लड़ाई छेड़ दी थी)। एक तरफ यह समस्या थी, दूसरी तरफ उत्तर भारत की पठान समस्या थी। पठान अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की तरह सात समुद्र पार के विदेशी न थे, वे वैदिक काल से इसी देश के निवासी थे। पन्द्रहवीं-सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों में उनके अनेक फिरके उत्तर और दक्खिन भारत में—बिहार बंगाल तक और कृष्णा के काठे तक—आ बसे थे। इन बस्तियों में उन्होंने स्थानीय प्रजा के साथ अच्छा मेल-जोल पैदा कर लिया था, रुहेलखंड में उनकी प्रजा खुशहाल थी, कश्मीर के सिवाय कहीं भी उनका शासन प्रजापीडक नहीं रहा। सन् १७४५ में दरभंगे की पठान बस्ती के ही निमन्त्रण और सहयोग से रघुजी भोंसले ने बंगाल-बिहार पर चढ़ाई की थी। उत्तर भारत का सब से योग्य मराठा सेनापति मल्हार होलकर रुहेलखंड के रोहेलों के मुखिया नजीबखाँ को अपना बेटा कहता और मानता था। वही नजीबखाँ अब स्थायी सन्धि का प्रस्ताव कर रहा था। उसके नेता अहमदशाह अब्दाली का रुख भी बराबर समझौते का था। अब्दाली को निरा लुटेरा कहना इतिहास के अज्ञान

में की जाने वाली भूल है। उसने जितनी चढ़ाइयाँ कीं सब पंजाब पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए। केवल लूट की इच्छा को उसकी एक भी चढ़ाई का प्रयोजन नहीं कहा जा सकता। मराठा शक्ति की वह इज्जत करता और उससे समझौता चाहता था। पानीपत की लड़ाई के बाद भी उसने पेशवा के बेटे और चचेरे भाई (सदाशिवराव) की मृत्यु के लिए अफसोस करने और पेशवा को मनाने के लिए अपना दूत भेजा था।

ऐसी दशा में पठानों के समझौते के प्रस्ताव पर कान न देना और बंगाल-बिहार आन्ध्र और तमिळनाड में उठते हुए संकट को न देखना कहाँ की अक्लमन्दी थी? वह घातक भूल थी, निरा अन्धापन था। यदि इस समय बालाजीराव अब्दाली से समझौता कर लेता तो न केवल अपनी एक बड़ी समस्या को वह सुलझा लेता, प्रत्युत बंगाल पर चढ़ाई करने के लिए उत्तर भारत की पठान बस्तियों का उत्साहपूर्ण सहयोग भी शायद उसे मिल जाता। यों वह अपनी दोनों मुख्य समस्याओं को सुलझा सकता। पर इस बढ़िया अवसर को वह हाथ से जाने देता है, इसकी ओर ध्यान भी नहीं देता!

अगले दो बरसों (१७५८-५६) में उसे हठात् अंग्रेज़ों से सशंक होना पड़ता है। १७५८ में अंग्रेज उसे जंजीरा के सिद्दियों के खिलाफ माँगने पर भी मदद नहीं देते और १७५६ में उसका सूरत का कोटला धोखे से हथिया लेते हैं। तभी कर्नल फोर्ड आन्ध्र तट जीत लेता और आयर कूट वान्दिवाश पर दि बुसी को कैद कर लेता है। बालाजी तब फ्रांसीसियों की मदद से अंग्रेज़ों को निकालने की सोचने लगता है। सितम्बर १७६० में कूट पुद्दुचेरी में लाली को जा घेरता है तो लाली पेशवा से मदद माँगता है। उस मदद के बदले में वह जिंजी का किला जो तब तक फ्रांसीसियों के हाथ में था, देने को तैयार था। उधर अगस्त १७६० में सदाशिवराव के दिल्ली वापिस ले लेने के बाद से अब्दाली भी समझौते की बात कर रहा था। यों १७६० की शरद् ऋतु में बालाजी के हाथ एक तरफ पठान समस्या को सुलझा लेने और दूसरी तरफ

तमिळनाड में दखल दे कर युरोपी शक्ति को कुचल देने का फिर सुनहरा अवसर आया था। पर वह इस अवसर को भी नहीं देखता और अपना रास्ता नहीं बदलता !

जहाँ तक मराठों और पठानों का प्रश्न था, पानीपत से उसका कोई निर्णय नहीं होता। या यों कहना चाहिए कि पानीपत की जीत से भी अब्दाली को कुछ मिलता नहीं; मराठों की प्रत्यक्ष क्षति अल्पकालीन ही होती है। अब्दाली के जीवन-काल में ही सिक्ख पंजाब ले लेते हैं, मराठे फिर उत्तर भारत पर छा जाते हैं। पानीपत से यदि किसी को लाभ होता है तो अंग्रेज़ों को, उन्हें बंगाल-बिहार में अपने भलीभाँति पैर जमा लेने का और आन्ध्र तमिळनाड से अपने प्रतिद्वन्द्वियों की सफाई करने का मौका मिल जाता है। इस दृष्टि से पानीपत की लड़ाई भारत के लिए सत्यानाशी होती है। भारत अपने इस दुर्भाग्य से बच सकता यदि उसके नेता अपनी परिस्थिति को देख-समझ कर चले होते।

यों हमने देखा कि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में युरोपीयों के मुकाबले में भारतीयों ने जो चरित्र-दुर्बलता दिखाई, अठारहवीं-उन्नीसवीं में वह और भी दयनीय रूप में प्रकट हुई। इसको ध्यान में रखते हुए अब हमें सत्रहवीं शताब्दी के पुनरुत्थान का मूल्य फिर आँकना है।

§९. हिन्दू पुनरुत्थान की सफलता और विफलता

शिवाजी के चरित से भारतीय इतिहास का—या कम से कम महाराष्ट्र बुंदेलखण्ड ब्रज पंजाब और नेपाल के इतिहास का—जो नया अध्याय शुरू होता है, उसकी हम पहले की अवस्थाओं से तुलना करते हैं, तो स्पष्ट पुनरुत्थान देखते हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के हिन्दू धर्मशास्त्र-कारों—हेमाद्रि, नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट—ने नैष्ठिक हिन्दू की वार्षिक चर्या के लिए लगभग २००० व्रतों पूजाओं का विधान किया है। इस प्रकार का धर्म केवल निठल्ले लोगों के लिए हो सकता था और ऐसे क्रिया-कलाप में जिस जाति का मस्तिष्क उलझ गया हो वह दुनिया के

संघर्ष में टिक नहीं सकती थी। १५वीं-१६वीं शताब्दियों के सन्त सुधारकों ने इस स्थिति को बहुत कुछ बदल दिया। और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में जो हिन्दू केवल रक्षापरक लड़ाइयाँ लड़ते थे, शिवाजी के समय से वे आक्रान्ता और आगे बढ़ने वाले बन गये, यह हमने पहले ही देखा है। पर उस पुनरुत्थान की उपज जब युरोपियों के मुकाबले में आती है तब उसका थोथापन प्रकट होता है। उस पुनरुत्थान से प्रभावित लोगों में भी अपनी परिस्थिति को साधारण दृष्टि से देखने-समझने तक की क्षमता न थी—वे किसी पिनक में चूर से थे। फलतः यह कहना होगा कि उस पुनरुत्थान में जागरण का अभाव था। वह केवल धार्मिक संशोधन पर निर्भर था, और वह संशोधन भी जागरण के अभाव में उथला ही था। इसका एक परिणाम तो हमने यह देखा है कि इस युग के भारतीय अपनी और अपने चारों तरफ की अवस्था को देख-समझ नहीं सके, उसे जानने-समझने की उत्सुकता ही उनमें पैदा न होती रही।

§१०. हिन्दू सामाजिक संकीर्णता का जारी रहना

इसी का दूसरा परिणाम यह था कि कुछ अंश तक धार्मिक संशोधन होने के बावजूद भी उन्होंने अपनी सामाजिक प्रथाओं का विचारपूर्वक संशोधन नहीं किया। एक धर्म के रूप में इस्लाम के प्रति शिवाजी और उनकी मनोवृत्ति के लोगों ने उदार सहिष्णुता दिखाई और आदर का बर्ताव किया। परन्तु प्रत्येक हिन्दू अपने दैनिक जीवन में—अपने खाने-पीने उठने-बैठने में—अपने मुस्लिम देशभाई के साथ जो अस्पृश्य का सा बर्ताव करता है, वह बना रहा। इसी से यह पुनरुत्थान भारत को एक राष्ट्र न बना सका, और भारत के सामाजिक जीवन में जो समस्या मुसलमानों के आगमन से शुरू हुई थी उसे सुलझा न सका। हिन्दुओं की इस अपमानकारी संकीर्णता की मूर्त प्रतिक्रिया औरंगज़ेब और उसकी मनोवृत्ति के मुसलमान थे। हमने देखा है कि घटनाओं को तिथिक्रम से रख कर देखने से यह बात गलत सिद्ध होती है कि शिवाजी का चरित औरंगज़ेब

के कट्टरपन की प्रतिक्रिया थी। वास्तव में इससे उलटी बात सत्य है कि हिन्दुओं की पुनरुत्थान चेष्टा और उस चेष्टा के साथ साथ अपने पड़ोसी के प्रति अपमानकारी संकीर्णता के बर्ताव को जारी रखना मुसलमानों के कट्टरपन के भड़क उठने का कारण हुआ जिसका मूर्त रूप औरंगज़ेब का चरित था। अकबर के समय में भी हिन्दुओं का बर्ताव वैसा ही कुछ और मनुष्यताहीन था, लेकिन तब उनकी अपनी आकाङ्क्षाएँ भी ऊँची न थीं; वे स्वयं दबे हुए थे और मुगल राज से केवल अच्छे बर्ताव की आशा करते थे। उन्हें आसानी से सन्तुष्ट किया जा सकता और बेवकूफ़ समझ कर छोड़ा जा सकता था। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ जाग उठीं थीं, उन्हें अपने हाथ में राजशक्ति लिये बिना चैन न था, और उसके साथ ही वे अपने देशभाई के प्रति अमानुष बर्ताव जारी रक्खे हुए थे। इस दशा में जिनके हाथ में राजशक्ति थी उनका भड़क उठना स्वाभाविक था।

पर हम हिन्दुओं की संकीर्णता को उचित से अधिक दोष भी न दे डालें। मुसलमानों के प्रति जो उनका अस्पृश्यता का बर्ताव था वह बहुत कुछ एक जड़ पद्धति बन चुका था, और बिना सोचे-समझे ही वे उस पद्धति पर चलते जाते थे। इसीलिए उस बर्ताव के रहते हुए भी महाराष्ट्र बुंदेलखण्ड ब्रज और पंजाब के नये हिन्दू राज्यों में मुसलमानों को दबाने की कोई कोशिश कभी नहीं की गई, प्रत्युत उन्हें बराबर ऊँचे पद मिलते रहे, और उन राज्यों के नेताओं का अनेक मुस्लिम सरदारों के साथ भाई-चारे का बर्ताव रहा। यदि हिंदुओं का बर्ताव औरंगज़ेबी मनोवृत्ति को पैदा करने का कारण था, तो हमें यह भी न भूलना होगा कि भारत के अधिकांश मुसलमान उस मनोवृत्ति के न थे; और तो और औरंगज़ेब का अपना श्वसुर अपने भाई बेटी और बेटे ही उसकी नीति के सबसे बड़े विरोधी रहे। तो भी हमें यह मानना होगा कि औरंगज़ेब वाली मनोवृत्ति की धारा भी भारतीय मुसलमानों के एक न एक अंश में बराबर चलती रही, और उस धारा को दूर न कर सकना सत्रहवीं शताब्दी के हिन्दू

पुनरुत्थान की बड़ी विफलता थी। और इस विफलता का कारण भी वही है कि उस पुनरुत्थान में विचारपूर्वक चिन्तन या आत्मपर्यवेक्षण की प्रवृत्ति न थी; वह पुनरुत्थान गहरा न था।

§११. भारतीय इस्लाम का क्षीण होना

जहाँ हम हिन्दू पुनरुत्थान की इन कमियों को देखते हैं, वहाँ यह भी न भूलें कि सत्रहवीं शताब्दी का भारतीय मुसलमान हिन्दू से भी बढ़ कर सोया हुआ था। उसमें यदि वह ऊँची मनोवृत्ति महत्त्वाकांक्षा और उदाराशयता बनी होती जो अकबर में थी, और यदि वह भी उसी बेहोशी में न पड़ा होता जिसमें हिन्दू पड़ा था, तो वह युरोपी चुनौती की ओर ध्यान दे कर उसका सामना करने में लग जाता, और उस चुनौती की तुलना में अपने हिन्दू भाई के अपमानजनक बर्ताव को तुच्छ मूर्खता मान कर उस-पर हँस सकता। हमने देखा है कि औरंगज़ेब को फिरंगी चांचियों (जल-डाकुओं) के हाथों किस प्रकार बराबर लाञ्छनाएँ सहनी पड़ीं। उस अपमान को वह पीता गया और उसे बराबर देखते हुए भी अपनी हिन्दू प्रजा के साथ घातक घरेलू लड़ाई में उलझा रहा, इसी से प्रकट है कि अकबर वाली ऊँची मनोवृत्ति उसके वंशजों में क्षीण हो चुकी थी, और इस्लाम भी अब बुझा कारतूस बन चुका था। मुस्लिम और हिन्दू दोनों ही एक से सोये हुए थे; मुस्लिम की आगे बढ़ने की प्रेरणा ठंडी हो चुकी थी; हिन्दू में कुछ नई स्फूर्ति आई थी[१५] तो भी उसकी आँखें न खुली थीं।

§१२. सिक्ख इतिहास में वही बात

हिन्दू पुनरुत्थान की उक्त सफलता और विफलता सिक्ख इतिहास में भी पूरी तरह झलकती है। ग्यारहवीं शताब्दी से गुरु नानकदेव के उदय तक पंजाब की भूमि ने एक भी उल्लेखयोग्य महापुरुष को जन्म नहीं

---

१५. दे० नव-परिशिष्ट ४।

दिया। इस बाँझ युग की तुलना हम सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी से करते हैं तो सिक्ख पुनरुत्थान की सफलता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। लेकिन अंग्रेज़ों के मुकाबले में उस पुनरुत्थान की विफलता भी स्पष्ट है। उस उत्थान के बावजूद सिक्खों की आँखें इतनी नहीं खुलतीं कि वे अपने चारों तरफ की दुनिया को ठीक देख-समझ सकें। अपने पड़ोस के जिन 'पूरबियों' से सिक्ख कभी सम्बन्ध स्थापित न कर सके; सात समुद्र पार से आये अंग्रेज़ों ने उनकी फौज खड़ी कर उससे उन्हें जीत लिया! अपने ही प्रान्त के मुसलमानों को—जिनकी नसों में उन्हीं का खून बहता, जो उन्हीं की बोली बोलते और जन्म से मृत्यु तक उनके साथ रहते थे—सिक्ख अपने साथ मिला कर न रख सके; पर सुदूर विदेश के अंग्रेज़ों ने उन्हें दलबद्ध कर उनसे सिक्ख राज की मुश्कें बाँध दीं! यहाँ तक कि सिक्खों की राजधानी में बैठ कर अंग्रेज रेज़िडेंट ने उनकी महारानी को कैद कर बाहर भेज दिया और वे छटपटा कर रह गये! यदि सिक्ख जागरूक आँखों से अपने देश के भीतर और बाहर की हालत को देख सकते तो दुनिया की कौन शक्ति उन्हें हरा सकती थी? इंग्लैंड में व्यावसायिक क्रान्ति आरम्भ होने से ले कर रेलगाड़ी तार और आगबोट चलने तक पंजाब का सिक्ख राज्य स्वतंत्र था। सभ्य जगत् के इन नये हथियारों को वह स्वतंत्र रहते अपना लेता तो दुनिया की कौन शक्ति उसे गुलाम बना सकती थी? सभरावाँ की लड़ाई में सिक्खों की मोर्चाबन्दी का वर्णन करते हुए प्रत्यक्षदर्शी कनिंगहाम ने क्या ही पते के शब्द कहे हैं कि "हिम्मती दिल और मेहनती हाथ वहाँ बहुत थे, पर उन सब को राह दिखाने और अनुप्राणित करने वाला दिमाग वहाँ कोई न था।"[१६]

ये शब्द केवल सभरावाँ की लड़ाई पर नहीं, हिन्दू पुनरुत्थान के समूचे इतिहास पर ठीक घटते हैं। गुरु नानक ने पंजाबियों के दिमागों

---

१६. जोसफ़ डेवी कनिंगहाम (१८४९)—हिस्टरी ऑफ़ दि सिख्स (सिक्खों का इतिहास) पृ० ३२२।

को धार्मिक ढोंग और क्रिया-कलाप की उलझनों से मुक्त कर भक्ति के सरल मार्ग में डाल दिया; गुरु अर्जुन हरगोविन्द और गोविन्दसिंह ने उन सरल हृदयों में कर्मवीरता जगा दी; लेकिन ज्ञान की ज्योति ने उन सरल और कर्मठ सिक्खों के मार्ग को उज्ज्वल नहीं किया। इसी से सिक्खों की धार्मिक प्रेरणा उन्हें इतना ऊँचा उठा कर भी, उनमें परले दरजे की वीरता साहस और त्याग के भाव जगा कर भी, उन्हें स्वतन्त्र मनुष्य न बनाये रख सकी।

कनिंगहाम ने एक अकाली का उदाहरण दिया है जिसे उसने सतलज के काँठे से कीरतपुर की तरफ सड़क बनाते पाया था। उसका घरबार नहीं था, संसार से वह निर्लिप्त था। पर संसार छोड़ कर भी मनुष्य को कभी कर्म से विरत न होना चाहिए, सिक्ख धर्म की इस बुनियादी धारणा ने उसे उस पवित्र कीरतपुर की, जहाँ गुरु हरगोविन्द ने अपना अन्तिम जीवन बिताया था, सड़क बनाने को प्रेरित किया था। कनिंगहाम ने लिखा है[17] कि वह लोगों से मिलता न था, पर लोग उसके लिए सड़क पर ही खाना-कपड़ा छोड़ जाते थे। इस प्रकार के त्यागी कर्मनिष्ठ सच्चरित्र और वीर स्त्री-पुरुष सिक्ख सम्प्रदाय में बराबर पैदा होते रहे हैं और आज भी उनकी कमी नहीं हुई। काश कि उनकी कर्मनिष्ठा का क्षेत्र तीर्थस्थान की सड़क बनाने से अधिक व्यापक हो पाता! कीरतपुर के उस अकाली को मानो सूझता न था कि वह क्या करे। वह सूझ की और विचार की कमी हिन्दू पुनरुत्थान की कुल छोटी-बड़ी उपज में सन् १६४६ (शिवाजी के उत्थान) से १८४६ (सिक्खों के पतन) तक बराबर एक सी दिखाई देती है।

§ १३ भारतीय मोहनिद्रा की व्याख्या

हमने अभी तक पिछले युगों के केवल राजनीतिक इतिहास पर ध्यान दिया है। ज्ञान और विचार के इतिहास पर ध्यान देंगे तो देखेंगे कि

१७. वहीं, पृ० ११८।

भारतीय ज्ञान की प्रगति गुप्त युग के अन्त के लगभग आ कर बन्द हो गई। मुगल-मराठा युग के राजनीतिक इतिहास को हम विचार के इतिहास पर ध्यान दिये बिना समझ ही न पाते, इसलिए इस विषय की विवेचना यहीं करनी पड़ी। हमें यह कहना होगा कि गुप्त युग के अन्त में भारतीय ज्ञान और विचार जो सो गया, उसे मुगल-मराठा युग का पुनरुत्थान फिर जगा न सका। यही उस पुनरुत्थान की सब से बड़ी विफलता थी।

पिछली शताब्दी में युरोपीयों की दो-तीन हलकी-सी ठोकरें खाने के बाद पचास बरस के भीतर जापान में जैसा उद्बोधन हो गया वह हमारी आँखों के सामने है। जापानी इतिहास का वह सम्राट् मेइजी का युग इस दृष्टि से बड़े ही महत्त्व का है। हम भारतीयों के लिए शायद विदेशी इतिहास के और किसी अंश का अध्ययन उतने महत्त्व का नहीं है। जापान ५० बरस में जाग उठा, पर हम लोग सन् १५०९ से १८४९ तक बराबर ठोकरें खाते रहे, तो भी हमारी आँखें न खुलीं। हम सो गये थे इसमें कोई अचरज की बात न थी। पर इतनी ठोकरें खाने और अपना सर्वस्व गँवा देने पर भी हमारी आँखें नहीं खुलीं, यही अचम्भा है। हमारी नींद नींद नहीं थी, मोहनिद्रा थी। तमाम ठोकरों के बीच भी हम मानो अपने परलोकचिन्तन में और अपने गुड़ियों के खेलों में मगन रहे। ऐसी मनोवृत्ति भी कभी संभव है यह मानना कठिन होता यदि हम आज भी इसे नज़दीक से न देख रहे होते और इसके फलों को प्रतिदिन भोग न रहे होते।

आज भी हमारी वह मोहनिद्रा प्रायः ज्यों की त्यों बनी है, नहीं तो ३९ करोड़ आदमी गुलाम बने रह कर अपने को बूढ़ी औरतों या बच्चों की तरह असहाय क्यों मानते और अपने बन्धनों का स्वरूप पहचान कर उन्हें तोड़ क्यों न सकते?[१८] यदि हम सोचते हों कि केवल अंग्रेज़ी

---

१८. ये शब्द १९४१ में लिखे गये थे। दे० नवपरिशिष्ट ७।

साहित्य और कानून पढ़ लेने से आज हमारी आँखें खुल गई हैं तो हम बड़े भ्रम में हैं। हमने जो बातें आज सीख लीं और याद कर ली हैं वह बहुत कुछ तोते की रट है, वह हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है जो हमारे विचार को जगाता हो। हममें से कितने अपने ही देश के विभिन्न प्रान्तों की ज्ञातव्य बातों का प्रत्यक्ष अध्ययन-मनन करते हैं? या अपने पड़ोसी देशों की भू-रचना जनता और भाषाओं का स्वयं सीधा अध्ययन करते हैं?

हमारे कुछ विद्वान् आज अपनी आँखों से प्रकृति का निरीक्षण और इतिहास का पर्यवेक्षण करने लगे हैं, और इसमें उन्होंने दुनिया के ऊँचे से ऊँचे मस्तिष्कों की बराबरी कर दिखाई है, यही एक बात है जिससे सिद्ध होता है कि हमारे राष्ट्र में अभी तक जीवन मौजूद है और हमारी नस्ल या बीज में कोई त्रुटि नहीं है। परन्तु ये इक्के-दुक्के प्रयत्न अभी तक राष्ट्रीय प्रयत्न नहीं बने; जनता की भाषाओं में इनसे अभी तक ज्ञान की नई धारा नहीं बह निकली; जापान की मेइजी-युग की चेष्टा की तरह हमारे यहाँ अभी तक दुनिया के नये ज्ञान को अपने राष्ट्र के लिए अपना लेने की कोई संघटित राष्ट्रीय चेष्टा नहीं दिखाई देती; राष्ट्र के आज के नेता भी उसके प्रति वैसे ही उदासीन हैं जैसे औरंगजेब शिवाजी बाजीराव या नाना फडनीस थे; देश का धनिक वर्ग जो आज भी मन्दिरों और तमाशों पर लाखों बहा सकता है उन ज्ञानार्जन की सच्ची चेष्टाओं को सहारा देने को तैयार नहीं होता;—इस सब से सूचित होता है कि हमारी मोहनिद्रा अभी काफी गहरी है। हम अभी मुगल-मराठा-युग से इतना आगे नहीं बढ़ आये हैं कि पिछली शताब्दियों की मोहनिद्रा हमारे लिए सुदूर धुँधली वस्तु हो गई हो। यदि हम उसे नहीं देख पाते तो हम अब भी पिनक में हैं। यदि हम उसे देखते-समझते हैं तो हम नये जागरण के ठीक उस उदय-क्षण में हैं जब हमें अपनी वह हाल तक चली आती मोहनिद्रा स्थूल सत्य के रूप में दिखाई देनी चाहिए।

हमारे इतिहास के इस स्थूल सत्य की व्याख्या कैसे हो सकती है?

इतिहास के अनेक तत्त्वचिन्तक प्रत्येक घटना की व्याख्या आर्थिक प्रेरणाओं से करते हैं। सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय राष्ट्र के यों असहाय बने रहने और अपने हितों और स्वार्थों को भूले रहने की क्या कोई आर्थिक व्याख्या हो सकती है ? हमें यह याद रखना होगा कि युरोपीय लोग जब एक नई शक्ति के रूप में हमारे समुद्र में पहले-पहल प्रकट हुए, न केवल तभी प्रत्युत युरोप में व्यावसायिक क्रान्ति शुरू होने के समय (अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध) तक भी पूँजी की शक्ति भारत के पास युरोप से कहीं अधिक थी । पर भारत की वह चिर-संचित पूँजी नये समुद्र और नये देश खोजने में, उन समुद्रों और देशों के व्यापार पर अधिकार करने में, शिल्प के नये तरीके निकालने और चलाने में और उनके द्वारा अपनी पूँजी और शक्ति बढ़ाने की चेष्टा में नहीं लगती। वह लगती है मन्दिरों और मस्जिदों में, मूर्त्तियों के श्रृंगारों और जुलूसों में, मुल्लों और महन्तों को पालने में। अर्थशक्ति हमारे इस युग में उत्तेजक का काम नहीं करती, उलटा मादक का करती है। हमारे समूचे राष्ट्र की यह मोहनिद्रा हमारे अर्वाचीन इतिहास का सबसे महान् सत्य है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते, जिसके महत्त्व को किन्हीं वर्ग-संघर्ष की घटनाओं के मुकाबले में कम नहीं मान सकते, पर साथ ही जिसकी व्याख्या केवल आर्थिक सूत्रों द्वारा नहीं कर सकते।[१९] इसका सम्बन्ध राष्ट्र के समूचे जीवन की परिणति से है; इसका मूल बहुत कुछ उसके विचारों के विकास में है; यह हमारे समूचे मध्य युग के इतिहास की उपज है। इसकी व्याख्या जातियों की जीवन-परिणति के नियमों से, राष्ट्रों के उत्थान और पतन के सूत्रों से करनी होगी।

---

१९. दे० नत्रपरिशिष्ट ७।

नौवाँ व्याख्यान*

अंग्रेज़ी प्रभुता का युग

§ १. किसानों का स्वत्वहरण

हमने देखा कि भारत को अंग्रेज क्योंकर और किन अवस्थाओं में जीत सके। उस विजय के परिणामों को देखना बाकी है।

अपनी सैनिक शक्ति और अपने सुसंघटित शासन के बल पर अंग्रेज़ों ने एक एक कर भारत के सभी राज्यों को जीत लिया। उनमें से प्रत्येक राज्य के भीतर पहले सैकड़ों उच्छृंखल सामन्त थे। अंग्रेज़ों ने अपनी सैनिक शक्ति से या तो उन्हें जड़ से उखाड़ दिया, या उन्हें सब शासनाधिकारों से वञ्चित कर केवल लगान-वसूली के ठेकेदार या जमींदार के रूप में रहने दिया। सामन्तों की यह संस्था अनेक युगों में खड़ी हुई थी। आरम्भ में ये स्थानीय शासक थे। पर बहुत जगह ये ज़मीन के मालिक बन बैठे थे और कृषक जनता को इन्होंने अपनी "रैयत" बना लिया था। तो भी ये कृषकों को उनके अधिकारों से वंचित न कर पाये थे, और प्रायः समूचे भारत में ज़मीन के मालिक किसान ही थे।[1] लेकिन अब ईस्ट इंडिया कम्पनी अपनी सैनिक शक्ति के ज़ोर से भारत की कुल ज़मीन की मालिक बन बैठी और किसानों को उसने उनके स्वत्व से वञ्चित कर दिया।

---

* ११ सितम्बर १९४१ को दिया गया।

१. अधिक विवेचना के लिए दे० जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३९)—उन्नीसवीं शती की कुछ आर्थिक सामाजिक संस्थायें, भारतीय विद्या जि० १ (१९३९) पृ० ५३—५७।

§२. गाँव पंचायतों का मिटना

भारतीय राज्यों के भीतर गाँवों की पञ्चायतों को भी स्थानीय स्वशासन के व्यापक अधिकार थे। अंग्रेज़ों ने अपने शासन का संघटन करते समय उन पञ्चायतों की उपेक्षा की, उनके हाथ में कोई अधिकार रहने नहीं दिया और उनके मुखियों को अपने अमले बना लिया। ये पञ्चायतें भी भारतीय राज्यों की तरह इतनी बोदी हो चुकी थीं कि इन्होंने बिना किसी किस्म का मुकाबला किये अपने हाथ से सब शक्ति निकल जाने दी।

पञ्चायतों के कार्यों में से एक यह भी था कि वे अपने गाँव के जिम्मे की मालगुज़ारी या लगान का अपने लोगों में बँटवारा करके स्वयं वसूली करती थीं। यों किसान को व्यक्ति रूप से जो भाग देना होता था, सामूहिक रूप से उसका निर्णय वह स्वयं करता था। अंग्रेज़ों ने यह अधिकार भी उससे ले लिया और अपने तुच्छ अमलों से यह काम करवाना शुरू किया। किसान न तो ज़मीन का मालिक रह गया और न अपने ज़िम्मे के कर का निश्चय करने में कुछ कहने का उसका अधिकार रह गया। इसके बजाय तुच्छ सरकारी कारिन्दों का हुक्म बजाना ही उसका काम रह गया। इसका फल अंग्रेज़ी सरकार के सदर माल दफ्तर के ही शब्दों में यह हुआ कि "हर आदमी अपनी नज़रों में गिर गया और सदा के लिए ताबेदारी में फँस गया। आत्मनिर्भर ईमानदार व्यक्ति वाली मर्दानी चाल उसकी न रही। अपने से बड़े की कृपा या त्यौरी की परवा न कर सम्मान से सीधा खड़ा होना उसके लिए असम्भव हो गया।"[२]

भारत का सैनिक और राजनीतिक संघटन अंग्रेजों के संघटन के मुकाबले में बोदा और घुन का खाया हो चुका था। इसलिए अंग्रेजों ने उसे जड़ तक कुचल कर भारतीय गाँव के भीतर तक कुल राजनीतिक

---

२. रमेशचन्द्र दत्त (१९०६)—इकनामिक हिस्टरी ऑफ़ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज (विक्टोरिया युग में भारत का आर्थिक इतिहास) २य संस्क० पृ० ७६ पर उद्धृत।

शक्ति अपने हाथ में ले ली और यहाँ की प्रजा को गुलाम बना डाला।

§३. गुलामी का खिराज

इस सैनिक-राजनीतिक नियन्त्रण द्वारा भारत का जो आर्थिक विदोहन उन्होंने शुरू किया, उसके कई पहलू हैं।

विजेताओं का विजितों से खिराज वसूल करने का कायदा सदा से चला आया है, और भारत भी अपनी पराधीनता का सबसे पहला दण्ड खिराज रूप में देता रहा है। पलाशी की लड़ाई के बाद मीर ज़ाफर ने मुर्शिदाबाद के खजाने से करीब १½ करोड़ रुपये की जो पहली किस्त नावों में भर कर कलकत्ते भेजी थी, वह उस खिराज की भी पहली किस्त थी जो तब से आज[३] तक हर साल भारतवर्ष इंग्लिस्तान को देता आता है। सन् १७६५ में बंगाल विहार और मेदिनीपुर की दीवानी तथा आन्ध्र तट के उत्तरी सरकारों (ज़िलों) और तमिळनाड के कुछ ज़िलों की मालगुज़ारी ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ जाने पर कम्पनी हर साल उस आय में से मुनाफे के रूप में बचत करने लगी। कम्पनी का राज्य ज्यों ज्यों बढ़ता गया उस बचत की रकम भी बढ़ती गई।

भारत को जीतने में कम्पनी की अपनी एक पाई भी खर्च नहीं हुई। वह कुल खर्चा उसने भारत की जनता से वसूल किया। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों के स्वार्थ के लिए भारतीय सेना को जब फिलिपीन मलाया मिस्र जावा बरमा अफगानिस्तान चीन और ईरान भेजा गया, तब भी उसका कुल खर्च भारत से वसूला गया। हमने देखा है कि सन् १७५० के करीब अंग्रेज़ों ने पहलेपहल भारतीय सिपाहियों की फौज खड़ी की थी। उसके १०-१२ बरस के भीतर ही उस फौज से भारत के बाहर भी काम लेना शुरू कर दिया गया। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय फौज फिलिपीन और न्यूज़ीलैंड से ले कर माल्टा और दक्खिनी अफरीका तक भेजी जाती रही। उन चढ़ाइयों का खर्चा अधिकतर भारत पर

३. ये शब्द १९४१ में लिखे गये थे। दे० नत्रपरिशिष्ट ७।

ही पड़ता रहा। दूसरी तरफ जब भारत का गदर दबाने को गोरी फौज ब्रितानिया से आई, तब उसकी इंग्लिस्तान से चलने से छः महीने पहले तक की तनखाहें तथा इंग्लिस्तान की छावनियों में भारतीय सेवा के नाम से जमा हुई सेना की सन् १८६० तक की तनखाहें भी भारत से वसूली गईं।

अंग्रेजों के हाथ भारत का शासन-सूत्र आने पर शासन के सब ऊँचे पदों पर अंग्रेजों की ही नियुक्ति होने लगी। इन पदों की तनखाहों और पेन्शनों के ज़रिये भी अच्छी खासी रकम हर साल भारत से ब्रितानिया जाती रही और अब[४] तक जाती है। सन् १७८४ से ब्रितानवी सरकार का भारत के शासन के लिए लंदन में जो बोर्ड ऑफ कंट्रोल (नियन्त्रण-वर्ग) रहा, उसका कुल खर्चा भी भारत देता रहा। इस सब के अतिरिक्त ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदारों के लिए उनकी पूँजी पर डिविडेंड या मुनाफा भी भारत से लिया जाता रहा। इस मुनाफे की रकम को तो खिराज के सिवाय दूसरा कोई नाम दिया ही नहीं जा सकता।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के लंदन के खर्चे अर्थात् बोर्ड ऑफ कंट्रोल के खर्च और कम्पनी के मुनाफे की रकम को यदि छोड़ दिया जाय तो कम्पनी के शासन-काल में बाकी जो भी खर्च भारत पर डाले गये उन सब के बावजूद कुल मालगुज़ारी में से कुछ बचत ही होती। पर लंदन के उक्त खर्च के कारण व्यय का पलड़ा झुक जाता रहा। और जब-जब सरकारी आय उक्त सब खर्चों और उक्त मुनाफे के लिए पूरी न हुई तब-तब कम्पनी अपने भारतीय राज्य की धरोहर पर कर्ज़ लेती और उस कर्ज़ का सूद भारतीय जनता पर डालती गई। सन् १८५८ तक इस प्रकार कम्पनी पर ६९५ लाख पौंड कर्ज़ था।

लार्ड एलिनबरो के शब्दों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में भारतवर्ष गिरवी था। सन् १८५८ के बाद ब्रितानवी सरकार ने उसे दाम दे कर

४. ये १९४१ के शब्द हैं। दे० नवपरिशिष्ट ७।

छुड़ा लिया। लेकिन वह दाम ब्रितानवी सरकार ने भारत की जनता से ही वसूला। कम्पनी का करीब सात करोड़ पौंड कर्ज़ तो भारत का राष्ट्रीय ऋण बना ही दिया गया; उसके अलावा कम्पनी की पूँजी का मूल्य १२० लाख पौंड लगाया गया, जिसे धीरे-धीरे भारत की मालगुज़ारी में से चुकाया जाता रहा। सन् १८७४ में इस रकम में से ४६ लाख पौंड बाकी रहा जो भारत के कर्ज़ में शामिल कर दिया गया। यों हमारा देश ईस्ट इंडिया कम्पनी के बजाय लंदन के उन महाजनों के हाथ गिरवी रक्खा गया जिन्होंने इस भारतीय ऋण के ऋणपत्र खरीदे।

सन् १८५७ का विद्रोह ईस्ट इंडिया कम्पनी को हटाने का एक बहाना बन गया था। असल में कम्पनी को हटाने का आन्दोलन उसके पहले से ही चल रहा था, और उसकी जड़ में यह बात थी कि इंग्लिस्तान के कारखानेदारों के लिए किसी एक कम्पनी का एकाधिकार असह्य था, वे चाहते थे कि भारत के प्रभुत्व से कम्पनी जो लाभ उठा रही है उसे उठाने का मौका सब अंग्रेज़ों को मिले। ब्रितानवी पार्लियामेंट इस सिद्धान्त को सन् १८५३ तक पूरी तरह स्वीकार कर चुकी थी। कम्पनी के उठ जाने पर भारत के विदोहन के लिए सब अंग्रेज़ों को खुली छूट मिल गई, और इसीलिए उस विदोहन की मात्रा भी तेज़ी से बढ़ने लगी। भारत के नाम पर कई युद्धों के खर्चे और अन्य तरह के खर्चे भी डाले गये। भारत में रेलपथ बनने लगे और उनके लिए इंग्लिस्तान में कम्पनियाँ खड़ी हुईं जिन्हें भारत की मालगुज़ारी में से ५ फ़ीसदी नफे की गारंटी दी गई। इस गारंटी के कारण इन रेलपथों के बनाने में जिस बेरहमी से खर्च किया गया उसका नमूना दुनिया के रेलपथों के इतिहास में और कहीं नहीं पाया जाता। पर फ़िज़ूलखर्ची तो फ़िज़ूलखर्ची रही, जब उनके हिसाब में गबन के कारण घाटा हुआ, तब भी उन्हें ५ फीसदी नफा तो भारत की मालगुज़ारी में से पूरा करके दिया ही गया।

आगे चल कर "उत्पादक" ऋण "अनुत्पादक" ऋणों से अलग किये गये [जिन ऋणों की पूँजी व्यवसायों में लगाई जाती जिससे आगे

चल कर लाभ होने की आशा होती, वे उत्पादक थे]। यह तो ठीक ही था। सन् १९०० से रेलपथों में लगी पूँजी से लाभ होने लगा।

हमारा यह कहना नहीं है कि भारत यदि स्वतन्त्र होता तो अपने राष्ट्रीय व्यवसायों की स्थापना के लिए किसी भी दशा में विदेशी महाजनों से पूँजी उधार न लेता। हम इस सम्भावना को भी स्वीकार करते हैं कि विशेष संकट के समयों में वह शायद बाहर से अनुत्पादक ऋण भी लेता जैसे आज [सन् १९४१] स्वतन्त्र रूस ले रहा है। पर हम निश्चय से यह कह सकते हैं कि पिछले पौने दो सौ बरसों में भारत की अर्थनीति को अंग्रेज़ शासकों ने जिस तरह चलाया है, स्वतन्त्र भारत का अपनी अर्थनीति का सञ्चालन उससे सर्वथा भिन्न होता, और चाहे जितना वितण्डावाद किया जाय उससे यह बात छिपाई नहीं जा सकती कि भारत की अर्थनीति के संचालन में अंग्रेज़ों की सब से मुख्य प्रवृत्ति यह रही है कि जिस किसी भी बहाने भारत को चूसा-निचोड़ा जाय, और कि सन् १८५८ के बाद से भारत पर जो राष्ट्रीय ऋण लादा जाता रहा है वह बहुत बड़े अंश में वस्तुतः भारतीय जनता से खिराज वसूलने का एक ढकोसला रहा है। हम यह नहीं कहते कि राष्ट्रीय ऋण के सूद के नाम से या ऋण को चुकाने के नाम से हम जो रकम देते रहे या दे रहे हैं वह सभी गुलामी का खिराज है। निष्पक्ष जाँच से शायद उस ऋण का कुछ अंश उचित पाया जाय। दूसरी तरफ निष्पक्ष जाँच से यह पाया जाने की भी सम्भावना है कि हमारी खिराज की रकम ऋण के नाम पर हमसे वसूली गई रकम से भी ज़्यादा है, क्योंकि खिराज चलती वार्षिक आय में से भी दिया जाता है, वह आवश्यक रूप से ऋण को पैदा नहीं करता।

अंग्रेज़ी शासन के सूत्रपात के समय से ही भारत का वार्षिक निर्यात आयात से अधिक हो रहा है। किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के स्वतन्त्र विनिमय-व्यापार में लगातार डेढ़-पौने दो सौ बरस तक ऐसी अवस्था नहीं चल सकती। साधारण अवस्थाओं में और मोटे तौर पर आयात से निर्यात की

यह अधिकता ही खिराज को सूचित करती है ।ः कम्पनी के ज़माने में यह अधिकता प्रायः ३०—३५ लाख पौंड वार्षिक होती थी; महारानी के शासन के पहले बारह बरसों में यह उससे चौगुनी हो गई; उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वह ३ करोड़ पौंड वार्षिक हो गई, और दूसरे विश्व-युद्ध के पहले तक उससे भी ड्योढ़ी !

§४. शिल्प का दलन-नियंत्रण

प्रत्यक्ष खिराज वसूलना तो सदा से विजेताओं का कायदा रहा ही है, पर भारत के अंग्रेज़ी शासन में विदोहन-शोषण का जो एक नया तरीका चला, वह है विजित राष्ट्र के शिल्पों का दलन और नियन्त्रण। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में भारतीय जुलाहों का सीधा नियन्त्रण किया गया और इंग्लिस्तान में भारी चुंगियों द्वारा भारतीय माल का प्रवेश रोका गया। उसके बाद से हाल तक ज़कात का, रेलपथ-प्रबन्ध का और अन्य सब शासन का संचालन बराबर ऐसे ढंग से किया गया कि भारत में और विशेष कर भारतीयों के हाथ में शिल्प न पनपने पावें। इसमें सन्देह नहीं कि यदि भारतीयों में जागरूकता और संघटन की क्षमता होती तो कोई भी शासक उनके पुराने शिल्पों का यों दलन न कर सकता और नये शिल्पों का स्थापित होना रोक न सकता। पर हमारी उसी मोहनिद्रा और हमारे शासकों की विदोहन-नीति के कारण आज भारतीय जनता में से ८० फी सदी से अधिक कृषिजीवी हैं।

शिल्प-व्यवसाय के नाश या अभाव के कारण खिराज की मार भारत पर दुहरी पड़ती रही है। एक तो भारतीयों को अपने आवश्यक उपयोग की कल-कारखानों की उपज खरीदने को अपना अन्न देना पड़ता रहा है, दूसरे वे एक शिल्पी देश को खिराज भी अन्न के रूप में ही देते रहे हैं।

§५. कुली प्रथा

बेकारी और लाचारी की इन अवस्थाओं में भारत में ऐसे लोगों का एक बड़ा वर्ग प्रस्तुत हो गया जो भूख से व्याकुल होने के कारण किन्हीं

भी शर्तों पर मजदूरी करने को तैयार रहते। इन लोगों की लाचारी से अंग्रेज पूँजीपतियों को विदोहन का एक नया रास्ता मिला और प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा का उदय हुआ। इन कुलियों को एक बार जिस इकरारनामे में फँसा लिया जाता उसे तोड़ना फौजदारी कानून से अपराध बना दिया गया था। फलतः यह एक किस्म की गुलामी प्रथा थी। भारत के अनेक प्रान्तों में गोरों को माफी ज़मीनें दे कर बसाने की कोशिशें की गईं। वे कोशिशें तो सफल न हुईं, तो भी नील चा आदि की खेती में पूँजी लगा कर अनेक अंग्रेज़ पूँजीपति इन प्रतिज्ञाबद्ध गुलामों की सस्ती मेहनत का लाभ उठाते और मालामाल होते रहे।

चतुर अंग्रेज़ पूँजीपतियों ने यह भी शीघ्र पहचान लिया कि इन प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों को यदि वे भारत से बाहर की अपनी बस्तियों में ले जा सकें तो ये हब्शी गुलामों से कहीं अधिक होशियार होने के साथ-साथ सस्ते भी पड़ेंगे। जैसा कि कप्तान कोलम्बो ने अपनी पुस्तक **भारतीय समुद्र में गुलाम फाँसना** में लिखा—"स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी हब्शी गुलाम से सस्ती जिन्स था (A free Indian was a cheaper article than a Negro slave)।"[५] इस कीमती सत्य के पहचाने जाने पर दक्खिनी अफरीका मारिशस फिजी आदि की गोरी बस्तियों में हिन्दुस्तानी कुली भर-भर कर ले जाये जाने लगे। जैसे भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इन कुलियों के अपने इकरार से चूकने को फौजदारी अपराध बना दिया था, वैसे ही सन् १८२३ में ब्रितानवी पार्लिमेंट ने भी अपने एक कानून से इनकी गुलामी पर मुहर लगा दी। इसके बाद जब इन सस्ते प्रतिज्ञा-बद्ध कुलियों की धारा नियमित रूप से अंग्रेज़ी उपनिवेशों को सींचने लगी, तब सन् १८३३ के करीब अंग्रेज़ी राष्ट्र का सयाना

---

५. कोलम्बो (१८७३)—स्लेव कैचिंग इन इंडियन ओशन (भारतीय समुद्र में गुलाम फाँसना) पृ० १००।

अन्तरात्मा गुलामी प्रथा के विरुद्ध विद्रोह करने लगा और मँहगे गुलामों की पुरानी प्रथा कानून से बन्द की गई।[६]

§६. विनिमय का नियन्त्रण

सन् १८७० के बाद दुनिया में चाँदी के सस्ते होने और भारत का सिक्का चाँदी में होने से भारत के व्यवसायों को कुछ स्फूर्ति मिलने लगी। लेकिन ब्रितानिया ने भारत से अपना खिराज सोने के हिसाब में ही वसूलना जारी रक्खा। चाँदी के सस्ते होने से उपज के दाम बढ़े और उन बढ़े दामों के अनुसार मालगुज़ारी भी बढ़ा दी गई। किन्तु भारत सरकार को सोने की मँहगी और अपने बढ़े हुए फ़ौजी खर्च के कारण अपना वार्षिक खिराज चुकाने में कठिनाई होने लगी। उस दशा में सन् १८९३–९९ में उसने जनता के लिए टकसालें बन्द कर दीं और रुपये का दाम कृत्रिम रूप से बढ़ा दिया। इस प्रकार जहाँ रुपयों की गिनती में भारत की मालगुज़ारी वही रही, वहाँ पौंडों की गिनती में वह २० फ़ी सदी बढ़ गई, और वस्तुतः किसानों से दस-बारह करोड़ का अनाज प्रतिवर्ष अधिक वसूला जाने लगा।

शुरू में तो यह विदोहन की अकेली घटना थी, पर अब यह पद्धति बन चुकी है। क्योंकि तब से टकसालें जनता के लिए बन्द हैं और उस बन्दिश के द्वारा भारत सरकार विनिमय दर को अपनी इच्छानुसार नचाती है। विनिमय-दर का नियन्त्रण राष्ट्रीय सरकारें भी करती हैं, पर हमारे देश में वह नियन्त्रण बराबर ब्रितानवी स्वार्थों के अनुसार होता[७] और जनता

---

६. पृथ्वीसिंह महता (१९४०)—बिहार पृ० ३३८। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में युरोपी जनता के अन्तरात्मा के जागरण द्वारा गुलामी प्रथा का दूर होना विश्व-इतिहास की बड़ी घटना मानी जाती है। उस जागरण की यह आर्थिक ऐतिहासिक व्याख्या पहलेपहल इस ग्रन्थ में दी गई है। इस खोज का श्रेय मेरे शिष्य श्री अमृतपाल को है।

७. दे० नवपरिशिष्ट ७।

के विदोहन का नियमित साधन बन गया है। पिछले चालीस बरस का शृंखलाबद्ध आर्थिक इतिहास किसी भारतीय विद्वान् ने लिखा नहीं है।[८] वह लिखा जाय तो विदोहन के इस पहलू के इतिहास पर पूरा प्रकाश पड़ सके।

§७. किसानों का ऋण-भार और भूखे रहना

भारत के खिराज के कारण, पुराने शिल्पों के नाश और नयों के यथेष्ट मात्रा में उदय न होने से तथा विनिमय के मनमाने नियन्त्रण से भारतीय किसान पर जो बोझ पड़ रहा है, स्पष्ट है कि वह उसे उठा नहीं पाता है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के ज़माने में ही जब पहलेपहल किसानों का कर इतना बढ़ाया गया कि उन्हें ज़मीन से अपनी मज़दूरी भी न मिलती तब वे खेत छोड़-छोड़ कर भागने लगे। लेकिन जब-जब वे भागते उन्हें फ़ौज द्वारा घेर कर खेतों पर लौटाया जाता। इसका यह अर्थ था कि वे अपनी इच्छा से खेती न करते, प्रत्युत ज़मीन पर बँधे हुए गुलाम थे! एक अरसे तक किसानों से कर वसूलने के लिए यातनाओं का प्रयोग होता रहा। मद्रास की मालगुज़ारी के विषय में सन् १८५४ में पार्लिमेंट द्वारा बैठाये गये जाँच कमीशन की रिपोर्ट में उन यातनाओं का परिगणन किया गया था जो उस प्रान्त में मालगुज़ारी वसूलने के लिए प्रचलित थीं। वे यों हैं—

"धूप में खड़ा रखना, भोजन और शौच लघुशंका करने न जाने देना, क़ैद, किसान के मवेशियों को चरने न जाने देना, किसान पर चपरासी बैठाना, कित्ती अनुंदल अर्थात् मुर्गा बनाना, अंगुलियों के बीच डंडियाँ डाल कर दबाना, चिमटे थप्पड़ घूँसे चाबुक की मार……, दो नादिहन्दों के सिर टकराना या दोनों को पीठ की ओर से केशों से बाँध देना, शिकंजे में रखना, गधे या भैंस की पूँछ से केश बाँध देना,……।"[९]

---

८. दे० नवपरिशिष्ट ८।
९. रमेशचन्द्र दत्त (१९०६)—पूर्वोक्त पृ० ७५।

इन यातनाओं ने धीरे धीरे एक नई अवस्था को पैदा कर दिया। भूख से लाचार हो कर और दूसरा कोई धन्दा न मिलने के कारण किसान खेती करने को बाधित होता है, वह भरपेट भोजन नहीं पाता तो आधा भोजन करता है, चुपड़ी का सपना नहीं ले सकता तो रूखी-सूखी खाता है, और अपनी मालगुजारी नहीं चुका पाता तो कर्ज ले लेता है। यह अवस्था इतनी व्यापक हो चुकी है और हम लोग इसे देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हमने इसे कृषि की साधारण अवस्था मान लिया है। लेकिन यह बाधित गुलामों की अवस्था है; यह पिछले पौने दो सौ बरस की पैदा की हुई अवस्था है। इस लगातार की भूख से और लगातार बढ़ते हुए ऋण की चिन्ता से, इस कभी सिर न उठा सकने की अवस्था से हमारी जाति के बीज को घुन खा रहा है। यह केवल राजनीतिक पराधीनता नहीं है, यह उस गुलामी पद्धति का नया रूप है जिसमें मनुष्य पशु की तरह बेचा-खरीदा जाता था।

§ ८. भारतीय जाति का बचे रहना

इन अवस्थाओं के बीच भी हमारी जाति अब तक बची है और उसकी जनसंख्या बढ़ती ही जाती है, यह अद्भुत बात है। विजेताओं की योजना ऐसी न थी। सोलहवें शतक से युरोपीय जातियों का जो फैलाव शुरू हुआ, उसी महान् घटनावली का यह एक पहलू है कि हमारा देश अपनी विद्यमान अवस्था को पहुँच गया है। दुनिया के दूसरे देशों पर उसका प्रभाव किस प्रकार हुआ? अमरीका और आस्त्रेलिया के मूल बाशिन्दों का युरोपी फैलाव के दबाव से करीब-करीब संहार हो चुका है; अफरीका की सब अच्छी ज़मीनों पर युरोपी लोग बस गये हैं और वहाँ के असल निवासी जंगलों में जानवरों की तरह बचे हैं। भारत में भी क्या वही बात न हो सकती थी?

इसमें सन्देह नहीं कि विजेताओं का बस चलता तो वही होता। वेल्ज़ली और लेक के युद्धों से भारत के मुख्य भाग पर अंग्रेज़ी प्रभुता

स्थापित होते ही अंग्रेजों की यह अभिलाषा स्पष्ट रूप से प्रकट हुई कि भारत को अंग्रेजी उपनिवेश बना दिया जाय। सन् १८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को नया पट्टा देते समय पार्लिमेंट में यह विचार प्रकट किया गया कि भारत में अंग्रेज बस्तियाँ बसाई जानी चाहिएँ। इसी उद्देश से उसके तुरंत बाद पहाड़ी इलाकों को जीतने की कोशिश की गई। अंग्रेज़ों को अनेक प्रान्तों में मुफ्त और माफी ज़मीनें दी गईं और उन्हें उनपर बसने के लिए भारतीय प्रजा से वसूल की गई मालगुज़ारी में से खुले हाथों सहायता दी गई। प्रायः आधी शताब्दी तक ये प्रयत्न जारी रहे; लेकिन अन्त में विजेताओं को हार माननी पड़ी। यह देखा गया कि अंग्रेज़ "अपना अन्तिम जीवन भारत में बिताना न चाहते" थे।

पर क्यों वे भारत में अपना अन्तिम जीवन न बिताना चाहते थे जब कि अफरीका और अमरीका के उससे अधिक गर्म इलाकों में भी वे शौक से बस जाते थे? ज़रा गहराई से सोचने से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उनकी इस अनिच्छा या अरुचि का कारण यह था कि वे भारत में अपना स्वतन्त्र समाज खड़ा न कर सके। और उसका भी कारण यह था कि अमरीका के मूल बाशिन्दों की तरह वे भारतीयों का संहार न कर सके और न उन्हें अफरीका के बाशिन्दों की तरह जंगलों में इतना ठेल सके या इतना दबा सके कि भारत में स्वतन्त्र युरोपीय समाज पनप पाता। जितने तक भारतीयों को उन्होंने रौंदा, यदि उससे अधिक रौंदते तो विद्रोह हो जाते, जिस भारतीय सेना द्वारा वे भारत को दबाये हुए थे वही बिगड़ उठती, उनका भारत को दबा रखने का यन्त्र ही टूट जाता। मराठों गोरखों सिक्खों ने तथा सन् १८५७-५८ में अवध और ठेठ हिन्दुस्तान की प्रजा ने जो टूटा-फूटा प्रतिरोध अंग्रेज़ों का किया, उसको यह श्रेय है कि भारतीय जाति आज तक बची है। उतना प्रतिरोध भी हम इस कारण कर सके कि हमारा राष्ट्र अपनी सभ्यता या मनुष्यता के विकास में अमरीका अफरीका और आस्ट्रेलिया के पुराने बाशिन्दों से कहीं आगे बढ़ चुका था।

§९. ब्रितानवी साम्राज्य भारत की बदौलत

परन्तु जिस रूप में आज हम ज़िन्दा हैं, हमारा वह जीना सर्वथा दूसरों के उपयोग के लिए है। हमारी समूची जाति आज अंग्रेज़ों का हथियार बनी है और हमारी मांसपेशियों और मस्तिष्कतन्तुओं की कुल शक्ति अंग्रेज़ों के काम आती है। इस सम्बन्ध में लार्ड कर्ज़न का जो वचन पहले व्याख्यान में उद्धृत किया गया था उसपर हम ध्यान दें और दुनिया की दूसरी जातियों से अपनी तुलना करें।

अमरीका अफरीका और आस्त्रेलिया के पुराने बाशिन्दे नष्ट हो गये या हमसे बदतर हालत में हैं, पर तो भी वे हमारी तरह दूसरों के साधन तो नहीं बने। सिबिरिया के जंगलों में रूसियों को जो पुराने बाशिन्दे मिले, वे थे ही बहुत थोड़े और उनका भी प्रायः नाम-निशान मिट चुका है।

मोरक्को से मिस्र तक अफरीका के उत्तरी तट पर अरब जाति बसी है और वही आगे फिलिस्तीन सीरिया ईराक तथा अरब में भी है। वह भी एक पुरानी सभ्यता की वारिस है। अरब जाति का इन सब देशों में फैलाव सातवें-आठवें शतक में हुआ। इन सभी देशों के अरब पिछली शताब्दी में तुर्क साम्राज्य में शामिल थे और अब युरोपीयों के अधीन या प्रभाव में हैं। लेकिन मिस्र फिलिस्तीन ईराक अरब और उसके दक्खिन-पच्छिम सोमालिस्तान पर भी अंग्रेज़ों ने अपना शिकंजा जो कसा वह सब भारतीय सेना भारतीय मुस्लिम जासूसों और भारतीय बाबुओं के द्वारा। अरब जाति आज के युरोपीय ज्ञान शिल्प और संघटन के सामने अभी तक हतप्रतिभ है, वह उसका मुकाबला नहीं कर पा रही, वह उसका रहस्य समझ कर उसे अपना नहीं पा रही। तो भी वह बहादुर और दुर्दमनीय है, अंग्रेज उसे दबा न पाते यदि अंग्रेज़ों के हाथ में भारत के साधन न होते। और निश्चय से अरब जाति ऐसी नहीं है कि वह अपने ही साधनों से खुद दबाई जाय, अपनी ही शक्ति को अपने खिलाफ बर्त्ता जाने दे।

अरबों के साथ लगा उस्मानिया तुर्कों का देश है। तुर्की के तुर्क युरोपीयों से अपने साम्राज्य को बचा न सके, पर अपने खास देश की स्वतन्त्रता को उन्होंने बचा लिया है। यह काम उस तरुण तुर्क दल ने किया जिसका उदय सन् १६०४-५ में जापान द्वारा रूस को पछाड़ देने के कारण उत्पन्न स्फूर्त्ति से हुआ और जो जापानियों की तरह युरोप के नये ज्ञान शिल्प और संघटन को समझने-अपनाने की कोशिश में लगा है।

तुर्की के आगे ईरान और अफगानिस्तान हैं। उन्हें एक समय ब्रितानिया और रूस ने आपस में बाँटने का पूरा ठहराव कर लिया था, पर क्रान्ति के बाद रूस की नई सरकार ने उन्हें बन्धन से मुक्त होने में सहायता दी। ब्रितानिया के पंजे से अभी [१६४१] वे पूरी तरह छुट नहीं पाये; पर ब्रितानिया का जो कुछ नियन्त्रण उनपर है वह उसकी भारतीय शक्ति के ही कारण। खुद ईरान या अफगानिस्तान के लोग ऐसे नहीं हैं कि उन्हीं के साधनों से कोई उन्हें बाँध सके। पहले अफगान युद्ध में ही अंग्रेजों को इस बात का भरपूर तजरबा हो गया था। उन्हें आशा थी कि जब अहमदशाह अब्दाली का पोता शाहशुजा खुद उन्हें अपने देश में ले गया है तब अफगानिस्तान का बन्दोबस्त कर युद्ध का खर्चा वे वहीं से उगाह सकेंगे और अफगानों की भाड़े की फौज भरती कर सकेंगे। लेकिन उनकी आशाओं पर पानी फिर गया।

अफगानिस्तान के उत्तर मध्य एशिया में तुर्कों उजबकों और ताजिकों के देश हैं। रूसियों ने अपनी शक्ति से इन्हें जीता था और क्रान्ति के बाद अपने समान स्वतन्त्र कर दिया है।

आगे पूरब तरफ तिब्बती चीनी मंगोल मंचु और जापानी जातियों के विशाल प्राचीन देश हैं। तिब्बत चीन मंगोलिया मंचूरिया सभी चीन के मंचु साम्राज्य में थे। भारत के बाद जैसे पच्छिम तरफ युरोपी गिद्ध तुर्क साम्राज्य पर टूटे, वैसे पूरब तरफ इस चीनी साम्राज्य पर। वह साम्राज्य अपने को बचा न सका। तिब्बत और बाहरी मंगोलिया ब्रितानिया और रूस के रक्षित बन गये; पर ठेठ चीन में एक तरुण दल जाग उठा

जिसने चीन में आधुनिकता के प्राण फूँकने और उसे बचाने की कोशिश की। उसकी कशमकश अभी [१६४१] जारी है। पर हमारे लिए ध्यान देने की बात यह है कि युरोपी जातियों में से चीन का सबसे पहले और सबसे अधिक पराभव करने वाले अंग्रेज थे, और उन्होंने चीन साम्राज्य या खास चीन को जहाँ तक अपने शिकंजे में कसा वह सब भारतीय सिपाहियों भारतीय जासूसों और भारतीय बाबुओं की बदौलत। हाङ्काङ और शाङ्हाई की पुलिस और फौज अब [सितम्बर १६४१] भी सब सिक्खों और अन्य भारतीयों की है।

चीन के दक्खिन और भारत के पूरब परले हिन्द और हिन्दी द्वीपावली के विशाल देश हैं जिनकी सभ्यता सदा भारत से प्रभावित होती रही है। आज [सितम्बर १६४१] भी भारत की गुलामी इनकी गुलामी का कारण है। बरमा मलाया को हिन्दुस्तानी फौज ने अंग्रेज़ों को जीत कर दिया है, और वही आज तक उसे अंग्रेज़ों के काबू में रक्खे हुए है।

हमने देखा है कि "भारतीय सिपाही का आविष्कार" पहले-पहल एक फ्रांसीसी ने सन् १७४० के करीब किया। अंग्रेज़ों ने प्रायः दस बरस बाद भारतीय सिपाहियों की फौज बनाई। शुरू में तो भारत में ही उसका उपयोग किया गया, पर उसके शीघ्र बाद भारत के बाहर भी अंग्रेज उससे काम लेने लगे। सन् १७६२ में मद्रासी फौज को मनीला भेजा गया;[१०] १७६४ में उसे बटाविया रवाना किया गया। १७८२ में नेगापटम से सिंहल को फौज भेजी गई और १७६५-६६ में फिर मद्रास और मुम्बई से सिंहल, तथा मद्रास से मलक्का और अम्बोयना। १७६६-१८०० में नैपोलियन के मुकाबले को भारतीय सेना मिस्र भेजी गई। १८०३ में उसने फिर सिंहल में और १८१३ में जावा में काम किया। १८२४-२६ में उसने अंग्रेज़ों को बरमा के तट-प्रदेश जीत दिये। १८३६ से ४२ तक वह पहले अफगान युद्ध में गई और १८४० में उसने अंग्रेज़ों की खातिर

---

१०. दे० नवपरिशिष्ट ६।

चीन में पहला अफीम युद्ध लड़ा। १८५२ में उसने बरमा का पगू प्रान्त अंग्रेज़ों को छीन दिया। १८५५-५६ में वह ईरान भेजी गई और १८५६-६० में फिर चीन के दूसरे अफीम युद्ध में। १८६०-६१ में उसे न्यूज़ीलैंड के मावरियों को दबाने भेजा गया। १८६७ में वह अबीसीनिया भेजी गई और १८७५ में मलाया के पेरक राज्य पर। १८७८ में रूसियों का बलकान प्रायद्वीप से बढ़ना रोकने को उसे माल्ता भेजा गया और उसी साल से तीन बरस तक वह दूसरे अफगान युद्ध में भिड़ी रही। १८८२ में उसने मिस्र को अंग्रेज़ों का गुलाम बना दिया, १८८४-८५ में सूदान और सोमालिस्तान का तट-प्रदेश उन्हें जीत दिया और १८८५ के अन्त में उत्तरी बरमा। १८९६ में उसके द्वारा किचनर ने समूचा सूदान जीत कर फ्रांसीसियों को फशोदा से हटने को बाधित किया। १८९९ से १९२० तक सोमालिस्तान के मुल्ला के खिलाफ सिक्ख फौज व्यस्त रही। सन् १९०० में चीन के "घूँसेबाज़ों" का दमन करने और हमारे उस प्राचीन पड़ोसी राष्ट्र की प्रजा पर बर्बरतापूर्ण अत्याचार करने का और १९००-१९०१ में दक्खिन अफरीका के गोरे बोअरों को दबाने तथा नाताल का लेडीस्मिथ का किला उनसे बचाने का काम भारतीय सेना से लिया गया। १९०३-४ में उस सेना को दिखा कर ईरान को अपने मिट्टी-तेल का एकाधिकार अंग्रेज़ों को देने को मजबूर किया गया, और उसके द्वारा ल्हासा पर चढ़ाई कर तिब्बत की गरदन दबाई गई।

पहले विश्वयुद्ध में न केवल अफरीका के जर्मन उपनिवेश और तुर्क साम्राज्य के ईराक फिलिस्तीन सीरिया के देश भारतीय सेना ने जीते, प्रत्युत खास यूरोप की लड़ाइयों में उसने बड़े महत्त्व का भाग लिया और खुद ब्रितानिया उसी की बदौलत जर्मनों से बच सका। जर्मनों की बाढ़ को इंग्लिश चैनल के बन्दरगाहों से २० मील इधर जिस फौज ने रोके रक्खा उसकी हरावल सिक्खों की थी। जैसा कि एक जर्मन विद्वान् ने लिखा—

"बकौल देमांगिओं विश्वयुद्ध के लिए भारत में जो सैनिक और

नौ-सैनिक भरती किये गये वे १० लाख से कम न थे। अरबों की भारतीय सम्पत्ति युद्धक्षेत्र में गई। (फ्रांस में) रक्षाखाइयों की दीवार बंगाली चटकलों (जूट के कारखानों) में तैयार हुई बोरियों से बनी थी"[११] और उन बोरियों के पीछे से जो सिपाही जर्मनों पर गोलियाँ दागते थे वे सिक्ख डोगरे राजपूत...थे।

पहले विश्वयुद्ध के तुरत बाद रूस की क्रान्ति को विफल करने के लिए जब अंग्रेज़ों फ्रांसीसियों ने रूसी प्रजातन्त्र संघ में सब तरफ से अपनी सेनाएँ भेजीं तब भारतीय सेना का एक समूह कोइटा से ईरान की सीमा पर ज़हीदान मशहद (उत्तरपूर्वी ईरान) होते हुए अश्काबाद तक फैलाया गया और दूसरा बोखारा भेजा गया।

विद्यमान विश्व-युद्ध में भारतीय सेना जो भाग ले रही है, वह सुपरिचित है।

भारतीय सेना के साथ-साथ भारतीय जासूस पैमाइशकार रेल तार डाक आदि के बाबू ठेकेदार तथा मजदूर ब्रितानवी साम्राज्य की जो सेवा करते हैं, वह भी महत्त्व की है।

इन घटनाओं पर विचार करने से कई महत्त्व की बातें हमारे सामने आती हैं। आधुनिक युग में युरोपी जातियों की विश्वप्रभुता स्थापित होने से पहले दुनिया के कई देश तो ऐसे थे जहाँ की जातियाँ सभ्यता की बिलकुल आरम्भिक दशा में या जंगली दशा में थीं। ये जातियाँ उतने क्षेत्रों में किसी तरह बच न सकती थीं; ये या तो नष्ट कर दी गईं या तंग प्रदेशों में बन्द कर दी गईं। किंतु मोरक्को से जापान और न्यूगिनी तक अनेक प्राचीन जातियों के देश थे, जिनकी सभ्यता ज़मानों तक युरोप वालों से बढ़ी-चढ़ी रह चुकी थी और जो पिछली चार-पाँच शताब्दियों

---

११. वाल्टर पाःल (१९३७)—वेटरज़ोनन डेर वेल्टपौलिटिक (विश्व-राजनीति के ऋतु-मण्डल) पृ० ९९। देमांगिओं कोई फ्रांसीसी लेखक जान पड़ता है। मैं इस उद्धरण के लिए डा० धीरेन्द्र महता का अनुगृहीत हूँ।

में ही युरोपियों से पिछड़ गई थीं। जापानियों ने दिखा दिया कि युरोप की नई वस्तुओं को सीख लेना पुरानी जातियों के लिए कुछ कठिन नहीं है। यह स्वाभाविक जान पड़ता है कि जो जातियाँ मानव सभ्यता को आरम्भिक मंजिल से इतनी दूर तक पहुँचा चुकी हैं, वे उसकी एक नई मंजिल भी आसानी से तय कर सकेंगी। परन्तु इन पुरानी जातियों में से जापानियों ने यदि एक विशेषता दिखाई है तो भारतीयों ने दूसरी। इन सब जातियों में से भारतीय ही एक ऐसे हैं जो अपनी ही शक्ति से न केवल खुद गुलाम बने रहे हैं, प्रत्युत जो दूसरी जातियों को गुलाम बनाने में भी अपने मालिक के हथियार आसानी से बने रहे हैं—या यों कहा जाय कि जो शिकारी कुत्ते या शिकरे का काम देते रहे हैं। क्या यह भारतीय चरित्र या भारतीय बुद्धि की किसी विशेषता के कारण है? क्या यह कहा जाय कि जापानियों में तो इतनी प्रतिभा थी कि वे युरोप के नये ज्ञान को पूरी तरह सीख सकते थे, पर भारतीयों की प्रतिभा इतनी ही है कि वे उस ज्ञान को उस अंश तक ही सीख सकते हैं जिससे दूसरे के हथियार बन सकें, पर इतना नहीं कि जिससे स्वयं उसका उपयोग कर सकें? यदि नहीं तो इस बात की क्या व्याख्या हो सकती है कि जिस देश के सैनिक अमले और मुंशी (क्लर्क) पिछले पौने दो सौ बरस से ब्रितानवी साम्राज्य को न्यूज़ीलैंड से मिस्र और केपकालोनी तक फैला सकते और बनाये रख सकते हैं, वे खुद अपना स्वतन्त्र शासन भी नहीं चला सकते? आखिर, इस लाखों आदमियों की भारतीय सेना अमलों और मुंशियों को चलाने वाले अंग्रेज़ संचालक कितने रहते हैं? कुछ सौ ही न? उतने संचालक पैदा करने लायक बुद्धि या शक्ति हमारी जाति में नहीं जान पड़ती, तभी तो यह अवस्था जारी है?

इन कडुवे प्रश्नों पर विचार करने से पहले हम इस विषय के एक और पहलू को देख लें।

§१०. ब्रितानिया के भारतीय साम्राज्य का विश्व-स्थिति पर प्रभाव

युरोप के विभिन्न राष्ट्रों में साम्राज्य के लिए किस प्रकार होड़ रही और आज भी है सो सुविदित बात है। पुर्त्तगाल और स्पेन के हाथ से समुद्रों की प्रभुता कैसे हौलैंड ब्रितानिया और फ्रांस के हाथ गई और इन राष्ट्रों की होड़ में भी कैसे ब्रितानिया सब से आगे निकल गया, सो भी पुरानी और परिचित बातें हैं। किन्तु उन्नीसवें शतक के आरम्भ में भारत में अंग्रेज़ी प्रभुता स्थापित हो जाने के बाद से ब्रितानिया की संसार में जो हैसियत हो गई, उसपर हमें अब ध्यान देना है।

उन्नीसवीं शताब्दी में एक तो उसने बराबर रूस की रोकथाम किये रक्खी, दूसरे, फ्रांस को दुनिया के कुछ बचे-खुचे हिस्से (अल्जीरिया त्यूनिस हिन्दचीन) लेने दिया, पर जब भी किसी महत्त्व के देश की ओर फ्रांस ने हाथ बढ़ाया—जैसे बरमा मिस्र या सूदान की ओर—तब उसे रोक दिया; तुर्की और चीनी साम्राज्य के और अफरीका महाद्वीप के युरोपीय शक्तियों में बाँटे जाने का मामला आने पर उसने सबसे बड़ा हिस्सा पाने का दावा किया और ले भी लिया, और, जैसा कि हम दक्खिनी अफरीका के मामले में देखते हैं, यदि यूरोप-अमरीका के बाहर किसी भी युरोपी जाति के अधिकृत देश में कोई ऐसी कीमती वस्तु निकल आई जिसे उसने लेना चाहा तो उस देश पर अधिकार कर लेने में उसने संकोच नहीं किया। यह स्पष्ट है कि पुर्त्तगाल और हौलैंड के पास यदि अपने पुराने उपनिवेश बचे रहे, बेल्जियम जैसे छोटे देश को यदि मध्य अफरीका का एक बड़ा देश मिल गया, तो केवल ब्रितानिया की कृपा से; जिस दिन चाहता वह इन उपनिवेशों या देशों को उनसे ले सकता था। यह भी स्पष्ट है कि ब्रितानिया को नाराज़ कर के फ्रांस अपने साम्राज्य को आसानी से न बचा सकता था।

यह तो स्थिति थी उन्नीसवीं शताब्दी की। बीसवीं शताब्दी में जर्मनी

और इतालिया ब्रितानिया के प्रतिद्वन्द्वी रूप में उठते हैं। परिणाम क्या होता है? पहले विश्वयुद्ध में जर्मनी को अफरीका के अपने सब उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ता है और इस विश्वयुद्ध में इतालवी उपनिवेशों की वही गति होती है और ठेठ युरोप में? ठेठ युरोप में भी जर्मनी की सामरिक शक्ति चूर हो जाती है, उसे खरबों हरजाना भरना पड़ता है, और ब्रितानिया के कठपुतली राष्ट्रों का एक राष्ट्रसंघ खड़ा हो जाता है।

यह कहना कि ब्रितानिया की यह हैसियत उसकी नौ-शक्ति के कारण रही अपने को और दूसरों को धोखा देना है। अठारहवीं शताब्दी तक चाहे जो बात रही हो, उसके बाद से ब्रितानिया की यह हैसियत इसलिए रही कि भारत के न केवल प्राकृतिक साधनों और सामग्री पर उसका पूरा अधिकार था, प्रत्युत भारतीय प्रजा की मांसपेशियों और मस्तिष्कतन्तुओं की कुल शक्ति भी उसका हथियार बनी रही। यदि हम विश्व-राजनीति की उन घटनाओं में से एक एक की छानबीन करें—सन् १८७७-७८ में रूस को कुस्तुन्तुनिया ले लेने से रोकने को अंग्रेजों ने माल्ता में कौन सी सेना भेजी, १८८२ में मिस्र में अरबी पाशा को दबाने से फ्रांसीसी क्यों बाज़ आये और अंग्रेजों ने किस फौज से और किस देश की मालगुजारी में से लिये हुए खर्चे से उसे आसानी से दबा दिया, १८८५ में उत्तरी बरमा के फ्रांसीसियों के हाथ चले जाने से पहले अंग्रेजों ने उसे किन साधनों से धर दबोचा, १८९६ में उनकी किस सेना के सामने फ्रांसीसियों को फ़शोदा से हटना पड़ा, इत्यादि—तो प्रत्येक मामले में हम भारत की शक्ति का स्पष्ट प्रभाव देखेंगे। ब्रितानिया की पिछले सवा सौ साल से दुनिया में जो हैसियत रही, बिलकुल उसके भारतीय साम्राज्य के कारण;—उसकी दूसरे राष्ट्रों से बढ़ी-चढ़ी नौ-शक्ति की उसमें केवल इतनी देन रही कि वह दूसरे राष्ट्रों को भारत तक पहुँचने से रोके रखती।

इधर हाल [१९४०-४१] की घटनाओं से एक नया प्रश्न उपस्थित हो गया है। भारतीय सैनिक इस बार फ्रांस में जर्मनों की बाढ़ नहीं रोक

सके। इसका कारण यह हुआ कि आज एक नई युद्ध-शैली निकल आई है। आज की यन्त्रसज्ज सेनाओं में प्रत्येक सैनिक को शिल्प का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। पर भारतीय सैनिक अंग्रेजों का हथियार इसी कारण बनता रहा है कि वह खुद जाहिल था। यदि उसे यान्त्रिक ज्ञान दिया जाय तो शायद उसका दिमाग इतना जाग जाय कि वह दूसरे का हथियार बनता ही छोड़ दे। इसी से यह प्रश्न होता है कि गुलाम और जाहिल भारतीय सेना स्वतन्त्र राष्ट्रों की नई यन्त्रसज्ज सेनाओं का क्या आगे भी उसी प्रकार मुकाबला करती रह सकेगी जैसा पिछली शताब्दी में करती रही है। दूसरे, भारत के कच्चे माल का उपयोग भी ब्रितानिया यहाँ शिल्पों का पनपना रोक कर ही कर पाता रहा है। पर पहले विश्वयुद्ध में ही ब्रितानिया की नौ-शक्ति इतनी नहीं रही थी कि युद्ध के बीच भारत से कच्चा माल ले जाती और वहाँ से तैयार शस्त्र फिर ईराक-फिलिस्तीन तक आसानी से लाती रह सकती। उस युद्ध के बाद १६२२ के वाशिंगटन के ठहराव में ब्रितानिया को अपना सौ बरस पुराना यह दावा छोड़ना पड़ा था कि दुनिया के सबसे बड़े दो राष्ट्रों के बराबर उस अकेले का जंगी बेड़ा होगा। इस बार के युद्ध में भारत के शिल्पों का यथेष्ट विकास न होना ब्रितानवी साम्राज्य की बड़ी कमजोरी का कारण हो रहा है। आगे यदि भारत में शिल्पों का विकास होने दिया गया तो क्या भारत का पूरा विदोहन हो सकेगा? क्या उसे अधीन बनाये रक्खा जा सकेगा? और यदि नहीं होने दिया गया तो शत्रुओं से—खासकर नजदीक के शिल्प-विज्ञान-सम्पन्न जागृत शत्रुओं से—उसकी रक्षा कैसे की जा सकेगी?

पर ये प्रश्न भविष्य से सम्बन्ध रखते हैं, और हमें तो यहाँ अतीत से ही मतलब है। पिछले एक सौ चालीस बरस के विषय में हम उपर्युक्त घटनाओं के आधार पर निश्चय से कह सकते हैं कि इस युग की विश्व-राजनीति का केन्द्रविन्दु भी भारत ही रहा है। और भारत ने इस युग की विश्व-राजनीति को किस प्रकार प्रभावित किया है? हम भारतीयों की महत्त्वाकांक्षा भले ही अंग्रेजों का सिपाही बाबू या लाट-कौंसिल का मेंबर

बन जाने से तृप्त हो जाती रही हो, जर्मनी जैसे राष्ट्रों के लोग अपने को अंग्रेजों से तिल भर भी नीचा नहीं देख पाते रहे। ब्रितानिया की जो शक्ति भारत की विशाल साधन-सामग्री के कारण रही, वे उसका मुकाबला अपने थोड़े से साधनों से करना चाहते रहे। यों दुनिया में शस्त्रास्त्र-संग्रह की होड़ चली रही। जब कभी उस होड़ को रोकने की—"निःशस्त्रीकरण" की—बात आती, ब्रितानिया अपनी कम से कम जरूरतें उतनी बतलाता जितनी से वह अपने साम्राज्य को काबू रख सके। दूसरे युरोपी राष्ट्र भी जो अपने में अंग्रेजों से कोई कमी न देखते, उनसे अधिक पीछे रहने को क्यों राजी होते ? इस प्रकार, भारत का अंग्रेजों के हाथ में होना पिछले एक सौ चालीस बरस में विश्व की अशान्ति का प्रमुख कारण बना रहा है।

हमने देखा कि अफरीका-एशिया की पुरानी जातियों में से एक भारतीय ही ऐसे निकले जो अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को आँख मूँद कर दूसरे के हाथ सौंप देते रहे। हमने देखा कि हमारे इस असाधारण बर्त्ताव के कारण ब्रितानिया की विश्व में असाधारण हैसियत बन गई, और उसके साथी राष्ट्र भी उस हैसियत तक पहुँचने की बार-बार कोशिश करते रहे। इन दोनों बातों से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि विश्व की गत एक सौ चालीस बरस की अशान्ति का बीज हम भारतीयों का यह असाधारण और अमानुष बर्त्ताव ही था। युरोप का एक छोटा-सा राष्ट्र अपनी शक्ति अपने पड़ोसियों की अपेक्षा कुछ बढ़ा कर एक सुदूर राष्ट्र तक पहुँच गया और उसी के साधनों से उसे बाँधने में समर्थ हुआ। एक बार बँधते ही इस विशाल राष्ट्र ने अपनी सब शक्ति इस छोटे राष्ट्र के हाथ इस प्रकार सौंप दी कि वह छोटा राष्ट्र बीस गुना शक्तिशाली हो गया! उसके पड़ोसी देखते ही रह गये, और वे सोचते कि उनकी किस्मत भी इसी तरह क्यों न जगे। उनमें भी शक्ति बढ़ाने की होड़ लग गई। पर यदि अपनी शक्ति के द्वारा कोई राष्ट्र हमारे राष्ट्र पर कब्जा कर के भी हमारी सब मानव शक्ति का अपने लिए उपयोग न कर

सकता, जैसा कि ब्रितानिया दो बार अफगानिस्तान पर कब्जा करने के बाद भी नहीं कर सका, तो ऐसी असाधारण स्थिति क्यों पैदा होती ?

क्या हमारी यह आदत हमारा त्रैकालिक स्वभाव है या इस विशेष युग की उपज है ? क्या इस आदत को हम छोड़ सकते हैं ? ऐतिहासिक के लिए यही प्रश्न सबसे महत्त्व का है ।

§११. भारत का नव जागरण

अपने इतिहास का अनेक युगों में जो पर्यालोचन हमने किया है उसकी रोशनी में यह बात स्पष्टतः गलत सिद्ध होती है कि इस प्रकार महत्त्वाकांक्षा से हीन होना और दूसरों का हथियार बने रहना हमारी जाति की त्रैकालिक प्रकृति है। हमने मुगल-मराठा युग की मोहनिद्रा को देखा-समझा है और सन् १८४६ तक उसकी गति-विधि को टटोला है। पिछले पचानवे बरसों (१८४७–१९४१) में उसमें कहाँ तक परिवर्तन हुआ है ? यह स्पष्ट है कि हमारी वह मोहनिंद्रा अभी तक बहुत-कुछ जारी है, क्योंकि यदि वह जारी न होती तो हमारे राष्ट्र का यह असाधारण बर्त्ताव न होता ।

पर क्या भारतवर्ष में शिक्षा का इतना प्रसार होने पर भी अभी तक मोहनिद्रा जारी है ? इसका उत्तर यह है कि हमारे अंग्रेज़ी साहित्य या अंग्रेज़ी कानून को पढ़ लेने भर से तो अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । मोहनिद्रा इस बात में थी कि हम अपने सामने की वस्तुस्थिति को साधारण मानव की दृष्टि से न देखते और कल्पनाजगत् की—तथाकथित अध्यात्म की—बातों में उलझे रहते थे । आज क्या उस दशा में कोई परिवर्तन हुआ है ? तथाकथित अध्यात्म के साथ-साथ या उसके बजाय अब हम अंग्रेज़ी साहित्य या कानून की नफासतों की चर्चा करना सीख गये हैं—वह शिक्षा भी हमने केवल अपनी तुच्छ जीविका चलाने या समाज में अपनी हैसियत बनाने के लिए ली है—लेकिन इस मोटी और हर वक्त हमारे सामने आने वाली बात की ओर क्या हम आज भी

पूरा ध्यान दे रहे हैं कि सुदूर विदेश के मुट्ठी भर लोग हमारी ही शक्ति से हमें बाँधे हुए हैं? और यदि हम साधारण मनुष्य की तरह देखते-सोचते-बर्त्तते होते तो इस स्थिति की लाञ्छना को अनुभव न करते और इससे छूटने का हर सम्भव उपाय न करते ?

कहा जायगा कि शासन-सुधारों में हमने पिछली आधी शताब्दी में काफी प्रगति की है, और इसलिए अब हमें दुनिया की जातियों के बीच फिसड्डी न गिना जाना चाहिए। लेकिन उस समूची प्रगति से हमारे बन्धन की आधारभूत अवस्थाएँ तो ज़रा भी नहीं बदलीं। यदि हमारे शासन-सुधारों का अन्तिम ध्येय ब्रितानवी साम्राज्य के भीतर अच्छा पद पा लेना ही है, तो उस ऐतिहासिक की या विदेशों के उस साधारण स्वतन्त्र मनुष्य की दृष्टि में तो इन सुधारों से कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा जिसके सामने यही प्रश्न है कि भारत ब्रितानवी साम्राज्य में क्योंकर और किन कारणों से है। वे अवस्थाएँ तो ज्यों की त्यों मौजूद हैं जिनके कारण ऐसा है, और उनकी व्याख्या हमारी मोहनिद्रा के सिवाय कैसे हो सकती है ?

इतिहास के विद्यार्थी के सामने या मोटी मानव दृष्टि से देखने वाले किसी भी स्वतन्त्र विदेशी के सामने तो प्रश्न यही है कि क्या भारतीय अपने इन बन्धनों को देख नहीं सकता, क्या वह इनके साधारण से कारणों को समझ नहीं सकता, क्या उसमें इतनी भी बुद्धि या हिम्मत नहीं है कि इन्हें तोड़ने की बात सोच सके या तोड़ने का उपाय कर सके। इन प्रश्नों को खुद अंग्रेज भी सोचता है और हमारी असमर्थता पर आश्चर्य करता है। उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया के लोग हमारे इस अनूठे बर्त्ताव के कारण यह मानने लगे थे कि भारतीय दिमाग इन साधारण सांसारिक बातों को समझ ही नहीं सकता—वह लौकिक ज्ञान का उतना अंश लाचारी से पा लेता है जितने से उसकी साधारण जीविका चलती जाय, अन्यथा उसका सब ध्यान कल्पना-जगत् में केन्द्रित रहता है। हमारे अंग्रेज़ी-पढ़े राजनीतिक अगुओं की कुल माँग कुछ शासन-सुधारों और कुछ ऊँची नौकरियों की थी; इससे वे सोचते कि अंग्रेज़ी

शिक्षा से भारतीय की महत्त्वाकांक्षा और भी मारी जाती है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले हिस्से में दयानन्द और बंकिमचन्द्र ने पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श फिर से सामने रक्खा, और उसके बाद से हमारे देश ने कुछ ऐसे ऊँची कोटि के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक पैदा किये जिन्होंने दिखला दिया कि ज्ञान के किसी भी पहलू में भारतीय मस्तिष्क आधुनिक युरोप का पूरा मुकाबला कर सकता है। यदि भौतिकी रसायन जीवविज्ञान (बायोलोजी) और इतिहास की खोज में आज का भारत उच्चतम दर्जे की प्रतिभा दिखा सकता है, तो क्या सामरिक या नाविक विज्ञान में या युद्धकला में वह वैसी ही प्रतिभा नहीं दिखा सकता? यदि दुनिया के सब से अच्छे योद्धा लाखों की संख्या में भारत पैदा कर सकता है, तो क्या उन योद्धाओं के कुछ सौ नेता-संचालक वह पैदा नहीं कर सकता? और वे योद्धा और उनके नेता अपने और अपने भाइयों के गले में बन्धन बाँधने के बजाय क्या अपने को स्वाधीन नहीं कर सकते?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें अपने ठोस कार्यों से देना होगा। और हमें यह कहना पड़ता है कि पिछले चालीस बरसों की अपनी कृति से हमने इसका जो उत्तर दिया है, उससे यह परिणाम निकले बिना नहीं रहता कि हमारी आँखें अभी पूरी तरह खुली नहीं हैं। उन लोगों की बात जाने दीजिए जो स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में दुनिया के दूसरे राष्ट्रों के बराबर अपने खड़े होने की कल्पना भी नहीं करते रहे, जो किसी विदेशी साम्राज्य की छाँह में ही रहना चाहते रहे हैं;—उनकी मनुष्यता की उड़ान बहुत ही नीची है। अपने उन महान् नेता और उनके सहयोगियों की ओर ध्यान दीजिए जिन्होंने पिछले बीस बरस में देश में उत्कट राजनीतिक चैतन्य पैदा कर दिया और देशव्यापी राष्ट्रीय संघटन खड़ा कर दिया है। उनका यह काम बड़े महत्त्व का है इसमें सन्देह नहीं, और इसकी बदौलत आज हमारे यहाँ ऐसा लोकमत तैयार हो गया है जिसे दबाया नहीं जा सकता। किसी भी निर्वाचन या मतगणना में मिथ्या प्रचार रिश्वत और सब तरह के दबाव के मुकाबले में राष्ट्रीय दल की

जीत होना आज निश्चित है। इसका यह अर्थ है कि भारत की जनता में स्वतन्त्रता की स्पष्ट इच्छा आज जाग चुकी है। पर केवल इच्छा से तो अभीष्ट नहीं मिल जाता; जो पाने की हमारी इच्छा है, क्या उसे ले लेने की शक्ति भी हममें जगी है? क्या केवल लोकमत से सैनिक शक्ति को जीता जा सकता है? क्या कारण है कि आज हमारे ये महान् नेता लोकमत को जगाने के आगे एक कदम भी बढ़ने की हिम्मत नहीं करते? उस सैनिक शक्ति की ओर वे आँख उठा कर भी नहीं देखते जिसने हमारे राष्ट्र की मुश्कें बाँध रक्खी हैं? वे उसे एक भयंकर संघटित शक्ति माने हुए हैं जिसे तोड़ने की वे कल्पना भी नहीं करते। यदि वे ज़रा आँख खोल कर देखें तो स्पष्ट पहचान लें कि यह हमारी ही बाहुओं की शक्ति है जिसे हमारी बेहोशी में हमारे खिलाफ बरता जा रहा है। यदि वे ज़रा आँखें खोल कर देखें तो स्पष्ट समझ लें कि अपने देश में काफी से ज्यादा ऐसी प्रतिभा मौजूद है जो उस शक्ति का ठीक दिशा में संचालन कर सकती है, उस प्रतिभा को केवल ठीक शिक्षा देने की ज़रूरत है, और वैसी शिक्षा का संघटन कर लेना उन (हमारे नेताओं) के लिए बहुत ही सुकर है। लेकिन वे इस रोज दिखाई देने वाले ठोस सत्य की ओर देखते ही नहीं। हमने देखा है कि महमूद बेगड़ा और अकबर से ले कर औरंगज़ेब और बाजीराव तक हमारे सब राष्ट्रनेता युरोपियों की नौ-शक्ति से व्यर्थ में ही डरते रहे, वे कभी आँख खोल कर देखते तो स्पष्ट जान लेते कि उससे प्रबल नौ-शक्ति खड़ी कर लेना उनके लिए बाँये हाथ का खेल था। हमने देखा है कि बालाजीराव से रणजीतसिंह तक हमारे राष्ट्रनेता अंग्रेजों की भारतीय सेना को व्यर्थ में ही हौआ मानते रहे; वे ज़रा आँखें खोल कर देखते तो स्पष्ट पहचान लेते कि उस सेना को हस्तगत कर लेना उनके लिए अंग्रेज़ों से कहीं अधिक सुकर था। हमें अपने आज के नेताओं के विषय में भी क्या वही बात नहीं कहनी चाहिए? उनकी अहिंसाबल से एक साम्राज्य को तोड़ देने की कल्पना और पुकार क्या वस्तुस्थिति से भागने की उसी प्रवृत्ति की उपज

नहीं हैं ? और जहाँ वे अहिंसा द्वारा दुनिया में शान्ति-स्थापना की बातें करते हैं, वहाँ वे यह क्यों नहीं देखते कि उसी अहिंसा की सनक की बदौलत उनका अपनी गुलामी के मूल कारण से आँखें फेरे रखना—भारत के जवानों को विदेशी का भाड़े का सिपाही बनने से रोकने के लिए कभी तिनका भी न हिलाना—विश्व की अशान्ति का और अनेक देशों की गुलामी का भी मूल कारण हो रहा है ?

लोकमत के उक्त प्रसिद्ध नेताओं के अतिरिक्त हमारे देश में कई क्रान्तिकारी दल पिछले चालीस बरस से काम कर रहे हैं। उनके दिमाग तो किसी सनक में उलझे नहीं रहे, किसी कल्पना के मकड़ी-जाले से उनकी आँखें ढकी नहीं रहीं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए वे कुछ भी करने को सदा तैयार रहे। पर उन्होंने भी राष्ट्र की गुलामी के इस मुख्य प्रश्न की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया ? वे प्रतिहिंसा के कार्यों आपसी झगड़ों या अन्य छोटी बातों में उलझ कर इस मुख्य कार्य को क्यों भूले रहे ? प्रकट है कि वे भी अभी तक पूरी सुलझी दृष्टि से इस प्रश्न को देख नहीं पाते।

हमारे राष्ट्र ने जो बड़े बड़े वैज्ञानिक इधर पैदा किये हैं, क्या वे कभी इस बात को सोचते हैं कि सामरिक विज्ञान की ओर भी उनके कुछ साथी ध्यान दें तो उनके राष्ट्र की सामूहिक रूप से आज जो दुर्दशा है वह दूर हो जाय ? वे लोग तो इस भ्रम में हर्गिज़ न फँसेंगे कि हमारा राष्ट्र इस काम के योग्य प्रतिभा पैदा नहीं कर सकता। तब कठिनाई क्या है ? कठिनाई उन्हें यह दिखाई देगी कि ऐसी प्रतिभा वाले युवकों के लिए शिक्षा का संघटन कैसे हो और वे अभीष्ट शिक्षा पा भी लें तो उसे चरितार्थ कैसे करें। एक तरफ हमारे राष्ट्रनेता हैं जिनमें अच्छी संघटन-शक्ति है, दूसरी तरफ हमारे वैज्ञानिक हैं जिनमें उच्चतम प्रतिभा है, पर दोनों एक दूसरे को खोज-देख नहीं पाते; क्या इसका यह अर्थ नहीं कि नींद का प्रभाव अभी दोनों की आँखों में बाकी है ?

राजनीतिक कर्मियों का एक सबसे नया दल हमारे देश में है जो अपने को साम्यवादी या समूहवादी कहते हैं। वे उठते-बैठते सोते-जागते

क्रान्ति की बातें करते हैं—न केवल भारत में प्रत्युत दुनिया भर में क्रान्ति की। उनकी बातें तो ऐसी हैं कि क्रान्ति मानो उनके बायें हाथ का खेल हो। लेकिन इन सब बातों के होते हुए क्या वे भारत की गुलामी की मुख्य समस्या के नज़दीक भी फटकते हैं ? यदि उनका ख्याल हो कि देसी सूती मिलों में सामूहिक हड़ताल करा देने से ब्रितानवी साम्राज्य का ढाँचा भड़भड़ा कर गिर पड़ेगा तो वे सिर्फ अपने को धोखा दे रहे हैं। हमने अपने मुगल-मराठा युग के पुरखों के विषय में देखा है कि वे आँखों के सामने की साधारण वस्तुस्थिति को न देख कर कल्पना-जगत् की मिथ्या-आध्यात्मिक बातों में उलझे रहते थे। क्या हम अपने इन समकालिक साथियों के विषय में नहीं कह सकते कि ये भी अपनी आँखों के सामने के ठोस प्रश्न को न देख कर स्पेन चीन और सब विलायतों की कल्पनाओं में उलझे रहते हैं ? जो आदमी अपने प्रत्यक्ष अनुभव के पीछे नहीं चलता, वह शब्द प्रमाण पर—आप्त वाक्य पर—निर्भर रहता है। हमारे मध्य काल और मुगल-मराठा युग के पुरखा अपने प्राचीन पूर्वजों के ग्रन्थों—वेद स्मृति पुराण—से अपना रास्ता देखना चाहते थे। हमारे ये समकालिक साथी युरोप के सबसे नये आप्त वाक्यों से अपना रास्ता देखना चाहते हैं। प्रत्यक्ष वस्तु से दूर भागने की आदत दोनों में एक सी है, पुरानी अफीम का स्थान केवल नई कोकेन ने ले लिया है; वे एक मानसिक नशे के पीछे चल रहे हैं। पहले व्याख्यान में उद्धृत मुल्कराज आनन्द की बातों पर ही ध्यान दीजिए। कितनी काल्पनिक, वस्तुस्थिति और अनुभवगम्य ज्ञान से कितनी दूर वे बातें हैं! पर वे बातें केवल एक व्यक्ति की बहक को नहीं, इस समूचे समुदाय की प्रवृत्ति को सूचित करती हैं। और वह प्रवृत्ति है सुदूर देशों की नये से नये फैशन की बड़ी-बड़ी बातों में अपने को भुला कर अपनी आँखों के सामने के कठिन प्रश्न से छुटकारा पाने की। क्या यह मोह-निद्रा की उपज नहीं है ?

अपने समकालिक महापुरुषों की प्रवृत्तियों की छानबीन करना बड़ा कठिन बड़ा खतरनाक और बड़ा गुस्ताखी-भरा काम है। पर अपने राष्ट्र

के इतिहास की धारा को अन्त तक समझने की कोशिश में—अपने राष्ट्र का सच्चा-सच्चा आत्मपर्यवेक्षण करते हुए—मुझे वह काम भी करना पड़ गया है। इस गुस्ताखी के लिए मेरी सफाई यही है कि मैंने सर्वथा शुद्ध भाव से—अपने जानते पूरी ईमानदारी से—किसी भी व्यक्तिगत बात से प्रभावित हुए बिना यह पर्यालोचन किया है।

भारत के आज के नव-जागरण को हम छोटा समझें या बड़ा, थोड़ा महत्त्व दें या अधिक, उसका मूल्य आँकने की एक ही कसौटी है, और वह यह कि हमारी मध्य युग से चली आती निश्चेष्टता और उससे पैदा हुई परवशता को मिटाने की ओर—हमारी मोहनिद्रा को तोड़ने की ओर—वह कहाँ तक अग्रसर हुआ है।

———

दसवाँ व्याख्यान*

उपसंहार

§१. भारत के राजनीतिक इतिहास में विकास ह्रास और पुनरुत्थान का क्रम

पिछले व्याख्यानों में भारत के राजनीतिक इतिहास का जो पर्यालोचन हुआ है, उसमें उसके चढ़ाव-उतार का निम्नलिखित क्रम हमने स्पष्ट रूप से देखा है।

प्रायः २००० ई० पू० से छठी शताब्दी ई० के आरम्भ तक आर्यावर्ती जाति लगातार बढ़ती और फैलती, नये देश खोजती-बसाती और उनमें नये राज्य स्थापित करती चलती है। बीच-बीच में कुछ संकटों और विपत्तियों में से उसे अवश्य गुज़रना पड़ता है, पर उनसे उसकी शक्ति और भी चमक उठती है।

छठे शतक के मध्य पर पहुँच कर उसका विकास या आगे बढ़ना रुक जाता है, तो भी एक अरसे तक वह अपने अधिकृत देश पर डटी रहती है। ग्यारहवें शतक तक उसे अपने कुछ सीमा-प्रदेश छोड़ने पड़ते हैं, तो भी बारहवें शतक के पिछले भाग तक उसकी भूमि का मुख्य भाग उसके हाथ में बना रहता है। परन्तु उस शतक के अन्त तक आर्यावर्त्ती राज्य भीतर से इतने बोदे हो चुकते हैं कि दो-चार ठोकरें लगते ही वे भड़भड़ा कर गिरने लगते हैं। यह गिरने, कहीं फिर खड़े होने की कोशिश

---

* १२ सितम्बर १९४१ को दिया गया।

करने, रक्षापरक लड़ाइयाँ लड़ने और मिटने का सिलसिला पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक जारी रहता है।

इसी शताब्दी में भीतरी धार्मिक संशोधन होता दिखाई देता है जिसके फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी से राजनीतिक पुनरुत्थान होता है जो डेढ़ सौ बरस में अपना प्रभाव सारे देश में दिखाता है। किन्तु यह पुनरुत्थान अधूरा रहता है, और इससे पैदा हुए राज्यों का ज्यों ही यूरोपीय आगन्तुकों से, जो कि सोलहवीं शताब्दी से भारत के समुद्र में पैर जमा चुके थे, सामना होता है, वे राज्य मुँह के बल गिरते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय राष्ट्र के जीवन का सबसे अँधियारा युग है, जब कि विदेशी युरोपियों के किये दमन और विदोहन से उसके प्राण निकलते जान पड़ते हैं। पर वह आपत्ति ही पुनर्जागरण का कारण होती है। वह पुनर्जागरण हमारी आँखों के सामने हो रहा है, और उससे प्राचीन विकास-काल की शक्ति फिर आने की आशा हम करते हैं।

§२. भारतीय राज्यसंस्था में विकास ह्रास और पुनरुत्थान की प्रक्रिया

राजनीतिक इतिहास को अर्थात् राजनीतिक घटनाओं के इतिहास को छोड़ कर जब हम राज्यसंस्था के इतिहास पर अर्थात् विभिन्न युगों में राज्य और उसके अंगों के संघटन और कार्य करने की पद्धतियों के इतिहास पर ध्यान देते हैं, तब भी उसी परिणाम पर पहुँचते हैं। प्राचीन-भारतीय-राज्यसंस्था-विज्ञान के जन्मदाता आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने अपनी अमर कृति **हिन्दू राज्यसंस्था** के पहले खण्ड में प्राचीन भारतीय गणराज्य-संस्था का और दूसरे खण्ड में एकराज्यसंस्था का मार्ग टटोला है। पहले खण्ड के अन्त में उन्होंने लिखा—

"पाँचवीं शताब्दी के अन्त के साथ आर्यावर्त से गण-राज्यों का लोप हो जाता है।......अगली शताब्दी में इतिहास के मंच से हिन्दुओं की वैधानिक शासनपद्धति भी विदा हो जाती है। वैदिक पुरखाओं के ज़माने

से जितनी अच्छी बातें चली आती थीं, पहली ऋचा के रचना-काल से जो कुछ उन्नति की गई थी, राज्य के ढाँचे में जीवन फूँकने वाला जो कुछ था, वह सब देश से विदाई ले लेता है।...इस विदाई के वास्तविक कारण...अभी तक पहचाने नहीं जा सके।

"५५० ई० के बाद से हिन्दू इतिहास पिघल कर केवल उज्ज्वल जीवनचरित बाकी रह जाते हैं—अकेले दुकेले रत्न जिनमें राष्ट्रीय या सामूहिक जीवन की डोर न पड़ी थी। हमें महान् पुण्यात्माओं और महान् पापियों से वास्ता पड़ता है...पर वे साधारण सतह से इतने ऊँचे हैं कि उनकी केवल दीन भाव से स्तुति या पूजा की जाती है। जनसमूह स्वतन्त्रता की साँस लेना बन्द कर देता है। इस ह्रास के कारण भीतरी ही होने चाहिएँ और उनकी खोज अभी बाकी है।"

दूसरे खण्ड का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा—

"७०० ई० के बाद का युग अन्धकार और विशरण का है। लोकतंत्री संस्थाएँ और हिन्दू परम्पराएँ मुरझाती गईं। इसके कारणों की खोज, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, अभी बाकी है।"[१]

उस खोज को अभी हम मुल्तवी रक्खेंगे। इस ग्रन्थ के पहले पाँचों

---

१. काशीप्रसाद जायसवाल (१९१२–१९१८)—हिन्दू पौलिटी (हिन्दू राज्य-संस्था) खण्ड १ पृ० १६५, खण्ड २ पृ० २०५। जायसवालजी ने यह कृति पहले हिन्दी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९१२ के भागलपुर अधिवेशन में प्रस्तुत की थी। १९१३ में उन्होंने इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'मौडर्न रिव्यू' में प्रकाशित कराया, १९१८ में उसे दोहरा कर पुस्तक रूप में प्रकाशन के लिए भेजा, पर १९२४ में वह छप कर निकल पाया। इस प्रसंग में मुझे उनके मूल हिन्दी लेख को देखने की उत्सुकता हुई, पर भागलपुर सम्मेलन के कार्यविवरण के साथ वह छपा नहीं मिला। इसी प्रकार सम्मेलन के १९३८ के शिमला अधिवेशन के कार्यविवरण में वहाँ इतिहासपरिषद् के स्वागताध्यक्ष रूप से पढ़ा हुआ श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित का विद्वत्तापूर्ण अभिभाषण नहीं छपा, यद्यपि और सब तरह की बातें छपी हैं। प्रकटतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकारियों की दृष्टि में ऐसी कृतियों का कोई मूल्य नहीं है।

खण्ड पूरे हो जाने पर उपसंहार वाले छठे खण्ड में इस विषय की मीमांसा करना अभीष्ट है। पर इतना तो स्पष्ट ही है कि जब राज्यसंस्था में अर्थात् जनता की सामूहिक कार्य करने की शक्ति प्रवृत्ति और आदत में भीतर से ह्रास हो, तब उसका बाहर का राजनीतिक गौरव भी बना नहीं रह सकता। आखिर राज्यों को खड़ा करने और चलाने वाली शक्ति जनता की सामूहिक चेष्टा ही तो है।

§ ३. साहित्य विज्ञान कला और सामाजिक जीवन का विकास और ह्रास

यह भी स्पष्ट है कि उक्त ह्रास के कारणों तक पहुँचने में हमें सुविधा होगी यदि हम देखेंगे कि जीवन के और किन पहलुओं पर भी उसका प्रभाव पड़ा था।

क्या हम यह नहीं देखते कि भारतीय साहित्य की सब से अधिक जानदार और ओजस्वी कृतियों का सिलसिला प्रायः गुप्त युग पर आ कर समाप्त हो जाता है? भवभूति राजशेखर और कल्हण जैसे अपवाद मध्य काल में भी मिलते हैं, पर बाकी लेखकों का ज़ोर अलङ्कार और शब्दाडम्बर पर ही रह जाता है जो क्रमशः बढ़ते जाते हैं।

प्राचीन भारतीय विज्ञान की खोज जिन विद्वानों ने की है वे भी इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि विज्ञान में हिन्दुओं की पहली देन बड़े ही महत्त्व की और आशाजनक थी, पर छठी शताब्दी के करीब आ कर उसकी प्रगति एकाएक रुक जाती है।

दर्शन का आधार विज्ञान है, पर जब उस आधार के बिना वह आगे बढ़ने लगता है तब उसकी कल्पनाएँ उच्छृंखल हो जातीं और उसकी प्रवृत्ति बाल की खाल उधेड़ने की हो जाती है। मध्य काल से भारत का दार्शनिक चिन्तन भी एकाध अपवाद को छोड़ कर प्रायः इसी तरह बाँझ होने लगता है।

भारतीय कला के गुप्त युग के बाद ह्रास को प्रायः प्रत्येक कला-

आलोचक ने पहचाना है। विन्सेंट स्मिथ को भारत के राजनीतिक इतिहास में परिणति का कोई क्रम दिखाई नहीं दिया, पर कला के इतिहास में दिया है। गुप्त युग के बाद से उन्होंने कला का स्पष्ट ह्रास देखा और उसे देखते हुए गुप्त युग के अन्त के साथ प्राचीन काल का अन्त और मध्य काल का आरम्भ माना।[२] राय कृष्णदास के शब्दों में "गुप्त साम्राज्य के साथ हमारे जीवन की स्फूर्ति का अन्त हो गया।" उत्तर मध्य काल के विषय में वे कहते हैं—"यह वह समय है जब हमारे कलाकारों की कल्पना अपनी प्रौढ़ावस्था को पार करके बुढ़ापे में प्रविष्ट हो चुकी थी। फलतः...(वे) कलाकार न रह कर शिल्पी मात्र रह गये थे। अर्थात् उनका हृदय नहीं मस्तिष्क काम कर रहा था—वे कोई नई उपज न कर सकते थे।"[३]

राजनीति साहित्य विज्ञान और कला के इतिहास में हम जो बात पाते हैं, वही सामाजिक जीवन में भी पायेंगे। जातपाँत और छूतछात वस्तुतः मध्य काल की उपज हैं—सुदूर देशों को खोजने-बसाने वाला प्राचीन हिन्दू इन बन्धनों में अपने को जकड़ नहीं सकता था।

अपने इतिहास के इन सब पहलुओं पर हम कोई और अच्छा अवसर मिलने पर विचार करेंगे। इन सब पहलुओं को देख चुकने के बाद विकास और ह्रास की इन प्रवृत्तियों के कारणों की मीमांसा करना सुगम होगा।

§४. भारतीय इतिहास का युगविभाग

किन्तु उस विकास-और-ह्रास-रूप परिणति के कारणों तक पहुँचे बिना भी उसके मार्ग को देखते हुए ही हम भारतीय इतिहास का युगविभाग कर सकते हैं।

---

२. विन्सेंट स्मिथ (१९११)—ए हिस्टरी ऑफ़ फ़ाइन आर्ट इन इंडिया ऐंड सीलोन (भारत और सिंहल की ललित कला का इतिहास) पृ० १८१।

३. कृष्णदास (१९३९)—भारतीय मूर्तिकला पृ० १०५, ११३।

भारतीय जाति के विकास-काल को अर्थात् छठी शताब्दी ई० के मध्य के लगभग समाप्त होने वाले काल को हम भारत के इतिहास का प्राचीन काल कहते हैं। उसके बाद के प्रायः १००० वर्षों को, जिनमें पहले विकास रुका रहा, फिर सडाँद शुरू हुई और ह्रास होने लगा, हम उसका मध्य काल कहते हैं। और अन्त में पुनरुत्थान और उसकी विफलता की अवधि को हम अर्वाचीन काल कहते हैं। इन कालों की सीमाएँ हमने क्रमशः ५४० ई० और १५०६ ई० पर रक्खी हैं। इन तीनों कालों को फिर जिन अनेक युगों में हमने बाँटा है, वे स्वतः स्पष्ट हैं।

हमारे इतिहास के अनेक प्रामाणिक आचार्यों ने इस प्रकार के काल-विभाग को पहले से ही सुविधाजनक पाया है। फ्रांसीसी विद्वान् य्हूव्हो द्युब्रईय ने अपने दक्खिन भारत के इतिहास में ५४० ई० के करीब प्राचीन काल की समाप्ति करते हुए लिखा था कि इसके आगे मध्य काल है।[४] श्री चिन्तामण विनायक वैद्य ने ५४० ई० से जो इतिहास शुरू किया, उसे मध्य-कालीन भारत का इतिहास कहा।[५] श्रद्धेय ओझाजी ने भी छठी से बारहवीं शताब्दी तक भारतीय कृष्टि के इतिहास को "मध्य-कालीन भारतीय संस्कृति" नाम से उपस्थित किया।[६] विकास और ह्रास के उक्त क्रम के विषय में उक्त विद्वानों ने विशेष मीमांसा चाहे नहीं की, तो भी ऐसा जान पड़ता है कि उस प्रक्रिया को उन्होंने पहचाना और उस पहचान के ही आधार पर इस तरह का काल-विभाग और नामकरण किया।[७]

---

४. य्हूव्हो द्युब्रईय (१९२०)—एन्श्यैंट हिस्टरी ऑफ दि डेक्कन (दक्खिन भारत का प्राचीन इतिहास, मूल फ्रांसीसी ग्रन्थ का अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ६, ११४।

५. चिं० वि० वैद्य (१९२१)—हिस्टरी ऑफ़ मेडीवल हिन्दू इंडिया (मध्य कालीन हिन्दू भारत का इतिहास)।

६. गौ० ही० ओझा (१९२८)—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।

७. दे० नवपरिशिष्ट १०।

आज हम कहाँ हैं और किधर जा रहे हैं इसे हम अपने अतीत के सारे मार्ग को एक दृष्टि से देखते हुए ही पहचान सकते हैं। अपने अतीत को वैसी एक दृष्टि से दिखाने का जो प्रयत्न मैंने इन व्याख्यानों में किया है आशा है उससे हमारी आज की स्थिति स्पष्ट हुई होगी और भविष्य का मार्ग भी आलोकित होगा।

भारतीय इतिहास की मीमांसा

[भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान]

नव-परिशिष्ट



नव-परिशिष्ट १

(दूसरे व्याख्यान का)

आहत सिक्कों का अनुशीलन

[दे० ऊपर पृ० ४३]

अनेक चिह्नों वाले पर बिना किसी लेख के चाँदी के आहत सिक्के जो अफ़गानिस्तान से बिहार तक हज़ारों एक-एक ढेरी में मिलते रहे, हमारे प्राचीनतम इतिहास की अत्यन्त कीमती सामग्री हैं। इन सिक्कों पर के चिह्न साँचे में ढाल कर नहीं प्रत्युत छैनी से ठोक कर बनाये होते हैं, इसलिए इन्हें आहत (पीटे हुए) सिक्के कहते हैं। उन्नीस-सौ-तीसों तक इनकी ढेरियों से केवल इतनी बात सिद्ध हुई थी कि ये भारत की प्राचीनतम मुद्रापद्धति को सूचित करते हैं जो कम से कम ६०० ई० पू० से इस देश में चलती थी और जिसके कारण यह प्रकट था कि भारत की मुद्रापद्धति भारत में ही पैदा हुई।

पहलेपहल बनारस के स्व० बाबू दुर्गाप्रसाद ने इन सिक्कों पर पाये जाने वाले चिह्नों का सावधानी से वर्गीकरण किया।[1] उस वर्गीकरण और छानबीन से इनके अध्ययन का एक नया रास्ता खुल गया। दुर्गाप्रसादजी ने बताया कि इनपर के कुछ चिह्न स्थानीय हैं, पर कुछ ऐसे हैं जो अफ़-गानिस्तान से बिहार तक के सिक्कों पर पाये जाते हैं, इसलिए वे किसी

---

१. दुर्गाप्रसाद (१९३४)—क्लासिफिकेशन ऐंड सिग्निफिकैंस ऑफ़ दि सिम्बल्स ऑन दि सिल्वर पंच-मार्क्ड कॉइन्स ऑफ एंश्येंट इंडिया (प्राचीन भारत के चाँदी के आहत सिक्कों पर के संकेतों का वर्गीकरण और अर्थ), ज० प्रो० ए० सो० बं० (नया सिलसिला) जि० ३० (१९३४) सं० ३, न्युमिस्मैटिक सप्लिमेंट (मुद्रानुशीलन परिशिष्ट) सं० ४५, पृ० ५—५९ तथा फलक १—३२।

साम्राज्य को सूचित करते हैं। कुछ पुराने सिक्कों पर के चिह्नों की उन्होंने मुअनजो दड़ो की कृतियों पर के चिह्नों से समता दिखाई। पीछे जायसवालजी ने बताया कि साम्राज्य वाले सिक्कों पर के कुछ चिह्न वही हैं जो मौर्यों की अन्य कृतियों पर भी हैं, तथा एक वैसे सिक्के पर उन चिह्नों के अतिरिक्त उन्होंने अशोक के पोते दशरथ का नाम भी पढ़ा।

सन् १६४०-४१ में आधुनिक भारत के एक बड़े गणितशास्त्री डा० दामोदर धर्मानन्द कोसंबी ने अपनी वैज्ञानिक सूझ से आहत सिक्कों के अनुशीलन का एक और रास्ता निकाला। डा० कोसम्बी ने विभिन्न ढेरियों के सिक्कों की सामूहिक घिसाई का हिसाब अंकशास्त्र (स्टैटिस्टिक्स) की पद्धति से किया और उसके आधार पर यह निश्चय किया कि कौन कौन से नमूने के सिक्के कितना अरसा चलन में रहे। इससे न केवल उन सिक्कों को निकालने वाले राज्यों के जीवन पर प्रत्युत उस युग के वाणिज्य पर भी प्रकाश पड़ा। डा० कोसम्बी के लेखों में[2] कमाल की सूझ और ऊँचे गणित के साथ-साथ अनुश्रुति की व्याख्या के प्रसंग में काफी असंयत कल्पना और जहाँ तहाँ अप्रासंगिक अनावश्यक चर्चा मिली हुई है। तो भी उनके परिणाम अत्यन्त महत्त्व के हैं और उस युग के जीवन का जीवित चित्र सामने ला देते हैं। उनके अध्ययन से यह प्रकट हुआ है कि तक्षशिला उन दिनों पच्छिमी देशों और गंगा-काँठे के बीच वाणिज्य की बहुत बड़ी मंडी थी। गंगा-काँठे से वहाँ जितना माल आता था उससे अधिक जाता था, इस कारण बाकी मूल्य

---

२. डा० ध० कोसम्बी (१९४१)—(१) औन दि स्टडी ऐंड मेट्रोलोजी औफ सिल्वर पंच-मार्क्ड कौइन्स (चाँदी के आहत सिक्कों का अध्ययन और धातुविवेचन), न्यू इंडियन आंटिक्वेरी भाग ४ (१९४१); (२) औन दि ओरिजिन ऐंड डेवलपमेंट औफ सिल्वर कौइनेज इन इंडिया (भारत में चाँदी-सिक्कों का उद्भव और विकास), करेंट साइन्स भाग १० (१९४१) पृ० ३९५–४००। पहले लेख की अतिरिक्त छाप मेरे पास भेजने की कृपा डा० कोसंबी ने की थी, उसमें पृष्ठसंख्या पत्रिका की नहीं, प्रत्युत लेख की है, १ से ६२ तक।

चाँदी के सिक्कों के रूप में आता था। मगध साम्राज्य के चाँदी के सिक्के यों वहाँ मौर्यों से पहले दो-तीन शताब्दियों तक बराबर जमा होते रहे। पारसी साम्राज्य और मौर्य साम्राज्य के बीच सिक्कों की चार तहें हैं, जिनमें से अन्तिम स्पष्टतः एक नये राज्य की इसलिए महापद्म नन्द की है। उससे पहली तह नन्दिवर्धन या नन्द [=पूर्व नन्द] की है, जो शैशुनाकों का सीधा वंशधर न होते हुए भी शैशुनाक वंश से किसी तरह सम्बद्ध प्रतीत होता है। **नव नन्द** का अर्थ जायसवालजी ने नौ नन्द के बजाय **नये नन्द** किया था; डा० कोसंबी ने भी वही किया क्योंकि सिक्कों से नौ राजा नहीं प्रतीत होते। इसी प्रकार महापद्म से पहले का राजा भी नन्द या नन्दी था यह भी डा० कोसंबी का आग्रहपूर्वक कथन है [१, पृ० ४४ प्र०, विशेष कर पृ० ५१]। तक्षशिला से इन राजाओं के राज्य का घनिष्ठ वाणिज्य-सम्बन्ध था; गंधार देश पारस के बजाय मगध के वाणिज्य-क्षेत्र में चला गया था।

जायसवालजी ने राजा नन्दिवर्धन या नन्द की बौद्ध अनुश्रुति के कालाशोक से अनन्यता मानी थी और कालाशोक द्वारा कश्मीर तक चढ़ाई करने तथा नन्द की सभा में पच्छिमी गंधार के आचार्य पाणिनि के जाने की अनुश्रुति की ओर ध्यान देते हुए यह स्थापना की थी कि नन्दिवर्धन ने गंधार से पारसी साम्राज्य उठा दिया। डा० कोसंबी की खोज से नन्दिवर्धन के उस कार्य की पक्की आर्थिक व्याख्या सामने आ गई है। पौराणिक बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों का सामञ्जस्य करके जायसवालजी ने इस युग के इतिहास का जो ढाँचा खड़ा किया था और जिसके स्वरूप को और स्पष्ट करने का प्रयत्न **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** में किया गया था, उसे डा० कोसंबी की खोजों ने केवल पुष्ट ही नहीं किया, उसमें जान भी डाल दी है। उक्त कृतियों[3]

---

३. काशीप्रसाद जायसवाल (१९१५)—शैशुनाक ऐंड मौर्य क्रौनोलोजी (शैशुनाक और मौर्य कालगणना), ज० बि० ओ० रि० सो० १, पृ० ६७-११६।

की ओर डा० कोसंबी का ध्यान नहीं गया। अनुश्रुति की व्याख्याएँ करने के प्रयत्न में स्वयं उलझने के बजाय वे जायसवालजी की संतुलित व्याख्या का सहारा लेते तो बहुत अच्छा रहता।

डा० कोसम्बी की खोजों ने अध्ययन का एक नया रास्ता दिखाया था। सिक्कों का तोल-माप पहले जिस ढंग से होता रहा उसमें उन्होंने अनेक त्रुटियाँ दिखाईं तथा आहत सिक्कों की अन्य अनेक ढेरियों की, विशेषतः लखनऊ और पटना म्यूज़ियमों वालियों की, फिर से जाँच की आवश्यकता दिखाई थी। १९४१ के अन्त में जापान से युद्ध छिड़ने से वे सब ढेरियाँ बन्द कर छिपा दी गईं थीं, इसलिए उस समय यह कार्य हो न सकता था। पर युद्ध के बाद? युद्ध के बाद से हमारे देश में कांग्रेसी शासन स्थापित है जिसमें हमारे पुराने सब राष्ट्रीय आदर्श आकांक्षाएँ और विचार न जाने कहाँ और कैसे काफ़ूर होते जाते हैं! इस नये युग में उन पुराने विचारों की ओर ध्यान देने की फ़ुरसत किसे है?

जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ४११–४१४, तथा पृ० ४९४–५१४ (शैशुनाक और नन्द इतिहास की समस्याएँ)।

नव-परिशिष्ट २

(तीसरे व्याख्यान का)

अ. कम्बोज ऋषिक श्वेतपर्वत

[दे० ऊपर पृ० ३८, ४६-४७, ५७, ६०]

१. कम्बोज देश

कम्बोज जनपद या महाजनपद का नाम हमारे वाङ्मय और इतिहास में उत्तर वैदिक काल से मिलने लगता है। अधिकतर आधुनिक विवेचक उसे पूरबी अफगानिस्तान में कहीं, और एकाध पच्छिमी तिब्बत में भी मानते रहे। सन् १९३० में मैंने उसकी आधुनिक पामीर और बदख्शाँ से अथवा आज के या ठीक ठीक कहें तो दो-तीन शताब्दी पहले के गल्चा-भाषी प्रदेश से अभिन्नता बताई।[1] इतिहास और वाङ्मय में जहाँ जहाँ कम्बोज के उल्लेख आये हैं, पामीर-बदख्शाँ पर वे सब के सब ठीक घट जाते हैं।

इसी कम्बोज देश में पीछे तुखार जाति के आ बसने से यह तुखार कहलाने लगा। तुखार देश की सीमाएँ हमें य्वान च्वाङ आदि चीनी यात्रियों की कृपा से ठीक ठीक मालूम हैं। तुखार में बदख्शाँ के ठीक पच्छिम लगा हुआ बलख प्रदेश भी सम्मिलित था, पर कम्बोज में वह नहीं था, क्योंकि हमारे वाङ्मय में काम्भोजवाह्लीकाः नाम द्वन्द्व समास के रूप में प्रायः आता है। इसके अतिरिक्त तुखार की उत्तरी सीमा बदख्शाँ के उत्तर तरफ वंक्षु नदी नहीं, प्रत्युत उसके थोड़ा उत्तर वह पहाड़ी शृंखला थी जो वंक्षु और ज़रफ़्शाँ (=बाबर के समय की कोहिक) नदियों

१. दे० ऊपर पृ० ३८ टिप्पणी ७।

के बीच पनढाल का काम करती है और जिसमें लोहघाट नाम का प्रसिद्ध दर्रा है। लोहघाट के उत्तर तरफ सुग्द प्रदेश है जिसका मुख्य नगर समरकन्द है। वंक्षु और लोहघाट के बीच का हिसार-स्तालिनाबाद वाला प्रदेश इतिहास में प्रायः बदख्शाँ के साथ रहा है; बाबर के समय भी वैसी स्थिति थी। वैसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि वंक्षु का पाट वहाँ चौड़ा नहीं और लोहघाट वाला पहाड़ अच्छी प्राकृतिक सीमा है। इसलिए हिसार-स्तालिनाबाद प्रदेश भी कम्बोज में सम्मिलित रहा हो सो पूरी तरह संभव है।

कम्बोज की यह पहचान अब विद्वज्जगत् द्वारा मानी जा चुकी है। परन्तु कलकत्ता युनिवर्सिटी में प्राचीन भारतीय इतिहास और कृष्टि के कार्माइकेल-अध्यापक और **पोलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्श्येंट इंडिया** (प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास) के विद्वान् लेखक डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी की इस बारे में तसल्ली नहीं हुई। उन्होंने अपने ग्रन्थ में यह स्थापना पेश की थी कि कश्मीर के दक्खिन राजौरी का इलाका ही प्राचीन कम्बोज था। मैंने अपने लेखों में अपने जानते इस स्थापना की त्रुटियाँ पूरी तरह दिखला दी थीं। पर डा० रायचौधुरी आज भी अपनी स्थापना को ही ठीक मानते हैं। उनका ग्रन्थ कलकत्ता युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित है और प्रामाणिक पाठ्य ग्रन्थ माना जाता है, इसलिए इस विषय की विवेचना को फिर से दोहराना पड़ता है।

डा० रायचौधुरी की स्थापना का एकमात्र और सारा आधार महाभारत (७,४,५) का आधा श्लोक है जिसमें कर्ण के दिग्विजय के प्रसंग में कहा है—**कर्ण राजपुरं गत्वा काम्बोजा निर्जितास्त्वया** (कर्ण तूने राजपुर जा कर कम्बोज जीत डाले)।

(क) इस श्लोक के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि इसकी प्रामाणिकता कितनी है। कर्ण-दिग्विजय के बारे में विद्वानों को बराबर यह सन्देह रहा है कि वह महाभारत में पीछे मिलाया गया सन्दर्भ है। १६३१ में नेपाल के राजगुरु हेमराज पंडितज्यू को महाभारत की ८-६ सौ बरस

पुरानी ताळपत्रों पर नेवार लिपि में लिखी एक पांडुलिपि मिली थी। वह विद्यमान प्रतियों के बहुत से पाठदोषों से मुक्त है। उसमें कर्ण-दिग्विजय नहीं है। इस बात की सूचना मैंने **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** (पृ० ४७६-४८०) में दी थी। तो भी इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत विवेचना की खातिर मैं बिना जाँचे यह माने लेता हूँ कि कर्ण-दिग्विजय भले ही आज से ७-८ सौ वर्ष पहले लिखा गया हो, उसके लेखक को प्राचीन देशों का ठीक ज्ञान था।

(ख) फिर भी यह प्रश्न आता है कि राजपुर कहाँ है। भागलपुर, चम्पारन, शाहाबाद, मिर्ज़ापुर, कानपुर, बाँदा जिलों में, इन्दौर और सुराष्ट्र में तथा दक्खिन में जो राजपुर, राजपुरा और राजापुर हैं उन्हें छोड़ भी दें तो एक राजपुर बरेली जिले में है, एक बिजनौर जिले में हिमालय की तराई में, जहाँ से पुराने ताँबे के हथियार भी मिले हैं (इतिहास-प्रवेश १म संस्क० पृ० २४, ४र्थ संस्क० पृ० २३) और इस कारण जिसकी अत्यन्त प्राचीनता असन्दिग्ध है, एक देहरादून से ७ मील उत्तर मंसूरी पहाड़ की पैंदी में, एक होशियारपुर में, और एक कांगड़े में। एक राजपुरा बदाऊँ जिले में है और एक अम्बाले से पटियाले की राह पर। एक राजौरी या राजपुरी जलन्धर जिले में है, और चार जम्मू-कश्मीर रियासत में, जिनमें से पुंच के पास वाली राजौरी को डा० रायचौधुरी ने कम्बोज की राजधानी मान लिया है। क्या प्रमाण है कि कर्ण-दिग्विजय का राजपुर वही राजौरी है, दूसरा कोई राजपुर राजापुर राजपुरा या राजपुरी नहीं ? विशेष कर बिजनौर देहरादून के दो राजपुरों से लगा हिमालय का गढ़वाल प्रदेश कम्बोज क्यों नहीं है ?

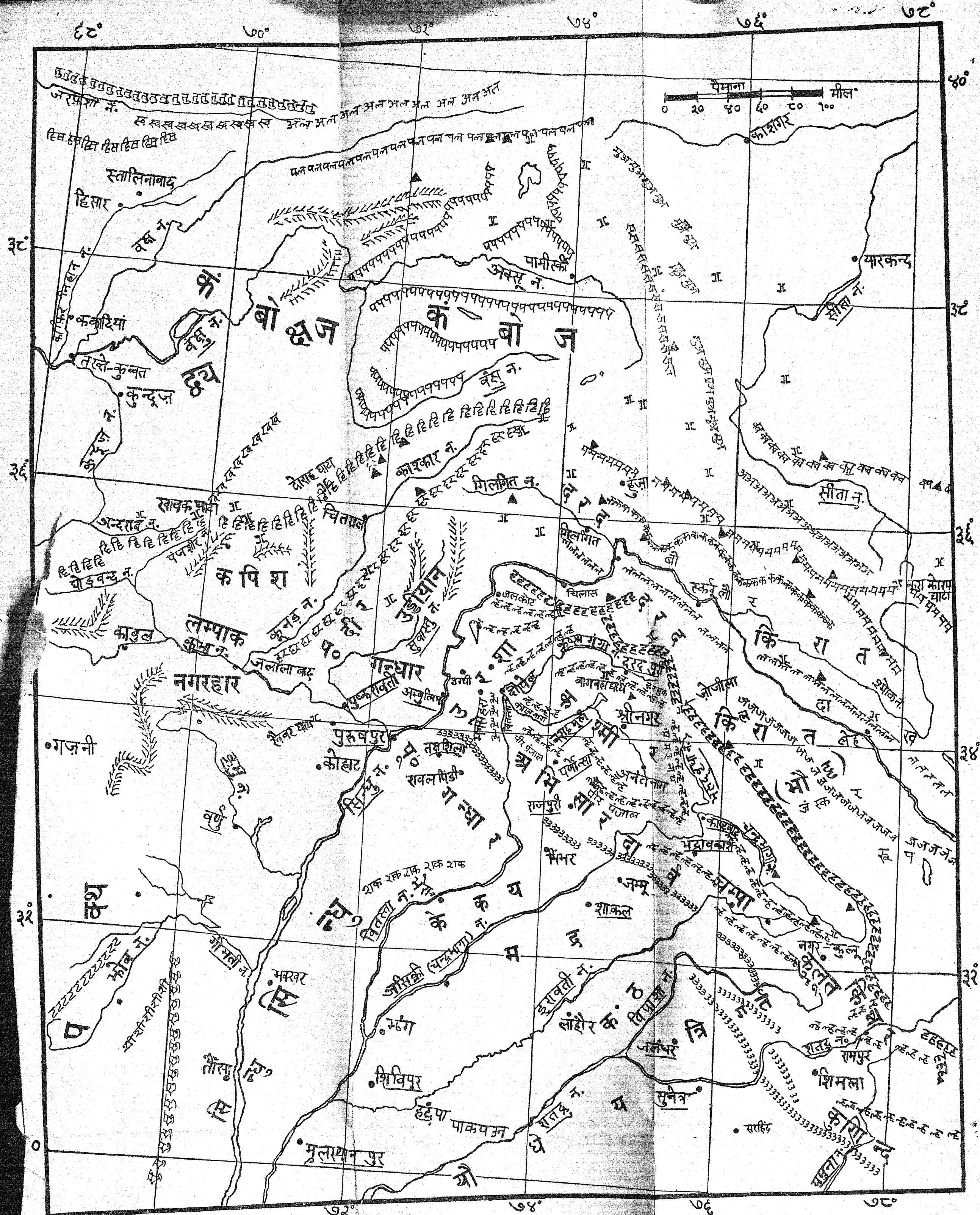
(ग) मैंने यह कहा था कि राजौरी का प्रदेश आजकल छिभाल कहलाता है और उसका प्राचीन नाम अभिसार था तथा अभिसार और कम्बोज कभी पर्यायवाची नहीं माने गये। दार्वाभिसार हमारे वाङ्मय में प्रसिद्ध प्रदेश-जोड़ी है; दार्व = डुगर = जम्मू के चौगिर्द का प्रदेश जहाँ के निवासी डोगरे कहलाते हैं, और अभिसार उसके ठीक पच्छिम लगा

छिभाल प्रदेश। दार्व रावी और चनाब के बीच की हिमालय की तलहटी है और अभिसार चनाब और जेहलम के बीच की।[२] अलक्सान्दर के समय में भी तक्षशिला के पूरब का पहाड़ी तराई का यह प्रदेश अभिसार ही कहलाता था। हमारे वाङ्मय में अनेक जगह देशों की गणना में दार्वाभिसार और कम्बोज दोनों नाम एक ही सूची में आये हैं।

इसके उत्तर में डा० रायचौधुरी कहते हैं कि महाभारत (२, ३०, २४-२५) में ताम्रलिप्ति (=आधुनिक तामलूक, बंगाल का पुराना बन्दरगाह) और सुह्म (ताम्रलिप्ति के चौगिर्द का प्रदेश) दोनों के अलग-अलग नाम हैं, पर दशकुमारचरित में दामलिप्त को निश्चयपूर्वक सुह्म में ही कहा है। ठीक है, किसी प्रदेश का नाम अनेक बार उसके एक अंश के लिए परिमित रह जाता है, और महाभारत के दिग्विजयपर्व में सुह्म नाम का वैसा प्रयोग हो सकता है। अथवा भीम ने 'ताम्रलिप्ति और सुह्म को जीता' यह कहना वैसा ही है जैसा 'कलकत्ते और बंगाल को जीता' और इसमें केवल ताम्रलिप्ति पर विशेष बल देने का अभिप्राय है। किन्तु डा० रायचौधुरी कहते हैं कि इसी नमूने पर "सच यह है कि राजौरी कम्बोज का केवल एक अंश था, उसमें और इलाके भी थे" (छठा संस्करण—१९५३—पृ० १४८)। पर इस 'सच' के लिए प्रमाण? वही श्लोकार्ध और आपकी कल्पना? ताम्रलिप्ति और सुह्म की स्थिति हम पचासों और निर्देशों के आधार पर जानते हैं, पर राजौरी को कम्बोज के अन्तर्गत मानने के लिए क्या रत्ती भर भी प्रमाण है? अभिसार प्रदेश के कश्मीर के दक्खिन लगा होने के कारण कश्मीर के इतिहास राजतरंगिणी में उसका पग-पग पर उल्लेख है। क्या किसी एक जगह भी उसमें अभिसार को कम्बोज के अन्तर्गत कहा है?

---

२. सर ऑरेल स्टाइन का विचार था कि दार्वाभिसार समस्त रूप में चनाब और जेहलम के बीच की तलहटी को सूचित करता था।



(नदियों और नगरों के जो नाम अधोरेखांकित हैं, वे प्राचीन नाम हैं)

नक्शा १५—प्राचीन उत्तरापथ का केन्द्रीय अंश

संकेत

हहहह = महा-हिमालय श्रृंखला

लहे लहे लहे = लघु हिमालय श्रृंखला

३३३३३३ = उप-हिमालय अथवा शिवालक श्रृंखला

शक शक = शकेसर श्रृंखला

जजजज = जङ्स्कर श्रृंखला

ललल = लदाख श्रृंखला

ककक = कैलाश श्रृंखला

ममम = मुजताग अथवा कारकोरम श्रृंखला

अअअ = अगिल श्रृंखला

क्व क्व = क्युन लुन श्रृंखला

मुअ मुअ = मुज़ताग अता अथवा काशगर श्रृंखला

ससस = सरीकोल श्रृंखला

हर हर = हिन्दुराज श्रृंखला

हि हि = हिंदूकश (हिंदकोह) श्रृंखला

पपप = पामीर की श्रृंखलाएँ

पल पल = परम अलइ श्रृंखला

अल अल = अलइ श्रृंखला

हिस हिस = हिसार श्रृंखला

ख ख = ज़रफ़शाँ श्रृंखला

तुतु तुतु = तुर्किस्तान श्रृंखला

खव खव = ख्वाजा मुहम्मद श्रृंखला

सु सु = सुलेमान श्रृंखला

शी शी = शीनग़र श्रृंखला

टटट = टोबा श्रृंखला

अन्य पर्वत

▲ पहाड़ की चोटी, ऊँचा पहाड़

][घाटा

● नगर

(घ) कम्बोज का उल्लेख हमारे सारे इतिहास और वाङ्मय में भारत के सीमा-जनपद के रूप में आता है, पर डा० रायचौधुरी ने उसे कश्मीर के भी दक्खिन और जेहलम के भी पूरब हिमालय की तराई में ला बिठाया ! वेद-संहिताओं में कम्बोज का नाम नहीं आया; पहलेपहल उत्तर वैदिक वाङ्मय में आया है। इसलिए कम्बोज देश संहिता-काल के आर्यावर्त के बाहर नजदीक ही होना चाहिए। वैदिक आर्यावर्त की उत्तरी सीमा मरुद्वृधा और सुवास्तु नदियों से सूचित होती है। मरुद्वृधा की पहचान मरुवर्दवान नदी में की गई है[3] जो कि कश्मीर की पूरबी सीमा पर महा-हिमालय से निकल कर लघु-हिमालय के अमरनाथ पर्वत के पूरबी ढाल के साथ साथ बहती हुई कष्टवार (प्राचीन काष्ठवाट) बस्ती के सामने चनाब में मिलती है। सुवास्तु या स्वात नदी पच्छिमी गन्धार में सिन्ध नदी के समान्तर बह कर काबुल नदी में मिलती है। यों मरुद्वृधा और सुवास्तु के बीच महा-हिमालय तक के प्रदेश वैदिक आर्यों के जाने हुए थे। अभिसार देश उनके कहीं नीचे है। वह उप-हिमालय की दूनों से बना है; मरुवर्दवान से स्वात के रास्ते पर है तथा पूरबी गन्धार के भी पूरब है। क्या संहिता-काल के बाद उसे फिर से खोजने की आवश्यकता थी ?

(ङ) और कम्बोज को कश्मीर के दक्खिन रखते हुए डा० रायचौधुरी ने राजतरंगिणी की भी पूरी उपेक्षा की है।

मैंने कहा था कि राजतरंगिणीकार कल्हण ने उसका ललितादित्य के उत्तर-दिग्विजय में उल्लेख किया है और उसके साथ तुखार का नाम दिया है। तुखार नाम कल्हण के ज़माने तक बदख्शाँ के अर्थ में परिमित रह गया था, इसीलिए मैंने कम्बोज को उसके पड़ोस तथा कश्मीर के उत्तर का पामीर माना। अपने उसी लेख में मैंने यह भी कहा था कि प्राचीन

३. औरेल स्टाइन (१९१७)—आर० जी० भण्डारकर कौमेमोरेशन वौल्यूम (रा० गो० भंडारकर स्मारक ग्रन्थ) पृ० २३-२४।

भारत में प्राच्यदेश दक्षिणापथ पश्चिमदेश और उत्तरापथ नाम मध्य-देश से उनकी दिशा को देखते हुए पड़े थे, और कि उत्तरापथ में पृथूदक या पिहोवा से उत्तर के अर्थात् लगभग ३०° अक्षांश रेखा के उत्तर के देश सम्मिलित थे। प्रकटतः उसी बात की ओर निर्देश करते हुए डा० रायचौधुरी कहते हैं कि राजतरंगिणीकार "कम्बोज को कश्मीर के उत्तर नहीं रखता, वह उस देश को केवल उत्तरापथ में रखता है, और उसका तुखार से स्पष्ट भेद करता है, जो कि प्रकटतः और उत्तर तरफ था" (पृ० १४८)। कम्बोज यदि अभिसार था और तुखार उसके उत्तर था, तो तुखार ठीक कश्मीर का समानार्थक होना चाहिए। क्या डा० रायचौधुरी की यह नई स्थापना है? दूसरे, यह सच है कि मध्यदेश के लेखक जब उत्तरापथ कहते थे तब उनका अभिप्राय पृथूदक से उत्तर के प्रदेशों से होता था। पर जब कश्मीर का कोई लेखक अपने राजा द्वारा उत्तरापथ जीतने का वर्णन करता, तब वह भी क्या अपने निकट दक्खिन के देशों को उत्तरापथ कहता? राजतरंगिणीकार ने जिन देशों को ललितादित्य के उत्तरी दिग्विजय में गिनाया है, क्या उनमें से कोई एक भी कश्मीर के निकट दक्खिन का है?

तीसरे, कल्हण ने ललितादित्य के उत्तरापथ-विजय का वर्णन इस भूमिका से आरम्भ किया है—

सर्वतोदिक्कमालोक्य जितप्रायांस्ततो नृपान्।
स प्राविशत्सुविस्तीर्णमपथेनोत्तरापथम्॥४, १६३॥

(सब दिशाओं के राजाओं को प्रायः जीता देख कर वह सुविस्तीर्ण उत्तरापथ में बिना रास्ते के घुसा)। हिमालय के उत्तर के देशों के बारे में यह कहना युक्त है कि उनमें वह बिना रास्तों के घुसा; पर क्या कश्मीर के दक्खिन लघु-हिमालय की तलहटी को भी **अपथेन**—बिना रास्तों के—जाना पड़ता था?

चौथे, मैंने यह भी कहा था कि अभिसार देश ललितादित्य के दादा के समय से कश्मीर के अधीन था; उसे फिर से जीतने को वह क्यों

जाता। इस बात का डा० रायचौधुरी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

इस सब से बढ़कर, चौथी राजतरंगिणी का लेखक प्राज्यभट्ट मुगल वंश का वृत्तांत कहते हुए बाबर को स्पष्ट शब्दों में **काम्भोजयवनेश** कहता है (पद्य २२२)। बाबर फरगाने का था जो पामीर की ठीक उत्तरी सीमा पर है। यों १६वीं शताब्दी तक की कश्मीरी पंडितों की परम्परागत जानकारी न केवल यह बतलाती है कि कम्बोज कश्मीर के उत्तर था, प्रत्युत उसका ठीक स्थल भी लगभग सूचित कर देती है।

(च) रघु के दिग्विजय में कालिदास उसे भारत के पश्चिम देश से स्थलमार्ग द्वारा पारसीकों के देश ले जाता है, वहाँ से उत्तर फिरा कर वंक्षु पर हूणों से भिड़ाता है और उसके बाद कम्बोजों से। रघु-दिग्विजय के पारसीकों यवनों हूणों आदि के स्थानों की अनेक विद्वान् विवेचना करते रहे हैं। विशेष कर स्व० डा० कृष्णस्वामी ऐयंगर ने बड़ी बारीकी से इसपर विचार किया था।[४] उन्होंने दिखाया था कि पच्छिम का स्थलमार्ग दर्रा बोलान, ख्वाजा अमरान पर्वत की तलहटी, गिरिश्क और हेलमन्द काँठे द्वारा होना चाहिए। वंक्षु तट पर जो हूण आ बसे थे उन्हें चीनी ऐतिहासिक येथ, पारसी हैथल, तथा अरब लेखक खुत्तल कहते थे। डा० ऐयंगर ने इन सब उपादानों का सावधानी से मिलान कर बताया था कि उनका प्रदेश वंक्षु की दो धाराओं अक्साब और वख़ाब के बीच का दोआब था जो कि बदख्शाँ के उत्तर तथा पामीर के पच्छिम है। हूणों के बाद कम्बोजों को जीत कर रघु हिमालय पर चढ़ता है, फिर किरातों किन्नरों को जीत कर हिमालय से उतरता और प्राग्ज्योतिष जाता है। डा० ऐयंगर ने लिखा था कि उसके रास्ते में दरदों का उल्लेख नहीं है, अतः दरदों के देश के पूरब जा कर उसका हिमालय पर चढ़ना होना चाहिए, अर्थात् कम्बोज की पूरबी सीमा ऐसी जगह होनी चाहिए

---

४. सा० कृष्णस्वामी ऐयंगर (१९१९)—हन प्रौब्लम इन इंडियन हिस्टरी (भारतीय इतिहास में हूण समस्या), इं० आं० १९१९, पृ० ६५ प्र०।

जहाँ से हिमालय पर चढ़ते समय दरद रास्ते में न पड़ें। डा० रायचौधुरी ने इस विषय की विवेचना करनेवाले सब विद्वानों और विशेष कर डा० ऐयंगर के सारे किये कराये पर केवल अपनी आँखें मूँद कर पानी फेरना चाहा है। उन्होंने यह नहीं सोचा कि कम्बोज देश उत्तरी पंजाब में रहा हो तो हूण और पारसीक उसके पड़ोस में कहाँ रहे होंगे; और कि यदि रघु अभिसार की तरफ से हिमालय चढ़ता और दूसरी तरफ उतरता तो भारत के मध्यदेश पहुँचने के बजाय चीनी तुर्किस्तान जा निकलता। मैंने उनकी यह चूक १९३० के अपने लेख में भी दिखाई थी, पर उन्होंने इसे फिर भी नहीं देखा।

रघु-दिग्विजय में कम्बोज के बाद गंगा के ज़िक्र से डा० ऐयंगर कुछ भ्रम में पड़ गये, नहीं तो उन्होंने कम्बोज को भी ठीक पा ही लिया होता। मैंने यह देखते हुए कि ललितादित्य के दिग्विजय में कम्बोज बदख्शाँ के पास हैं और रघु-दिग्विजय में खुत्तल के पास, उन्हें ठीक पामीर में रक्खा, तथा कम्बोज के पड़ोस की गंगा की यह व्याख्या की कि वह वह गंगा थी जिसे प्राचीन भारतीय अनवतप्त सरोवर के पूरब से निकला मानते थे। सीता नदी अनवतप्त के उत्तर से निकलती थी और सिन्धु दक्खिन से। सो मुज़्ताग या कराकोरम के जिस बरफ से लदे पनढाल से सीता उत्तर उतरती है, उसी से सिन्धु की बड़ी शाखा श्योक दक्खिन उतरती है। और सीता की दून पामीर पठार की ठीक पूरबी सीमा पर है। मुज़्ताग हिम-गिरि का तुर्की शब्दानुवाद है। अनवतप्त सरोवर के उत्तर से पूरब घूम जाने से सीता के स्रोत से "गंगा" के स्रोत तक पहुँचा जा सकता था, और सीता की दून से हिमगिरि पर चढ़ने से दरद रास्ते में नहीं आते, पच्छिम छुट जाते हैं। गंगा के बाद रघु-दिग्विजय में किरातों और किन्नरों का ज़िक्र है। किरात तो उस समूची नस्ल का भारतीय नाम था जिसे आज के विद्वान् तिब्बतबर्मी कहते हैं; फलतः उनका देश तो बहुत विस्तृत था, और उसकी केवल पच्छिमी नोक—लदाख या मरयुल—रघु के रास्ते में आनी चाहिए। पर किन्नर की पहचान मैंने उपरली सतलज दून

के कनौर (रामपुर-बशहर) प्रदेश में की; दोनों के नाम-साम्य के अतिरिक्त आधुनिक कनौरी बोली की कुछ विशेषताओं के कारण, तथा थेरी-अपदान के एक निर्देश के आधार पर। यों यह प्रकट हुआ कि रघु का रास्ता सतलज के और पूरब, गढ़वाल में गंगोत्री हो कर, नहीं था, और इससे यह निश्चित हुआ कि कम्बोज की पूरबी सीमा सीता नदी तक ही थी। यों कम्बोज के साथ उसके पासपड़ोस के जितने प्रदेशों और स्थानों का पता पहले से था या कम्बोज की पहचान द्वारा मिला है, डा० रायचौधुरी ने उन सब की ओर से आँखें फेर रक्खी हैं।

(छ) यास्क ने लिखा है—**शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते** (निरुक्त २, १, ३, ४)। मैंने यह लिखा था कि पामीर की गल्चा भाषा में **शवति** या **शुदन** धातु अब भी जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। छिभाल की बोली पच्छिमी पंजाब की हिन्दकी (तथाकथित लहँदा) है जिसमें जाने के अर्थ में **वञ** या **गछ** धातु बर्त्ता जाता है। इस तथ्य की भी डा० रायचौधुरी ने पूरी उपेक्षा की है।

(ज) जर्मन विद्वान् कुःन ने **दस्तूर पेशोतनजी बहरामजी संजाना स्मारक ग्रन्थ** (१९०४) में लिखते हुए यास्क के उक्त निर्देश के अतिरिक्त जातक (६ पृ० २१०) की यह गाथा उद्धृत की थी—

कीटा पतंगा उरगा च भेका हन्त्वा किमिं सुज्झति मक्खिका च।
एते हि धम्मा अनरियरूपा कम्बोजकानं वितथा बहुन्नं॥

और इसके आधार पर दिखलाया था कि कम्बोज लोगों की भाषा ईरानी वर्ग की थी और वे प्राचीन ईरानी विश्वास के अनुसार ज़हरीले— **अहरमनी**—जन्तुओं को मारना धर्म का अंश मानते थे। **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** (पृ० ४७१, ४८०-४८१) में मैंने कुःन की इस स्थापना के साथ प्रो० तोमास्चेक के इस मत को उद्धृत करते हुए कि ज़ेंद-अवस्ता की भाषा ईरानी परिवार की सब भाषाओं में से गल्चा मुंजानी बोली के सब से अधिक नज़दीक है, यह लिखा था कि अवस्ता की भाषा प्राचीन कम्बोज भाषा हो सकती है, क्योंकि नौवीं-आठवीं

शताब्दी ई० पू० में जब कि कम्बोज जनपद का पहलेपहल उदय हुआ, तब वह आर्यावर्त्त और ईरान के बीच साझा देश था, कि उसके कुछ ही पीछे महात्मा ज़रथुस्त्र प्रकट हुए, और कि अवस्ता वाङ्मय में आर्यावर्त्त और ईरान के घनिष्ठ सम्बन्ध की सूचक जो अनेक बातें हैं उनकी भी इससे सुन्दर व्याख्या होती है। डा० रायचौधुरी ने इस विषय के इन पहलुओं की पूरी उपेक्षा की है। पर जातक की उक्त गाथा का उत्तरार्ध उद्धृत कर यह कहा है कि य्वान च्वाङ के कथनानुसार लम्पा से राजपुरी तक के लोग देखने में रूखे और सीधे तथा उजड्ड उग्र स्वभाव के थे, वे ठेठ हिन्दुस्तान के नहीं प्रत्युत सीमा के घटिया लोग थे, और कि जातक की उक्त कम्बोज-विषयक बात का य्वान च्वाङ के इस विवरण से अद्भुत समर्थन होता है। पर यास्क और जातक के कथनों से भाषा और धार्मिक विश्वास विषयक जो तथ्य मिलता है उसकी झलक भी य्वान च्वाङ के विवरण में कहीं है?

(झ) डा० रायचौधरी कहते हैं कि कम्बोज की पच्छिमी सीमा काफ़िरिस्तान तक पहुँचती रही होगी क्योंकि एल्फिंस्टन को उस प्रदेश में 'कौमोजी' 'कमोज' और 'कमोज' नाम के कबीले मिले थे। आप और फरमाते हैं कि कम्बोज पालि ग्रन्थों के अनुसार **अस्सानं आयतनं**—घोड़ों का स्थान—था, तथा अलक्सान्दर के समय अलिषंग और स्वात की दूनों में रहने वाले लोगों को भी यूनानियों ने **अस्पसि** और **अस्सकेन** कहा है (छठा संस्क० पृ० १४६)। पर छिमाल के घोड़ों की मशहूरी क्या किसी ने कभी सुनी है? दूसरे, यदि उन्नीसवीं शताब्दी में एल्फिंस्टन को कपिश देश में कमोज फिरके के लोग मिलने से प्राचीन कम्बोज की सीमा कपिश को छूती माननी चाहिए, तब तो आज भी मेरठ-दिल्ली के इलाकों में **कम्बोह** बिरादरी के हज़ारों लोगों के होने तथा मेरठ शहर में उनके नाम से कम्बोह दरवाजा भी होने से क्या पुराने कम्बोज की सीमा दिल्ली-मेरठ तक पहुँचती न माननी चाहिए? तीसरे, अलिषंग नदी कपिश (काफ़िरिस्तान) में है और स्वात की दून पच्छिमी गन्धार में। जहाँ कहीं

किसी के नाम में अस्प या अस्स शब्द सुनाई दे उसका अर्थ भी जाने बिना उसका कम्बोज से सम्बन्ध मान लेना हो तो कल्पना को खुली उड़ान मिल जायगी। चौथे, अभिसार और कपिश की सीमाएँ एक दूसरे से जुड़ेंगी कैसे? इस प्रश्न को आप महाजनपद युग में तो नहीं उठाते, पर अलक्सान्दर के प्रकरण में यों सुलझाना चाहते हैं कि "**उरशा** आधुनिक हज़ारा ज़िले का अंश था; यह अभिसार...के साथ लगा था और भरसक उसी की तरह प्राचीन कम्बोज राज्य की एक शाखा था" (पृ० २४८)। प्रमाण? स्वच्छन्द कल्पना कि कुछ और भी? उरशा कम्बोज महाजनपद के अन्तर्गत था इसका रत्ती भर संकेत भी हमारे इतिहास या वाङ्मय में क्या कहीं है? और यह निर्मूल कल्पना डा० रायचौधुरी को केवल इस कारण करनी पड़ी कि उन्हें अभिसार और कपिश को किसी तरह जोड़ना था। पर **भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः**। अभिसार की पच्छिमी सीमा जेहलम नदी है; उरशा जेहलम से सिन्ध तक का पहाड़ी प्रदेश है; सारा उरशा अभिसार के अन्तर्गत हो जाय तब भी तो अभिसार किसी तरह कपिश से नहीं लग सकता, क्योंकि सिन्ध से कूनड़ नदी तक पच्छिमी गन्धार है और कूनड़ के पच्छिम कपिश शुरू होता है। तब क्या पच्छिमी गंधार की स्वात दून में अस्सकेन लोगों का नाम पकड़ कर हम सिन्ध से कूनड़ तक एक छलांग में नहीं फाँद सकते? निरी बेलगाम कल्पना!

(ञ) महाजनपद प्रकरण में कम्बोज से ठीक पहले डा० रायचौधुरी ने गन्धार का विवरण दिया है और वहाँ यह कहा है कि गन्धार राज्य में तब कश्मीर की दून भी सम्मिलित थी। गन्धार से कश्मीर तक रास्ता या तो उरशा हो कर है या अभिसार हो कर। जब उरशा और अभिसार दोनों कम्बोज महाजनपद में थे और वह पच्छिम तरफ पच्छिमी गन्धार को भी लाँघ कर कपिश को छूता था, तब पूरबी गन्धार (तक्षशिला) का राज्य क्या कम्बोज के ऊपर से पुल बना कर कश्मीर तक पहुँचता था? यह समस्या मैंने सन् १९३० में भी डा० रायचौधुरी के सामने

रक्खी थी। पर २३ वर्षों में न तो उन्होंने इसका कोई समाधान किया और न इससे कोई कठिनाई अनुभव की।

(ट) अब यह दिखाई देता है कि उन्होंने इसे बड़े मौलिक तरीके से सुलझा लिया है। कैसे सुलझाया है इसे स्पष्ट समझने के लिए पाठकों को भारत के उत्तरी सीमान्त विषयक अपने ज्ञान को ज़रा ताज़ा कर लेना चाहिए। उत्तर भारतीय मैदान के उत्तरी छोर पर शिवालक और उसी तरह के छोटे पहाड़ों की २५–५० मील चौड़ी पट्टी पच्छिम से पूरब लगातार चली गई है। महाभारत में इसी श्रृंखला को **उपगिरि** कहा है, आजकल के भूपर्यवेक्षक **उप-हिमालय** (सब-हिमालयस) कहते हैं। इस पट्टी के उत्तर **बहिर्गिरि या लघु-हिमालय श्रृंखला** (लेस्सर हिमालय रेंज) के पहाड़ एकाएक उठते हैं जो ५० से ७० मील तक चौड़ाई में फैले हुए हैं। उनके ऊपर फिर **अन्तर्गिरि या महा-हिमालय श्रृंखला** (ग्रेट हिमालय रेंज) है। अभिसार देश हरद्वार-देहरादून प्रदेश की तरह या बंगाल के उत्तर की कुर्सियाङ कालिम्पोङ बस्तियों की तरह उपगिरि या उपहिमालय की दूनों से बना है। उसकी राजौरी बस्ती चनाब में मिलने वाली एक छोटी नदी तौही पर बसी है। अभिसार की पीठ पर लघु-हिमालय की ऊँची पीर पंजाल श्रृंखला खड़ी है, जिसके उस पार उसके और लघु हिमालय के काजनाग, हरमुक और अमरनाथ पहाड़ों के बीच घिरी हुई वितस्ता या जेहलम नदी की खुली दून का नाम ही कश्मीर है। अनन्तनाग (इस्लामाबाद) से वोलुर झील तक वितस्ता की उत्तरपच्छिम बहने वाली धारा का काँठा उसका मुख्य अंश है। कश्मीर का उत्तरी किनारा हरमुक और काजनाग श्रृंखलाओं से बना है, जिनके उस पार कृष्णगंगा की दून है। उस दून के ऊपर महा-हिमालय श्रृंखला सिर उठाये खड़ी है। महाहिमालय की पीठ पीछे सिन्ध नदी की उत्तर-पश्चिमवाहिनी धारा है। कृष्णगंगा की दून से सिन्ध की उस दून तक और फिर सिन्ध के भी उत्तर हिन्दूकश के चरणों तक दरददेश है। हिन्दूकश के उस पार पामीर है। यों अभिसार, कश्मीर, दरद, पामीर क्रमशः एक

दूसरे के उत्तर हैं। डा० रायचौधुरी के मत से अभिसार कम्बोज है, मेरे मत से पामीर।

अपने मत को सिद्ध करने के लिए डा० रायचौधुरी ने बड़ा ही मौलिक और आसान तरीका निकाला है। उनके ग्रंथ के छठे संस्करण (१६५३) में भारत के जो नक्शे दिये गये हैं उनमें अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ नहीं बनीं, फिर भी तटरेखा और नदियों के मार्ग ठीक अंकित किये जान पड़ते हैं और उनसे विभिन्न स्थानों की स्थिति ठीक समझ आ जाती है। महाजनपदों के नक्शे में जो पृ० ६५ के सामने लगा है, उन्होंने राजपुरी को चनाव के काँठे से उठा कर बीहड़ पीर पंजाल की ऊँची चोटियों के ऊपर से टपाते हुए जेहलम के किनारे श्रीनगर की जगह ला रक्खा है! फिर उन्होंने कम्बोज देश को राजपुरी के और उत्तरपच्छिम महा-हिमालय के उस पार नंगा पर्वत से सिन्ध नदी के दक्खिनी मोड़ के पच्छिम तक बिठाया है। पर इतना करने के बावजूद भी वे फिर गलत जगह ही पहुँचे, क्योंकि जहाँ उन्होंने कम्बोज को बिठाया है वहाँ दरद देश का ठीक केन्द्रीय प्रदेश चिलास है। दरद लोग इतिहास के आरम्भ से आज तक इसी प्रदेश में रहते आये हैं; इतिहास-वाङ्मय में उनका नाम अनेक बार कम्बोजों के साथ, पर सदा उनसे अलग, जाति के रूप में आता है। अभिसार की तरह दरद नाम भी कभी कम्बोज का समानार्थक नहीं रहा। डा० रायचौधुरी यदि राजपुरी को अपनी जगह रहने देते और कम्बोज को दरद देश में बिठाने के बजाय थोड़ा और उत्तर पामीर में ले चलते तो मेरा उनसे कोई विवाद न रहता। और जब उन्हें कम्बोज को कश्मीर के उत्तर ले ही आना था तब उन्हें यह तर्क करने की क्या आवश्यकता थी कि कल्हण ने कम्बोज को कश्मीर के उत्तर नहीं रक्खा?

पृ० १६६ के सामने जो भारतवर्ष का नक्शा दिया है उसमें डा० रायचौधुरी ने और भी कमाल कर दिखाया है। इसमें वे समूचे कश्मीर को जेहलम के काँठे से उठा कर हरमुक शृंखला और महा-हिमालय के ऊपर

से टपाते हुए सिन्ध नदी के उत्तरपच्छिमी—स्कर्दू से जलकोट तक के—घुमाव के भीतर ले आये हैं! पर इस उखाड़ने उड़ाने में कश्मीर की राजधानी श्रीनगरी न केवल पीछे ही छूट गई, बल्कि वितस्ता के दोनो तटों से उखड़ कर २५ मील पच्छिम जा गिरी है! और जब कश्मीर दरद देश में आ गया, तब कम्बोज दक्खिनपच्छिम ठेला गया। इस नक्शे में वह कूनड़ नदी के पड़ोस के दीर प्रदेश से स्वात और सिन्ध नदियों को लाँघते हुए, उरशा के उत्तरी छोर के उग्घी वाले इलाके को लेते हुए, कृष्णगंगा-वितस्ता के संगम दोमेल पर उन्हें लाँघ कर असल कश्मीर की उत्तर-पच्छिमी नोक के भीतर तक पहुँच गया है। दीर और स्वात पच्छिमी गन्धार के इलाके हैं। यों कम्बोज का अर्थ हुआ पच्छिमी गन्धार और उरशा का उत्तरी तथा कश्मीर का उत्तरपच्छिमी अंश। अभिसार अब उसमें नहीं रहा!

कलकत्ता युनिवर्सिटी की आरामचौकियों पर बैठ कर लिखने वालों के लिए पंजाब कश्मीर दरद दीर स्वात दूर के सपने हैं। यदि कोई पंजाबी या सरहद्दी लेखक ढाका को उठा कर अगरतला पर रख देता और फिर उसके सहारे लुशाई पहाड़ियों के पच्छिम से चिन पहाड़ियों के पूरब तक बंगदेश बना देता, अथवा जलपाइगुड़ी को उठा कर गङ्तोक पर रख देता और उसके आधार पर गङ्तोक से ल्हासा तक बरेन्द्र प्रदेश अंकित करता, तो वह डा० रायचौधुरी के कुछ नज़दीक पहुँचता! कम्बोज भले ही धुँधला देश हो, पर कश्मीर तो कोई गुमनाम जगह नहीं है। प्रतिवर्ष दुनियाँ के सुदूर कोनों से हज़ारों यात्री उसकी स्वर्ग-सुषमा का आनन्द लेने आते हैं। वे लोग और दुनिया भर के विद्वान् आज यह देखते होंगे कि भारत की प्रथम युनिवर्सिटी के प्रमुख अध्यापक यह भी नहीं जानते कि उनका अपना कश्मीर महा-हिमालय के इस ओर है कि उस पार! डा० रायचौधुरी के विवाद-हठ का केवल यही फल निकला; कम्बोज देश का कश्मीर की तराई में होना किसी तरह सिद्ध नहीं हुआ, और उनके इस विषय के तर्कों की निर्मूलता प्रकट होने से मेरी की

हुई कम्बोज की पहचान पूरी तरह प्रमाणित हुई।

२. दिग्विजय पर्व और उपायन पर्व

डा० मोतीचन्द्र ने मेरी कम्बोज की पहचान को स्वीकार करते हुए महाभारत सभापर्व के अन्तर्गत उपायनपर्व पर और कीमती खोजें की हैं।[५] पाण्डवों के दिग्विजय के बाद उनके पास किस किस देश के लोग क्या क्या भेंटें लाये इसका वर्णन उपायनपर्व में है। डा० मोतीचन्द्र का कारीगरी और कला की कृतियों के विषय में गहरा और सूक्ष्म ज्ञान इस खोज में उनके बहुत काम आया है। सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत पेतवत्थु ग्रन्थ के अनुसार कम्बोज में एक नगरी द्वारका थी; मोतीचन्द्र ने उसकी पहचान पामीर के आधुनिक दरवाज़ शहर में की है (पृ० ३८)। उपायनपर्व में द्वयन्त नाम के जनपद का उल्लेख है। मोतीचन्द्रजी ने बहुत ठीक पहचाना है कि **द्वयन्त** का ही रूपान्तर **बदख्शाँ** है (पृ० ५८)। अर्जुन के उत्तरदिग्विजय में **परमकाम्भोजों** का उल्लेख है। मैंने कहा था कि वे "बहुत सम्भवतः जरफ्शाँ-स्रोत पर रहने वाले यग़नोबी नाम की ग़ल्चा बोली बोलने वाले ताजिकों के पूर्वज थे" (भारतभूमि पृ० ३१३-१४, २२६)। डा० मोतीचन्द्र ने एक जगह (पृ० ३६) इसे भी मान लिया दीखता है, पर दूसरी जगह (पृ० १३) वे कहते हैं कि मैंने इसके लिए कोई प्रमाण नहीं दिया। यग़नोबी बोली के क्षेत्र के परमकाम्भोज होने का सुझाव मैंने इस आधार पर रक्खा था कि आजकल के बोली-क्षेत्रों का बहुत कुछ प्राचीन जनपदों को सूचित करना और ग़ल्चा-भाषा-क्षेत्र का कम्बोज जनपद होना मेरी खोज से सिद्ध हुआ था, परमकाम्भोज का अर्थ परले काम्भोज प्रतीत होता है और ग़ल्चा की सबसे परे की बोली

---

५. मोतीचन्द्र (१९४५)—जिओग्राफिकल ऐंड इकनौमिक स्टडीज़ इन दि महाभारत उपायनपर्व (महाभारत उपायनपर्व का भूवृत्तीय और आर्थिक अनुशीलन)।

यगानोव्री है। यह बात मैंने **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** पृ० १०७० पर बिलकुल स्पष्ट की थी। पर यह एक गौण बात है।

सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व में युधिष्ठिर के चार भाइयों द्वारा चार दिशाओं को जीतने का वर्णन है। अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय की तीन यात्राएँ हैं, जिनमें से दो का मार्ग मैंने अपनी उक्त कृतियों में टटोला था। नकुल के पश्चिम-दिग्विजय का रास्ता मैंने उसके बाद टटोला।[६] डा० मोतीचन्द्र ने भीम और सहदेव के पूर्व और दक्षिण दिग्विजयों के कुछ अंशों पर भी प्रकाश डाला है।

अर्जुन के मार्गों को टटोलने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा था कि देशों का वह वर्णन दूसरी शताब्दी ई० पू० का है। नकुल का मार्ग टटोलने से वह बात और पुष्ट हुई थी। उन परिणामों का बाद की पुरातत्त्व-खोज से समर्थन हुआ। अर्जुन के दिग्विजय में **उलूक** देश का नाम है; मैंने कहा था **उलूक** के बजाय **कुलूत** पाठ होना चाहिए। डेढ़ बरस बाद नेपाल से ८-९ सौ बरस पुरानी महाभारत की हस्तलिखित प्रति मिली; उसमें **कुलूत** ही पाठ पाया गया।[७] इसी प्रकार नकुल की यात्रा में रोहतक के चौगिर्द **बहुधान्यक** प्रदेश मिला और उसे मैंने दूसरी शताब्दी ई० पू० का कहा ही था। दो बरस बाद १९३६ में स्व० डा० बीरबल साहनी को रोहतक के पास खुदाई में सिक्कों के कई हज़ार मिट्टी के साँचे मिले जिनपर दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में **बहुधञक** नाम खुदा था।[८] डा० मोतीचन्द्र ने भी दिग्विजयपर्व की तिथि के विषय में मेरा समर्थन किया है। पर इस विषय पर अब और प्रकाश पड़ सकता है जैसा कि हम आगे (४ में) देखेंगे।

---

६. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३४)—नकुल का पश्चिमदिग्विजय, गौ० ही० ओझा के सम्मान में समर्पित भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ, विभाग ८ पृ० ३–९।

७. ज० वि० ओ० रि० सो० भाग २० (१९३४) पृ० ९५-९६।

८. बीरबल साहनी (१९४५)—टैकनीक ऑफ कास्टिंग कौइन्स इन एंश्येंट इंडिया। (प्राचीन भारत में सिक्के ढालने का शिल्प) पृ० २, ८-९, १५।

३. ऋषिक

अर्जुन की दूसरी यात्रा में कम्बोजों के बाद प्रागुत्तर दिशा में **ऋषिकों** का उल्लेख है। मैंने कहा था वे वही इतिहासप्रसिद्ध लोग हैं जो पहले चीन की पच्छिमी सीमा पर रहते थे और जिन्हें चीनी ऐतिहासिक **उइषि** या **युषि** ऐसा कुछ कहते थे। यूनानी लेखकों ने उसी प्रदेश में **असि** जाति का उल्लेख किया है। और जर्मन विद्वान् मार्कार्ट ने यह स्थापना की थी कि असि = उइषि। उइषि के उत्तर तरफ **ताहिया** लोग रहते थे; उइषि उनके देश में जा कर उनके राजा बन गये थे। एक प्राचीन यूनानी ऐतिहासिक के अनुसार असि **तुखारों** के राजा बन गये थे। मार्कार्ट ने ताहिया और तुखार की अभिन्नता बतलाई और यह कहा था कि चीनी और यूनानी ऐतिहासिकों के उक्त कथन एक-दूसरे के अनुवाद हैं।

उइषि और ताहिया के प्रदेश से अर्थात् आधुनिक शिङकियाङ या चीनी तुर्किस्तान से इस शताब्दी के आरम्भ में गुप्त युग की ब्राह्मी लिपि में दो लुप्त आर्य भाषाओं के लेख मिले। उन भाषाओं का नाम युरोपी विद्वानों ने पहले अ बोली और इ (बी) बोली रक्खा। पीछे जर्मन विद्वान् मुइलर ने यह पहचाना कि अ बोली तुखारों की थी। दूसरे जर्मन विद्वान् सीग ने बताया कि उस बोली के लेखों में उसे **आर्शी** कहा है। तुखारों की भाषा आर्शी क्यों कहलाई इसकी व्याख्या स्टेन कोनौ ने यों की कि शासकों के नाम से बहुत बार देश जाति और भाषा का नाम पड़ जाता है, जैसे फ्रांक कबीले के लोगों के गौल जाति के शासक बन जाने से उनका देश फ्रांस और भाषा फ्रांसीसी कहलाने लगी, और रोस कबीले के नाम से सरमाती जाति का देश रूस कहलाने लगा। यों उइषि, असि और आर्शी का परस्पर-सम्बन्ध पहले से जाना जा चुका था। मेरी नई खोज इतनी थी कि महाभारत के ऋषिक भी वही जाति हैं।

पच्छिमी पंजाब की दन्तकथाओं में रावलपिंडी की तरफ के राजा सिरकप के बेटे रिसालू का विक्रमादित्य के वंशज शालिवाहन द्वारा मुलतान

के पास करोड़ में मारा जाना प्रसिद्ध है। मैंने कहा कि **रिसालू** ऋषिक का ही तुच्छतासूचक रूप है, और सिरकप = (प्राकृत) सिरिकप = श्री कप्स = कुषाण कप्स जो कि गन्धार का पहला उइषि राजा था (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८२५-८२६)। उसके बेटे विम का करोड़ में मारा जाना सर्वथा युक्त है।

"भारतभूमि" के प्रकाशित होने के बाद प्रसिद्ध स्वीड विद्वान् स्टेन कोनौ ने उसे देख कर लिखा—"पहली बार पढ़ने से मुझे यह प्रतीत होता है कि आपने ऋषिक, आर्शी, असि...के बीच जो सम्बन्ध ढूँढ़ा है वह ठीक है" (१०-१-१९३२ का पत्र)। जायसवालजी ने बिहार उड़ीसा रिचर्स सोसाइटी की पत्रिका में एक लेख लिख कर "भारतभूमि" की उस तथा कुछ अन्य खोजों की ओर अंग्रेज़ी पढ़ने वाले विद्वानों का ध्यान खींचा।[१] उसे देख कर प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् सिल्व्याँ लेवी ने फ्रांसीसी पत्रिका ज़्हूर्नाल आज़ियातीक में लिखा—"जिस प्रकार श्री सीग ने आर्शी नाम में बिना झिझक के प्राचीन यूनानियों की असि जाति को पहचाना था, उसी प्रकार एक भारतीय विद्वान् श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसी नाम में प्राचीन भारतीय ग्रंथों की ऋषिक जाति को पहचाना है... ऋषिक में वे उन उइषि—उन्हीं भारतीय शकों—को पहचानते हैं जिन्हें श्री सीग और श्री सीगलिंग शुरू से ही अ बोली बोलने वाला मानते रहे हैं।" आगे उन्होंने कुछ व्यंग्य करते हुए लिखा—"और एक बार आविष्कार की वाणी बोलना शुरू करने पर उन्होंने उस **अर्थशास्त्र** में भी, जिसने अनेक उच्छृंखल कल्पनाओं को जगाया है, छोटे और बड़े उइषि को ढूँढ़ निकाला है। कौटिल्य २, ११ में दो कीमती वस्तुओं बिसी और महाबिसी का उल्लेख है—बिसी महाबिसी च द्वादशग्रामीये, अव्यक्तरूपा दुहिलिका चित्रा वा बिसी, परुषा श्वेतप्राया महाबिसी,

---

१. का० प्र० जायसवाल (१९३२)—ज० बि० ओ० रि० सो० भाग १८ पृ० ९७ प्र०।

द्वादशाङ्गुलायामम् उभयम् ।" इस पाठ का अनुवाद दे कर प्रो० लेवी ने लिखा कि टीकाकार ने इन दोनों वस्तुओं को खालों की दो किस्में बताया है, "और इस...प्रसंग में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने छोटे और बड़े उड्षि को ढूँढ निकाला है। यह एक ऐसी सूचना है जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।"[१०]

अन्तिम वाक्य मेरे विचार में उन्होंने ऋृषिक=उड्षि सूचना के बारे में लिखा। जहाँ तक बिसी महाबिसी की बात है, उन्हें छोटे उड्षि और बड़े उड्षि का समानार्थक बताना तो दूर, मैंने आज तक उनके बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा। बात यों है कि जायसवालजी ने अपने लेख में "भारतभूमि" की कुछ नई खोजों की चर्चा करते हुए यह सुझाव भी दे दिया, और इस प्रकार दिया कि पाठक को यह न पता लगता कि वे "भारतभूमि" की बात उद्धृत कर रहे हैं या अपना नया सुझाव दे रहे हैं। यों यह गलतफ़हमी हुई। उनका भी यह कहना नहीं था कि **अर्थशास्त्र में बिसी और महाबिसी** खालों के नाम नहीं हैं; स्पष्ट ही उनका यह सुझाव था कि वे खालें छोटे और बड़े उड्षि के प्रदेश से आती होंगी इस कारण उनके ये नाम पड़े होंगे। पर यह सुझाव भी उन्होंने कुछ जल्दी में दे डाला। आज प्रो० लेवी और जायसवालजी दोनों नहीं हैं और मुझे २१ बरस बाद इस छोटी सी गलतफ़हमी को मिटाने का अवसर मिला है!

फ्रांसीसी विद्वानों में ऋृषिक के बारे में इसके बाद भी चर्चा चलती रही। अब तो ऋृषिक उड्षि की अभिन्नता में किसी को सन्देह नहीं है, भले ही इस बात की व्याख्या विभिन्न तरीकों से की जाय कि प्राचीन भारतीयों ने यह शब्द कब कैसे कहाँ पाया या गढ़ा। इस प्रश्न पर अगले परिच्छेद से प्रकाश पड़ेगा और उसी की भूमिका रूप में मैंने इस पुरानी चर्चा का सार यहाँ फिर से दिया है।

---

१०. सिल्व्याँ लेवी (१९३३)—ले तोखारियाँ (तुखारी भाषा), ज्हूर्नाल आज़ियातीक १९३३, पूर्वार्ध पृ० ६-७।

४. श्वेत पर्वत

दिग्विजयपर्व का लेखक कहता है कि ऋषिकों के साथ अर्जुन का अति भयंकर संग्राम हुआ, वहाँ से अर्जुन तोते के पेट जैसे पेट वाले (शुकोदरसम) आठ घोड़े लाया, कुछ मोरों जैसे, कुछ दोनों जैसे। तब

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम्।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यवसत्पुरुषर्षभः॥

युद्ध में निष्कुट सहित हिमवान् को पूरी तरह जीत कर श्वेत पर्वत पहुँच कर उसने छावनी डाली।

यह श्वेत पर्वत कौन सा और कहाँ है? १९३०–३३ में मुझे इस बारे में कुछ नहीं सूझा था। डा० मोतीचन्द्र ने इसे अफगानिस्तान का सफेद कोह समझा है (पृ० १२)। पूर्वी मध्य एशिया से चल कर सफेद कोह आ कर डेरा डालना वापसी यात्रा में ही हो सकता है, पर दिग्विजयपर्व में कहीं भी किसी वापसी यात्रा का व्यौरा नहीं है, उसका उद्देश तो दूर तक की उन सीमाओं को दिखा देना भर है जहाँ तक पाण्डव जीतते हुए पहुँचे (अर्थात् कवि की दृष्टि में भारत के सम्राट् को पहुँचना चाहिए)। इसलिए श्वेत पर्वत अर्जुन के दिग्विजय मार्ग के अन्तिम छोर पर होना चाहिए।

पूर्वी मध्य एशिया की लगभग ठीक उत्तरपूर्वी सीमा पर जहाँ तक कि भारतीय उपनिवेशकों की अन्तिम पहुँच थी, और उस प्रदेश के ठीक सिरे पर जहाँ कि शुकोदरसम या मयूरसदृश (पतली लम्बी कमर वाले) घोड़े होते थे—शायद अब भी होते हों—एक प्रसिद्ध पर्वत है, जिसका आज का तुर्की नाम है खैदूताग। चीनी यात्री उसका नाम लिखते हैं 白山 **पाइ शान**। पाइ = श्वेत, शुद्ध स्पष्ट या उजला; और शान = पर्वत।[११] **पाइ शान** का अनुवाद किया जाता है—सफेद पहाड़।

---

११. इस जानकारी के लिए मैं अपने मित्र और संस्कृत चीनी तिब्बती के प्रकाण्ड पण्डित डा० वासुदेव विष्णु गोखले का अनुगृहीत हूँ।

मेरा निवेदन है कि वही **श्वेतपर्वत** है ।

य्वान च्वाङ चीन से चल कर कौशाङ के तुर्क राज्य से होता हुआ **अग्नि** राज्य में पहुँचा था जिसकी लिपि भारत की सी थी । इसे आजकल का यंगिशहर सूचित करता है । उस युग में अग्नि राज्य भारतीय राज्यक्षेत्र की उत्तरपूर्वी सीमा पर था । अग्नि की राजधानी सफेद पहाड़ (पाइ शान) से ७० ली (= लगभग १३ मील) दक्खिन थी ।[१२] फिर अग्नि से दक्खिनपच्छिम लगभग ६०० ली जा कर वह कुचि राज्य में पहुँचा था जो सफेद पहाड़ के २०० ली दक्खिन था । "कुचि नगर के उत्तर···देवमन्दिर के सामने एक नागह्रद था । उसमें के नाग घोड़े बन घोड़ियों से समागम करते, इससे उनकी सन्तति बड़ी उग्र होती······।"[१३]

अग्नि और कुचि चीनहिन्द के सुपरिचित उपनिवेश थे । सुप्रसिद्ध कुमारजीव कुचि का ही था । इन उपनिवेशों की ठीक उत्तरी सीमा पर श्वेत पर्वत था । कुचि के उग्र घोड़ों की ओर किसी भी आगन्तुक का ध्यान जाता और उस युग में उनकी उग्रता की अपने ढंग से व्याख्या की जाती थी ।

श्वेतपर्वत की इस पहचान से अब यह भी निश्चित हो गया कि ऋषिकों को दिग्विजयपर्व के लेखक ने ठीक किस जगह रक्खा है । पहले हम इतना ही कह सकते थे कि कम्बोज के पूरब कहीं रक्खा है । अब यह कह सकते हैं कि खैदूताग की दक्खिनी तलहटी में यंगिशहर और कुचा के प्रदेश में रक्खा है। चीनी इतिहासकारों की कृपा से हमें ऋषिकों के प्रवास की पूरी कहानी तिथिवार प्राप्त है ।

उइशि या ऋषिक लोग पहले तकलामकान मरुभूमि के दक्खिन

---

१२. वैटर्स (१९०४)—औन य्वाङ-च्वाङ्स ट्रैवल्स इन इंडिया (य्वान-च्वाङ की भारतयात्रा) भाग १ पृ० ४८ ।

१३. वहीं पृ० ५९,६१ ।

नीया और चर्चन नदियों के काँठों में रहते थे। वे विकट योद्धा थे। १७६ ई० पू० में हिअङ्नु (हूण) राजा मोन्तू ने चीन सम्राट् को खबर भेजी थी कि उसने उइषि और पड़ोसी जातियों को जीत लिया और उइषि का अधिकांश अपना घर छोड़ थियानशान पर्वत के दक्खिनी ढाल पर चला गया। फिर १६५ ई० पू० में हिअङ्नु राजा लौन्चाङ ने उन्हें दूसरी बार करारी हार दी और उनके राजा को मार उसकी खोपड़ी का प्याला बना लिया। विधवा रानी के नेतृत्व में अपने ढोरों डंगरों को हाँकते हुए उइषि लोग थियानशान पार कर ईली नदी के काँठे में ईसिककुल झील पर जा बसे। १६० ई० पू० में हूणों ने उन्हें वहाँ से भी आगे खदेड़ा।

इस प्रकार १७६ और १६५ ई० पू० के बीच ऋषिक लोग थियानशान और श्वेतपर्वत के दक्खिनी ढालों पर कूचा और यंगिशहर प्रदेश में थे। दिग्विजयपर्व का या कम से कम अर्जुन की इस यात्रा का चित्र ठीक उन तिथियों के बीच का है।[१४] और चूँकि चीनी लोग इस देश में भारतीयों के पीछे आये थे इसलिए **पाइ-शान** नाम **श्वेतपर्वत** का ही अनुवाद है।

डा० मोतीचन्द्र ने एक जगह (पृ० २४) दिग्विजय-पर्व की तिथि १६०–१२८ ई० पू० के बीच मानी है, अर्थात् उइषि के थियानशान लाँघ आने और उसके उत्तर से भी खदेड़े जाने के बाद और बलख को जीतने से पहले। किन्तु अब जब यह प्रकट है कि दिग्विजयपर्व के लेखक ने अर्जुन की उनसे लड़ाई कम्बोज (पामीर) और श्वेतपर्वत (खैदूताग) के बीच कराई है, तब हमें उसकी तिथि १७६–१६५ ई० पू० के बीच ही रखनी होगी।

---

१४. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५१)—श्वेत पर्वत, सितम्बर १९५१ में इस्तानबूल में हुई २२वीं सार्वदेशिक प्राच्य परिषद् (इंटरनैशनल कांग्रेस ऑफ़ ऑरियंटलिस्ट्स) के लिए भेजा लेख-संक्षेप अंग्रेज़ी में; तथा लघु इतिहास-प्रवेश नक्शा १३ (= इतिहास-प्रवेश ४र्थ संस्करण का नक्शा १५)।

दूसरी जगह (पृ० ३०) डा० मोतीचन्द्र ने उसकी तिथि १८४—१४८ ई० पू० के बीच अर्थात् पुष्यमित्र शुंग के समय में रक्खी है। वह इस आधार पर कि नकुल के पश्चिम-दिग्विजय में **मध्यमिकायांश्च वाटधानान् द्विजानथ** (मध्यमिका में वाटधान द्विजों को) जीतने का उल्लेख है। मध्यमिका से उन्होंने चित्तौड़ के पास की मध्यमिका नगरी मानी है और वाटधान का अर्थ शुंग किया है, और उनका कहना है कि पुष्यमित्र के समय यवनों ने मध्यमिका को घेरा था, उसी बात का यहाँ रूपान्तर कर दिया गया है। यह सब निरी कल्पना है और सो भी बहुत खींचातानी के साथ। महाभारत के दक्खिनी संस्करणों में **मध्यमिकेयांश्च** पाठ है, मैंने उसका अर्थ **माझे के लोगों को** किया था[१५]। पंजाब का केन्द्र प्रदेश—अमृतसर तरनतारन पट्टी—अब भी **माझा** कहलाता है। मैंने यह भी दिखाया था कि वहाँ जितने नाम हैं सब ठीक स्थानक्रम से, और उस क्रम में माझा बिलकुल ठीक बैठता है। **मध्यमिकायांश्च** पाठ व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध है। या तो **मध्यमिकायाञ्च** पाठ हो या **मध्यमिकेयांश्च**। यदि च के पहले श् है तो **मध्यमिकेयांश्च** ही पढ़ना होगा।

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दिग्विजयपर्व लग० १७० ई० पू० का है और उसका लेखक सीता-तारीम काँठे को जानता है, और उसी प्रदेश में अशोक के समय नाभक और नाभपंक्ति उपनिवेश थे, तो वह उनका उल्लेख क्यों नहीं करता? इसका उत्तर सीधा है। नाभक और नाभपंक्ति उस युग में ताज़ी रोपी हुई आर्यावर्ती राज्य की नन्हीं सी कलमें थीं; भारतीय दिग्विजेता द्वारा उन्हें जितवाने का कुछ अर्थ न था; कवि जिसे भारतीय राज्यक्षेत्र या प्रभावक्षेत्र मानता है उसके अन्तर्गत दस्युओं को जिताने में ही सार्थकता थी।

दिग्विजयपर्व की जहाँ तक खोज हुई है उससे हमें दूसरी शताब्दी ई०

---

१५. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३४)—**नकुल का पश्चिम-दिग्विजय**, पूर्वोक्त पृ० ४-६।

पू० के भारतीयों के मानसिक क्षितिज का बड़ा अच्छा नक्शा मिला है। उसके बाकी अंशों की भी खोज हो जाय तो उस युग के भारतीय देशज्ञान की पूरी सीमाएँ प्रकट हो जायँ।

इ. पोरुस्=पोळुमावी

[दे० ऊपर पृ० ५६-६०]

रोम में गणराज्य के बजाय साम्राज्य स्थापित होने पर भारत के सम्राट् पोरुस् ने अनेक भेंटों के साथ अपने दूत भेजे थे, जो भरुकच्छ बन्दरगाह से रवाना हो कर २१ ई० पू० में रोमी सम्राट् से मिले थे। इस **पोरुस्** की मैंने सातवाहन वंश के वासिष्ठीपुत्र **पोळुमावी** से अभिन्नता दिखाई थी। उस पहचान से **एक** तरफ सातवाहनों का तिथिक्रम सुनिश्चित हुआ—जायसवालजी के बनाये तिथिक्रम की पुष्टि हुई—और दूसरी तरफ उस युग में भारत और रोम के राजनीतिक आर्थिक सम्बन्ध बहुत स्पष्ट हुए। इस परिशिष्ट में उस विषय पर कोई नई बात नहीं कहनी है, केवल एक अधिकारी विद्वान् का मत दर्ज करना है। रोम विद्यापीठ प्राच्य विभाग के अध्यापक श्री मारियो बुसाल्यी ने इस विषय पर सातवें भारतीय प्राच्य सम्मेलन के कार्यविवरण में प्रकाशित मेरे लेख (ऊपर पृ० ५६ टि० ५) को पढ़ने के बाद अपने ३१ जनवरी १९५२ के पत्र में लिखा है—"रोमा[१६] और भारत के सम्बन्धों के अध्ययन में मैं लगा हुआ हूँ। मेरा विश्वास है कि उस भारतीय राजा की, जिसने २१ ई० पू० में औगुस्तो के पास सामो में अपने राजदूत भेजे थे, पहचान तथा नाम के विषय में आपकी विवेचना बिलकुल ठीक है" (इतालवी से अनुवाद)।

औगुस्तो के पास किस भारतीय राजा ने कैसी परिस्थिति में दूत भेजे

---

१६. इतालवी लोग अपने देश की राजधानी को रोम नहीं रोमा कहते हैं। हमारे दिग्विजयपर्व में भी उसका ठीक वही नाम है। उसी युग में रोमा की प्रसिद्धि पहलेपहल होने लगी थी।

इस प्रश्न का भारतीय इतिहास के लिए जितना महत्त्व है उतना ही रोमी इतिहास के लिए भी। इसीलिए एक रोमी विद्वान् की इस विषय पर सम्मति का महत्त्व है।

उ. कनिष्क-संवत्

[दे० ऊपर पृ० ६१]

१. कनिष्क-संवत् की समस्या

शक-सातवाहन इतिहास का घटना-जाल भारतीय इतिहास का सबसे अधिक उलझा हुआ अंश रहा है। अब वह लगभग सुलझ चुका है, तो भी उसके कुछ धागों को आगे-पीछे खींचने की गुंजाइश है। कनिष्क की तिथि उन धागों में से एक है। किसी समय उस तिथि को विभिन्न विद्वान् पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० तक रखते रहे। किन्तु जैसा कि विन्सेंट स्मिथ ने १६१६ में लिखा, अन्त में इतना विवाद बाकी रह गया कि कनिष्क का गद्दी पर बैठना और अपना संवत् चलाना ७८ ई० में हुआ या उसके चालीस-एक वर्ष पीछे। दे० रा० भण्डारकर और नीलकंठ शास्त्री को छोड़ कर प्रायः सब भारतीय विद्वान् तब ७८ ई० के पक्ष में थे। अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् दूसरे मत के थे।

२. प्रचलित शकाब्द को कनिष्काब्द मानने में कठिनाइयाँ

७८ ई० के पक्ष में सब से बड़ी कठिनाई मध्य एशिया और चीन के इतिहास से आती है। सारा चीनहिन्द कनिष्क के साम्राज्य के अन्तर्गत था; खोतन के राजा विजयकीर्त्ति के साथ ही तो उसने उत्तर भारत पर चढ़ाई की थी। य्वान च्वाङ ने स्पष्ट लिखा है कि चीन की सीमा के पीली नदी के पच्छिम के किसी राजा को अपने राजकुमार ओल रूप में कनिष्क को सौंपने पड़े थे। वे राजकुमार जाड़ों में मध्य पंजाब के एक प्रदेश में जिसका नाम उनके कारण चीनभुक्ति पड़ गया था, पतझड़ और वसन्त में गन्धार में तथा गर्मियों में कापिशी में रहते थे

(वैटर्स १ पृ० १२४, २६२)। कापिशी में उनके लिए जो विहार बनवाया गया था, उसे और उसकी भीतों पर के चित्रों को य्वान ने देखा था; उन चित्रों में से कुछ की चीनी वेशभूषा थी। चीनी-तिब्बती ग्रन्थों में यह अनुश्रुति भी है कि उत्तरी देशों में कनिष्क लम्बी लम्बी चढ़ाइयाँ करता रहा और अन्त में एक उत्तरी लड़ाई में ही उसके युद्ध से थके सैनिकों ने उसे मार डाला। यह अनुश्रुति सर्वथा युक्तिसंगत है, क्योंकि पच्छिमी मध्य एशिया में आने के बाद ऋषिक सरदारों ने सीर और वंक्षु नदियों के समूचे काँठों में अराल और कास्पी सागरों तक अपने राज्य खड़े कर लिये थे, जैसा कि य्वान च्वाङ के मध्य एशिया के विवरण से प्रकट है, और कनिष्क जैसे शक्तिशाली सम्राट् के लिए अपनी जाति के उन सब राज्यों को एक छत्र के नीचे लाने का प्रयत्न करना अत्यन्त स्वाभाविक था।

कनिष्क के राज्यकाल के लेखों में १ले से २३वें वर्ष तक दर्ज हैं। २४वाँ वर्ष उसके उत्तराधिकारी वासिष्क का था। इस प्रकार यदि ७८ ई० में कनिष्क गद्दी पर बैठा हो तो १०० ई० में उसकी मृत्यु हुई होगी। किन्तु ७३ से १०२ ई० तक कम्बोज-गन्धार के किसी राजा का पूर्वी या पच्छिमी मध्य एशिया में हस्तक्षेप करना असम्भव था। उस अरसे में चीन का महान् सेनापति पान-छाओ कुचि में छावनी डाल कर बैठा था और उसने कास्पी समुद्र तक चीन का झंडा जा गाड़ा था। ६० ई० में उसने कम्बोज के ऋषिक राजा की सेना को बुरी तरह हराया था। पान छाओ के बाद चीनी शक्ति की बाढ़ मध्य एशिया से उतर गई और उसी समय कनिष्क का वहाँ साम्राज्य फैलाना सम्भव था। कनिष्क का राज्य-काल ७८ ई० से आरम्भ हुआ मानने के विरुद्ध यह सब से बड़ी और निर्णायक युक्ति है। अन्य युक्तियों को हम आगे देखेंगे।

कनिष्क-संवत् वाले लेखों में जहाँ जहाँ किसी तिथि के क्षय या वृद्धि आदि के उल्लेख हैं, डा० स्टेन कोनौ ने उनके आधार पर ज्योतिषी वान विज्क से गणना करवा कर बतलाया कि उस संवत् का आरम्भ या तो

७८ ई० में हुआ होगा या १२८ ई० में, और मध्य एशिया और चीन के इतिहास की उक्त घटनाओं को देखते हुए उन्होंने १२८ ई० में ही आरम्भ माना।[१७] मैं उन दिनों उनके मत का पूरा अनुयायी था और भारतीय विद्वान दूसरी शताब्दी ई० में कनिष्क का राज्य होने के विरुद्ध जो फुटकर युक्तियाँ दिया करते थे उनका निराकरण करते हुए मैंने कोनौ और वान विज्क का बलपूर्वक समर्थन किया था।[१८]

३. पुराने शक-संवत्, शकाब्द और कनिष्काब्द के बीच कड़ियाँ

उसके अगले वर्ष शक-सातवाहन कालगणना पर जायसवालजी की कृति प्रकाशित हुई जिसके कारण इस सारे विषय की फिर से जाँच आवश्यक हुई।

७८ ई० से पहले के शक पह्लव ऋषिक लेखों में जो तिथियाँ दर्ज हैं वे किसी और संवत् या किन्हीं और संवतों की हैं। उन सब तिथियों को एक शृंखला में लाने का पहला प्रयत्न राखालदास बनर्जी ने १९०८ में किया और उनमें के पुराने शक-संवत् का आरम्भ लग० १०० ई० पू० में माना। १९२४ में डा० स्टेन कोनौ और डा० वान विज्क ने उसका आरम्भ ८३ ई० पू० में रक्खा। किन्तु उत्तरपच्छिम के सब पुराने खरोष्ठी लेखों की तिथियाँ उस एक संवत् की मानते हुए भी महाराष्ट्र और मथुरा के उसी युग के ब्राह्मी शक लेखों की तिथियों को उन्होंने उस संवत् का नहीं कहा। जायसवालजी ने पुराने शक-संवत् का आरम्भ

१७. स्टेन कोनौ (१९२३)—रौयल डेट्स इन दि नीया इन्स्क्रप्शन्स (नीया के अभिलेखों में राजकीय तिथियाँ), आक्ता ओरियंतालिया (स्वीडन नौर्वे डेनमार्क की प्राच्य खोज पत्रिका) भाग २; स्टैन कोनौ और वान विज्क (१९२४)—ईराज़ औफ़ दि इंडियन खरोष्ठी इन्स्क्रप्शन्स (भारतीय खरोष्ठी अभिलेखों के संवत्), वही भाग ३; तथा (१९२६) वही भाग ५। नीया नदी और बस्ती चीनहिन्द में है।

१८. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९२९)—दि डेट औफ़ कनिष्क (कनिष्क की तिथि), ज० बि० ओ० रि० सो० १५, पृ० ४७—६३।

१२३ ई० पू० में रक्खा और खरोष्ठी तथा ब्राह्मी सभी पुराने शक पह्लव ऋषिक लेखों की तिथियों को उस संवत् का मान कर व्याख्या की। उनकी बात बहुत युक्त थी और उससे वह इतिहास और भी सुलझ गया।

विभिन्न शक पह्लव ऋषिक राजाओं का आपेक्षिक क्रम चीनी और अन्य इतिहासलेखकों के निर्देशों से तथा पुराने स्थानों की खुदाई में प्राप्त उनके सिक्कों और अन्य रचनाओं की सतहबन्दी से निश्चित हो चुका है। उसके अनुसार कनिष्क विम कफ्स के बाद हुआ। विम का निर्देश करने वाला एक अभिलेख १८४ या १८७वें वर्ष का है। पुराने शक संवत् का आरम्भ १२३ ई० पू० में हो तो वह ६२ या ६५ ई० का हुआ। उसके बाद १९१ वर्ष के अभिलेख में "महाराज के भाई मणिगुल के पुत्र चुक्ष के क्षत्रप जिहोनिक का" (राज्यकाल) दर्ज है। चुक्ष अटक जिले का चच प्रदेश है जो तक्षशिला से निकट दक्खिनपच्छिम है। "मणिगुल क्षत्रप के पुत्र क्षत्रप जिहोनिअ" के सिक्के भी गन्धार से मिले हैं। इस अभिलेख में और इन सिक्कों पर जो राजधानी के इतने नजदीक के हैं, महाराजा का नाम क्यों नहीं है? इतना ही नहीं, विम और कनिष्क के बीच सिक्कों का एक अच्छा स्तर पाया जाता है जिनपर किसी महाराजा का नाम नहीं प्रत्युत "महाराज राजाधिराज महान् त्राता" खुदा रहता है और बहुतों पर वि संकेत रहता है। इससे प्रकट है कि १८४ या १८७ और १९१ वर्षों के बीच—अर्थात् जायसवालजी की गणना ठीक हो तो ६२ या ६५ और ६९ ई० के बीच—कभी विम की मृत्यु हुई और उसके एक अरसे बाद कनिष्क ने राज पाया।

अभिलेखों और सिक्कों से प्रकट होने वाले इस व्यवधान की पुष्टि चीनी निर्देशों और खोतनी अनुश्रुति से होती है। उनके अनुसार विम बड़े ऋषिकों में से था, कनिष्क छोटे ऋषिकों में से, और ऋषिकों का राज्य एक बार उठ जाने पर कनिष्क ने खोतन के राजा विजयकीर्त्ति के साथ मध्यदेश को फिर से जीता था। पंजाब की दन्तकथाओं और अल्बरूनी द्वारा दर्ज की हुई भारतीय ज्योतिषियों की अनुश्रुति में राजा

शालिवाहन द्वारा सिरकप के बेटे शक राजा के मारे जाने की जो बात है, वह भी इस व्यवधान को पुष्ट करती है। यदि उन वृत्तान्तों में से इतना अंश निकाल दें कि शक राजा ७८ ई० में मारा गया और उसके बजाय विम का मारा जाना ६८ ई० में मान लें तो वे जायसवालजी के निश्चित किये घटनाओं और तिथियों के क्रम में ठीक बैठ जाते हैं। पुराने शक संवत् का आरम्भ १२३ ई० पू० मानने और कनिष्क को ७८ ई० वाले शकाब्द का प्रवर्तक मानने से विम की मृत्यु और कनिष्क के बीच १० वर्ष का व्यवधान बनता है।

भारतीय इतिहास की रूपरेखा लिखते समय (१६३१–१६३३) मैंने कुछ सन्देहों के साथ इस स्थिति को मान लिया था और मध्य एशिया और चीन के इतिहास से उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का दूसरे भारतीय ऐतिहासिकों की तरह यह कह कर समाधान कर लिया था कि उधर की चढ़ाइयाँ ४१ कनिष्क संवत् वाले वासिष्क के पुत्र कनिष्क दूसरे ने की होंगी और कि पहला कनिष्क पानछाओ से हारा होगा (पृ० ८३४–८३७, ८४२, ८४६-८५०, सन्देह पृ० १०७७–१०८०)। इस स्थापना में कनिष्क-संवत् के बारे में काफी खींचातानी और पुराने शक-संवत् के बारे में भी कठिनाई थी। तो भी मेरा इसे मान लेने का मुख्य कारण यह रहा कि यदि कनिष्क-संवत् का आरम्भ ७८ ई० में न रक्खा जाय तो (वान विज्क के अनुसार) १२८ ई० में रखना होगा, और उस दशा में विम और कनिष्क के बीच का व्यवधान बहुत अधिक हो जायगा।

४. जायसवालजी की स्थापना में संशोधन की आवश्यकता

बाद के अध्ययन और विचार तथा नई सामग्री के सामने आने से मुझे अपना मत उस समय प्रकट किये हुए अपने सन्देहों के अनुसार निश्चित रूप से बदलना पड़ा है। प्रो० रैप्सन ने दिखाया कि वान विज्क ने जिन आधारों पर कनिष्क संवत् के आरम्भ का वर्ष निश्चित किया था

वे बहुत कच्चे हैं। ऐसा है तो हम कनिष्काब्द का आरम्भ ७८ ई० या १२८ ई० में रखने के बन्धन से छुट जाते हैं। दूसरी तरफ पुराने शक-संवत् का आरम्भ १२३ ई० पू० में रखने में एक और कठिनाई भी थी। वह यह कि पह्लव राजा गुदुव्हर का समय उसके अनुसार ईसवी सन् के आरम्भ से कुछ ही पहले समाप्त हो जाता है, पर सीरिया की ईसाई अनुश्रुति के अनुसार ईसा का शिष्य सन्त थोमास गुदुव्हर के राज्य में भारत आया था। इस कठिनाई की ओर मैंने १९३३ में भी ध्यान दिलाया था (वहीं पृ० १०७७)। इसे देखते हुए पुराने शक-संवत् का आरम्भ हमें थोड़ा इधर खसकाना होगा। उस दशा में विम की मृत्यु लग० ठीक ७८ ई० पर आ जाती है। तब क्यों न अल्बरूनी और पंजाबी दन्तकथा की बात को पूर्ण सत्य माना जाय? इधर धवला टीका से भी उसकी और पुष्टि हुई (ऊपर पृ० ६१ टि० ८)। विम पुराने शक-संवत् के १८४वें वर्ष में अवश्य था; अतः वह वर्ष ७८ ई० के बाद का नहीं होना चाहिए। उस दशा में पुराने शक-संवत् के आरम्भ को १०६ ई० पू० तक खसका लाने की गुंजाइश है। पर १९१वें वर्ष में विम निश्चय से नहीं था, अतः वह वर्ष ७८ ई० से पहले का नहीं होना चाहिए, अर्थात् पुराने शक-संवत् का आरम्भ ११३ ई० पू० से पहले का न होना चाहिए। यों ११३–१०६ ई० पू० के बीच कभी, या अन्दाज़न ११० ई० पू० में पुराने शक-संवत् का आरम्भ हुआ। शकों ने भारत-प्रवास में सिन्ध या सुराष्ट्र में हुई अपनी किसी सफलता के उपलक्ष में वह संवत् चलाया होगा।

गुदुव्हर १०३वें वर्ष में पेशावर ज़िले का राजा था, पर १२२वें वर्ष से पहले पेशावर में और १३६वें से पहले तक्षशिला में कुशाण कफ्स का राज्य स्थापित हो चुका था। ११० ई० पू० में संवत् का आरम्भ मानने से लग० २० ई० तक तक्षशिला में गुदुव्हर का राज्य रहा हो सकता है। सन्त थोमास की कहानी गाथामयी है, पर उस कहानी को बनाने वाले ईसू के समय भारत में पार्थव राजा गुदुव्हर का होना जानते

थे यही बात महत्त्व की है। स्वयं ईसूमसीह की ऐतिहासिक सत्ता के विषय में उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक युरोपी विवेचकों ने सन्देह प्रकट किया था, कुछ ने उसे सर्वथा मिथ्या गाथा माना। मेरे विचार में उनकी तर्कना उतनी ही असंतुलित थी जितनी राम और कृष्ण की ऐतिहासिक सत्ता में सन्देह करने वालों की। तो भी उनकी विवेचना से इतना तो सिद्ध हुआ था कि ईसवी सन् ईसू के ठीक जन्म को सूचित नहीं करता; ईसू का जन्म ८ से ४ ई० पू० के बीच कभी हुआ था (गौ० ही० ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, २य संस्क०—१९१८—पृ० १९४)। यों यदि लग० १० ई० तक गुदुव्हर का राज्य पेशावर में और लग० २० या २५ ई० तक तक्षशिला में रहा हो, तो ईसू के जीवनकाल में उसकी ख्याति पच्छिमी एशिया तक पहुँचने की पूरी गुंजाइश थी। पुराने शक-संवत् का आरम्भ यों १२३ ई० पू० के बजाय लग० ११० ई० पू० में रखने से जहाँ यह कठिनाई दूर हो जाती है, वहाँ बाकी सब घटनाओं का अनुक्रम और परस्पर-सम्बन्ध ज्यों का त्यों बना रहता है और शकाब्द के आरम्भ विषयक भारतीय ज्योतिषियों की अनुश्रुति का पूरा समर्थन होता है।

"महान् त्राता" के सिक्कों की अवधि मुद्रानुशीलकों के मत से ३०-४० वर्ष है। फलतः विम की मृत्यु के ३०-४० वर्ष बाद कनिष्क संवत् का आरम्भ होना चाहिए। १२३ ई० पू० में पुराने शक-संवत् और ७८ ई० में कनिष्काब्द का आरम्भ मानने से विम और कनिष्क के बीच व्यवधान जो केवल १० वर्ष का होता था यह भी उक्त स्थापना में बड़ी अड़चन थी, जिसके कारण उसका संशोधन आवश्यक था। और जब गुदुव्हर की ठीक तिथि के लिए पुराने शक-संवत् को दस वर्ष इधर लाना पड़ा तब तो वह व्यवधान बिलकुल गायब हो गया।

एक पुराना प्रश्न बाकी रह जाता है कि शकाब्द यदि सातवाहन राजा ने शुरू किया तो उस वंश के राजा स्वयं अपने लेखों में उसका प्रयोग क्यों नहीं करते। इसका सीधा उत्तर यह है कि "राजकीय लेखों में राज्यवर्षों का ही निर्देश करने की प्रथा भारतवर्ष में पुरानी है, जैसा कि

अशोक और खारवेल के अभिलेखों से प्रतीत होता है" (भा० इ० की रूपरेखा पृ० ७८६-७८७)। जब कि पुराने शक-संवत् का आरम्भ लग० ११० ई० पू० में, शालिवाहन-शकाब्द का आरम्भ सातवाहन राजा द्वारा विम के मारे जाने से और कनिष्काब्द का आरम्भ उसके ३०-४० वर्ष पीछे मानने से इस युग की सब घटनाओं में पूरा सामञ्जस्य हो जाता है, तब हमें वैसा मानना ही पड़ता है। और पुराने शक-संवत् तथा कनिष्काब्द के आरम्भ की जो युक्तिसंगत तिथियाँ समूची आधुनिक खोज से प्रतीत होती हैं उन्हीं से अल्बरूनी द्वारा दर्ज की हुई शकाब्द के आरम्भ विषयक भारतीय ज्योतिषियों की और पंजाबी लोकगाथा की अनुश्रुति पुष्ट होती है, यह उस अनुश्रुति की सचाई के पक्ष में बहुत बड़ा प्रमाण है।

५. कनिष्काब्द का आरम्भ

कनिष्काब्द का आरम्भ-काल निश्चित करने वाली अन्य युक्तियों पर अब हम ध्यान दें।

(क) उज्जैन-सुराष्ट्र वाले पच्छिमी क्षत्रप वंश का उदय कनिष्क वंश के साथ-साथ हुआ। वह क्षत्रप वंश स्पष्टतः कनिष्क राजवंश पर आश्रित तो था ही, मथुरा के ऋषिक **देवकुल में षस्तन** (=चष्टन) की मूर्त्ति मिलने से उसका कनिष्क वंश के साथ निकट सम्बन्ध भी सिद्ध हो चुका है (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८५२)। प्राचीन भारत में राजवंशों के **देवकुल** स्थापित करने की प्रथा थी जिनमें प्रत्येक राजा की मृत्यु के बाद उसकी मूर्त्ति स्थापित की जाती थी। रोमी भूवृत्त-लेखक तोलमाय ने १०४ और १४७ ई० के बीच कभी अपना ग्रन्थ लिखा; उसने उज्जैन में चष्टन के राज करते होने का उल्लेख किया है। चष्टन का पोता रुद्रदामा ५२ शकाब्द (=१३० ई०) में निश्चय से था। शायद स्वयं चष्टन भी उस वर्ष जीवित था। कनिष्क का गद्दी पर बैठना चष्टन के क्षत्रप-गद्दी पाने के कुछ पहले होना चाहिए।

(ख) कनिष्क वंश के अभिलेखों से प्राप्त वर्ष इस प्रकार हैं—

(१) कनिष्क	१ से २३
(२) वासिष्क या वासेष्क	२४ से २८
(३) हुविष्क	३३ से ६०
(३क) वाझेष्कपुत्र कनिष्क	४१
(४) वासुदेव	७४ से ६८

इन सम्राटों का साम्राज्य मध्य एशिया, अफगानिस्तान, पंजाब और मध्यदेश में होना प्रमाणित है। इनके बाद

(५) कनिष्क २य

और (६) वासुदेव २य

के राज्य मुद्रानुशीलकों ने माने हैं, और डा० अल्तेकर ने इनका राज्य-काल अन्दाज़ से ३० और २० वर्ष रक्खा है।[१९] जिन सिक्कों के आधार पर इन राजाओं की स्वतन्त्र सत्ता मानी गई है उन्हें कनिष्क १म और वासुदेव १म का न मानने के लिए मुख्य युक्ति यह है कि इन सिक्कों पर ब्राह्मी लेख हैं और यूनानी लेख कुछ भ्रष्ट लिपि में हैं, जब कि वासुदेव १म तक के सिक्कों पर खरोष्ठी लेख और सुन्दर यूनानी लेख हैं। इन दोनों राजाओं के सिक्के बड़ी संख्या में पंजाब, अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया से पाये जाते हैं।

(ग) कनिष्क १म की तिथि १२५ ई० के भी बाद रखने के पक्ष में एक युक्ति यह दी जाती है कि वासुदेव ने २३० ई० में चीन को दूत भेजे थे (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० १०८०)। पर यदि यह वासुदेव २य हो, जैसा कि डा० अल्तेकर ने माना है, तो कनिष्क १म की तिथि १२५ के बाद लाने के बजाय थोड़ी पहले ही रखनी होगी। यदि हम यह मानें कि वासुदेव १म का राज्य ६८ वर्ष में ही समाप्त हो गया और वासुदेव २य ठीक २३० ई० में ही गद्दी पर बैठा तो कनिष्काब्द

---

१९. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—दि वाकाटक-गुप्त एज (वाकाटक-गुप्त युग) पृ० १३–१८।

का आरम्भ ११० ई० में मानने से कनिष्क ३य का राज्यकाल २२ वर्ष का और ११५ ई० में मानने से १७ वर्ष का बनेगा।

(घ) कनिष्काब्द का आरम्भ १२५ ई० के बाद मानने के लिए दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि चीनहिन्द से चीन वालों का १२५ ई० तक घनिष्ठ सम्पर्क था, बाद नहीं रहा, और कि चीनी इतिहास-ग्रन्थों में कनिष्क का उल्लेख नहीं है, यदि कनिष्क का साम्राज्य १२५ ई० से पहले रहा होता तो अवश्य उल्लेख होता (वहीं पृ० १०७६-१०८०)। यदि कनिष्क का राज्य ११० ई० में शुरू हुआ तो १३२ में समाप्त हुआ, और ११५ में शुरू हुआ तो १३७ में समाप्त हुआ। दोनों दशाओं में यह मानने से कि उसका साम्राज्य पहले गन्धार और मध्यदेश में स्थापित हुआ, पीछे चीनहिन्द की तरफ फैला, इस कठिनाई का कुछ समाधान हो जाता है।

(ङ) १२५ ई० के बाद कनिष्काब्द का आरम्भ मानने के पक्ष में तीसरी युक्ति यह दी जाती है कि चीनी इतिहास के अनुसार लग० १२० ई० में काशगर के राजा को ऋषिक राजा ने पदच्युत किया था और तभी काशगर की प्रजा बौद्ध बनी थी, तथा उसे बौद्ध दीक्षा देने का काम खोतन के जिस राजा विजयकीर्ति के साथ कनिष्क ने मध्यदेश पर चढ़ाई की थी उसकी माँ ने किया था, इसलिए विजयकीर्ति का समय १२० ई० के बाद होना चाहिए (वहीं पृ० १०७६)। किन्तु माँ के इस कार्य के कुछ पहले भी विजयकीर्ति की मध्यदेश पर चढ़ाई मानने में विशेष कठिनाई न होनी चाहिए।

(च) इन सब युक्तियों के बारे में यह समझना चाहिए कि जितना हम इनके कारण कनिष्क १म के समय को इधर लायेंगे उतना ही हमें कनिष्क ३य और वासुदेव २य के राज्यकाल को कम करना होगा। लग० २३८ ई० में ईरान के सासानी राजा अर्दशीर १म ने बलख मर्व समरकन्द का आधिपत्य वासुदेव २य से ले लिया था, यह स्थापना

कुषाण-सासानी सिक्कों के आधार पर की गई है।[२०] दोनों पहलुओं को देखते हुए फिलहाल लग० ११० ई० में कनिष्काब्द का आरम्भ मानना चाहिए। भारत, चीनहिन्द, चीन या ईरान के इतिहास से और प्रकाश पड़ने पर उसे और ठिकाई से निश्चित किया जा सकेगा। पर किसी भी दशा में कनिष्काब्द का आरम्भ १०२ ई० से पहले नहीं जा सकता।

कनिष्क-तिथि विषयक मेरे १६२६ वाले अंग्रेजी लेख के उत्तर में डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने एक लेख लिखा था जो उनके ग्रन्थ के परिशिष्ट रूप में अब तक छपता आता है। पर १६२६ में मैंने जो पच्छिमी क्षत्रप रुद्रदामा की ऋषिक सम्राट् से स्वतन्त्र होने की बात स्वीकार कर ली थी उसे १६३१–३३ में ही छोड़ दिया था। उस दशा में कनिष्क, वासिष्क या हुविष्क की रुद्रदामा के साथ समकालीनता होने से कुछ भी कठिनाई नहीं होती।

---

२०. वहीं पृ० १७, हर्जफेल्ड के आधार पर।

नव-परिशिष्ट ३

(चौथे व्याख्यान का)

अ. मध्यदेश से तुखार साम्राज्य का अन्त कैसे ?

[दे० ऊपर पृ० ६७]

तुखार और गुप्त साम्राज्यों के बीच के जिस अँधियारे युग पर पहले-पहल जायसवालजी ने प्रकाश डाला था, डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर आदि के प्रयत्न से अब उसका स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट तथा घटनाओं का खाका बहुत कुछ निश्चित हो गया है। इसीलिए उसमें आगे की खोज का मार्ग भी स्पष्टतर दिखाई देने लगा है।

जायसवालजी की खोज ने उन्हें इस परिणाम पर पहुँचाया था कि सम्राट् वासुदेव १म के समय में राजा नव नाग ने दक्खिन से बघेलखंड के रास्ते कौशाम्बी पर चढ़ाई की और उसे जीत कर कान्तिपुरी में अपना राज्य स्थापित किया, तथा नव के उत्तराधिकारी वीरसेन ने मथुरा पर भी अधिकार कर लिया। अल्तेकर ने दिखाया है कि कौशाम्बी पर नव से पहले मघ वंश के राजा अधिकार कर चुके थे, और कि नव के नागवंशी होने, कान्तिपुरी में उसका राज्य होने तथा वीरसेन के उसका उत्तराधिकारी होने का कोई प्रमाण नहीं।[1] कान्तिपुरी की कन्तित से अभिन्नता अल्तेकर स्वीकार करते हैं कि नहीं, सो उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। जायसवालजी

---

१. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—दि वाकाटक-गुप्त एज (वाकाटक-गुप्त युग) पृ० २६-२७, ४६।

की स्थापना के इतने अंश का उनकी खोज से भी समर्थन हुआ है कि तुखार साम्राज्य पर पहली चोट दक्खिन से बघेलखंड के रास्ते कौशाम्बी में लगी जिसके फलस्वरूप कौशाम्बी उस साम्राज्य से निकल गई। उस चोट को लगाने वाला नागपुर का नाग उपनाम वाला नहीं प्रत्युत दक्षिण कोशल (बघेलखंड-छत्तीसगढ़) का मघ उपनाम वाला राजवंश था जिसकी राजधानी बांधोगढ़ थी।

नागपुर के पूरब लगे हुए भांडारा ज़िले के पौनी नामक स्थान से भार वंश के राजा भगदत्त का शिलालेख मिला है, जिसका सम्पादन महामहोपाध्याय वामन विष्णु मिराशी ने किया है। वह लेख अन्दाज़न दूसरी शताब्दी ई० का है। म० म० मिराशी ने अन्दाज़ किया है कि वह भगदत्त भारशिव-नागों का पूर्वज रहा होगा, जो कि बाद में तुखार साम्राज्य को मध्य भारत से ठेल कर पद्मावती नगरी में (मथुरा के प्रायः १२५ मील दक्खिन उत्तरपच्छिमी बुन्देलखंड में सिन्धु और परा नदियों के संगम पर) स्थापित हुए, और जिन्होंने उस साम्राज्य से गंगा-काँठे को भी प्रयाग और काशी तक मुक्त कराया।[२] मिराशी यों एक तरह से जायसवाल की स्थापना का समर्थन करते हैं। जायसवाल ने भारशिव-नागों के नागपुर प्रदेश में होने की अटकल लगाई थी, जो अब एक शिलालेख के पाये जाने से पुष्ट हुई। तो भी डा० मोतीचन्द्र और डा० अल्तेकर की खोजों से मघ राजाओं का दक्षिण कोशल से कौशाम्बी तक सिलसिलेवार बढ़ना जिस प्रकार प्रकट हुआ है, भारशिवों का नागपुर प्रदेश से उत्तर की ओर उस प्रकार का क्रमिक बढ़ाव अभी तक दिखाई नहीं दिया, और विशेष कर कौशाम्बी का मघों द्वारा ही मुक्त कराया जाना सिद्ध हुआ है। ध्यान रहे कि नागपुर-भांडारा प्रदेश दक्षिण

---

२. वा० वि० मिराशी (१९४६)—दि वाकाटक डिनैस्टी ऑफ़ दि सेंट्रल प्रौविन्सेस ऐंड बरार (मध्य प्रदेश और बराड का वाकाटक वंश), नागपुर युनिवर्सिटी हिस्टौरिकल सोसाइटी का ऐन्युअल बुलेटिन) नागपुर युनिवर्सिटी इतिहास-समाज का वार्षिक प्रगतिपत्र) १, पृ० ११-१२।

कोशल के पच्छिम लगा हुआ है। तुखार साम्राज्य के विरुद्ध दक्खिन से उठने वाली लहरें इन दोनों पड़ोसी प्रदेशों से आई हों तो भी यह कहना होगा कि कोशल से आई लहर का पूरा सिलसिला दिखाई देता है, नागपुर वाली का वैसा नहीं।

मघ वंश के राजा वासिष्ठीपुत्र भीमसेन मघ का राज्य ५०—५२ वर्षों में प्रयाग के ४० मील दक्खिन तक था। ८१वें वर्ष तक उसका पोता युवराज भद्रमघ उर्फ भट्टदेव कौशाम्बी ले चुका था। भद्रमघ का उत्तराधिकारी गौतमीपुत्र शिवमघ प्रतीत होता है जिसकी सहजाति के भीटे से मिली मोहर को जायसवालजी ने गौतमीपुत्र वाकाटक की समझा था। उसके उत्तराधिकारी वैश्रवण के समय १०७—१२७ वर्षों में इस वंश का राज्य उत्तर तरफ फतहपुर जिले तक जा पहुँचा। अगला राजा भीमवर्मा १३०—१३९ वर्षों में था। फिर दो एक और मघ राजाओं के बाद कौशाम्बी में राजा नव हुआ। प्रकट है कि कौशाम्बी से इन राजाओं ने तुखार साम्राज्य को ठेला और अन्त में फतहपुर प्रदेश तक अर्थात् अवधी-कनौजी बोलियों की सीमा पर गंगा तक अपना राज्य बढ़ा लिया।

पच्छिम तरफ इस बीच क्या हो रहा था ? कनिष्क २य और वासुदेव २य के सिक्के सतलज के पूरब नहीं मिलते। उनके बदले यौधेय और कुणिन्द गणों के विजय की घोषणा करने वाले इस युग के सिक्के उस प्रदेश से खूब मिलते हैं; कुणिन्दों के नेता महात्मा छत्रेश्वर का नाम उनके सिक्कों पर प्रकट होता है और बाद में (२५० ई० के लगभग) कुणिन्द गण यौधेय गण में मिल गया प्रतीत होता है। २२५ ई० तक मालव गण अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में स्वतन्त्र हो जाता है। महाक्षत्रप संघदामा की डेढ़ वर्ष राज करने के बाद ही २२३ ई० में अकाल मृत्यु होती है। डा० अल्तेकर ने अटकल लगाई है कि वह मालवों से लड़ते हुए मारा गया होगा; और यह बहुत युक्त अटकल है। इन गणराज्यों के साथ ही साथ पद्मावती में भारशिव-नागों का राज्य खड़ा हुआ जिसकी एक शाखा मथुरा में भी स्थापित हुई। पीछे इस राज्य की सीमा कानपुर

प्रदेश में गंगा तक पहुँच कर मत्र राज्य से जा लगी। उत्तरी पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा में इसी समय राजा अच्युत हुआ जिसके सिक्के नागों के सिक्कों जैसे हैं।

डा० अल्तेकर ने इन तथ्यों से यह परिणाम निकाला है कि वासुदेव १म का राज्यकाल समाप्त होते ही यौधेय कुणिन्द और मालव गणों ने ऋषिकों और उनके क्षत्रपों के साम्राज्य से स्वतन्त्र होने को संघर्ष छेड़ा; उनकी देखादेखी पद्मावती, मथुरा और उत्तर पंचाल में नाग राजा उठ खड़े हुए जिन्होंने गंगा-यमुना प्रदेश में अपने राज्य स्थापित कर लिये। ये परिणाम सर्वथा युक्त प्रतीत होते हैं। यौधेय गण का प्रदेश ऋषिक-क्षत्रप साम्राज्य स्थापित होने से पहले सतलज के काँठे में बहावलपुर से लुधियाने तक और वहाँ से रोहतक तक था। कुणिन्द गण का जनपद उसके उत्तर अम्बाला सहारनपुर देहरादून की तराई में अर्थात् पंजाब से गंगा-काँठे जाने के मुख्य रास्ते पर था। मालव गण का प्रदेश आधुनिक जयपुर राज्य और पासपड़ोस में था, जहाँ के उणियारा ठिकाने में कर्कोट-नगर या नगरककोड़ में उनकी राजधानी के खँडहर हैं। यौधेयों और मालवों के जनपद ऋषिक सम्राटों और उनके क्षत्रप सामन्तों के राज्यक्षेत्रों की सीमा पर रहे प्रतीत होते हैं। इन गणों के उठने पर जमना-गंगा काँठों का स्वतन्त्र हो उठना भी स्वाभाविक था। कुणिन्द गण के २५० ई० के बाद यौधेय गण में मिल जाने की बात, जो अल्तेकर ने पहचानी है, बड़ी पते की है। तभी यौधेयों के लेख सहारनपुर ज़िले के बेहट कस्बे तक से मिलते हैं, और कुणिन्दों का नाम अन्य गणों के साथ समुद्र-गुप्त के अभिलेख में नहीं मिलता। भारशिव-नागों का राज्य उत्तरी बुन्देलखंड, व्रज तथा कनौजी बोली के क्षेत्र में, और यदि अहिच्छत्रा वाले अच्युत को भी उनमें से माना जाय तो खड़ी बोली के क्षेत्र में भी, अर्थात् सब मिला कर हिन्दी (=पछाँहीं हिन्दी) के केन्द्र प्रदेशों में—दक्खिनी बुन्देलखंड और बाँगरूक्षेत्र को छोड़ कर हिन्दी के समूचे क्षेत्र में—था।

मालव गण के २२६ ई० तक स्वतन्त्र हो चुकने की बात उनके

नांदसा अभिलेख से, जो २८२ कृत (=विक्रम) संवत् का है,[3] स्वतन्त्र रूप से निश्चित है। पर मघ लेखों की तिथियाँ किस संवत् की मानी जायँ ? डा० अल्तेकर का यह कहना ठीक है कि वे २४८ ई० से आरम्भ होने वाले चेदि-संवत् की या गुप्त-संवत् की नहीं हैं।[4] पर जब हमने कनिष्काब्द का शकाब्द से भिन्न होना जान लिया तब यह प्रश्न है कि वे शकाब्द की हैं कि कनिष्काब्द की ? यदि वे लेख केवल कौशाम्बी से मिले होते तो हम उनकी तिथियों को आसानी से कनिष्काब्द का मान सकते, क्योंकि वह संवत् तब कौशाम्बी प्रदेश में चालू था। पर क्या बांधोगढ़ भी कनिष्क वंश के प्रभाव में आया था ?

भीमसेन मघ का राज्य प्रयाग के ४० मील दक्खिन तक ५०-५२ वर्षों में था। यदि वे वर्ष शकाब्द के हों तो यह बात कनिष्क १म के समय की होती है, कनिष्काब्द के हों तो हुविष्क के समय की। प्रयाग के नज़दीक तक मघ राज्य की सीमा यों ही पहुँचती थी कि कुछ प्रदेश जीत कर पहुँचाई गई थी सो हम नहीं जानते। ८१वें वर्ष तक भद्रमघ का कौशाम्बी ले लेना ८१ शकाब्द हो तो हुविष्क के राज्यकाल में और कनिष्काब्द हो तो वासुदेव १म के राज्यकाल में हुआ। दोनों दशाओं में वह हिम्मत का काम था, शेरखाँ के बाबर की बीमारी के समय चुनार ले लेने की तरह। यदि वह कनिष्काब्द हो तो भी उसके कम से कम १७ वर्ष बाद तक वासुदेव ने राज्य किया। पर उसका शकाब्द होना तो बहुत ही कठिन है। इसी प्रकार वैश्रवण का १०७–१२६ वर्षों में दोआब के खुले मैदान में फतहपुर तक अपना राज्य बढ़ा लेना वासुदेव १म के राज्यकाल के बजाय कनिष्क ३य और वासुदेव २य के राज्यकाल में होना ही अधिक युक्त है। सम्राट् वासुदेव को चुनौती दे कर कौशाम्बी ले लेना भी बेशक हिम्मत का काम था। तो भी कौशाम्बी जमना के

३. अ० स० अल्तेकर (१९५०)—नांदसा यूप अभिलेख, एपि० इंडिका २७ (१९४७-४८) पृ० २५२–२६७।

४. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० ४१।

किनारे है, और जमना-दक्खिन के बघेलखंड के पहाड़ी इलाके से उसका सम्बन्ध सदा से रहा है। पर यदि इन मघ राजाओं की इतनी शक्ति होती कि वासुदेव १म के समय खुले मैदान में आगे बढ़ सकते, तो ये फतहपुर तक ही क्यों रुकते? यह देखते हुए मघ तिथियों को कनिष्काब्द की मानना ही युक्त है।

उस दशा में घटनाक्रम का यह स्वरूप प्रकट होता है कि वासुदेव १म के राज्यकाल में दूसरी शताब्दी ई० के अन्त के लगभग दक्षिण कोशल के मघ राजाओं ने कौशाम्बी छीन कर साम्राज्य पर पहली चोट लगाई। फिर वासुदेव के आँख मूँदते ही यौधेय कुणिन्द मालव गण उठ खड़े हुए और उनकी देखादेखी भारशिव-नाग; और उन्होंने सतलज पूरब के सब प्रदेश साम्राज्य से स्वतन्त्र करा लिये। नाग राजा जब गंगा काँठे में कानपुर तक बढ़े तब मघ भी कौशाम्बी से फतहपुर तक बढ़ आये।

हम यह जानते हैं कि दक्खिनी गुजरात और उत्तरी महाराष्ट्र में आभीर नेता ईश्वरदत्त ने १८८ ई० में पच्छिमी क्षत्रपों से स्वतन्त्र हो कर अपना राज्य खड़ा कर लिया था। यों आभीरों और मघों का उठना लगभग एक साथ ही हुआ था। और ऋषिक-क्षत्रप साम्राज्य पर ये दोनों पहली चोटें दक्खिन से लगीं। दक्षिण कोशल सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। मघों के पूर्वज भी राज्य करते रहे हों तो सातवाहनों के सामन्त रूप में ही। ऋषिक और सातवाहन साम्राज्यों की रस्साकशी शुरू से ही थी। यों सातवाहनों के एक सामन्त द्वारा ऋषिक साम्राज्य की कमज़ोरी देखते ही उसपर चोट किया जाना और उसी चोट से ऋषिक साम्राज्य का अन्तिम विघटन आरम्भ हो जाना उस युग के घटनाक्रम के अनुरूप ही था।

इ. पंजाब और सिन्ध तुखार साम्राज्य के विघटन के समय

[दे० ऊपर पृ० ६७]

भारत के मध्यदेश की तरह पश्चिम देश और उत्तरापथ का भी

तुखार साम्राज्य के विघटन-काल का चित्र अत्यन्त धुँधला रहा है। इस काल के इतिहास की सामग्री मुख्यतः सिक्के हैं। चीनी इतिहासकारों के निर्देशों और सासानी इतिहास से भी इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। "पिछले भारतीय शकों" के सिक्कों पर कनिंगहाम की कृति १८६३-६५ में निकली थी। विन्सेंट स्मिथ, द्रूई, राखालदास बनर्जी आदि ने उसमें अनेक संशोधन किये और रा० दा० बनर्जी ने उन सिक्कों के आधार पर इतिहास का खाका बनाने का प्रयत्न पहलेपहल किया।[५] डा० अल्तेकर ने इस सामग्री की पुनःपरीक्षा कर पच्छिमी और उत्तरपच्छिमी भारत के इस युग के इतिहास का खाका नये रूप में पेश किया है,[६] जिसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। डा० रमेश मजूमदार ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस विषय का निरूपण किया है।[७]

वह खाका इस प्रकार है। कनिष्क ३य के समय ऋषिक साम्राज्य मध्यदेश से ठेला गया था; वासुदेव २य के समय पंजाब भी उससे निकल गया और वहाँ षाक, षिलद, गडहर नाम के स्थानीय राजवंश उठ खड़े हुए। ये वंश ऋषिक सरदारों के ही प्रतीत होते हैं। षाकों का राज्य पेशावर में था, षिलदों का मध्य पंजाब में। इनके सिक्के वासुदेव २य के सिक्कों से बहुत मिलते हैं, इसलिए ये राजवंश वासुदेव २य के ठीक बाद स्थापित हुए जान पड़ते हैं। गडहर वंश भी मध्य पंजाब में था, पर वह पीछे आया। तभी मद्रों का गणराज्य भी मध्य पंजाब में पुनः स्थापित हुआ। उसकी सत्ता की सूचना हमें समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-

---

५. रा० दा० बनर्जी (१९०८)—नोट्स औन इंडो-सिथियन कौइनेज (भारतीय शक सिक्कों पर टिप्पणियाँ), ज० प्रो० ए० सो० बं०, नया सिलसिला, भाग ४, पृ० ८१-९३।

६. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० १३-२४।

७. र० च० मजूमदार और अ० द० (?) पुसलकर (१९५४)—दि हिस्टरी ऐंड कल्चर औफ़ दि इंडियन पीपल, दि क्लासिकल एज (भारतीय जाति का इतिहास और कृष्टि—शास्त्रीय युग) पृ० ५०-५९।

लेख से मिलती है ।

सिन्ध के विषय में डा० अल्तेकर ने अनुमान किया (वहीं पृ० ५०) कि शायद वह संघदामा के बड़े भाई महाक्षत्रप रुद्रसेन के राज्यकाल (२००—२२२ ई०) में ही क्षत्रप राज्य से निकल गया हो, नहीं तो संघदामा के उत्तराधिकारी दामसेन के राज्यकाल (२२३—२३८ ई०) में तो अवश्य निकल गया (पृ० ५२-५३) । इस अंश में डा० अल्तेकर से थोड़ी चूक हुई है। दामसेन के पोते रुद्रसेन २य के राज्यकाल (२५५—२७७ ई०) तक भी सिन्ध क्षत्रप राज्य के अन्तर्गत था, यह सैदपुर स्तूप की खुदाई में उसके सिक्के पाये जाने से सिद्ध हो चुका है ।[८]

उ. सासानी साम्राज्य का पूरबी बढ़ाव

[दे० ऊपर पृ० ६७]

१. सासानी राजवंश; उसके इतिहास की सामग्री

ईरान का उत्तरपूर्वी पहाड़ी प्रदेश खुरासान प्राचीन काल में पार्थव ("पार्थिया") या पह्लव कहलाता था । वहाँ के एक सरदार अरसक ने २४८ ई० पू० में ईरान में अपना राज्य स्थापित किया था । अरसकी वंश भारत के सातवाहन वंश की तरह तब से पौने पाँच शताब्दियों तक सारे ईरान पर राज्य करता रहा । ईरान की खाड़ी पर ईरान का पुराना प्रसिद्ध प्रान्त पार्स (=आधुनिक फार्स) है । वहाँ का अर्दशीर नामक सरदार अरसकी सम्राट् अर्तबान ५म का अज्वरसालार अर्थात् अश्वाध्यक्ष था । उसका सम्राट् वंश की एक कुमारी से विवाह हुआ था । अर्दशीर ने विद्रोह करके साम्राज्य के कई प्रान्त ले लिये । सम्राट् अर्तबान ने उसे दबाना चाहा, तब दोनों की लड़ाई हुई, जिसमें अर्तबान मारा गया

---

८. देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर (१९१५)—सैदपुर के बौद्ध स्तूप की खुदाई का विवरण, आर्कियोलौजिकल सर्वे औफ़ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट (भारत पुरातत्त्व पर्यवेक्षा वार्षिक विवरणी) १९१४-१५ पृ० ८९ प्र०, विशेष कर पृ० ९५ ।

(२८–४–२२४ ई०)। अर्दशीर ने तब सारे ईरान को जीत कर शाहनशाह-ए-ईरान पद धारण किया । अर्दशीर का वंश अपने पूर्वज सासान के नाम से सासानी कहलाया । सासानियों ने सवा चार सौ वर्ष ईरान पर राज्य किया; अन्त में उसी वंश के शाह यज़्दगर्द ३य से अरबों ने ईरान जीता ।

सासानी राज्य का क्रमबद्ध इतिहास आरम्भ से नहीं रक्खा जाता रहा । सुप्रसिद्ध शाह खुसरो १म अनुशीरवाँ (५३१–५७८ ई०) ने पहलेपहल एक ख्वतायनामक अर्थात् राज-वृत्त लिखवाना शुरू किया। पहले के राजाओं का वृत्तान्त उसमें बहुत कुछ परम्परागत अनुश्रुति के आधार पर दिया गया । किन्तु उस वृत्तान्त में भी घटनाओं के ठीक विवरणों के बजाय नीति के उपदेश और भाषण अधिक हैं, जो इतिहास की दृष्टि से फालतू हैं । लग० ६०० ई० में कारनामक-ए-अर्तख्शीर-ए-पापकान लिखी गई, जो अर्दशीर की ख्यात है । इन्हीं के आधार पर पिछले अरब और ईरानी लेखकों ने कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें तबारी और मसऊदी के इतिहास तथा फिरदौसी का शाहनामा प्रसिद्ध हैं ।

मेसोपोतामिया अर्थात् तिग्रिस (दजला) और उफ्रातुस (फ़रात) नदियों के दोआब तथा अरमीनिया प्रान्त के लिए सासानी शाहों का रोम के सम्राटों के साथ प्रायः लगातार ही झगड़ा चलता था । उन युद्धों के वृत्तान्त समकालीन रोमी ऐतिहासिकों के लिखे उपलब्ध हैं, जिनमें प्रसंगवश सासानी साम्राज्य के पूरबी पहलू की अनेक घटनाओं का उल्लेख भी आता है । इसके अतिरिक्त सासानी शाहों के कोरवाये हुए मूर्त्त चित्र और दृश्य तथा अनेक अभिलेख भी अभी तक बचे हुए हैं । पहलेपहल इनमें से एक अभिलेख को जो पारसीक और यूनानी दोनों भाषाओं में है, यूनानी अनुवाद की सहायता से सन् १७६० से पहले दि-साची नामक फ्रांसीसी विद्वान् ने पढ़ा । उसके बाद सभी अभिलेख धीरे-धीरे पढ़े गये । नोइल्डेके नामक जर्मन विद्वान् ने तबारी के ग्रन्थ और कारनामक-ए-अर्तख्शीर का जर्मन अनुवाद कर सासानी

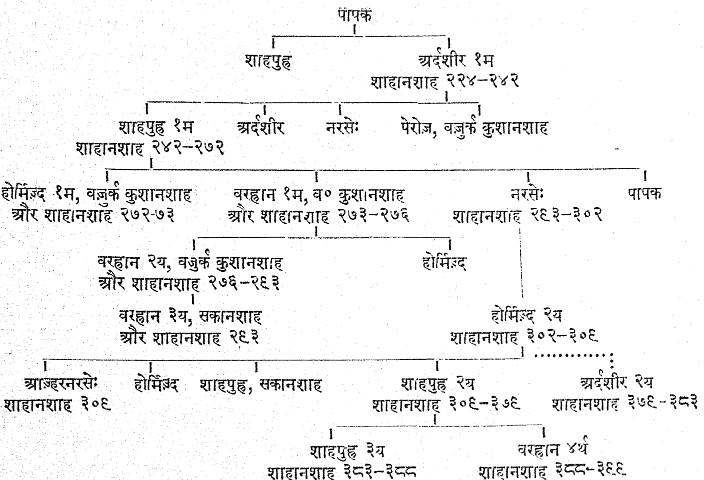
इतिहास को आधुनिक आलोचनात्मक पद्धति से लिखा।

सासानी सिक्के भी जो पाये गये उनका पूरा अध्ययन किया गया है। इनमें से सासानियों के मध्य एशिया वाले सिक्के जो "कुषाणों" अर्थात् कनिष्क-वंशियों के सिक्कों के नमूने पर ढाले गये थे, भारतीय इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। अठारह सौ तीसों में आधुनिक युरोपी यात्री जैसे ही मध्य एशिया में जाने लगे, और उन्हें ये सिक्के मिले, उन्होंने इनकी जाँच शुरू की। कुषाणों के मध्य एशिया वाले सिक्कों पर और उसी प्रकार अरसकी वंश के सब सिक्कों पर यूनानी लेख रहते थे, क्योंकि उस युग में भारत के पच्छिम के देशों के पारस्परिक व्यापार में यूनानी भाषा सार्वदेशिक रूप से काम आती थी। आधुनिक युरोपी प्राचीन यूनानी लेखों को पढ़ सकते थे, इसलिए उनका ध्यान इन सिक्कों पर फौरन गया। और जिन सिक्कों पर दो भाषाओं में लेख थे, उनसे उन्हें भारत और ईरान की पुरानी लिपियाँ पढ़ने में भी सहायता मिली। पहलेपहल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के मन्त्री प्रिन्सेप ने, जो उस समय अशोक लिपि के पुनरुद्धार के प्रयत्न में लगा था, इन "शक-सासानी" सिक्कों की विवेचना की। उसके बाद एच० एच० विल्सन (अंग्रेज १८४१), डोर्न (जर्मन १८४४), एडवर्ड टौमस (अंग्रेज १८६८), मोर्तमान (जर्मन १८८०), मार्कोफ (रूसी १८८६), कनिंगहाम (अंग्रेज १८९४), द्रूई (फ्रांसीसी १८९५-९६) और मार्कार्त (जर्मन १९०१) आदि ने इस विषय के अध्ययन को आगे बढ़ाया।

सन् १८३६ में सर हेन्री रालिन्सन ने जो ईरान में अंग्रेज राजदूत थे, ईरान की उत्तरपच्छिमी सीमा के कुर्दिस्तान प्रदेश में पाइकुली नामक स्थान पर एक बुतखाने अर्थात् मन्दिर के खँडहर और उनमें एक अभिलिखित चट्टान के अनेक टुकड़े देखे और पाश्चात्य जगत् को इसकी सूचना दी। आठ वर्ष बाद जब वे बगदाद में राजदूत थे, उन्होंने फिर वहाँ जा कर उन शिला-खण्डों पर के अभिलेख-टुकड़ों की नकल ले ली। उस नकल से पूरे अभिलेख को जोड़-जाड़ कर एडवर्ड टौमस ने १८६८

में प्रकाशित किया। वह लेख पारसीक और पह्लवी दोनों भाषाओं में है, और सासानी शाहों के अभिलेखों में से सब से लम्बा है। उन दोनों भाषाओं के किसी विद्वान् द्वारा पाइकुली जा कर उस लेख को फिर से पढ़ने की आवश्यकता तब से दिखाई देती रही। पहले विश्व-युद्ध के पहले और पीछे जर्मन (यहूदी ?) विद्वान् हेर्त्सफ़ेल्ड ने वह कार्य किया। उस समय तक अभिलेख वाले शिला-खण्ड और भी घिस तथा टूट गये थे। जोड़-जाड़ कर कुल १४ खण्ड बने, किनारों के दो खण्ड नहीं मिले। हेर्त्सफेल्ड ने रालिन्सन वाली नकल का भी उपयोग किया। वे इस कार्य को भारत के पारसी समाज और विशेषतः सर दोराबजी ताता की आर्थिक सहायता से कर सके, इसलिए उन्होंने अपना दो जिल्दों का कीमती "पाइकुली ग्रन्थ" अंग्रेज़ी में लिखा। वह प्रो० फ्रीदरिख सारे द्वारा सम्पादित फोर्शुङ्गेन त्सुर इस्लामिशेन कुन्स्ट (इस्लामी कला-अनुशीलन) नामक ग्रन्थमाला में १९२४ में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में उन्होंने सासानी इतिहास के अन्य सब अभिलेखों का भी संकलन कर दिया है। सासानी शाहों की कीमती रत्नों की अनेक अँगूठियाँ मोहरें ताबीजें आदि जो अब युरोप के संग्रहालयों में हैं, उनपर के अभिलेख भी एक अध्याय में दे दिये हैं। हेर्त्सफेल्ड ने इसके बाद भारत पुरातत्त्व पर्यवेक्षा (आर्कियोलौजिकल सर्वे औफ़ इंडिया) के लिए कुषाण-सासानी सिक्कों पर एक निबन्ध भी अंग्रेज़ी में लिखा जो उस पर्यवेक्षा के विशिष्ट निबन्धों (मेमौयर्स) में १९३० में प्रकाशित हुआ।

सासानी साम्राज्य का भारत के सीमा-प्रदेशों से कब कैसा सम्बन्ध रहा, सासानी राजाओं का वंशवृक्ष सामने रखने से इसे समझने में सुविधा होगी, इसलिए वह यहाँ दिया जा रहा है। नोइल्डेके ने जो वंशवृक्ष बनाया था उसमें पाइकुली अभिलेख के आधार पर हेर्त्सफ़ेल्ड ने कुछ संशोधन किये हैं। इसके बारे में कोई कोई बात अब भी सन्दिग्ध है, जैसे वरह्रान १म होर्मिज़्द १म का बड़ा भाई रहा हो यह हो सकता है, वरह्रान ४र्थ शाहपुह्र ३य का बेटा हो यह भी हो सकता है।


पापक
शाहपुह्र
अर्दशीर १म
शाहानशाह २२४–२४२
शाहपुह्र १म
शाहानशाह २४२–२७२
अर्दशीर
नरसेः
पेरोज़, वज़ुर्क कुशानशाह
होर्मिज़्द १म, वज़ुर्क कुशानशाह
और शाहानशाह २७२-७३
वरह्रान १म, व० कुशानशाह
और शाहानशाह २७३–२७६
नरसेः
शाहानशाह २९३–३०२
पापक
वरह्रान २य, वज़ुर्क कुशानशाह
और शाहानशाह २७६–२९३
होर्मिज़्द
वरह्रान ३य, सकानशाह
और शाहानशाह २९३
होर्मिज़्द २य
शाहानशाह ३०२–३०९
आज़्हरनरसेः
शाहानशाह ३०९
होर्मिज़्द
शाहपुह्र, सकानशाह
शाहपुह्र २य
शाहानशाह ३०९–३७९
अर्दशीर २य
शाहानशाह ३७९–३८३
शाहपुह्र ३य
शाहानशाह ३८३–३८८
वरह्रान ४र्थ
शाहानशाह ३८८–३९९

२. अर्दशीर १म और शाहपुह्र १म के पूर्वी विजय

(क) तबरी ने लिखा है कि अरसकी साम्राज्य के दक्खिनी और पच्छिमी प्रान्तों को जीतने के बाद अर्दशीर ने पूरब बढ़ कर सिजिस्तान जीता, फिर गुरगान, अपरशह्र, मर्व और बलख जीतते हुए ख्वारिज्म पर चढ़ाई की और खुरासान की अन्तिम सीमा तक अधीन किया। उसने यह भी लिखा है कि उसके इन प्रदेशों को जीत लेने पर कूशानशाह तथा तूरान और मकुरान के राजाओं ने दूत भेज कर उसका आधिपत्य स्वीकार किया।

सिजिस्तान या सकस्तान की सीमाएँ आधुनिक सीस्तान से बड़ी थीं; कुछ पास-पड़ोस के प्रदेश भी उसमें सम्मिलित थे। गुरगान कास्पी सागर के दक्खिनपूरब रहने वाली वेह्रकान या वर्कान जाति का प्रदेश था, जिसके कारण प्राचीन काल में वह सागर वेह्रकान सागर कहलाता था। आधुनिक खुरासान (मशहद के चौगिर्द प्रदेश) को सासानी युग में अपरशह्र कहते थे। ख्वारिज्म प्राचीन उवरज्मिय है, खीवा के चौगिर्द का प्रदेश। प्राचीन खुरासान बहुत विस्तृत था; हेर्त्सफेल्ड कहते हैं कि उसमें आधुनिक खुरासान के अतिरिक्त हरात, मर्व, बलख और बदख्शाँ प्रदेश तथा बदख्शाँ के उत्तर वंक्षु नदी के उस पार हिसार शृंखला तक का प्रदेश भी सम्मिलित था। उसकी पूर्वी सीमा वंक्षु की वह उत्तरवाहिनी धारा थी जो बदख्शाँ को पामीर से अलग करती है, तथा दक्खिनी सीमा हिन्दूकुश पर्वत।

कूशान वंश का, जाति का या प्रदेश का नाम हो, कूशानशाह का स्पष्ट अर्थ कनिष्कवंशी राजा है। तूरान शब्द साधारणतः ईरान के मुकाबले में आता है, और तब उसका अर्थ मध्य एशिया के उत्तर की अल्तइक जातियों (तुर्क आदि) का देश होता है। पर अरबी लिपि में त के दो रूप हैं, ت ते और ط तोए। हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि जब तूरान तोए से लिखा जाय तब उसका अर्थ "कुइटा के दक्खिन का

क़ुजदार प्रदेश" होता है।[९] मकरान स्पष्ट है।

क़ुज़दार आधुनिक खुजदार है। पर वह 'कुइटा' के पास-पड़ोस में नहीं है। वह सिन्ध प्रान्त के पच्छिम कलात अधित्यका के केन्द्र में स्थित एक लम्बी तंग दून में महत्त्व का नाका है। सिन्धी उसे कोहिआर कहते हैं। लासबेला के मुख्य नगर बेला से वह ११५ मील उत्तर है। मकरान, बेला, कराची, कच्ची गन्दाव (सिन्ध मैदान के उत्तरी बढ़ाव) और कलात से आने वाले रास्ते वहाँ मिलते हैं। "कुइटा" या "क्वेटा", जिसका ठीक नाम शालकोट है,[१०] अफ़गान पठार में और पश्तो-भाषी देश में है; खुजदार ब्राहूई-भाषी कलात अधित्यका में। दोनों में १७० मील का अन्तर है। तोए से लिखा जाने वाला तूरान मकरान के उत्तरपूर्व खुजदार प्रदेश का नाम था यह ठीक है। मकरान की राजधानी पंजगुर के कोटले में एक तूरान-दरवाजा था, जहाँ से खुजदार को रास्ता जाता था। खुजदार के अतिरिक्त कीज़कानान या कीकान अर्थात् आधुनिक कलात शहर भी तूरान में गिना जाता था।[११] इस प्रकार तूरान द्राविड-ब्राहूई-भाषी कलात अधित्यका का नाम था, जो सिन्ध प्रान्त का पच्छिमी दासना है।

(ख) तबारी के उक्त कथन का जहाँ तक बलख, मर्व, बदख्शाँ से सम्बन्ध है, वहाँ तक उन प्रान्तों से पाये गये सिक्कों से समर्थन हुआ है। वहाँ से मिले चाँदी के दिर्हम के एक नमूने पर चित तरफ़ पारसीक में लिखा है—**मज़्देशन बगे पेरोज़ वज़ुर्क कूशानशाह** (मज़्द का पुजारी स्वामी पेरोज़ महान् कूशानशाह)। मज़्देशन पद सासानी शाहों का

९. एर्न्स्ट हेर्त्सफेल्ड (१९२४)—पाइकुली १ पृ० ३८।

१०. पच्छिमी पंजाब के लोग उस कोटा कहते हैं, जिसका बिगाड़ा हुआ अंग्रेज़ी उच्चारण कुइटा अंग्रेज़ी लिखावट में क्वेटा बन गया है। उसका स्थानीय नाम शालकोट पहले विश्व-युद्ध के समय तक 'क्वेटा' स्टेशन पर लिखा रहता था।

११. ल स्त्रांज (१९०५)—लैंड्स ऑफ दि ईस्टर्न कैलिफ़ेट (पूर्वी खिलाफ़त के देश), १९३० संस्करण पृ० ३२९–३३३।

ही था, "कुषाणों" का नहीं। उसी सिक्के के पट तरफ बायीं ओर विशिष्ट सासानी वेश में राजा की खड़ी मूर्त्ति है; उसका बाँया हाथ तलवार की मूँठ पर है, दाहिना पूजा की मुद्रा में। सामने छोटी सी अग्निवेदी है। राजा के सामने गद्दी पर बैठी बायें झुकती दूसरी मूर्ति है, अतः वह किसी देवता की है। दोनों मूर्त्तियों के पीछे स्पष्ट पारसीक लेख है। राजा के पीछे **पेरोज़ शाह**; बैठी मूर्त्ति के पीछे—**बुद्धा यज़्दे** (बुद्धदेव)।

कूशानशाह का अर्थ ऐसे सिक्कों पर स्पष्ट ही कुषाण प्रदेश का शासक या कुषाणों का आधिपति सासानी राजप्रतिनिधि है। जायसवालजी ने इस पद की यह व्याख्या की थी कि पहले ऋषिक राजा कुषाण के नाम से उस सारे प्रदेश का नाम कुशान पड़ गया था,[१२] जैसे तेरहवीं शताब्दी में चंगेजखाँ के बेटे चगतई के नाम से मध्य एशिया का नाम चगतई हो गया था। मुस्लिम इतिहास-लेखक मुस्लिम विजय के समय तक भी कूशानशाह का उल्लेख करते हैं। हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि वहाँ कूशान शब्द स्पष्ट प्रादेशिक अर्थ में है और उससे मावरा-अल्-नहर अर्थात् वंक्षु-सीर दोआब या सुग्द प्रदेश का अभिप्राय होता है (पाइकुली १ पृ० ४६)। यों कुषाण शब्द उस सारे देश का नाम हो गया था जो कभी राजा कुषाण के या कुषाण जाति के अधीन था।

सासानी राजवंश में राजा के भाइयों या बेटों को बड़े बड़े प्रान्तों में शाह पद के साथ राजप्रतिनिधि नियुक्त करने की प्रथा थी। इसी नमूने के पद किरमानशाह, वज़ुर्क अरमिनियानशाह आदि मिलते हैं। वंशवृक्ष में इस तरह के केवल वे पद दिये गये हैं जिनका पूर्वी देशों से सम्बन्ध है, बाकी छोड़ दिये गये हैं। यों अर्दशीर १म ने अपने बेटे पेरोज़ को इन उत्तरपूर्वी प्रान्तों में राजप्रतिनिधि नियत किया था। और कूशानशाह नाम वाले जो इस नमूने के सिक्के मिलते हैं वे सासानी राजप्रतिनिधियों के ही हैं, जिनसे इन प्रान्तों का सासानी साम्राज्य में होना सिद्ध होता है।

---

१२. का० प्र० जायसवाल (१९३३)—पूर्वोक्त, पृ० २३६।

सासानी राजप्रतिनिधियों के इसी तरह के सिक्के सुग्द की बस्तियों—समरकन्द, जीजक, चिनाज़ आदि—से भी मिले हैं। हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि शायद सुग्द भी सासानी साम्राज्य में रहा हो, यद्यपि उसका उल्लेख न तो तबारी ने किया है और न पाइकुली अभिलेख में है (पाइकुली १ पृ० ३८)। पर सिक्के, विशेषतः कीमती धातुओं के, एक जगह से दूसरी जगह जा सकते हैं। यदि सस्ते सासानी सिक्कों की काफी ढेरियाँ सुग्द से मिली होतीं, तब इस तरह का अन्दाज़ करना उचित होता।

(ग) तबारी के इस दूसरे कथन में कि अर्दशीर के पास कूशानशाह तथा तूरान और मकुरान के राजाओं ने दूत भेज कर आधिपत्य स्वीकार किया, कूशानशाह का अर्थ स्पष्ट ही कनिष्कवंशज राजा है। वासुदेव द्वितीय ने जो २३० ई० में चीन से सहायता माँगने को दूत भेजे थे (ऊपर पृ० २५३-२५४), सो प्रकटतः सासानी चढ़ाई का खतरा देखते हुए ही। पर वह सहायता आई नहीं और अर्दशीर ने जब वंक्षु के प्रदेश वासुदेव से छीन लिये, तब वासुदेव "कूशानशाह" शायद बड़ी विकट स्थिति में पड़ गया।

कनिष्क १म के साम्राज्य में सारा चीन-हिन्द अर्थात् सीता काँठा, कश्मीर, अफगान पठार, बदख्शाँ और बलख भी थे। एक तरफ बदख्शाँ और अफगान पठार तथा दूसरी तरफ चीन-हिन्द भी उसके साम्राज्य में होने का यह अर्थ है कि दोनों के बीच का पामीर पठार भी भरसक उसके साम्राज्य में था। उसके उत्तरपच्छिम सुग्द दोआब का बड़ा अंश भी बहुत सम्भवतः उसके अधीन था और उसे समूचा अधीन करने की चेष्टा में ही शायद उसकी मृत्यु हुई। कनिष्क के वंशजों के पास इन दूर देशों में से कौन-कौन से कब-कब तक रहे यह हमारे इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्या है (दे० ऊपर पृ० ६३, २४५-४६)।

वासुदेव २य के समय तक "कुषाण" साम्राज्य में यदि सुग्द या उसका कोई अंश भी रहा हो तो अर्दशीर के बलख बदख्शाँ ले लेने से उस साम्राज्य के अफगान पठार वाले और सुग्द वाले प्रान्तों के बीच

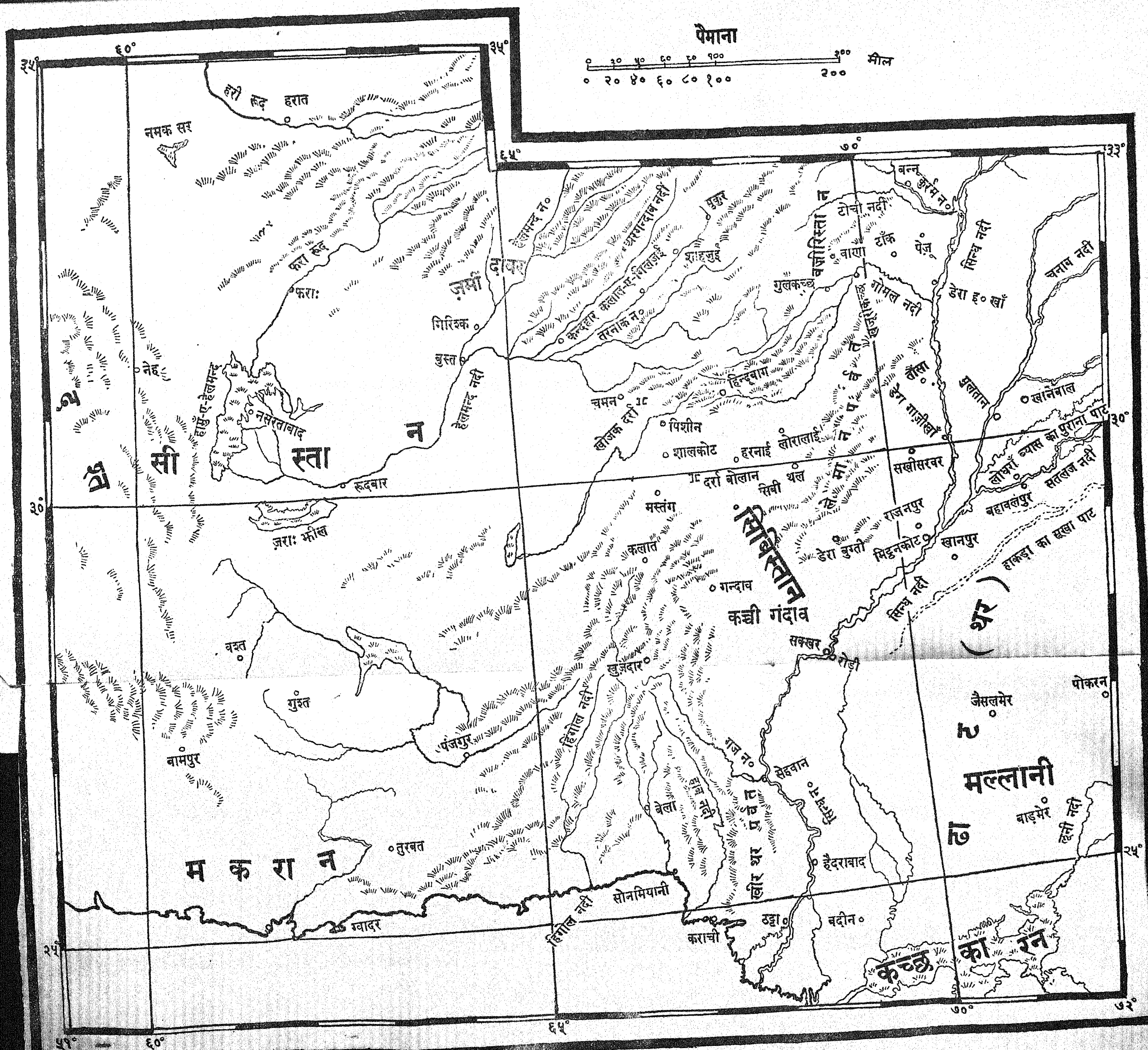
सासानी पच्चर ठुक गया। सुग्द में "कुषाणों" का राज्य पीछे तक अवश्य रहा, क्योंकि मुस्लिम विजय के समय तक मुस्लिम लेखक वहाँ के राजा को कूशानशाह कहते हैं (पाइकुली १ पृ० ४६)। किन्तु वंक्षु के प्रान्तों में सासानियों के आ जाने से अफगान पठार और सुग्द के बीच सम्बन्ध रखना और दोनों का एक राज्य में रहना अत्यन्त कठिन हो गया होगा।

जहाँ तक अफगान पठार का प्रश्न है वहाँ सासानियों का इस समय या इसके बाद एक शताब्दी तक भी प्रवेश होने का कोई प्रमाण नहीं है। उलटा, उस पठार के दक्खिनी छोर तक तीसरी शताब्दी में कनिष्क-वंशजों का नियन्त्रण रहा, इसका पता "कुइटा" के पूरब लोरालाई जिले में तोर ढेरई के खँडहरों से पाये गये अभिलिखित ठीकरों पर के लेख से मिला है। वे ठीकरे "षाहि योल मीर के विहार की प्रपा" (प्याऊ) के घड़ों के हैं। वह विहार षाहि योल मीर ने सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के लिए बनवाया था। उस लेख की भाषा तीसरी शताब्दी की संस्कृत-मिश्रित प्राकृत तथा लिपि भी तभी की है। षाहि और योल दोनों शब्द, जैसा कि स्टेन कोनौ ने दिखाया है, खोतन के हैं, और यों इस लेख से यह सूचित होता है कि तीसरी शताब्दी में वहाँ कोई षाहि शासक ऋषिक राजाओं के अपने देश का था।[13]

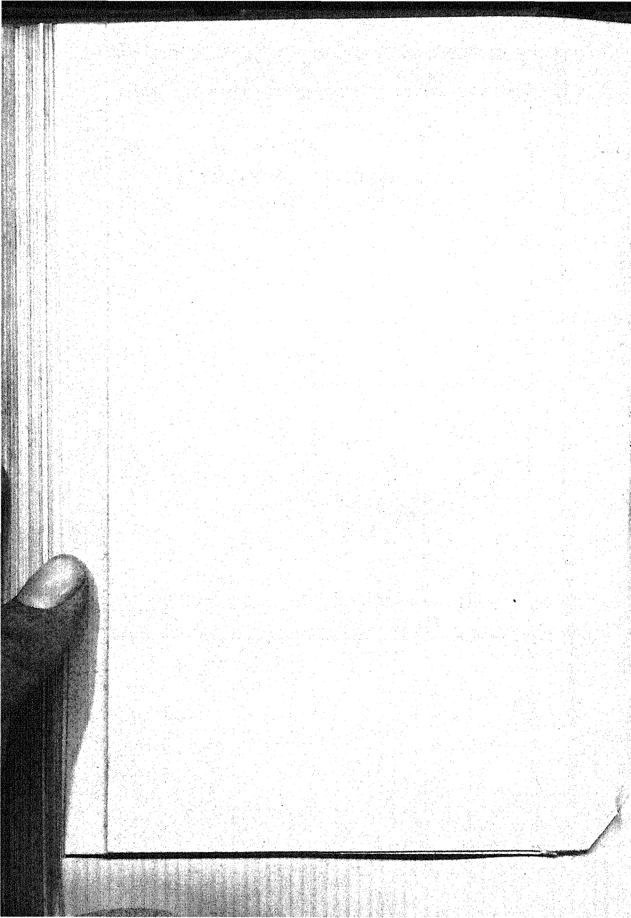
इस दशा में यह प्रतीत होता है कि वासुदेव ने और उसी प्रकार ब्राहूई प्रदेश के राजा ने भी अर्दशीर को रिझाने के लिए कुछ भेंटें भेजी होंगी या नाम मात्र को आधिपत्य मानने का सन्देश भेजा होगा।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के मुस्लिम ऐतिहासिक फरिश्ता ने लिखा है कि अर्दशीर भारत पर चढ़ाई करते हुए सरहिन्द तक पहुँच गया, तब हिन्दुस्तान के सम्राट् जूना ने, जो कन्नौज का राजा था, उसके पास

१३. स्टेन कोनौ (१९२९)—कोर्पुस् इंस्क्रिप्तियोनुम् इन्दिकारुम् (भारतीय अभिलेख समुच्चय) ग्रन्थ २, भाग १, पृ० १७३-७६; भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ८७६-७७।



नक्शा १६—भारत का पच्छिमी स्थल-सीमान्त



बहुत-सी कीमती भेंटें भेज कर उसे वहाँ से लौटा दिया। जेहलम ज़िले से पिलद राजा पासन का एक सिक्का मिला था जिसकी पट तरफ सासानी सिक्कों के नमूने की अग्निवेदी और उसमें से उठती हुई अहुर-मज्द की मूर्त्ति बाद में छापी गई लगती है। विन्सेंट स्मिथ ने लिखा कि उस सिक्के से सासानियों का पंजाब तक आना सूचित होता और यों फरिश्ता की बात का समर्थन होता है; फरिश्ता ने किसी आधार पर ही ऐसा लिखा होगा।[१४] पंजाब के सिक्कों पर सासानी प्रभाव कब और कैसे आया सो हम आगे (उ ६ छ में) देखेंगे। बाकी फरिश्ता की गप्प इस तथ्य का रूपान्तर प्रतीत होती है कि वासुदेव २य ने अर्दशीर के पास सिजिस्तान या मर्व में कीमती भेंटें भेज कर उसे लौटा दिया। इस तरह का तथ्यों का रूपान्तर भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में फरिश्ता की गलतियों और गप्पों के ठीक अनुरूप है (दे० ऊपर पृ० ६७)।

(ख) अर्दशीर का बड़ा बेटा शाहपुह्र था। पुह्र = पुत्र, शाहपुह्र = राजपुत्र; पर इस वंश में अनेक राजाओं का यही नाम रहा। अर्दशीर का पद था शाहानशाहे-ईरान; शाहपुह्र १म ने नया पद धारण किया— शाहानशाहे-ईरान-उत-अनीरान (ईरान और अन-ईरान का राजाधिराज)। उसके साम्राज्य में ईरान के बाहर के काफी प्रदेश आ गये थे, इसलिए यह पद उचित ही था। शाहपुह्र १म प्रतापी सम्राट् था। रोम सम्राट् वालेरियान को उसने पच्छिमी एशिया के युद्ध में कैद कर लिया और फिर उम्र भर कैदी रक्खा। नक्शे-रुस्तम की चट्टान पर कोरी हुई शाह-पुह्र १म की घुड़सवार मूर्त्ति अब भी विद्यमान है, जिसमें वालेरियान हथकड़ियों में बँधा उसके सामने घुटने टेक रहा है। समकालीन ऐतिहासिकों ने यह बात दर्ज की है कि २५२ ई० में जब कि शाहपुह्र

---

१४. विन्सेंट स्मिथ (१९२०)—इन्वेज़न ऑफ दि पंजाब बाइ अर्दशीर पापकान ···(अर्दशीर पापकान की पंजाब चढ़ाई ···), ज० रा० ए० सो० १९२०, पृ० २२१ प्र०।

पच्छिम के युद्ध में निसिबिस के गढ़ को घेरे हुए था, उसे खुरासान की घटनाओं के कारण वह घेरा उठा उधर जाना पड़ा, और वहाँ की दशा ठीक कर उसने फिर लौट कर निसिबिस ले लिया। प्रकटतः "कुषाणों" ने उसे रोम साम्राज्य से उलझा देख अपने प्रान्त वापिस लेने का यत्न किया था। खुरासान से लौटते हुए उसने अपने बेटे होर्मिज्द को वहाँ राजप्रतिनिधि नियत किया और अब से उसका पद वज़ुर्क कूशान शाहानशाह कर दिया। एक चाँदी के सिक्के पर चित तरफ लेख है—**मज़्देशन बगे ओहोरमिज़्दे वज़ुर्क कूशान शाहानशाह**; पट तरफ अग्नि-वेदी के एक ओर राजा तथा तथा दूसरी ओर गद्दी पर मिथ्र देवता है। एक ताँबे के सिक्के पर चित तरफ लेख है—**ओहोरमिज़्दे वज़ुर्क कूशानशाह** और पट तरफ नन्दी के साथ खड़े पाश-त्रिशूलधारी शिव की मूर्त्ति है। यह ताँबे का सिक्का "कुषाण" सम्राटों के बलख, मर्व, समरकन्द में चलने वाले चषकाकार स्वर्ण सिक्कों के नमूने पर है, जिनपर सदा नन्दी-सहित शिव की मूर्त्ति अंकित होती थी। इन प्रदेशों में सासानियों का कनिष्कवंशजों का उत्तराधिकारी होना इससे प्रकट है।

हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि कूशानशाह पद से सारे कुषाण साम्राज्य पर आधिपत्य का दावा प्रकट होता है, इसलिए काबुल और पंजाब के राजा ने भी शाहपुह्र का आधिपत्य मान लिया होगा (वहीं पृ० ४७)। पर दावा भले ही हो, आधिपत्य मानने का कोई प्रमाण नहीं है। और शाहपुह्र १म जैसे प्रबल सम्राट् से भी उन्होंने अपने मध्य एशिया के प्रान्त वापिस लेने का प्रयत्न किया, इससे प्रकट है कि अभी उनमें काफी जान थी।

(ङ) मसऊदी ने लिखा है कि होर्मिज्द १म ने ही सासानी साम्राज्य की पूरबी प्रदेशों में पक्की बुनियाद जमाई। सो युवराज रूप में २० साल के राजप्रतिनिधित्व में ही जमाई होगी, क्योंकि शाहानशाह रूप में तो वह १ साल १० दिन ही गद्दी पर बैठा। मसऊदी का यह भी कहना है कि वरह्रान १म को भी खुरासान में युद्ध करना पड़ा। इससे प्रकट है

कि तीस साल के सासानी शासन के बाद भी "कुषाण" लोग पूरी तरह दवे नहीं थे।

३. वरह्रान २य का सकस्तान जीतना

(क) वरह्रान २य के समय में रोम सम्राट् कारुस ने २८३ ई० में फिर युद्ध छेड़ा। इसी समय वरह्रान के छोटे भाई होर्मिज्द ने, जो शायद कूशानशाह था, शकों कूशानों और गेलानों की सहायता से पूरब में विद्रोह किया। गेलानों का प्रदेश कास्पी सागर के दक्खिनपच्छिमी तटों पर है।

घरेलू विद्रोह को देखते हुए वरह्रान ने अरमिनिया और मेसोपोतामिया प्रान्त स्वयं रोमियों को दे दिये, यद्यपि सम्राट् कारुस की अकस्मात् मृत्यु हो जाने से और उसके उत्तराधिकारी दिओक्लेतिआन के अपने साम्राज्य की पच्छिमी सीमा पर व्यस्त होने से इसकी आवश्यकता न थी। रोम से यों हीन सन्धि कर के उसने पूरब तरफ अपना सारा ध्यान लगाया। अरमिनी ऐतिहासिक अगथियस ने और मुस्लिम ऐतिहासिक इब्न कोतैबा ने भी लिखा है कि इस प्रसंग में वरह्रान २य ने सारा सकस्तान जीत कर अपने बेटे को **सकानशाह** नियत किया।

कूशानशाह पद इसके बाद तोड़ दिया गया लगता है, क्योंकि उस पद के स्वर्ण-सिक्के इसके बाद के नहीं मिलते। अर्थात् वंक्षु प्रान्तों में अब से शाहानशाह के नाम के ही सिक्के चलने लगे।

(ख) वरह्रान २य ने सारा सकस्तान जीता इसका यह अर्थ है कि अर्दशीर के समय उसका कुछ अंश ही जीता गया था। पर सारे सकस्तान का अर्थ क्या है? अर्दशीर के सकस्तान जीतने पर मकरान तूरान के राजाओं ने भी अधीनता का सन्देश भेजा था, इस बात की व्याख्या करते हुए प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने लिखा है—"शक साम्राज्य का विस्तार हमें यह मानने को बाधित करता है कि ये दोनों प्रदेश—मकरान तूरान—शकों के अधीन रहे होंगे।...इन देशों अर्थात् आधुनिक ईरान

के दक्खिनपूरबी भाग, बलोचिस्तान और हिन्दूकश के दक्खिन अफगानिस्तान में शकों की चढ़ाई पार्थव राजा मिथ्रदात २य के राज्यकाल १२३–८८ ई० पू० में या उसके बाद हुई, और इन देशों और भारत के बड़े भागों पर उनका राज्य कम से कम गुन्दफर के राज्यकाल के अन्त तक······(जो ४५ ई० में था) बना रहा।"[१५]

इस उद्धरण से प्रकट है कि भारतीय शकों के इतिहास की खोज-प्रगति से प्रो० हेर्त्सफेल्ड बिलकुल सम्पर्क नहीं रख सके। शक लोग "हिन्दूकश के दक्खिन अफगानिस्तान" में कभी नहीं घुसे, यह बात १८९० में ही विवेचकों के ध्यान में आ चुकी थी। उनके सिक्के और लेख पंजाब में मिलते हैं, अफगानिस्तान में नहीं, इसकी व्याख्या तब गार्डनर और द्रूई ने यों की थी कि वे कराकोरम से कश्मीर हो कर पंजाब आये होंगे, पर कनिंगहाम ने इसे असम्भव कहा और यह स्थापना की कि वे शकस्थान से सिन्ध हो कर भारत आये।[१६] यह स्थापना तब से सिद्धान्त मानी जा चुकी है। कालकाचार्य कथानक से इसकी पुष्टि हुई है। गुन्दफर या गुदुह्वर शक वंश का नहीं प्रत्युत हरउवती (कन्दहार) के उस पह्लव वंश का था जिसने काबुल जीतने के बाद उत्तरपच्छिमी पंजाब के शक राज्य को मिटाया (दे० ऊपर पृ० ५८-५९), यह तथ्य भी अरसे से पहचाना जा चुका है।

१०० ई० पू० से कुछ पहले शकस्थान से सिन्ध आने के बाद शकों ने सिन्ध से एक तरफ सुराष्ट्र होते हुए उज्जैन पर चढ़ाई की थी, दूसरी तरफ सिन्ध से गन्धार (उ० प० पंजाब) पर। उज्जैन से वे एक तरफ महाराष्ट्र और दूसरी तरफ मथुरा तक बढ़ गये थे। उनका वह "पुष्करावती से पूना तक" फैला साम्राज्य ४०-४५ वर्ष ही टिका था, पर उस

---

१५. हेर्त्सफेल्ड (१९२४)—पूर्वोक्त, पृ० ३९।

१६. ई० जे० रैप्सन (१८९७)—इंडियन कौइन्स (भारतीय सिक्के) पृ० ७–८।

अवधि के अपने कुछ स्मारक वे छोड़ गये हैं, जिनमें से एक मथुरा का सिंहध्वज है। उस सिंहध्वज की स्थापना करने वाली "महाक्षत्रप राजुल की अग्रमहिषी ··· अयासिआ कमुइआ" ने शाक्यमुनि बुद्ध का शरीरधातु प्रतिष्ठापित करते हुए यह कामना की थी कि उसका वह दान "महाक्षत्रप कुसुलुक पतिक ··· की पूजा के लिए, सब बुद्धों धर्म और संघ की पूजा के लिए और **सर्वस सकस्तानस पुयए** (समूचे शकस्थान की पूजा के लिए)" हो (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ७६५-६६)। प्रो० हेर्त्सफेल्ड सासानी इतिहास लिखते हुए अयासिआ के उन शब्दों को याद कर पूछते हैं—अगथियस का सकस्तान आज का सीस्तान हो या **सर्वस सकस्तानस पुयए** वाला सकस्तान हो; दूसरा अर्थ ही ठीक है, "यही वह भारत की अनुल्लिखित सासानी चढ़ाई है" (जिसकी विन्सेंट स्मिथ ने अपने ग्रंथ में कल्पना की थी) (पाइकुली १ पृ० ४२)। इस आधार पर वे यह परिणाम निकालते हैं कि "२८४ ई० में वरहान २य के विजयों के बाद सासानी साम्राज्य में पूरब के ये देश थे ··· सारा खोरासान ··· जिसमें शायद ख्वारिज्म और सुग्द भी थे, सकस्तान विस्तृततम अर्थ में, मकरान और तूरान सहित, सिन्ध नदी का मध्य काँठा और मुहाना, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, और इन देशों के पीछे का पहाड़ी प्रदेश (=राजस्थान)। एकमात्र अपवाद था काबुल दून और पंजाब जो पिछले कूशानों के हाथ रहे। ··· यों सासानी साम्राज्य कई अंशों में हखामनी से भी आगे था, इसीलिए वह रोम का मुकाबला करता था" (वहीं पृ० ४२)। प्रो० हेर्त्सफेल्ड के विचार में ये सब देश २८४ ई० में पहली बार न जीते गये थे, प्रत्युत अर्दशीर १म के सकस्तान-विजय के समय (लग० २३८ ई०) से सासानी साम्राज्य में चले आते थे, २८४ में केवल उनका विद्रोह दबाया गया था। "कूशान की प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद सीस्तान से सिन्ध मुहाने बम्बई और राजपुताने तक फैले शक साम्राज्य का न केवल आधिपत्य २८४ ई० तक बना हुआ था, प्रत्युत वह सकस्तान के सासानी राजप्रतिनिधि वरहान ३य के हाथ में और भी सुभीते से चला गया था,

क्योंकि कुशानों की शक्ति अर्दशीर और होर्मिज्द १म ने तोड़ दी या बहुत कम कर दी थी" (वहीं)।

पर इन बड़े बड़े दावों की बुनियाद क्या है? केवल यही न कि अर्दशीर के सिजिस्तान जीतने की बात तबारी ने लिखी है और वरहान २य के सारा सकस्तान जीतने की बात अगथियस ने लिखी है, और सकस्तान का अर्थ सब का माना हुआ सीस्तान न करके प्रो० हेर्त्सफेल्ड पहली शताब्दी ई० पू० वाला "शक साम्राज्य" करना चाहते हैं? क्या वह शक साम्राज्य तीसरी शताब्दी ई० तक बना हुआ था? और क्या उस सारे शक साम्राज्य के अर्थ में कभी सकस्तान नाम का प्रयोग किया गया था? अयासिआ देवी ने सकस्तान इस शक साम्राज्य को कहा था या अपने अभिजन (मूल देश) को, इसका भी क्या पता है? सिन्ध, कच्छ, काठियावाड़, मालवा, बम्बई और राजस्थान के इतिहास के बारे में इतनी बड़ी बात ऐसे निश्चयात्मक रूप में कहने से पहले प्रो० हेर्त्स-फेल्ड ने इन प्रदेशों की इतिहास-सामग्री की ओर आँख उठा कर देखने की आवश्यकता भी न मानी, यह जाँचना तो दूर कि उनकी यह कल्पना इन प्रदेशों के इतिहास से मेल भी खाती है कि नहीं! जैसा कि हम ऊपर (पृ० २६३) देख चुके हैं, सिन्ध में कम से कम २७७ ई० तक चष्टन वंश के क्षत्रपों का स्वतन्त्र राज्य था, जिससे अर्दशीर का राज्य वहाँ होने की कल्पना स्पष्टतः गलत और बेबुनियाद सिद्ध होती है। यों प्रो० हेर्त्सफेल्ड का यह लेख न तो इतिहास है न पुरातत्त्व, प्रत्युत कोरी कविता, और उस कविता की जड़ में यह दिखाने की प्रेरणा है कि जिन सासानियों से हमारे रोम वाले पिटते रहे, वे कोई छोटे मोटे लोग नहीं थे!

(ग) कविता की बात छोड़ अब हम यह देखें कि "सारे सकस्तान" का ठीक अर्थ इस युग में क्या होता था। सासानी युग के ठीक बाद के अरब भूवृत्तलेखकों के आधार पर ल-स्त्रांज ने लिखा है कि सिजिस्तान ज़राः झील के चौगिर्द का देश था। उसकी राजधानी उस युग में ज़रंज थी, जो सासानी युग में बड़ी नगरी थी और जिसे पीछे

तैमूर ने उजाड़ा। वह सीस्तान की आधुनिक राजधानी नसरताबाद के दक्खिन, हेलमंद की एक पुरानी नहर के तट पर थी। ज़रंज या जरंग के पूरब हेलमन्द नदी पर बुस्त सिजिस्तान का दूसरा बड़ा शहर था। वह कन्दहार के पच्छिम के अफगान पठार के दक्खिनी ढाल ज़मींदावर के नीचे है। बुस्त से चार मंजिल पर रुख्खज (=अरखुती=कन्दहार प्रदेश) की पच्छिमी बस्ती पंजवाय (=पाँच पानी) थी; वहाँ से पूरब तरफ छः मंजिल पर सिबी। रुख्खज हिन्द में गिना जाता था। सिबी के प्रदेश को अरब लेखक बालिस या वालिस्तान कहते। उसमें दूसरा शहर मस्तंज (=आधुनिक मस्तंग) था। पर इन दोनों शहरों को पुराने भूवृत्तलेखक सिजिस्तान में मानते थे।

सिबी कस्बा दर्रा बोलान के पूरब और सिन्ध के उत्तर की कच्ची गन्दाव मरुभूमि के उत्तरी छोर पर है। मस्तंग उसके पच्छिम कलात आधित्यका के उत्तरी छोर पर है।

यों अरब लेखकों के अनुसार सिजिस्तान की पूर्वी सीमा बुस्त शहर के कुछ पूरब तक थी। किन्तु वे हमें यह सूचना भी देते हैं कि पुराने ज़माने में सिजिस्तान उसके काफी पूरब, कलात आधित्यका के उत्तरी छोर को लेते हुए सिबी तक, माना जाता था। उसकी पच्छिमी सीमा ज़राः झील के पच्छिम ईरान की मरुभूमि दश्त के निकट तक थी, क्योंकि वहाँ पर अर्दशीर पापकान का बसाया हुआ नेह शहर भी सिजिस्तान में गिना जाता था।[१७]

वरह्रान २य के समय के दो शताब्दी पहले, ८० और ८६ ई० के बीच, किसी यूनानी पर्यटक ने भारत सागर की परिक्रमा कर पेरिप्लुस मारिस एरुथ्रै (अरुणोदधि-परिक्रमा) नामक ग्रन्थ लिखा। लाल सागर और अरब सागर को मिला कर यूनानी रोमी लोग एरुथ्र सागर कहते थे। वह लेखक हमारे सिन्ध प्रान्त को स्कुथिया (शकों जा देश) कहता

१७. ल-स्त्रांज (१९०५)—पूर्वोक्त, पृ० ३३२—३५१।

है। उस युग में सिन्ध सचमुच हिन्दी-शकस्थान था, क्योंकि शकस्थान से शक लोग भारत में पहलेपहल वहीं आ कर बसे और वहीं से उत्तर दक्खिन और पूरब बढ़े। किन्तु काठियावाड़ और राजस्थान को पेरिप्लुस का लेखक अरिअक (आर्यक) देश में रखता है, "उसका जो भाग भीतर है और स्कुथिया से लगा हुआ, वह अबिरिया (=आभीर) है, किन्तु तट को सुराष्ट्रीन कहते हैं।"[१८] यों हमें यह सूचना मिलती है कि सिन्ध पहली शताब्दी ई० के अन्त में शक-देश कहलाता था; उसके ठीक पूरब मारवाड़ में आभीर देश था, तथा आभीर और सुराष्ट्र शक देश में नहीं प्रत्युत आर्यक देश में गिने जाते थे। आर्यक के मुकाबले में भारत का दक्खिनी छोर दामिरक (द्राविड या तमिळ) कहलाता था।

यों वरह्रान द्वारा जीता गया सारा सकस्तान अधिक से अधिक ईरान की दश्त और भारत की ढाट या थर मरुभूमि के बीच का देश था, जिसकी दक्खिनी सीमा कच्छ का रन और उत्तरी अफ़गान पठार के चरण थे। सिन्ध में २७७ ई० के बाद पच्छिमी क्षत्रपों या किसी अन्य भारतीय शक्ति का राज्य रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए वरह्रान ने २८४ ई० में "तूरान" को पूरी तरह अधीन कर सिन्ध को भी जीत लिया यह माना जा सकता है। पर याद रहे कि सासानियों के राज्य का भी कोई चिह्न सिन्ध से नहीं मिला। डा० अल्तेकर ने हेर्त्सफेल्ड का अनुसरण करते हुए अफ़गानिस्तान का भी २८४ ई० में सासानियों के अधीन हो जाना लिखा है, और उन जैसे सावधान विद्वान् का अनुसरण करने में कोई खटका न मानते हुए मैंने भी इतिहासप्रवेश ४र्थ संस्करण (१९५२) में वैसा लिख दिया। पर अब जाँच करने पर दिखाई दिया कि उस कथन की बुनियाद केवल हेर्त्सफेल्ड की इस भ्रान्ति पर थी कि अफ़गानिस्तान भी कभी सकस्तान के अन्तर्गत था।

---

१८. शौफ़ (१९१२)—पेरिप्लस ऑफ़ दि इरीथ्रियन सी (एरुथ्र सागर की परिक्रमा) परिच्छेद ३८, ४१; पृ० ३७–३९।

४. सासानी गृहयुद्ध

(क) २९३ ई० में वरह्रान २य की मृत्यु होने पर उसका बेटा वरह्रान ३य जिसे ९ बरस पहले सकानशाह नियत किया गया था, शाहानशाह बना। वह कुछ मास ही राज कर पाया था कि उसके दादा का छोटा भाई नरसेः उसके मुकाबले को खड़ा हुआ। घरेलू युद्ध में नरसेः की जीत हुई। इसी नरसेः ने पाइकुली का मन्दिर बनवाया और उसमें अपनी "सख़्वनि" (प्रशस्ति) चट्टान पर खुदवाई, जिसमें इस गृहयुद्ध का वृत्तान्त है। उस प्रशस्ति में यह पते की बात लिखी है कि **अवन्दिकान ख्वताव** (अवन्ति के राजा) ने अपनी सेना वरह्रान ३य के पक्ष में लड़ने को भेजी थी। नरसेः की जीत के बाद जिन पड़ोसी राजाओं ने उसे बधाई के सन्देश भेजे उनकी भी लम्बी सूची दी है, जो हमारे काम की है। प्रो० हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि ये सब राजा निश्चय से स्वतन्त्र थे। दोनो भाषाओं के खण्डित पाठों को जोड़-जाड़ कर इस सूची में जो नाम उन्होंने पहचाने हैं, वे ये हैं—

कुशानशाह ···, **केसरे ड होमे** (रोम का कैसर),··· **ख्वारज़्मान शाह** (ख्वारज्म का शाह), **ज़मास्प इ कुशदान** ···**पति** (कुशदान का ··· पति ज़मास्प), **गम्बक सेदि** (गम्बक सैयदी), **अरबानीक शेक़ान** (अरबों का शेख), ··· **बेरुवान इ स्पन्दोरातान** (स्पन्दोरात का बेरुवान), **पारदान शाह** (पारदों का राजा), **वराचगुर्तें शाह, ज़ंदाफ्रीक शाह, मकुरान शाह** (मकरान का राजा),······ **तिरदात शाह, अमरू अपगरिनान** (अपगरों का वंशज अमरू),··· **आबीरान शाह** (आभीरों का राजा) ··· **सात्रप गोनक गोनक** (तरह तरह के क्षत्रप) [जिनकी सूची आगे है—] **वराज़गिर्दे इ सखूरिचान ख्वताय** (सखूरिचान का राजा वराज़गिर्द), **ख्वरस्मान इ मोक़ान ख्वताय** (मोकान का राजा ख्वरस्मान), **बगदात इ ज़ुरादिचीन ख्वताय** (ज़ुरादिचीन का राजा बगदात), **मित्र-··ल··सेन इ बोरास्पिचीन ख्वताय** (बोरास्पिचीन का राजा मित्र-

"ल"सेन), **बाति ज़ुरदतचिन ख्वताय** (ज़ुरदतचिन का राजा बाति), ...**अप्रिशुमिचान ख्वताव्य** (अप्रिशुमिचान का राजा ......), **मारवक इस्तकवीन ख्वताव्य** (इस्तकवीन का राजा मारवक), ... **तेरखवीन ख्वताय** (तेरखचीन का राजा ...)।

(ख) कुशानशाह का नाम इसमें रोम के कैसर से भी पहले है, इसलिए वह निश्चय से स्वतन्त्र था। अफ़गान पठार तो उसके राज्य में था ही; पर २८३ ई० के विद्रोह के बाद से वंक्षु प्रान्तों—बलख, बदख्शाँ—का कितना अंश सासानी साम्राज्य में बचा था और कितना कुषाण राजा के पास चला गया था यह एक प्रश्न है। सुग्द का कोई अंश भी कुशानशाह के राज्य में था कि नहीं यह दूसरा प्रश्न है। ख्वारज्म का शाह भी स्वतन्त्र था। प्रो० हेर्त्सफेल्ड की कल्पना है है कि २८४ ई० तक ख्वारज्म भी सासानी साम्राज्य में था (दे० ऊपर पृ० २७७), पर २६३ में स्वतन्त्र हो गया। किन्तु इस कल्पना का आधार केवल इतना है कि तबारी के कथनानुसार अर्दशीर ने ख्वारज्म पर चढ़ाई की थी। वह चढ़ाई सफल हुई थी इसका क्या प्रमाण है? और इस पाइकुली अभिलेख में ख्वारज्म शाह का नाम स्वतन्त्र राजाओं में होने से ही यह मानना चाहिए कि उस चढ़ाई का कोई स्थायी फल न निकला था।

पारद लोग अफगानिस्तान के किसी भाग में थे यह हेर्त्सफेल्ड का अन्दाज़ है जो ठीक लगता है। वे हरात और जमींदावर के बीच या जमींदावर में रहते होंगे। मकरान और आभीर स्पष्ट हैं; पर मकरान का उल्लेख यहाँ होने से क्या यह प्रकट होता है कि उसपर भी सासानियों का पूरा नियन्त्रण न था? प्रो० हेर्त्सफेल्ड का विचार है कि नरसेः को बधाई देने वाले स्वतन्त्र राजाओं में से बहुत से ऐसे हैं जिन्हें कम या अधिक निश्चय से भारतीय शक मानना चाहिए और कि 'सात्रप गोनक गोनक' की सूची में जितने नाम हैं वे प्रकटतः सब भारतीय शक क्षत्रपों के हैं। ज़ुरादिचीन या ज़ुरादिश्रान को वे सुराष्ट्र का रूपान्तर मानते हैं।

तब क्या **बगदात** के स्थान में ठीक पाठ **बर्तदाम** तो नहीं है ? २६३ ई० में सुराष्ट्र का महाक्षत्रप भर्तृदामा था। सुराष्ट्र का क्षत्रप राज्य गिरनार (जूनागढ़) से बाँसवाड़ा तक फैला हुआ था यह उस राज्य के सिक्कों की ढेरियों से प्रकट हुआ है। किन्तु यदि बगदात भर्तृदामा न हो और उसे भी सुराष्ट्र के किसी भाग का राजा मानना आवश्यक हो तो आरज़ी स्थापना के रूप में यह माना जा सकता है कि वह उत्तरपच्छिमी सुराष्ट्र अर्थात् द्वारका प्रदेश का राजा रहा होगा। पर अन्य राजाओं तथा उनके देशों के नामों की ठीक पहचान जब तक न हो तब तक उनके आधार पर की हुई स्थापनाओं का कुछ मूल्य नहीं है।

(ग) प्रो० हेर्त्सफेल्ड का यह भी मत था कि अवन्ति का राजा और ये सब बधाई देने वाले राजा पहले सासानी साम्राज्य में थे, पर २६३ ई० के गृहयुद्ध के कारण स्वतन्त्र हो गये। उस युद्ध से "सकस्तान के भारतीय अंश पर वास्तविक (सासानी) आधिपत्य नष्ट हुआ, और ये छोटे राज्य स्वतन्त्र हो गये।··· शक साम्राज्य की एकता टूटी, पर सीस्तान सासानी साम्राज्य में बना रहा" (पाइकुली १ पृ० ४३-४४)।

अवन्ति का राजा कभी सासानी सामन्त था, इसका प्रमाण ? इसका प्रमाण यह कि "इतिहास अपने को दोहराता है" और जैसे २८३-८४ के सासानी गृह-युद्ध में शक सामन्तों ने विद्रोही होर्मिज़्द का साथ दिया था, वैसे ही "इस बार अवन्ति के राजा को ऐसा करना पड़ा क्योंकि वह इस बीच सासानी सकानशाह का सामन्त बन चुका था"; इस प्रकार "पाइकुली अभिलेख में शक क्षत्रपों के कार्य का जो उल्लेख है उससे यह बात (भारत में सासानी साम्राज्य) निःसन्देह सिद्ध है" (वहीं पृ० ४३)। दूसरे शब्दों में, यदि अवन्ति का राजा सासानी सामन्त न होता तो वह सासानी गृह-युद्ध में दखल देने क्यों जाता ?

प्रो० हेर्त्सफेल्ड की यह अत्यन्त भोली कल्पना है कि प्राचीन भारत के राजा अपने देश की सीमा पर के या बाहर के किसी राज्य के मामले में तब तक दखल देने न जा सकते थे, उसे बधाई तक भी न भेज सकते

थे, जब तक कि कोई विदेशी अधिपति उनकी बाँह पकड़ कर उन्हें न ले जाय। यह भोली कल्पना उनकी "शक साम्राज्य" और सकस्तान विषयक भ्रान्त धारणा से भी बढ़ कर है। पाइकुली अभिलेख में एक शब्द भी ऐसा नहीं है जिससे भारत में सासानी साम्राज्य सिद्ध होता हो। उलटा उससे यह सिद्ध होता है कि अफगान पठार तब तक सासानी साम्राज्य में न गया था, भारत के पच्छिमी प्रदेश उससे स्वतन्त्र थे, और मकरान भी उसके पूरे नियन्त्रण में न था।

अवन्ति का राजा जिसने सासानी गृहयुद्ध में अपनी सेना भेजी, कौन था और किस दशा में उसने सेना भेजी, इसपर हम आगे (ऋ ५.६ में) विचार करेंगे।

५. होर्मिज्द २य और शाहपुह्र सकानशाह

(क) नरसेः के बेटे होर्मिज़्द के बारे में ईरानी अनुश्रुति है कि उसका काबुल-शाह की कन्या से विवाह हुआ। काबुल-शाह का अर्थ आधुनिक विवेचकों ने काबुल का कुषाण राजा किया है। हेर्त्सफेल्ड इस विवाह के प्रसंग में लिखते हैं—नरसेः को उसकी (काबुल के राजा की) मदद की ज़रूरत थी, इसलिए भारी विवाह-शुल्क दिया होगा, शायद हिन्दूकश के उत्तर के सब देश वापिस दे दिये हों (वहीं पृ० ४४)। २९३ ई० के लगभग आ कर मध्य एशिया के शिव-नन्दी छाप वाले सासानी स्वर्ण-सिक्के बन्द हो गये लगते हैं, इसलिए ऐसी कल्पना की गुंजाइश थी। पर यह उचित से अधिक सरल कल्पना थी।

(ख) होर्मिज़्द २य की मृत्यु के बाद सासानी साम्राज्य में फिर हंगामा मचा। आज़्हरनरसेः कुछ सप्ताह ही शाहानशाह रह पाया था कि साम्राज्य के प्रधानों ने उसे गद्दी से उतार दिया, उसके दूसरे भाई होर्मिज़्द को कैद में डाला, और शाहपुह्र २य को, जो कि अभी माँ के पेट में था, राजगद्दी दी। शाहपुह्र की माँ शायद काबुल-शाह की बेटी और पटरानी थी; दूसरे बेटे अन्य रानियों के थे ऐसा लगता है। होर्मिज़्द बाद में कैद

से निकल कर रोम भाग गया।

(ग) पार्स प्रदेश की राजधानी स्तख् में, जिसे यूनानी-रोमी पर्सिपोलिस अर्थात् पार्सपुरी कहते थे, शाहपुह्र २य के दूसरे वर्ष का अर्थात् ३१०-११ ई० का १२ पंक्तियों का एक अभिलेख है, जिसकी दूसरी तीसरी पंक्तियों में प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने पाइकुली ग्रन्थ लिखते समय (१६२१-२२) यह सन्दर्भ पढ़ा था—

पं० २························ शाहपुह्र सकान शाह अस्त
पं० ३···सकस्तान उ त र क स त उ का···ब्य पुस मज़्देशन बगे ओहोरमिज़्दे शाहानशाह एरान उत अनेरान

इसके पिछले अंश "पुस ··· अनेरान" का अर्थ स्पष्ट है "—बेटा मज़्द को पूजने वाले स्वामी होरमिज़्द शाहानशाह ईरान और अन-ईरान का"। पहले अंश का पाठोद्धार प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने बाद में (१६२३) दूसरे तरीके से किया। उससे निकलने वाले ऐतिहासिक परिणाम उन्होंने ब्रितानवी सम्राट् के शीराज़ में रहने वाले राजदूत के पास लिख भेजे, और उस राजदूत ने उनका सार बुशहर में रहने वाले फारिस खाड़ी के अंग्रेज़ राजनीतिक रेज़िडेंट के पास। रेज़िडेंट ने उस लेख की नकलें अनेक विद्वत्सभाओं के पास भेजीं, जिनमें से बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पास आई नकल को प्रो० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने अपने एक लेख में उद्धृत किया। उस उद्धरण का सार यह है कि प्रो० हेर्त्सफेल्ड द्वारा पढ़े गये पार्सपुरी अभिलेख में यह लिखा है कि "हुर्मुज़ २य (३०२-३०६) का बेटा, शापुर २य का भाई शापुर सकानशाह अर्थात् सारे शक साम्राज्य का शासक हिन्द, सकस्तान, तुर्किस्तान (जिससे शायद तुखारिस्तान अर्थात् उत्तरी अफगानिस्तान अभिप्रेत है) का दबीरान दबीर अर्थात् राजकीय अधिकारियों का मुखिया था। पाइकुली अभिलेख··· बताता है कि बम्बई तक और शायद आगरे तक का भारत का अंश तीसरी शताब्दी में सासानी साम्राज्य के अन्तर्गत था। पार्सपुरी अभिलेख से सूचित होता है कि भारत सासानियों के अधीन चौथी शताब्दी के

मध्य तक भी रहा।...प्रो० हेर्त्सफेल्ड के मत से इससे भारतीय इतिहास के एक अस्पष्ट अध्याय को स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी।"[१९]

प्रो० हेर्त्सफेल्ड की इन खोजों में जान पड़ता है अंग्रेज राजनैतिक अधिकारी विशेष रुचि ले रहे थे!

बाद में हेर्त्सफेल्ड ने उस सन्दर्भ का अपना नया पाठोद्धार जो अपने ग्रन्थ में दिया वह यों है—

शाहपुहे सकानशाह हिन्दे सकस्तान उ तुखारिस्तान दबीरान दबीर...।[२०]

उन्होंने यह भी लिखा कि उसी अभिलेख में आगे **सकस्तान अन्दर्ज़पेत** अर्थात् सकस्तान के सार्वजनिक-शिक्षा-मन्त्री तथा **ज़रंग सत्रप** के भी सकानशाह के साथ उपस्थित होने की बात है। पार्सपुरी अभिलेख १ की दूसरी तीसरी पंक्तियों का जो अधूरा पाठोद्धार हेर्त्सफेल्ड ने पहले दिया था, और जो पूरा बाद में दिया, वे एक दूसरे से मेल खाते हैं; पर उसकी अगली पंक्तियों के पाइकुली-ग्रंथ में प्रकाशित पाठ में **सकस्तान अन्दर्ज़पेत और ज़रंग सत्रप** से मिलते किन्हीं शब्दों की गन्ध भी न थी। हेर्त्सफेल्ड ने इस अभिलेख का अपना पूरा अन्तिम पाठोद्धार कहाँ प्रकाशित किया इसकी खोज मैं नहीं कर पाया, न उन्होंने अपने १९३० वाले निबन्ध में या डा० अल्तेकर और डा० मजूमदार ने अपने ग्रंथों में कहीं उसका प्रतीक दिया है। जानकारी के अभाव में फिलहाल मैं यह माने लेता हूँ कि सकस्तान के शिक्षामंत्री और ज़रंग के क्षत्रप का उल्लेख भी उस अभिलेख में है। अन्दर्ज़पेत अशोक के धर्म-महामात्यों की तरह का कोई अधिकारी होता होगा।

---

१९. दे० रा० भंडारकर (१९२९)—पारसीक डोमीनियन इन एन्श्येंट इंडिया (प्राचीन भारत में पारसीक आधिपत्य), ऐनल्स ऑफ दि भंडारकर इन्स्टीट्यूट जि० ८ (१९२६-२७) पृ० १३३–१३६।

२०. एर्न्स्ट हेर्त्सफेल्ड (१९३०)—कुशानो-सासानियन कौइन्स (कुषाण-सासानी सिक्के) पृ० ३६।

(घ) इस अभिलेख से यह प्रकट है कि ३१०-११ ई० में शाहपुह्र २य का बड़ा भाई शाहपुह्र सकानशाह पद पर था। उसी ने यह लेख खुदवाया था। हेर्त्सफेल्ड लिखते हैं—"मेरा पिछला यह मत गलत था कि गृहयुद्ध से सकस्तान खोया गया, क्योंकि शाहपुह्र २य के समय के ३१०-११ ई० के पार्सपुरी अभिलेख में शाहपुह्र सकानशाह के पद हैं—**सकानशाह हिन्दे सकस्तान उ तुखारिस्तान दबीरान दबीर** अर्थात् सकस्तान [सकों] का शाह तथा सकस्तान और तुखारिस्तान के अमात्यों का अमात्य [=महामात्य]; उसके साथ **सकस्तान अन्दर्ज़पेत** अर्थात् सकस्तान का शिक्षामन्त्री और ज़रंग अर्थात् सीस्तान का क्षत्रप आदि राजपुरुष भी हैं" (वहीं पृ० ३५-३६)।

सीस्तान में शक लोग आठवीं शताब्दी ई० पू० में आये ऐसा अन्दाज़ किया गया है। उससे पहले उस प्रदेश का नाम ज़्रंक था, जिससे उसका यूनानी नाम द्रंगियाना बना। हेर्त्सफेल्ड का तर्क है कि जब ज़रंग अर्थात् सीस्तान का क्षत्रप सकानशाह के मातहत वहाँ उपस्थित था, तब जिस सकस्तान का शासन सकानशाह करता था, वह सीस्तान से बड़ा होना चाहिए। जानने की बात है कि ज़्रंक सीस्तान का पुराना नाम तो था ही, पर जब उस प्रदेश का नाम सकस्तान पड़ गया तब भी उसकी राजधानी का नाम ज़रंक या ज़रंग ही रहा, और इस युग में ज़रंग कहने से वह नगरी ही समझी जाती थी। उस नगरी का जीता-जागता वर्णन अरब भूवृत्तलेखकों ने किया है।[२१] ज़रंग सत्रप का स्पष्ट अर्थ यहाँ उस नगरी का क्षत्रप है। फिर भी इस लेख का सकस्तान आधुनिक सीस्तान से बड़ा था यह हम स्वीकार करते हैं। पर कितना बड़ा? बम्बई और आगरे तक? कि मस्तंग और सिब्री तक? कि कच्छ के रन और थर तक? शान्ति से सोचने से स्पष्ट दिखाई देगा कि इस युग का सकस्तान या तो सिन्ध प्रान्त के उत्तरपच्छिमी छोर तक था या दक्खिनी

२१. ल-स्त्रांज (१९०५)—पूर्वोक्त, पृ० ३३५—३३८।

और पूरबी छोर तक, और कुछ नहीं हो सकता।

(ङ) इस लेख में यदि हिन्द पाठ ठीक है तो सिन्ध के सासानी साम्राज्य में २८४ ई० से चले जाने का यह एकमात्र पक्का प्रमाण है।

(च) तुखारिस्तान भी सकानशाह के शासन में था यह दूसरी महत्व की सूचना है। चीनी यात्रियों ने तुखार देश का जो विवरण दिया है उसके अनुसार उसमें सारा कम्बोज देश अर्थात् पामीर बदख्शाँ और हिसार प्रदेश तथा बलख भी सम्मिलित था। इनमें से पामीर के सासानी साम्राज्य में होने का दावा तो कोई नहीं करता। हेर्त्सफेल्ड का कहना है कि अर्दशीर ने खुरासान की अन्तिम सीमा तक जीता था, तथा वह अन्तिम सीमा बदख्शाँ की पूरबी और पामीर की पच्छिमी सीमा बनाने वाली वंक्षु की उत्तरवाहिनी धारा थी। पर अर्दशीर और शाहपुह्र १म के समय में सासानी साम्राज्य की जो उत्तरपूरबी सीमा थी, वह ३१०-११ ई० तक बनी हुई थी कि नहीं, यही तो प्रश्न है।

अरब भूवृत्तलेखकों के अनुसार तुखारिस्तान बहुत छोटा प्रदेश था—बलख के पूरब, वंक्षु के दक्खिन, बदख्शाँ के पच्छिम तथा बामियां और पंजशीर के उत्तर वाले पहाड़ों (अर्थात् हिन्दूकश-कोहेबाबा) के उत्तर।[२२] बलख और बदख्शाँ प्रान्तों की सीमाएँ आज भी एक दूसरे को छूती हैं। पर अरब लेखकों के अनुसार उन दोनों के बीच तुखारिस्तान था। यों यह प्रश्न है कि पार्सपुरी के इस अभिलेख के तुखारिस्तान में समूचा बदख्शाँ सम्मिलित था कि नहीं। इसके समाधान का कोई उपाय अभी दिखाई नहीं देता। जो भी हो, हिन्दूकश के उत्तर का कुछ प्रदेश ३११ ई० में भी सासानी साम्राज्य में था ही; इसलिए प्रो० हेर्त्सफेल्ड की यह कल्पना भी गलत निकली कि होर्मिज्द २य के विवाह-शुल्क रूप में वे सब प्रदेश लौटा दिये गये होंगे।

(छ) हेर्त्सफेल्ड कहते हैं इस अभिलेख के पाठोद्धार से उनका

---

२२. ल-स्त्रांज (१९०५)—पूर्वोक्त, पृ० ४२७।

यह विचार गलत सिद्ध हुआ कि सासानियों ने २६३ ई० में सकस्तान का आधिपत्य खो दिया था। पर पाइकुली बुतखाने के अभिलेख में जिन राज्यों का स्वतन्त्र राज्य रूप में उल्लेख है वे तो स्वतन्त्र थे ही। क्या प्रो० हेर्त्सफेल्ड का यह अभिप्राय है कि ३१० ई० तक वे फिर जीत लिये गये थे? सासानी साम्राज्य का पूरबी पल्ला मानो कोई गेंद थी जो २८४ ई० में एक ठुड्डे से सीस्तान से मालवे तक पहुँच गई थी, २६३ में दूसरे ठुड्डे से वापिस सीस्तान आ गई थी और उसके कुछ बरस बाद तीसरे ठुड्डे से फिर बम्बई और आगरे तक पहुँच गई थी! उस दशा में यह प्रश्न भी होगा कि चौथी शताब्दी में फिर कौन से ठुड्डे से वह वहाँ से पीछे हटी? हम अभी देखेंगे कि ३५६ ई० तक भी शाहपुह सकानशाह अपने पद पर विद्यमान था। और यदि सकानशाह की विद्यमानता से ही मालवे, बम्बई और आगरे तक सासानी आधिपत्य सूचित होता हो तो गुप्त सम्राटों को मालवे और मथुरा में सासानियों से वास्ता क्यों नहीं पड़ा? पाइकुली-ग्रंथ में प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने लिखा था कि २६३ ई० में शक क्षत्रपों के स्वतन्त्र हो जाने के सौ बरस बाद उन्हें चन्द्र-गुप्त २य ने अधीन किया (पृ० ४३)। पर अब जब वे कहते हैं कि २६३ के बाद वे फिर सासानी साम्राज्य के अधीन हो गये, तब उस साम्राज्य का मालवा और मथुरा में गुप्त साम्राज्य से टाकरा न होने की व्याख्या क्या है?

स्पष्ट है कि लग० २३६ ई० से लग० ३६० ई० तक सासानी साम्राज्य के तीन बार कच्छ सुराष्ट्र राजस्थान अवन्ति कोंकण और मथुरा तक फैलने और तीन बार वापिस ठेले जाने की बात केवल प्रो० हेर्त्सफेल्ड की कल्पना की उपज है। ऐसी कल्पनाएँ करने के बजाय यदि पाइकुली और पार्सपुरी अभिलेखों पर शान्ति से विचार किया जाय तो वे हमें इतिहास का ठीक रूप बताते हैं। पाइकुली अभिलेख में जिन राज्यों का स्वतन्त्र राज्य रूप में उल्लेख है वे स्वतन्त्र थे ही, २८४ में भी, २६३ में भी और ३१० में भी। २८४ ई० में सासानी साम्राज्य में सिन्ध तक के प्रदेश सम्मिलित हो गये थे। २६३ ई० के गृहयुद्ध में जिस पक्ष का

अवन्ति-राज ने साथ दिया था उसकी जीत होती तो विजेता से अवन्ति-राज अपनी सहायता का मूल्य लेता। पर दूसरे पक्ष की जीत हुई इसलिए साम्राज्य का पूरबी अंश कटा नहीं। यों २८४ से ३१० ई० तक और बाद भी एक अरसे तक भारत के पच्छिमी छोर पर सासानी साम्राज्य बना हुआ था। और इस प्रकार इस अभिलेख से यह भी सिद्ध होता है कि सिन्ध सकस्तान और तुखारिस्तान में सासानी शासन सुस्थापित था, क्योंकि शाहपुह २य ३१०-११ ई० में दो साल का बच्चा था, और उस दशा में भी उन प्रान्तों पर उसका आधिपत्य माना जाने का यह अर्थ है कि सासानी शासन वहाँ जम चुका था।

(ज) प्रो० हेर्त्सफेल्ड की इस स्थापना को कि सासानी साम्राज्य पूरब तरफ कच्छ काठियावाड़ मालवे तक फैल गया था, डा० अल्तेकर ने इस आधार पर स्वीकार नहीं किया कि उन प्रान्तों में कोई सासानी सिक्के नहीं मिलते (दे० नीचे ऋ ३ घ)। डा० रमेश मजूमदार ने भी वही बात कही है, पर कुछ झिझक के साथ; पाइकुली अभिलेख में अवन्ति के राजा की चर्चा है इसका उल्लेख कर वे कहते हैं—"पच्छिम भारत पर सासानी आधिपत्य होना बहुत प्रश्नास्पद है"।[२३] यों मानो वे यह कहते हैं कि पाइकुली अभिलेख से अवन्तिराज का सासानी सामन्त होना सिद्ध होता होगा, पर भारतीय इतिहास-सामग्री से नहीं होता। वास्तविक बात, जैसा कि हमने देखा, यह है कि सासानी इतिहास-सामग्री से कोई ऐसा परिणाम नहीं निकलता जो भारतीय सामग्री के परिणामों को काटता हो। हम आगे देखेंगे कि दोनों पहलू एक दूसरे की पुष्टि और व्याख्या करते हैं।

६. किदार कुषाण तथा अफगानिस्तान पर सासानी आधिपत्य

(क) पार्सपुरी में ११ पंक्तियों का एक और सासानी अभिलेख है जो

२३. रमेश मजूमदार (१९५४)—पूर्वोक्त, पृ० ५२।

शाहपुह्र २य के ४७वें वर्ष का माना गया है। पर इसमें वर्ष के अंक सन्दिग्ध हैं। पाइकुली-ग्रन्थ में प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने इसका जो पाठ दिया था उसके अनुसार इसकी पहली पंक्ति में स्लोक नामक व्यक्ति का नाम है और दूसरी में न्यायाध्यक्ष कावरे का। इसमें दो बार शाहपुह्र सकानशाह का और चार बार शाहपुह्र शाहानशाह का नाम भी आया है। पीछे प्रो० हेर्त्सफेल्ड ने कावरे के स्थान में काबुल पढ़ा, और अपने दूसरे ग्रन्थ में इसका जो सार दिया उसके अनुसार इसमें स्लोक नामक काबुल का न्यायाध्यक्ष अपने बड़े अधिकारी शाहपुह्र सकानशाह को प्रणति निवेदन करता है।[२४] यों इससे यह सूचित हुआ कि ३५६ ई० में काबुल भी सासानी साम्राज्य में जा चुका था, और साथ ही यह भी कि शाहपुह्र सकानशाह अपने पद पर बहुत लम्बी अवधि तक रहा।

(ख) मध्य एशिया, अफगानिस्तान और गन्धार के रङ्गमञ्च पर इसी समय कई और पात्र भी प्रकट होते हैं, जिनका चरित हमें चीनी इतिहास और उनके सिक्के बताते हैं, जिससे प्रकट होता है कि काबुल में सासानी आधिपत्य जिस घटनावली से स्थापित हुआ उसमें उनका प्रमुख भाग था। इन पात्रों में मुख्य किदार कुषाण है, जिसके वंश के सिक्कों का विवेचन पिछले कुषाण सिक्कों तथा कुषाण-सासानी सिक्कों के साथ-साथ पिछली शताब्दी से होता रहा है। उनके चाँदी के सिक्कों का सब से नया विवेचन भारत के उत्तरपच्छिमी सीमाप्रान्त में अनेक वर्ष सेवा करने वाले मेजर एफ़० सी० मार्टिन का किया हुआ है।[२५] मार्टिन ने सिक्कों से मिलने वाली जानकारी का चीनी और सासानी इतिहास से प्राप्य जानकारी के साथ बड़ी योग्यता से समन्वय किया है।

(ग) चीन के वेइ-तोबा वंश (३८१–५३४ ई०) के इतिहास वेइ-शु

---

२४. एर्न्स्ट हेर्त्सफेल्ड (१९३०)—पूर्वोक्त, पृ० ३६।

२५. एफ० सी० मार्टिन (१९३८)—कौइन्स औफ किदार ऐंड दि लिटल कुशान्स (किदार और छोटे कुषाणों के सिक्के), ज० रा० ए० सो० बं० का न्युमिस्मैटिक सप्लिमेंट (मुद्रानुशीलन परिशिष्ट) सं० ४७ पृ० २३–५०।

में लिखा है कि ता उइषि (बड़े ऋषिकों) की राजधानी लू-किएं-षि थी जो फ़ो-ति-ष के पच्छिम और तइ से १४५०० ली दूर थी, ... ता-उइषि को उत्तर से जुश्रान-जुश्रानों से खतरा रहता था जिन्होंने उनपर अनेक बार धावे मारे, इसलिए वे (उइषि) पच्छिम हट कर पो-लो में जा बसे जो फ़ो ति-ष से २१०० ली पर है। उनका राजा कि-तो-लो बहादुर था; उसने सेना खड़ी कर बड़े पर्वत के दक्खिन उतर कर उत्तर भारत पर चढ़ाई की जहाँ कं-थो-लो के उत्तर के पाँच राज्य उसके अधीन हुए।

१३वीं शताब्दी के मा-तुश्रान-लिन के चीनी विश्वकोश में भी लिखा है कि उइषि के पच्छिम प्रवास के समय उनका राजा कितोलो था। उस कोश में बड़े उइषि का साधारण इतिहास देते हुए लिखा है कि विम कपस के भारत-विजय के बाद से वे बड़े समृद्ध और शक्त हुए, और दूसरे हान वंश के समय (२२१–२६४ ई०) तक वैसे ही रहे, जब कि उन्हें उत्तर से जुश्रान-जुश्रानों का खतरा रहने लगा और जुश्रान-जुश्रानों ने उनपर धावे मारे।

छोटे उइषि के बारे में मा-तुश्रान-लिन ने लिखा है कि उनकी राजधानी फोल्युष थी, उनका राजा कितोलो का बेटा था; उसका पिता जब जुश्रान-जुश्रानों के आक्रमणों के कारण पच्छिम हटने को बाधित हुआ तब उसे इस शहर का जिम्मा दे गया। वेइशु में भी यह बात इसी तरह है, पर जुश्रान-जुश्रानों के बजाय हिश्रङनु (= हूणों) के आक्रमण लिखे हैं।

विदेशी नामों के चीनी रूपान्तर करने की एक सी पद्धति सब युगों में नहीं रही, इससे उन नामों को पहचानने में कठिनाई होती है। पर उक्त वृत्तान्तों में कं-थो-लो = गन्धार, फोल्युष = पुरुषपुर = पेशावर स्पष्ट ही है। तइ शानसी प्रान्त के उत्तरी भाग में वेइ-तोबा वंश की राजधानी थी। कितोलो स्पष्टतः वही राजा है जिसके **किदार कुषाण षा** ब्राह्मी लेख वाले बहुत सिक्के गन्धार से पाये गये हैं। उस लेख से ही उसका ठीक नाम किदार जाना गया है। बाकी नामों की पहचान जर्मन विद्वान् मार्कार्ट ने

की थी, और वह यों— लुकिएंषि = बलख, फोतिष = बामियाँ, पोलो = बलकन, जो वंक्षु के पुराने पाट के उत्तर था; उस पुराने पाट से सूचित होता है कि वंक्षु तब आधुनिक क्रास्नावोद्स्क के पूरब कास्पी सागर में गिरता था।

चीन के इतिहास में यह बात भी दर्ज है कि वेइ-तोबा वंश के राजा तइ-वोन (३८६–४०६ ई०) के राज्यकाल में छोटे उइषि देश के व्यापारियों ने चीन में काच बनाने के शिल्प में अनेक उन्नतियाँ करवाई थीं।

चीनी ऐतिहासिकों ने बड़े और छोटे उइषि के इतिहास की घटनाओं को प्रसंगवश दिया है, इसलिए उनकी ठीक तिथियाँ नहीं दीं। फिर भी उपर्युक्त निर्देशों से यह प्रकट है कि ऋषिकों का बलख से बिखरना और उनकी एक शाखा का किदार के नेतृत्व में गन्धार जाना २२१ और ४०६ ई० के बीच कभी हुआ। किदार को पहले पाँचवीं शताब्दी में गन्धार आया माना जाता था; मार्टिन ने उपर्युक्त रूप से सिद्ध किया कि वह चौथी शताब्दी में आया।

(घ) बलख अर्दशीर १म के समय से सासानी साम्राज्य में था। इसलिए मार्टिन ने बहुत ठीक कहा कि बलख से ऋषिकों का बिखरना सासानी साम्राज्य में उथल-पुथल पैदा किये बिना न हो सकता था; फलतः सासानी इतिहास और सिक्कों में इन घटनाओं का प्रतिबिम्ब मिलना चाहिए। शाहपुह्र २य के विरुद्ध मेसोपोतामिया में लड़ने वाली रोमी सेना के अधिकारी अम्मिआनुस मार्चेल्लिनुस ने लिखा है कि शाहपुह्र २य को ३५६-५७ ई० का जाड़ा अपने राज्य की पूरबी सीमा पर बिताना पड़ा था; ३५८ के शुरू तक भी वह वहीं था; उसके बाद चिओनों एवुसेनों और गेलानों से सन्धि कर और उनकी सहायता ले वह रोमियों को सताने के लिए पच्छिम आया; ३६० ई० में उसने मेसोपोतामिया में अमिदा (आधुनिक दियारबक्र) के रोमी गढ़ को जिस सेना से घेरा उसमें इन जातियों की सेनाएँ भी मित्र रूप में उपस्थित थीं। जर्मन

विद्वान् तोमास्चेक ने दिखाया था कि अम्मिआनुस के उक्त कथन में लिखाई की गलती से 'कुसेनी' (=कुषाण) के बजाय 'एवुसेनी' और 'सकस्तानी' के बचाय 'गेलानी' हो गया है। अर्थात् पूर्वी सीमा पर शाहपुह्र का युद्ध चिओनों कुषाणों और सकस्तानियों से चल रहा था और उन्हीं से उसने ३५८ ई० में सन्धि की। उक्त सन्धि के बाद से सासानियों के मध्य एशिया वाले सिक्के बन्द हो जाते हैं और चिओन मर्व से अपने सिक्के निकालने लगते हैं जो शाहपुह्र २य के सिक्कों के नमूने पर हैं।[२६] हेर्त्सफेल्ड ने उनपर उयोन शब्द पढ़ा है। यों यह प्रकट हुआ है कि चीनी ऐतिहासिक उसी जाति को जुआन-जुआन कहते हैं, जिसे रोमी चिओन कहते थे, और जिसका नाम पह्लवी में ह्यआन और पारसीक में ख़ियोन है।[२७] चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से बलख प्रदेश इसी जाति का माना जाने लगता है।

(ङ) मा-तुआन-लिन ने किदार पर जुआन-जुआनों के आक्रमण की बात लिखी है, पर वेड्शु में हूणों के आक्रमण की। पिछले पाश्चात्य ऐतिहासिक भी शाहपुह्र २य के राज्य पर तुर्कों के आक्रमण की चर्चा करते हैं। प्रतीत होता है कि जुआन-जुआन या चिओन भी उसी अराल-अल्तइक नृवंश में से थे, जिसमें से हूण और तुर्क थे, और इसी कारण पुराने लेखक अनेक बार उनमें गोलमाल कर देते थे। कालिदास ने वंक्षु के तट पर जिन हूणों का उल्लेख किया है, वे भी चिओन या ख़ियोन ही हों यह हो सकता है।

(च) ख़ियोन लोग बलख के उत्तर सुग्द प्रदेश में पहलेपहल कब आये? मा-तुआन-लिन के ऊपर दिये उद्धरण के अनुसार दूसरे हान वंश के समय अर्थात् २२१–२६४ ई० के बीच कभी। सम्राट् वासुदेव २य ने २३० ई० में चीन से जो सहायता माँगी थी, डा० अल्तेकर ने अटकल

---

२६. एर्न्स्ट हेर्त्सफेल्ड (१९३०)—पूर्वोक्त, पृ० ३।

२७. एफ सी मार्टिन (१९३८)—पूर्वोक्त, पृ० ३१ सम्पादकीय पाद-टिप्पणी।

लगाई है कि वह ख़ियोनों और सासानियों दोनों का खतरा देखते हुए माँगी होगी; अर्थात् २३० ई० से पहले ख़ियोन सुग्द में आ चुके थे। इस अटकल पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती; पर मुझे यह मानना अधिक युक्त लगता है कि सासानियों के बलख ले लेने से जब अफ़गानिस्तान के ऋषिक राज्य का सुग्द से सम्बन्ध और उसपर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया, तभी ख़ियोन सुग्द में आ घुसे होंगे। यों २५२ ई० के बाद उनका वहाँ आना मानना अधिक युक्त होगा। बलख के ऋषिकों पर ख़ियोनों ने जब धावे मारे तब बलख सासानी साम्राज्य में था। सासानी अपनी प्रजा को उनके धावों से बचा न सके इससे उनके शासन की शिथिलता और दुर्बलता प्रकट होती है।

(छ) ख़ियोनों के मर्व वाले सिक्कों पर उनके राजा का एकचश्मी दाहिने-रुख चेहरा है, अर्थात् केवल दाहिनी आँख दिखाई देती है। हेर्त्सफेल्ड के अनुसार अरसकी और सासानी साम्राज्यों की यह प्रथा थी कि सम्राट् का चेहरा सिक्कों पर दोचश्मी (सामने देखता हुआ) दिखाया जाता था, सामन्तों का एकचश्मी, जो सामन्त पूरी तरह अधीन हों उनका बायें-रुख, जो अर्धस्वतन्त्र हों उनका दाहिने-रुख। किदार के पहले सिक्कों पर चित तरफ उसका चेहरा भी एकचश्मी और दाहिने-रुख है। साथ ब्राह्मी में राजा का नाम लिखा है। पट तरफ अग्निकुण्ड में से उठती अहुरमज़्द की मूर्त्ति है।

मार्टिन ने इससे यह परिणाम निकाला है कि किदार के पहले सिक्के पहले ख़ियोन सिक्कों के समकालीन अर्थात् लग० ३५८ ई० के हैं, और कि किदार की गन्धार-चढ़ाई और उसकी जाति के दूसरे अंश का बलख से कास्पी समुद्र की ओर हटना शाहपुह्र २य के पूर्वी युद्धों के सीधे कारण थे। फलतः किदार की गन्धार पर चढ़ाई लग० ३४८–५० ई० में हुई, और शाहपुह्र ने उसे अधीन किया ३५८ ई० में।[२८]

---

२८. वहीं पृ० ३२।

(ज) अन्त में यह प्रश्न बाकी रहता है किदार का हिन्दूकश पार कर पेशावर में राज्य जमाना काबुल दून पर सासानी आधिपत्य की स्थापना से पहले हुआ कि पीछे, और कि दोनों घटनाओं में क्या सम्बन्ध है।

सासानियों द्वारा काबुल जीता जाने का वृत्तान्त कह कर डा० रमेश मजूमदार यह प्रश्न उठाते हैं कि इसके बाद मुख्य कुषाण वंश (= कनिष्क वंश) समाप्त हो गया या निचली काबुल दून और पंजाब में बचा रहा, और उत्तर देते हैं कि शायद बचा रहा।[२९] इसके बाद किदार की कहानी दे कर वे कहते हैं वेइशु के इस कथन का अर्थ करना कठिन है कि गन्धार के उत्तर के पाँच राज्यों ने उसकी अधीनता मानी।[२९] उन्होंने दोनों घटनाओं का सामञ्जस्य करने का यत्न नहीं किया और यह मान लिया है कि किदार के गन्धार आने से पहले अफगान पठार में सासानी साम्राज्य उपस्थित था।

किदार के अपनी सेना के साथ बलख से पेशावर आने के समय अफगानिस्तान में सासानी साम्राज्य यदि उपस्थित होता तो वह उसे चीर कर आया होता। पर चीनी ऐतिहासिकों के वर्णन से यह प्रतीत नहीं होता। उलटा वे यह कहते हैं कि वहाँ पाँच राज्य थे। घटनाओं का ठीक-ठीक और सीधा वृत्तान्त लिखने में चीनियों का कोई मुकाबला नहीं करता। इसलिए पाँच राज्यों वाली बात को फालतू कह कर टाला नहीं जा सकता। हिन्दूकश और पेशावर के बीच बामियाँ, कपिश, चितराल ये तीन छोटे राज्य रहे होंगे, और इसी तरह दो और। शायद लम्पाक और नगरहार कपिश से अलग रहे हों। किदार के हिन्दूकश के दक्खिन आने पर वहाँ से पेशावर तक पाँच राज्य थे इसी से यह सिद्ध है कि न तो तब वहाँ सासानी साम्राज्य था और न "मुख्य कुषाण वंश" का राज्य साबुत बना हुआ था। इसीलिए डा० मजूमदार ने प्रकटतः हेर्त्सफेल्ड का अनुसरण करते हुए जो यह मान लिया है कि

२९. रमेश मजूमदार (१९५४)—पूर्वोक्त, पृ० ५५, ५७।

काबुल दून में सासानी साम्राज्य "मुख्य कुषाण वंश" के राज्य को ठेल कर आया, सो ठीक नहीं है।

घटनाओं का स्वरूप स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि जिस कनिष्कवंशी राजा की बेटी होर्मिज्द २य (३०२–३०६ ई०) को व्याही थी, उसका राज्य सारे अफगान पठार पर रहा भी हो तो उसके शीघ्र बाद वह टुकड़े टुकड़े हो गया। उधर बलख में सासानियों का सामन्त बड़े ऋषिकों का वंशज राजा किदार था जिसकी परिस्थिति कई अंशों में बाबर की परिस्थिति की तरह थी। किदार के समय ख़ियोन मध्य एशिया के पुराने राज्यों पर मँडरा रहे थे तो बाबर के समय उज़्बक। एक के सामने उसके पूर्वज विम का साम्राज्य टुकड़े हुए पड़ा था तो दूसरे के सामने उसके पूर्वज तैमूर का। एक के समय ईरान का सासानी साम्राज्य ऋषिक और ख़ियोन दोनों को वश में रखना चाहता था, तो दूसरे के समय ईरान का सफावी साम्राज्य तुर्क और उज़्बक दोनों को। किदार जैसे कभी पच्छिम जा बसने और कभी हिन्दूकश के दक्खिन अपने पुरखों के राज्य को फिर से खड़ा करने का यत्न करता, कभी ईरान के शाह का सामन्त बनता, कभी स्वतन्त्र होता, वैसे ही बाबर भी कभी समरकन्द की गद्दी पर शाह का सामन्त बन कर बैठता तो कभी काबुल आता।

सासानियों के बलख प्रदेश पर ख़ियोनों ने धावे मारे इसलिए सासानियों का उन्हें दण्ड देना आवश्यक था। दूसरी तरफ उनके बलख प्रदेश के एक सरदार ने जब हिन्दूकश के दक्खिन जा कर काबुल और गन्धार जीते, तब उसके राज्य पर आधिपत्य जमाना भी उनके लिए स्वाभाविक था। इस दशा में, अर्थात् किदार के काबुल और गन्धार जीत लेने पर, सासानी सम्राट् ने उनपर अपना आधिपत्य स्थापित किया।

ऋ. वाकाटक साम्राज्य

[दे० ऊपर पृ० ६८-६९]

१. वाकाटकों का मूल राज्य कहाँ ?

वाकाटक इतिहास विषयक जायसवालजी की स्थापनाओं में भी डा० अल्तेकर ने अनेक संशोधन प्रस्तावित किये हैं। वाकाटकों के वंशवृत्त को सामने रखते हुए उनपर विचार करने में सुविधा होगी। प्रत्येक राजा का ईसवी सन् में राज्यकाल जो जायसवालजी ने, डा० अल्तेकर ने तथा म० म० मिराशी ने अन्दाज किया है, सो वंशवृत्त में उनके नाम लिख कर दर्ज किया जा रहा है। प्रवरसेन के दूसरे बेटे सर्वसेन से वाकाटक वंश की एक छोटी शाखा शुरू हुई जिसकी राजधानी वत्सगुल्म (=अकोला ज़िले में आधुनिक बसीम) थी, और कि देवसेन और हरिषेण उसी शाखा के राजा थे, यह बात जायसवालजी की मृत्यु के बाद १९३९ में बसीम के ताम्रपत्र मिलने से प्रकट हुई। जायसवालजी ने उन दोनों राजाओं को मुख्य शाखा का माना था।

पहला विवाद-विषय यह है कि वाकाटक मूलतः कहाँ के थे, उनका राज्य आरम्भ में कहाँ था ? जायसवालजी का कहना था बुन्देलखंड; पुराणों में विन्ध्यशक्ति को किलकिला का कहा है और जायसवालजी ने यह ढूँढ निकाला था कि पूर्वी बुन्देलखंड की पन्ना नगरी में बहने वाली नदी अब भी किलकिला कहलाती है। अल्तेकर कहते हैं कि पुराणों की किलकिला वाली बात अस्पष्ट और सन्दिग्ध है; विन्ध्यशक्ति के बुन्देलखंड का होने के लिए कोई प्रमाण नहीं, पुराणों में उसे विदिशा और पुरिका का राजा कहा है, और उसका पहला कार्यक्षेत्र विदर्भ (बराड) प्रतीत होता है, जहाँ उसके पुरखा सातवाहन राज्य के स्थानीय अधिकारी रहे होंगे और जहाँ से उत्तर बढ़ कर विन्ध्य पार कर उसने विदिशा जीत ली।[३०] पुरिका के विषय में वे कहते हैं कि बृहत्संहिता १४,१० में उसे

३०. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० ९६-९७।

दशार्ण के साथ एक जोड़ी में रक्खा है, मार्कण्डेयपुराण १०७, ४८ में विदर्भ और अश्मक के साथ।

	जायसवाल	अल्तेकर	मिराशी	
विन्ध्यशक्ति	[२४८–२८४	२५५–२७५	२५०–२७०]	
प्रवरसेन १म	[२८४–३४४	२७५–३३५	२७०–३३०]	
गौतमीपुत्र				सर्वसेन मि० ३३०–३५५
रुद्रसेन १म	[३४४–३४८	३३५–३६०	३३०–३४५]	विन्ध्यसेन
पृथ्वीषेण १म	[३४८–३७५	३६०–३८५	३४५–४००]	मि० ३५५–४००
रुद्रसेन २य	[३७५–३९५	३८५–३९०]		
=प्रभावती	[३९५–४१५	३९०–४१०]		प्रवरसेन मि० ४००–४१५
प्रवरसेन २य	[४१५–४३५	४१०–४४०	४२०–४५०]	
नरेन्द्रसेन	[४३५–४७०	४४०–४६०	४५०–४६५]	(अज्ञातनामा)
पृथ्वीषेण २य	[४७०–४८५	४६०–४८०	४६५–४८०]	
देवसेन	[४८५–४९०,	४५५–४७५,	४४०–४७५]	
हरिषेण	[४९०–५२०	४७५–५१०	४७५–५००]	

पन्ना के २५ मील दक्खिनपूरब और नागोध के १५ मील दक्खिन-पच्छिम गंज-नाचना नामक स्थान जो बुन्देलखंड के पूरबी छोर पर है,

पृथ्वीषेण के आधिपत्य में था, यह बात वहाँ से प्राप्त अभिलेख से सिद्ध हुई है। अल्तेकर अन्य अधिकतर विद्वानों की तरह इस पृथ्वीषेण को पृथ्वीषेण १म मानते हैं। तब इस अभिलेख से क्या वाकाटकों का आरम्भ से बुन्देलखंड से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता? अल्तेकर कहते हैं कि प्रवरसेन १म ने जबलपुर प्रदेश से उत्तर बढ़ कर इसे जीता होगा (वहीं पृ० १००)। बुन्देलखंड का यह पूरबी छोर वाकाटकों के राज्य में कब और कैसे आया इस प्रश्न के निर्णय पर और कई महत्त्व के प्रश्नों का निर्णय निर्भर है। इसीलिए वाकाटकों का मूल राज्य कहाँ था यह प्रश्न भी महत्त्व का है।

विन्ध्यशक्ति वंशस्थापक का नाम नहीं प्रत्युत विरुद है यह अल्तेकर भी कहते हैं। इस वंश में पीछे भी एक विन्ध्यसेन हुआ तथा पुराणों में सारे वंश को विन्ध्यक कहा ही है। इसलिए यह वंश मूलतः विन्ध्य का था और इस बात का इसे अभिमान था इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। पर विन्ध्य पर्वत ठीक कहाँ से कहाँ तक है? पुराणों में विन्ध्य पारियात्र और ऋक्ष इन तीन पर्वतों के नाम साथ साथ आते हैं। इनमें से प्रत्येक से पैदा होने वाली नदियों के नाम वहाँ गिनाये हैं जिससे प्रत्येक की ठीक सीमाएँ निश्चित हो जाती हैं। पुराणों के इस विषय के सन्दर्भों की विवेचना हमें इस परिणाम पर पहुँचाती है कि "बनास और पार्वती से ले कर बेतवा तक कुल नदियों का निकास जिस हिस्से से हुआ है उसे पारियात्र पर्वत कहते थे; जिससे बेतवा की पूरबी शाखा ढसान (दशार्णा), केन और टोंस आदि नदियों का निकास हुआ है वह विन्ध्य पर्वत कहलाता था; और उन दोनों के दक्खिन तापी और वेणगंगा से ले कर उड़ीसा की वैतरणी नदी तक जिसके चरण धोती हैं वह ऋक्ष पर्वत था। अर्थात् इस दोहरी पर्वतमाला के उत्तरी हिस्से में पच्छिमी खंड पारियात्र और पूरबी विन्ध्य तथा समूचा दक्खिनी हिस्सा ऋक्ष है।"[३१]

---

३१. जयचंन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० ६३-६४।

विदर्भ और विदिशा—बराड और भिलसा—के बीच ऋक्ष और पारियात्र पहाड़ हैं, विन्ध्य वहाँ नहीं आता। आज का पूरा राजस्थानी-भाषी क्षेत्र ठीक पारियात्र के चौगिर्द है और भिलसा राजस्थानी की दक्खिनपूरबी बोली मालवी के क्षेत्र में है। आज भी वहाँ के लोग वहाँ के पहाड़ को विन्ध्य नहीं कहते, जैसा कि उसके पूरब तरफ सर्वत्र कहते हैं। पर अंग्रेज़ी नक्शों में विन्ध्य नाम मालवे के दक्खिन के पर्वत तक फैला दिया जाता है और इसी से डा० अल्तेकर इस भ्रम में पड़ गये कि विदर्भ से अपने राज्य को विदिशा तक फैला लेने के कारण प्रवरसेन का बाप विन्ध्यशक्ति कहलाया होगा। वास्तव में विन्ध्यक और बुन्देला एक ही शब्द के दो रूप हैं, एक प्राचीन, दूसरा मध्यकालीन। इसलिए वाकाटक या विन्ध्यक वंश मूलतः बुंदेलखंड का था इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं होना चाहिए। गंज-नाचना प्रदेश भी वाकाटकों के अधिकार-क्षेत्र में आरम्भ से ही रहा मानने में सुविधा है। इस विषय पर और विचार आगे किया जायगा।

यहाँ तक तो यह चर्चा स्पष्ट और ठोस तथ्यों के आधार पर हुई। बाकी रहीं अटकलें। सो पुरिका यदि दशार्ण के साथ लगी थी तो वह भी विन्ध्य में या उसके पड़ोस में कहीं थी, क्योंकि दशार्ण या दसान नदी बुन्देलखंड के पच्छिमी छोर पर है। जायसवालजी ने उसका होशंगाबाद होना अन्दाज़ किया था, जो कि विदिशा और विदर्भ के बीच है। जिस वाकाट या वकाट नामक स्थान से वाकाटक शब्द बना है जायसवालजी ने अन्दाज़ किया था कि वह चिरगाँव के ६ मील पूरब का बगाट या बिजौर-बगाट गाँव है। अल्तेकर कहते हैं कि आन्ध्र देश में अमरावती स्तूप के तीसरी शताब्दी के एक अभिलेख में किसी वाकाटक यात्री का उल्लेख है, जिससे वकाट गाँव का दक्खिन भारत में होना प्रतीत होता है। पर क्यों? उत्तर के यात्री क्या दक्खिन के तीर्थों में न जाते थे? नासिक कार्लें और जुन्नर के गुहामन्दिरों में क्या उत्तरापथ की दात्तामित्री नगरी और अटक के उत्तर की अम्बुलिम (=आधुनिक अम्ब)

नगरी के निवासियों तथा एक "गत यवन" (=गौथ युरोपी) यात्री के लेख नहीं है (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ७९६—८०१)? उसी आन्ध्रदेश के धरणीकोटा विहार के एक थंभे पर एक **अगलोकक** दाता का नाम खुदा है। डा० बहादुरचंद छाबड़ा ने **अगलोकक** का अर्थ किया है "(चीनहिन्द के) अग्नि राज्य का निवासी"।[३२]

म० म० मिराशी ने अपने पूर्वोक्त विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में इसी प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि जायसवाल ने कौशाम्बी और मथुरा से प्राप्त कुछ सिक्कों [तथा एक मोहर] पर वाकाटक राजाओं के नाम पढ़े थे, किन्तु वे पाठ सन्दिग्ध हैं; दूसरे विद्वानों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया; इसलिए वाकाटकों को उत्तर भारत का मानने के लिए कोई पक्की युक्ति नहीं है। दूसरी तरफ उनके दक्खिनी उद्भव का संकेत देनेवाली अनेक बातें हैं। उनके तथा पल्लव राजाओं के प्राकृत और संस्कृत अभिलेखों के अनेक पदों और मुहावरों में अद्‌भुत सादृश्य है [जिसका तफसील से निरूपण मिराशी ने बसीम ताम्रपत्रों की विवेचना में किया है]। दक्खिन के सातकर्णियों, कादम्बों और चालुक्यों की तरह वाकाटक अपने को **हारितीपुत्र** कहते हैं, एवं पल्लवों और कादम्बों की तरह अपने को **धर्ममहाराज**। इसलिए उनका दक्खिनी उद्भव निश्चित मानना चाहिए।

मिराशी आगे कहते हैं कि पुराणों में वाकाटकों की पहली राजधानियाँ पुरिका और चनका कही हैं, और हरिवंश का उद्धरण दे कर वे सिद्ध करते हैं कि पुरिका ऋक्ष अर्थात् सातपुड़ा पर्वत के चरणों में स्थित थी। चनका के विषय में वे अटकल लगाते हैं कि वह कर्णाटक में कहीं रही होगी।[३३]

---

३२. ब० च० छावड़ा (१९४५)—विमलचन्द्र लाहा अभिनन्दन ग्रन्थ, भाग १ पृ० १७०—१७२।

३३. वा० वि० मिराशी (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० ९-१०।

म० म० मिराशी जो कुछ लिखते हैं, प्रमाणपूर्वक और अत्यन्त स्पष्ट। तो भी इस प्रसंग में यह छोटी सी बात उनके ध्यान में आने से चूक गई है कि वाकाटकों को पुराणों ने स्पष्ट रूप से **विन्ध्यक** कहा है, उनके वंशस्थापक का पद **विन्ध्यशक्ति** उस कथन का समर्थन करता है, तथा पीछे भी उस वंश में एक विन्ध्यसेन के होने से वह बात और भी पुष्ट होती है। पुरिका को जायसवालजी ने भी ऋक्ष के चरणों में ही रक्खा था; चनका को उन्होंने आधुनिक नाचना (गंज-नाचना या नाचने की तलाई) माना था। वह अटकल अधिक युक्त थी। वाकाटकों और पल्लवों के अभिलेखों की भाषा और भावों में समानता की ओर भी उन्हीं का ध्यान पहलेपहल गया था, और उस आधार पर उन्होंने कहा था कि पल्लव भी वाकाटकों से सम्बद्ध थे। वाकाटकों का विन्ध्य का होना तो ध्रुव बात है; उस दशा में दोनों राजवंशों की इन बातों में समानता से कुछ सिद्ध होता हो तो वही सिद्ध होगा।

विन्ध्यशक्ति ने राजा पद धारण नहीं किया, पर उसका बेटा प्रवरसेन एकाएक सम्राट् बन गया। पद्मावती-झाँसी प्रदेश अर्थात् पच्छिमी बुन्देलखंड भारशिव राज्य का केन्द्रीय प्रदेश था। इसलिए जायसवालजी का यह अन्दाज़ कि बुन्देलखंड का विन्ध्यशक्ति भारशिव राज्य का सेनापति था, उसने उस राज्य को पूरब और दक्खिन तरफ़—पूरबी बुन्देलखंड, विदिशा और पुरिका में—बढ़ा कर नाम कमाया तथा उसके बेटे प्रवरसेन ने उसे और दूर तक बढ़ा कर तथा भारशिव राजा के साथ सम्बन्ध करके सम्राट् पद पाया, अब भी सर्वथा युक्त जान पड़ता है।

२. प्रवरसेन का साम्राज्य

प्रवरसेन ने अपनी बपौती को बढ़ा कर साम्राज्य बना लिया यह सर्वसम्मत है। विन्ध्य प्रदेश के एक अंश के अतिरिक्त विदिशा और पुरिका विन्ध्यशक्ति के अधिकार में निश्चय से थीं।

विदर्भ वाकाटक राज्य में पीछे बराबर रहा। डा० अल्तेकर ने

उसका विन्ध्यशक्ति के समय से वाकाटकों के अधीन होना माना है। पर हो सकता है वह प्रवरसेन के समय में लिया गया हो। उसके साथ ही उत्तरपूर्वी महाराष्ट्र का बाकी अंश—नांदेड अजिंठा प्रदेश—भी।

बुन्देलखंड बघेलखंड की सीमा पर का गंज-नाचना प्रदेश भी इस समय से वाकाटकों के अधीन था। प्रवरसेन के बाद उसके जीते जाने की गुंजाइश नहीं है, इसलिए अल्तेकर का विचार है कि जबलपुर प्रदेश लेने के बाद प्रवरसेन ने उत्तर बढ़ कर उसे जीता हो। किन्तु विदिशा और गंज-नाचना दोनों प्रदेश जिस राज्य में रहे हों, वह बीच के सागर-दमोह प्रदेश को लिये बिना क्या रहता? इसके साथ ही जब हम यह देख चुके हैं कि विन्ध्यशक्ति के अधीन विन्ध्य का कोई न कोई प्रदेश अवश्य था, तब यही मानना युक्त है कि गंज-नाचना और सागर-दमोह प्रदेश उसी के समय से वाकाटक अधिकार में थे। गंज-नाचना प्रदेश युद्ध के समय रक्षा की दृष्टि से महत्त्व का है और उसकी अच्छी गढ़बन्दी की गई थी। जायसवालजी का सुझाव था कि उसी गढ़बन्दी के कारण विन्ध्यशक्ति का नाम विन्ध्यशक्ति पड़ा होगा।[३४]

दक्खिनपूरब तरफ कृष्णा नदी के दक्खिन श्रीशैलम् का प्रभावती के समय वाकाटक राज्य में होना विदित है। जायसवालजी और डा० अल्तेकर दोनों का अनुमान है कि दक्षिण कोशल और आन्ध्रदेश को भी प्रवरसेन १म ने अपने साम्राज्य में मिलाया। आन्ध्र का इक्ष्वाकु राजवंश २६० ई० के लगभग समाप्त हुआ; उसका अन्त और आन्ध्र का वाकाटक साम्राज्य में जाना प्रकटतः सम्बद्ध घटनाएँ थीं।

इसके अतिरिक्त अल्तेकर का विचार है कि गुजरात-काठियावाड़ के पच्छिमी क्षत्रपों पर भी प्रवरसेन ने शायद आधिपत्य जमाया। इस विषय पर हम अलग विचार करेंगे।

जायसवालजी का विचार था कि प्रवरसेन लगभग सारे भारत का

---

३४. का० प्र० जायसवाल (१९३३)—पूर्वोक्त, पृ० ७०-७१।

सम्राट् था। डा० अल्तेकर का कहना है कि पंजाब पर उसके आधिपत्य का कोई प्रमाण नहीं। ठीक है। मथुरा के जिन सिक्कों को जायसवालजी ने प्रवरसेन के माना था, अल्तेकर ने दिखाया है कि वे वीरसेन के हैं, अतः "युक्त प्रान्त" (ठेठ हिन्दुस्तान) पर भी प्रवरसेन का आधिपत्य नहीं माना जा सकता। किन्तु भवनाग के साथ उसके सम्बन्ध के कारण उसका वहाँ यथेष्ट प्रभाव होना तो सम्भव है ही।

तमिळनाड में पल्लव राजवंश इसी समय स्थापित होता है। जायसवालजी ने अटकल लगाई थी कि वह वाकाटक वंश की शाखा हो सकता है; वाकाटकों और पल्लवों का एक ही गोत्र है। अल्तेकर का कहना है कि यह निरी अटकल है। बेशक यह निरी अटकल है; पर प्रसंगवश इसके बारे में कुछ विचार करें।

पल्लव राजवंश के ताम्रपत्रों में उसके संस्थापक वीरकूर्च्च के बारे में कहा है—"जिसने फणीन्द्रसुता के साथ सब राजचिह्न पाये"। रयूव्हो दुब्रईय ने इसकी यों व्याख्या की थी कि पच्छिमी क्षत्रप रुद्रदामा के अभिलेख से उसके राज्य में ईरान के पह्लव सुविशाख का ऊँचे पद पर होना विदित है; दक्खिनी महाराष्ट्र और कर्णाटक में सातवाहनों के उत्तराधिकारी चुटु-सातवाहनों के नामों में प्रायः नाग शब्द लगा मिलता है, जैसे शिवस्कन्द नाग, अग्निमित्र-नाग, नाग-निका (देवी), नाग-मुलनिका आदि; प्रकटतः वे नागों के उपासक थे; वीरकूर्च्च किसी पह्लव का वंशज रहा होगा जिसने किसी चुटु-सातवाहन नाग राजा का दामाद बन कर राज्य पाया होगा।[३५] जायसवालजी ने वीरकूर्च्च को किसी चुटु-सातवाहन-नाग के बजाय भारशिव नाग का दामाद माना; पल्लवों के भारद्वाज गोत्र के आधार पर यह कहा कि वे आर्यावर्ती ब्राह्मण थे, और उसी गोत्र के आधार पर उनके वाकाटकों से सम्बन्ध की अटकल लगाई। दक्खिन भारत और उत्तर भारत दोनों में इस शताब्दी में नाग नाम का चलन हो

३५. ग्यूव्हो दुब्रईय (१९२०)—पूर्वोक्त, पृ० ४९–५२।

जाना ध्यान देने योग्य बात है। मालव गण की राजधानी भी कर्कोट नाग के नाम पर थी। जिस समय प्रवरसेन ने दक्षिण कोशल और आन्ध्र जीते, तभी आन्ध्र के साथ लगे तमिळ प्रान्त में पल्लव राजवंश का स्थापित होना तथा पल्लवों के लेखों, उनकी भाषा और लिपि तथा उन लेखों के अन्तर्गत भावनाओं का अनेक प्रकार से वाकाटकों के समान होना जायसवालजी की अटकल को दुब्रईय की अटकल से अधिक सम्भव बनाता है। म० म० मिराशी की विवेचना से जायसवालजी की उस अटकल की और पुष्टि हुई है।

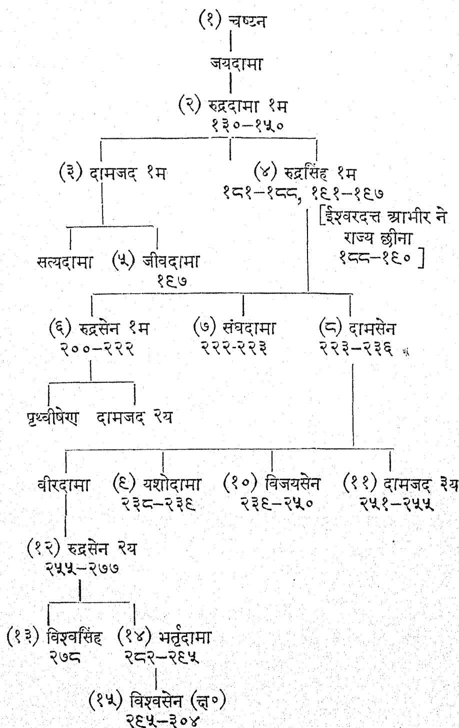
पल्लव शब्द की व्याख्या जो प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने दी है कि वह उस प्रदेश में पहले से प्रचलित एक तमिळ शब्द का अनुवाद है,[३६] वही ठीक जान पड़ती है। प्रो० शास्त्री का यह कहना है कि इससे पल्लवों का स्थानीय होना सिद्ध नहीं होता, वे अधिक सम्भवतः उत्तर भारत के थे जिन्होंने जनता की प्रीति के लिए स्थानीय परम्परा को अपना लिया था।

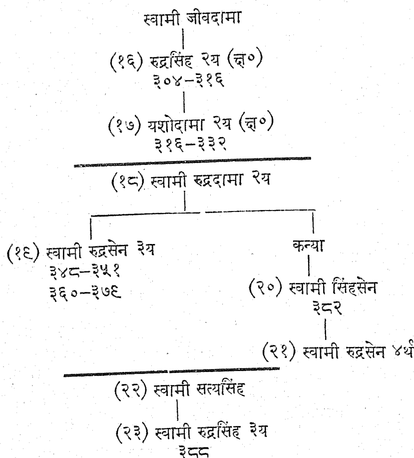
३. वाकाटक और पच्छिमी क्षत्रप

(क) इस विषय के वादग्रस्त प्रश्नों पर विचार करने में पच्छिमी क्षत्रपों का वंशवृक्ष सामने रखने से सुविधा होगी, इसलिए उसे यहाँ दिया जा रहा है। राज्य के केवल मुख्य शासकों (जब महाक्षत्रप हो तब महाक्षत्रप, अन्यथा क्षत्रप) के नामों के पहले क्रमसंख्या लगाई जा रही है और उनके राज्यकाल की केवल निश्चित रूप से ज्ञात तिथियों की सीमाएँ ईसवी सन् में दी जा रही हैं।

---

३६. नीलकंठ शास्त्री (१९४३)—अल्तेकर और मजूमदार सम्पादित "वाकाटक गुप्त युग" पृ० २२२, २२५-२२६, २२९-२३०।


(१) चष्टन
जयदामा
(२) रुद्रदामा १म
१३०—१५०
(३) दामजद १म
(४) रुद्रसिंह १म
१८१—१८८, १९१—१९७
[ईश्वरदत्त आभीर ने
राज्य छीना
१८८—१९०]
सत्यदामा
(५) जीवदामा
१९७
(६) रुद्रसेन १म
२००—२२२
(७) संघदामा
२२२-२२३
(८) दामसेन
२२३—२३६
पृथ्वीषेण
दामजद २य
वीरदामा
(९) यशोदामा
२३८—२३९
(१०) विजयसेन
२३९—२५०
(११) दामजद ३य
२५१—२५५
(१२) रुद्रसेन २य
२५५—२७७
(१३) विश्वसिंह
२७८
(१४) भर्तृदामा
२८२—२९५
(१५) विश्वसेन (क्ष०)
२९५—३०४



जायसवालजी ने लिखा था कि वाकाटक युग में शक क्षत्रपों का राज्य गुजरात-काठियावाड़ से उठ कर केवल कच्छ और सिन्ध में रह गया था (पूर्वोक्त, पृ० ९२)। इस कथन की जाँच की आवश्यकता थी, जिसके लिए मैंने समूचे क्षत्रप इतिहास की पुनःपरीक्षा की।[३७] उस पुनः-

३७. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३७)—सुराष्ट्र क्षत्रप इतिहास की पुनः-परीक्षा, ना० प्र० पत्रिका भाग १८ (१९९४) पृ० १–२७, तथा (१९४१) दि फ़ैमिली ऑफ़ चष्टन, देयर कौइनेज ऐंड हिस्टरी रि-एक्सामिंड (चष्टन वंश, उनके सिक्कों और इतिहास की पुनःपरीक्षा), जर्नल ऑफ़ दि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी (बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी की पत्रिका) भाग ५ पृ० २४९–२६१ ।

परीक्षा से इस बात का समर्थन नहीं हुआ कि वाकाटक युग में क्षत्रप काठियावाड़ से कच्छ-सिन्ध हट गये, तो भी जायसवालजी के बनाये इस युग के इतिहास के खाके की साधारण रूप से पुष्टि हुई। डा० अल्तेकर ने मेरा वह लेख नहीं देखा, तो भी उनके अध्ययन के परिणाम मेरे परिणामों के काफी निकट हैं। उनकी कृति पढ़ कर मुझे एक अंश में अपना मत उनके अनुसार बदलना पड़ा है; बाकी अंशों में मुझे विश्वास है कि वे मेरी कृति देखते तो उसके परिणामों को पूरी तरह नहीं तो प्रायः अवश्य स्वीकार करते।

(ख) मैंने यह अनुमान किया था कि रुद्रसेन १म की महाक्षत्रपी में अर्थात् २००–२२२ ई० के बीच अवन्ति क्षत्रप राज्य से निकल गया था। इसी रुद्रसेन के भाई संघदामा के राज्यकाल (२२२-२२३ ई०) में डा० अल्तेकर ने मालव गण का स्वतन्त्र होना निर्धारित किया है। संघदामा के बाद तीसरे भाई दामसेन ने राज्य किया (२२३–२३६ ई०)। रुद्रसेन १म और दामसेन के राज्यकाल के छोटे सिक्के उज्जैन से पाये गये हैं, जो सुराष्ट्र के क्षत्रप सिक्कों से भिन्न नमूने के हैं और जिनपर १३१ से १३३ या १४७ से १५८ शकाब्द (=२०६–२११ ई० तथा २२५–२३६ ई०) दर्ज है। पर उनपर राजा का नाम या चित्र नहीं है, प्रत्युत चित तरफ शकाब्द तथा पट तरफ दक्षिण-मुख हाथी और उसके ऊपर अर्धचन्द्र और तारे के चिह्न हैं। मेरा यह विचार था कि "इन सिक्कों को रुद्रसेन [या दामसेन] का या किसी भी शक राजा का मानने का कोई कारण नहीं है। उनका नया मान और नया संकेत—दक्षिणमुख हाथी—नये राज्य का सूचक है, और केवल शकाब्द दर्ज होने से या अर्धचन्द्र और तारे का चिह्न होने से उन्हें शक राज्य का मान लेना उचित नहीं, क्योंकि राज-परिवर्त्तन होने पर भी देश में प्रचलित संवत् को एकाएक बदला नहीं जा सकता, और कुछ पुराने चिह्न भी बने ही रहते हैं।"

मुझे अपना यह मत अब छोड़ना पड़ता है। ये नये नमूने के सिक्के

भी क्षत्रपों के ही हैं, क्योंकि जैसा कि डा० अल्तेकर और डा० दिनेशचन्द्र सरकार[३८] ने दिखाया है, आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकु राजा वीरपुरुषदत्त का विवाह उज्जैन के राजा की लड़की रुद्रधरभट्टारिका से हुआ था (लग० २४० ई०) और नागार्जुनीकोंडा स्तूप की शक मूर्तियाँ प्रकटतः उसी समय की हैं। रुद्रधरभट्टारिका प्रकटतः शक राजकन्या थी। इससे लग० २४० ई० तक अवन्ति में शक राज्य बना रहना सिद्ध होता है। मेरा ध्यान इस तथ्य की ओर तब नहीं गया था।

(ग) दामसेन के चार बेटों में से बड़ा—वीरदामा—पिता के जीवन-काल में ही चल बसता है। बाकी तीन—यशोदामा, विजयसेन और दामजद ३य—२३८ से २५५ ई० तक राज्य करते हैं। यशोदामा भी जो अभिषेक के समय लगभग ४० बरस का था, डेढ़-दो बरस राज कर के ही मर जाता है। इसपर अल्तेकर कहते हैं—"दो भाइयों वीरदामा और यशोदामा की दो ही बरस ··· में अकाल मृत्युएँ राज्य में किसी कष्ट को सूचित करती हैं, पर उस कष्ट का ठीक स्वरूप अभी निर्धारित नहीं किया जा सकता"।[३९] मेरा ध्यान इन अकाल मृत्युओं की तरफ नहीं गया था; पर इन मृत्युओं के बाद आई एक गहरी कठिनाई को मैंने दिखाया था। "विजयसेन और दामजद··· के सिक्के समूचे गुजरात-काठियावाड़ में बड़ी संख्या में पाये गये हैं, लेकिन २४६ ई० के करीब से उनकी चाँदी में मिलावट अधिक रहने लगती है, और दामजद··· के समय भी वह मिलावट जारी रहती है (रैप्सन, भूमिका पृ० १३७-१३८)। मुद्रा का यह भ्रष्ट होना देश की आर्थिक और राजनीतिक कठिनाई का सूचक है। क्या यह कठिनाई वाकाटकों के दबाव के कारण पैदा हुई थी ?"[४०]

अल्तेकर आगे कहते हैं कि "पच्छिमी क्षत्रपों का तांबे का सिक्का जो

---

३८. दिनेशचन्द्र सरकर (१९४६)—अल्तेकर और मजूमदार के पूर्वोक्त ग्रन्थ में अध्याय ४।

३९. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० ५३।

४०. ज० च० वि० (१९३७)—पूर्वोक्त, पृ० ११।

केवल मालवे में लग० २४० ई० तक चलता था, उस वर्ष के बाद एकाएक बन्द हो जाता है। इससे कुछ अंश तक इस स्थापना की पुष्टि होती है कि उस तिथि के शीघ्र बाद शकों के हाथ से मालवा निकल गया। विन्ध्यशक्ति ने ··· पूर्वी मालवे का कुछ अंश दखल कर लिया प्रतीत होता है" (वहीं पृ० ५४)। पूर्वी मालवे का कुछ अंश कि लगभग सारा मालवा?

देखने की बात है कि लग० २३७ ई० में युवराज की और फिर २३९ ई० में राजा की अकाल मृत्यु होती है, जो दोनों किन्हीं लड़ाइयों में हुई हो सकती हैं; २४० से मालवे का सिक्का बन्द हो जाता है; २४६ से सुराष्ट्र के चाँदी के सिक्के में मिलावट शुरू होती है जो कम से कम २५५ ई० तक जारी रहती है। यों २३७ से २५५ ई० तक प्रायः लगातार ही राज्य पर कठिनाई आई रहती है और उसका पूर्वी भाग उससे निकल जाता है। यह वाकाटकों से हुए संघर्ष का प्रतिबिम्ब नहीं तो क्या है?

मालवा क्षत्रपों के राज्य से निकल जाने पर उनकी राजधानी सुराष्ट्र में गिरिनगर (जूनागढ़) चली गई, यह डा० अल्तेकर का भी मत है।

२३७–२५५ ई० की पच्छिमी क्षत्रप राज्य की कठिनाइयाँ वाकाटकों के बजाय सासानियों के संघर्ष के कारण आई हों, क्या ऐसा नहीं हो सकता? हमने देखा है कि अर्दशीर १म के समय सासानी साम्राज्य में मकरान तथा खुजदार-कलात वाला "तूरान" या ब्राहूई प्रदेश भी सम्मिलित हो गया था, जो दोनों सिन्ध की पच्छिमी सीमा पर लगे हैं। पच्छिमी क्षत्रपों के राज्य में सिन्ध सम्मिलित था। इसलिए क्या यह सम्भावित नहीं कि सासानी सेनाओं के दस्ते २३७ ई० से मकरान के तट से और सिन्ध की पच्छिमी सीमा के खीरथर पर्वत के दर्रों में से सिन्ध पर धावे मारने लग गये हों?

इस शंका के प्रसंग में एक तो हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि मकरान और तूरान प्रदेशों ने सासानी शाह का केवल आधिपत्य माना था, और वह भी शायद नाम को, क्योंकि २९३ ई० के गृहयुद्ध के बाद तक भी मकरान का राजा स्वतन्त्र नहीं तो अर्धस्वतन्त्र अवश्य

था (दे० ऊपर पृ० २८१-८२)। इस दशा में सासानी सेना की छावनियाँ मकरान और तूरान में पड़ गई हों इसकी सम्भावना नहीं लगती। दूसरे, २३७-२५५ ई० के सारे संघर्ष का मुख्य परिणाम यह निकलता है कि मालवा या अवन्ति प्रदेश क्षत्रप राज्य से निकल जाता है। इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि क्षत्रपों को अपनी पूरवी सीमा पर ही संघर्ष करना पड़ रहा था। यदि हम यह सोचें कि पूरवी और पच्छिमी दोनों सीमाओं पर उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा होगा, तो भी यह स्पष्ट है कि पूरवी संघर्ष मुख्य था।

(ङ) दामजद ३य के बाद उसका भतीजा रुद्रसेन २य २५५ से २७७ ई० तक महाक्षत्रप रहा, फिर रुद्रसेन के दो बेटे—विश्वसिंह और भर्तृदामा—क्रमशः। इनमें से विश्वसिंह की महाक्षत्रपी ३-४ बरस रही; भर्तृदामा की २८२ से २९५ ई० तक। भर्तृदामा की महाक्षत्रपी में ही लग० २८४ ई० में सिन्ध को सासानी शाह वरह्रान २य ने जीत लिया। भर्तृदामा का बेटा विश्वसेन पिता के राज्यकाल में उसके अधीन क्षत्रप पद पर था; बाद में वह २९५ से ३०४ ई० तक भी क्षत्रप ही रहा, महाक्षत्रप नहीं बना। यों २९५ ई० में महाक्षत्रपी का अन्त हो गया। महाक्षत्रप की हैसियत स्वतन्त्र राजा की होती थी, क्षत्रप की सामन्त की। ३०४ ई० में इस वंश के हाथ से क्षत्रपी भी निकल गई; एक नया आदमी स्वामी जीवदामा का बेटा रुद्रसिंह, जिसे हम रुद्रसिंह २य कहते हैं, ३०४ से ३१६ ई० तक, और उसका बेटा यशोदामा २य ३१६ से ३३२ ई० तक क्षत्रप रहा। ३३२ ई० में क्षत्रपी का भी अन्त हुआ। १२-१३ वर्ष बाद फिर एक नया महाक्षत्रप खड़ा हुआ।

अध्यापक रैप्सन ने सन् १९०८ में ब्रितानवी म्यूज़ियम के आन्ध्र और क्षत्रप सिक्कों की सूची प्रकाशित करते हुए इन घटनाओं की आलोचना इन शब्दों में की थी—"इस अवधि में सिक्कों अथवा सिक्कों के अभाव से जो कुछ जाना जाता है—मुख्य वंश में राज्य न रहना और दूसरे वंश का उसकी जगह स्थापित होना, पहले महाक्षत्रप का और फिर

महाक्षत्रप और क्षत्रप दोनों का न रहना—यह सब विपत्ति-काल को सूचित करता है। सम्भावना यह है कि पच्छिमी क्षत्रपों के इलाकों पर कोई बाहरी आक्रमण हुआ था, किन्तु इस बाहरी चढ़ाई का ठीक स्वरूप फिलहाल बिलकुल सन्दिग्ध है, और जब तक हम इस युग के पड़ोसी राष्ट्रों का इतिहास न जान पायँ तब तक वह सन्दिग्ध रहेगा।"[४१] मैंने रैप्सन के इन शब्दों को उद्धृत करते हुए लिखा था—"वह कौन सी शक्ति थी जिसने २९५ ई० में चष्टन के वंशजों को अपना सामन्त बना लिया और फिर ३३२ ई० में उन्हें सर्वथा पदच्युत कर दिया? स्पष्टतः वह सम्राट् प्रवरसेन ...था।...पड़ोसी राष्ट्रों के इतिहास पर का पर्दा जायसवालजी द्वारा उठा दिये जाने पर अब हम कह सकते हैं कि वह बाहरी चढ़ाई प्रवरसेन वाकाटक की ही थी" (पूर्वोक्त लेख पृ० १३)।

डा० अल्तेकर ने भर्तृदामा की महाक्षत्रपी न जाने कैसे ३०४ ई० तक मान ली है (पृ० ५६)। इसी से २९५ ई० में महाक्षत्रपी का अन्त होने और क्षत्रप राज्य के किसी सम्राट् के आधिपत्य में चले जाने की घटना पर उनका ध्यान नहीं गया। पर ३०४ ई० में जब कि क्षत्रप वंश बदला गया, तब क्षत्रप राज्य में जान माल एकाएक अरक्षित हो गये थे और लोग अपना धन छिपाने को दौड़ रहे थे, इस बात की ओर उन्होंने ध्यान खींचा है (पृ० ५७)। प्रकटतः यह किसी चढ़ाई के कारण था। ३३२ ई० में क्षत्रपी का अन्त होते समय वैसी अरक्षित स्थिति आई नहीं लगती। अधिपति शक्ति का प्रभाव तब तक सुस्थापित होने से उसके द्वारा क्षत्रपी का हटाना शान्तिपूर्वक हो गया।

डा० हेमचन्द्र रायचौधुरी ने अपने ग्रंथ में लिखा था कि महाक्षत्रपी और क्षत्रपी का अन्त सासानी हस्तक्षेप के कारण हुआ होगा।

---

४१. ई० जे० रैप्सन (१९०८)—कैटलौग ऑफ़ दि कौइन्स ऑफ़ दि आन्ध्र डिनैस्टी, दि वेस्टर्न क्षत्रपस् इत्यादि (आन्ध्र वंश, पच्छिमी क्षत्रपों ... के सिक्कों की सूची) भूमिका पृ० १४२।

डा० अल्तेकर ने सासानी इतिहास की छानबीन कर दिखाया है कि इस अवधि में सासानियों के लिए भारत में हस्तक्षेप करना शक्य न था; दूसरे वे कहते हैं कि यदि उन्होंने हस्तक्षेप किया होता तो उनके कोई सिक्के गुजरात-काठियावाड़ से मिलते, पर वे नहीं मिलते । अन्त में वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि क्षत्रप शक्ति की अवनति सम्राट् प्रवरसेन के विजयों के कारण हुई (पृ० ५८-५६) ।

सासानी साम्राज्य के पूरबी अंचल की हमने जो तफसीलवार पर्यवेक्षा की है, उसकी रोशनी में हम इस समस्या पर फिर विचार करें । हमें चार घटनाओं की व्याख्या करनी है—एक, २६५ ई० में महाक्षत्रप पद समाप्त होना, दूसरे, ३०४ ई० में क्षत्रप वंश बदल जाना, तीसरे, ३३२ ई० में क्षत्रपी का मिट जाना, और चौथे, लग० ३४४ ई० में महाक्षत्रप का फिर खड़े होना । गृहयुद्ध में सफल होने के बाद नरसेः ने सकस्तान के शासन का क्या प्रबन्ध किया और किसे सकानशाह नियत किया इसका कुछ पता नहीं है । फिर भी हम यह कल्पना कर लें कि २६५ ई० में नरसेः या उसके सकानशाह ने सिन्ध से अपना आधिपत्य सुराष्ट्र तक बढ़ा लिया; फिर ३०४ ई० में होर्मिज़्द २य या उसके सकानशाह ने अपने सामन्त क्षत्रप राज्य में हस्तक्षेप कर के वंश को बदल दिया । इन कल्पनाओं के बाद भी इस बात की व्याख्या करना कठिन होगा कि ३०६ ई० में जब सासानी साम्राज्य में हंगामा मचा था, तब सुराष्ट्र के क्षत्रप ने महाक्षत्रप बनने की चेष्टा क्यों न की । हम फिर यह कल्पना कर सकते हैं कि क्षत्रप रुद्रसिंह २य कमज़ोर व्यक्ति था, अथवा अपने अधिपति की कृपा से ही उसे क्षत्रप पद मिला था, इसलिए वह न उठा, अथवा शाहपुह्र सकानशाह ने साम्राज्य के पूरबी छोर को दृढ़ता से सँभाले रक्खा था । पर ३३२ ई० में क्षत्रपी के समाप्त होने की और लग० ३४४ ई० में महाक्षत्रप के फिर खड़ा होने की कोई भी व्याख्या नहीं दिखाई देती । इसके साथ यह बात तो है ही कि कच्छ और सुराष्ट्र पर सासानी आधिपत्य होने का कोई चिह्न नहीं मिला । दूसरी तरफ

वाकाटक राज्य के केन्द्र प्रदेश से क्षत्रप सिक्कों की ढेरियाँ पाई गई हैं, और डा० अल्तेकर ने उनकी यह उचित व्याख्या की है कि वे क्षत्रपों के भेजे खिराज का अंश होंगी।

(ङ) ३३२ ई० (२५४ श०) में जो क्षत्रप सिक्के बन्द हुए, वे १६ वर्ष बाद ३४८ ई० (२७० श०) में फिर ढलने लगे। उन नये सिक्कों को निकालने वाला अपने को "महाक्षत्रप राजा स्वामी रुद्रदामा का बेटा महाक्षत्रप राजा स्वामी रुद्रसेन" कहता है। प्रकट है कि उसके पिता स्वामी रुद्रदामा (२य) ने ही महाक्षत्रपी को फिर से खड़ा किया, पर उसका राज्यकाल छोटा होने से उसके कोई सिक्के या लेख नहीं मिले। यों रुद्रदामा २य के फिर से महाक्षत्रप बन कर खड़ा होने की तिथि अन्दाजन ३४४-३४५ ई० है। "यह तिथि महत्त्व की है, क्योंकि ठीक यही प्रवरसेन की मृत्यु की तथा समुद्र-गुप्त की पाटलिपुत्र चढ़ाई की तिथि है। ··· (प्रकट) है कि प्रवरसेन ने ही पहले क्षत्रपों को अपना सामन्त बनाया और फिर पदच्युत किया था, और कि उसका देहान्त होने पर ज्यों ही वाकाटक साम्राज्य विपत्तिग्रस्त हुआ त्यों ही स्वामी रुद्रदामा ने स्वतन्त्र महाक्षत्रप पद धारण कर लिया।" (मेरा पूर्वोक्त लेख—१९३७—पृ० १४)

पर डा० अल्तेकर १६ वर्ष तक क्षत्रप सिक्का न चलने की यह व्याख्या नहीं करते। वे कहते हैं इस बीच "कोई गम्भीर राजनीतिक उपद्रव" राज्य में चलता रहा होगा, "न तो वाकाटक और न सासानी इस स्थिति में थे कि क्षत्रप शक्ति को बिलकुल ग्रस लें। लगभग ३३५ ई० में जो वाकाटक राजा रुद्रसेन १म सम्राट् प्रवरसेन का उत्तराधिकारी हुआ, वह अपेक्षया दुर्बल था।" अल्तेकर यह भी आशा करते हैं कि भविष्य की खोज से यह १६ वर्ष का व्यवधान कुछ कम हो जायगा, इसके दोनों किनारों के कुछ वर्षों के सिक्के मिल जायेंगे।

यदि भीतरी उपद्रव या गृह-युद्ध भी चल रहा होता तो पड़ोस का प्रबल सम्राट् क्या देखता रहता और हस्तक्षेप न करता? जिस सम्राट् ने

३७ वर्ष पहले (२६५ ई० में) क्षत्रप राज्य को अपना सामन्त बना लिया था, वही क्या ३३२ ई० में उसे समाप्त न कर सकता था ? ३३५ ई० प्रवरसेन की मृत्यु की तिथि डा० अल्तेकर ने अन्दाज़ से मानी है, उसे पक्की बात मान कर उसके आधार पर कल्पना करना उलटा तर्क है। ३०४ से ३३२ ई० तक जिस नये क्षत्रप वंश ने राज्य किया वह प्रवरसेन का खड़ा किया हुआ था, यह मैंने माना था और डा० अल्तेकर ने भी माना है। ३४४ ई० में जो महाक्षत्रप उठा वह किसी और वंश का था। इस प्रसंग में स्वयं डा० अल्तेकर ने लिखा है कि "लग० ३३५ ई० में उस सम्राट् (प्रवरसेन) के राज्यकाल का अन्त होने पर वाकाटक शक्ति के कमजोर होने से रुद्रदामा २य उसके नियत किये क्षत्रप के बेटे को हटा कर स्वयं महाक्षपत्र बन सका" (पृ० ६१)। यों प्रवरसेन की मृत्यु और रुद्रदामा २य के महाक्षत्रप बन खड़ा होने में सम्बन्ध उन्होंने भी देखा है। पर रुद्रदामा २य ३३५ ई० में तो महाक्षत्रप नहीं बना, प्रत्युत दस बरस बाद। यदि दोनों बातों में सम्बन्ध है तो प्रवरसेन की मृत्यु ३४४ ई० में ही माननी चाहिए। जो महाक्षत्रपी २६५ ई० से दबी हुई थी वह ३४४ ई० में फिर उठ खड़ी हुई इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि जिस शक्ति ने उसे दबा रक्खा था वह ३४४ ई० में अस्त हुई। यों जायसवाल-जी द्वारा निर्धारित प्रवरसेन की मृत्यु-तिथि का समर्थन होता है। और ३४४ में उठने के बाद ३५१ में महाक्षत्रपी फिर एकाएक जैसे डूबी उससे भी इसी बात का समर्थन होता है। उस बारे में हम आगे देखेंगे।

इस प्रसंग से हम वाकाटक राजाओं की तिथियों के प्रश्न पर आते हैं।

४. वाकाटक और चेदि-संवत्

पुराण में प्रवरसेन का राज्यकाल ६० वर्ष का लिखा है, इसलिए जायसवालजी, मिराशी और अल्तेकर तीनों ने उसे उतना ही माना है। रानी प्रभावती चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की बेटी थी, यों उसका समय निश्चित

है। पृथ्वीषेण १म के विषय में उसका पोता प्रवरसेन २य अपने अभिलेख में कहता है—**वर्षशतमभिवर्धमानकोशदण्डसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिणः**—जिसके वंश का कोश सेना आदि सौ बरस से फूल-फल रहे थे। मुख्यतः इन्हीं बातों के आधार पर इस वंश के राज्य-काल निर्धारित किये गये हैं। और इस हिसाब से विन्ध्यशक्ति का समय तीसरी शताब्दी का मध्य—लग० २५० ई०—आता है जैसा कि म० म० मिराशी ने रक्खा ही है।

किन्तु यदि वाकाटक वंश का उदय २५० ई० के लगभग हुआ, तो ठीक ५ सितम्बर २४८ ई० से क्यों न माना जाय, जब कि चेदि-संवत् का आरम्भ होता है? उस संवत् का आरम्भ कराने वाली और कोई बड़ी घटना दिखाई नहीं देती। चेदि बुन्देलखंड का पुराना नाम है और वाकाटक बुन्देले थे ही, बुन्देलखंड के इतिहास में वाकाटक राज्य की स्थापना से बढ़ कर कोई गौरवपूर्ण घटना नहीं है। जायसवालजी ने दो सिक्कों और एक मोहर पर वाकाटक राजाओं के नाम और चेदि संवत् के वर्ष पढ़ कर इस स्थापना को पुष्ट करने का यत्न किया। डा० अल्तेकर ने दिखाया कि उनके पाठ गलत हैं। ठीक। पर फिर भी चेदि संवत् को वाकाटक संवत् मानने की युक्तता ज्यों की त्यों बनी है। अल्तेकर कहते हैं कि चेदि-संवत् वाकाटकों ने चलाया तो वे अपने अभिलेखों में इसे क्यों नहीं बर्तते, प्रत्येक राजा अपने राज्य-वर्ष ही क्यों देता है? और सच कहें तो विन्ध्यशक्ति के उदय को चेदि-संवत् के आरम्भ के साथ होने से बचाने के लिए ही डा० अल्तेकर ने उसे पाँच बर्ष और पीछे रक्खा है। पर वह तर्क वही पुराना है जो शक-संवत् के बारे में भी हमारे सामने आया था। मैं उस तर्क को डा० अल्तेकर के सामने ही वापिस पेश करता हूँ—भारत के मध्य भाग का कौन सा राजवंश या सम्प्रदाय है जिसने इस संवत् को चलाया और जो इसे अपने लेखों में आरम्भ से बर्त्तता रहा? तीसरी शताब्दी के इतिहास का खाका अब काफी खुल चुका है जिससे इस प्रश्न का उत्तर अब मिल सकना चाहिए। यदि

न मिले तो हमें इस समाधान से सन्तोष करना चाहिए कि भारत की पुरानी प्रथा राजकीय लेखों में उपस्थित राजा का राज्यवर्ष देने की थी।

५. सासानी गृहयुद्ध और भारतीय राज्य

हमने देखा है कि २९३ ई० के सासानी गृहयुद्ध में अवन्तिराज की सेना वरह्रान ३य की तरफ से लड़ने गई थी। जायसवालजी ने इस अवन्तिराज को स्वतन्त्र स्थानीय शासक माना था;[४२] डा० अल्तेकर का भी वही मत है (पूर्वोक्त, पृ० ५९) इस अन्तर के साथ कि वे उसके शक होने की सम्भावना देखते हैं। पर मुझे तो ऐसा लगता है कि वह सम्राट् प्रवरसेन के सिवाय कोई हो नहीं सकता। कोई छोटा स्थानीय राजा उज्जैन से अपनी सेना शकस्थान या सिन्ध कैसे भेज सकता था? अवन्ति २४० ई० से शक क्षत्रपों के राज्य से निकल चुकी थी; उज्जैन को छोड़ वे अपनी राजधानी गिरनार को बना चुके थे। पूर्वी मालवा (विदिशा प्रदेश) विन्ध्यशक्ति के समय से वाकाटक राज्य में निश्चय से था ही। २९५ ई० में प्रवरसेन अपना आधिपत्य सुराष्ट्र के क्षत्रपों पर भी जमाता है; समूचे मालवे और उत्तर-पूर्वी गुजरात (रेवा काँठे, मही काँठे) को लिये विना क्या वह सुराष्ट्र तक पहुँच सकता था?

सिन्ध सासानी साम्राज्य में था। आभीरों का मूल देश सिन्ध की सीमा पर पच्छिमी राजस्थान में था। जिस आभीर राजा ने नरसेः को बधाई भेजी वह वहीं का होगा अथवा दक्खिनी गुजरात और उत्तरी महाराष्ट्र का। यदि दूसरा हो तो यह प्रकट है कि वह किसी अंश में प्रवरसेन के साम्राज्य से स्वतन्त्र था।

२९३ ई० में यह गृहयुद्ध हुआ और २९५ में प्रवरसेन ने सुराष्ट्र के क्षत्रप राज्य को अपने आधिपत्य में ले लिया इन दोनों घटनाओं में भी सम्बन्ध प्रतीत होता है। इनकी तुलना आधुनिक युग में सन् १८३९-४२

---

४२. का० प्र० जायसवाल (१९३३)—पूर्वोक्त, पृ० २३८-२३९।

के अंग्रेज-अफगान युद्ध और १८४३ में अंग्रेज़ों के सिन्ध दखल कर लेने से की जा सकती है। अंग्रेज़ों के दबाव में आ कर सिन्ध के अमीरों ने उन्हें सिन्ध में अपनी सेनाएँ लाने और वहाँ से अफगानिस्तान पर चढ़ाई करने दिया। अफगानिस्तान में तो अंग्रेज़ों की हार हुई, पर वहाँ से लौट कर उन्होंने सिन्ध को धर दबोचा। अवन्ति का राजा सुराष्ट्र या पारियात्र (राजस्थान) या दोनों को आधार बना कर ही सिन्ध-शकस्थान में अपनी सेना भेज सकता था। उसने प्रकटतः सिन्ध को वापिस लेने के लिए ही सासानी गृहयुद्ध में दखल दिया था। वह सफल नहीं हुआ। पर क्षत्रप राज्य पर उसके दाँत लगे हुए थे; सो सिन्ध न मिला तो भी सुराष्ट्र पर आधिपत्य उसने जमा ही लिया।

इस विषय पर एक ऐसे स्थल से प्रकाश पड़ता है जहाँ से कभी इसकी आशा न की गई होगी।

६. मयूरशर्मा का चन्द्रवल्ली अभिलेख

चौथी शताब्दी के पहले अंश में उत्तरी कर्णाटक में कादम्ब राजवंश की स्थापना होती है। इसका आदि-पुरुष मयूरशर्मा पल्लवों की राजधानी काञ्ची की एक घटिका (विद्यालय) में वेद पढ़ने गया था, पर वहाँ उसका एक घुड़सवार सैनिक से झगड़ा हो गया, जिससे उसे लड़ाई का चसका लग गया। अपने जैसों का दल बना कर "श्रीपर्वत" के आधार से उसने पल्लव राज्य पर झपटे मारना शुरू किया। अन्त में पल्लव राजा ने स्वयं उसे पच्छिमी समुद्र से लगा प्रदेश सौंप कर अभिषिक्त कर दिया।

मयूरशर्मा का एक अभिलेख चितलद्रुग गढ़ के पास चन्द्रवल्ली नामक स्थान पर मैसूर पुरातत्त्व विभाग के स्वर्गीय अध्यक्ष डा० मैसूर हट्टि कृष्ण को १९२९ में मिला, जिसे उन्होंने उक्त राज्य की पुरातत्त्व-विवरणी में १९३१ में प्रकाशित किया।[४३] जायसवालजी ने डा० कृष्ण के इसके

४३. मै० ह० कृष्ण (१९३१)—ऐनुअल रिपोर्ट औफ दि माइसोर आर्कियोलौजिकल डिपार्टमेंट फौर दि ईयर १९२९ (मैसूर पुरातत्त्व विभाग की १९२९ की वार्षिक विवरणी) पृष्ठ ५०—६० तथा २११।

पाठ में कुछ संशोधन सुझाये।[४४] उन सुझावों को देखते हुए इसके पाठ को फिर से जाँचा गया कि नहीं, इसका मुझे पता नहीं। किन्तु प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने अल्तेकर और मजूमदार द्वारा सम्पादित वाकाटक-गुप्त युग के इतिहास में डा० कृष्ण के पाठ को नज़र में रखते हुए लिखा है—"यह असम्भव (बातों वाला) लेख सब तरह से आधुनिक जालसाज़ी प्रतीत होता है"।[४५]

जालसाजी! क्यों? क्या इसकी लिपि की जाँच से मालूम हुआ कि किसी आधुनिक व्यक्ति ने पुरानी लिपि की नकल की कोशिश की है, पर कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं जिनसे बनावट सिद्ध होती है? या क्या भाषा में वैसी कोई बनावट-सूचक त्रुटि है? अथवा क्या चट्टान या उसपर की खुदाई नई मालूम होती है? और, जिसने जालसाजी की, उसके वैसा करने का उद्देश क्या था? यदि किसी को ज़मीन देने वाला कोई ताम्रपत्र होता और उसमें लिपि भाषा आदि की असंगति होती तो जालसाज़ी की बात सोची जा सकती। पर इस चट्टान पर तालाव-खुदाई की बात जालसाजी कर के कोई क्यों लिखता? केवल लीला के लिए?

अभिलेख का जो फोटो-चित्र और अक्षरों की नकल तथा उसके प्राप्तिस्थान आदि का जो विवरण डा० कृष्ण ने दिया था उससे न केवल वैसी कोई असंगति दिखाई नहीं देती, प्रत्युत आश्चर्य होता है कि उन्हें देखते हुए उसके जालसाज़ी होने की कल्पना भी किसी के मन में कैसे आ सकती है। चित्तलद्रुग या चित्रदुर्ग पुराना स्थान है। उस पहाड़ी गढ़ के पच्छिम तरफ हुलेगोंदी दून में स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रवल्ली नामक प्राचीन स्थान था। उस दून के दक्खिन दो टेकरियों के बीच की एक खोर में, जो कहीं सिर्फ १०० फ़ुट चौड़ी रह गई है, भैरवेश्वर के पुराने मन्दिर के पास जहाँ से उस खोर में आने का रास्ता है वहीं

---

४४. का० प्र० जायसवाल (१९३३)—पूर्वोक्त, पृ० २२०-२२१।
४५. नीलकंठ शास्त्री (१९४६)—वाकाटक गुप्त एज पृ० २३८।

उस खोर की दीवार जैसी खुली चट्टान पर बड़े-बड़े अक्षरों में यह लेख खुदा है। चट्टान और लेख ने आँधी-पानी के कितने थपेड़े खाये हैं सो उसका फोटोग्राफ ही बताता है। लेख तीन पंक्तियों में है। डा० कृष्ण कहते हैं कि पहलेपहल देखने से ऊपर छः पंक्तियाँ और प्रतीत होती थीं, पर ध्यान से देखने से प्रकट हुआ कि वे केवल आँधी-पानी के निशान हैं, और नीचे वाली तीन पंक्तियों से उनका स्पष्ट अन्तर है। डा० कृष्ण ने जो लेख पढ़ा उसका यह अर्थ है कि यहाँ मयूरशर्मा ने तालाब बनवाया था। आज वहाँ तालाब नहीं है। पर डा० कृष्ण बताते हैं कि बाँध बना कर बरसात का पानी रोकने के लिए वह खोर बहुत ही उपयुक्त है, अर्थात् कभी वहाँ तालाब रहा होगा, तथा उस अभिलेख के ठीक सामने उत्तर तरफ कोई फूलता-फलता नगर था, जिसके खँडहरों की खुदाई से सातवाहन युग के काफी सिक्के पाये गये हैं। अभिलेख की भाषा प्राकृत है जो कि तीसरी शताब्दी की प्रथा के अनुसार बिलकुल ठीक है। उसकी लिपि भाषा आदि की तफसीलवार विवेचना डा० कृष्ण ने की जिससे उसकी तीसरी शताब्दी के लेखों के साथ पूरी संगति हुई।

किन्तु इस सब से बढ़ कर पते की बात यह कि इस अभिलेख से यह जानकारी मिलने पर कि मयूरशर्मा ने यहाँ तालाब बनवाया था, डा० कृष्ण ने उस जगह की खुदाई कराई जहाँ तालाब का बाँध होना चाहिए था, और ठीक वहीं से पुरानी ईंटों वाले बाँध के अंश मिले जिनमें से एक टुकड़ा ४० फुट × ६ फुट का है।[४६] चन्द्रवल्ली अत्यन्त प्राचीन स्थान है और पिछली चार पीढ़ियों के समय से वहाँ से प्राचीन वस्तुएँ बराबर मिलती रही हैं। वहाँ की खुदाई से मिले सातवाहन सिक्कों का विवरण रैप्सन की १६०८ वाली सूची में है; मैसूर पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष नरसिंहाचार्य ने उसकी जाँच की थी; उस स्थान पर नवाश्म

---

४६. मै० ह० कृष्ण (१९३१)—एक्स्कवेशन्स ऐट चन्द्रवल्ली (चन्द्रवल्ली की खुदाई) पृ० २७।

हथियार तक पाये गये हैं; और डा० कृष्ण ने जिस-जिस स्थान पर खुदाई करवाई उस उससे कोई न कोई महत्त्व की वस्तु मिली। उन खुदाइयों का पूरा विवरण उन्होंने मैसूर पुरातत्व विभाग की १९२९ की विवरणी के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया।

गत वर्ष प्रो० नीलकंठ शास्त्री से मेरी इसके बारे में चर्चा हुई तो मालूम हुआ कि उन्होंने इसे जो जालसाजी कहा सो इसकी लिपि, भाषा, अक्षरों की खुदाई आदि के किसी दोष के कारण नहीं। तब हमारा इसे केवल इस कारण जालसाजी कहना कि हम इसकी बातों की संगति नहीं लगा सकते, क्या न्याय्य है? प्रो० नीलकंठ अब मैसूर में हैं और हमारी बातचीत (अगस्त १९५३) में यह तय हुआ था कि वे स्वयं चितलद्रुग जा कर अभिलेख की जाँच करेंगे। मैं चाहता था उनकी जाँच के बाद इस विषय पर लिखूँ। पर इस ग्रन्थ की छपाई शुरू होने पर उन्हें पत्र लिखने से पता चला कि वे कई मास से बीमार हैं, चितलद्रुग नहीं जा सके, अभिलेख की नई छाप जो उनके पास आई उसे भी नहीं देख सके और उसे मैसूर छोड़ कर मद्रास चले आये। इस दशा में मैं उनकी जाँच की राह देखे बिना अपना मत विद्वानों के विचार के लिए रखता हूँ।

डा० कृष्ण ने उस अभिलेख को यों पढ़ा था—

पंक्ति १—कदंबाणं मयूरशम्मणा विणिम्मिअं

पंक्ति २—तटाकं दूभत्रेकूट अभीर पल्लव पारि-

पंक्ति ३—यात्रिक सकस्था [न] सयिंदक पुणाट मोकरि [णा]।

और इसका यह अर्थ किया था—"कादंबों में के मयूरशर्म्मा ने तालाब बनवाया, जिसने हराये त्रैकूट, अभीर, पल्लव, पारियात्रिक, सकस्थान सयिंदक, पुणाट और मोकरि।"

पहली और दूसरी पंक्ति के बीच सूर्य और चंद्र के चिह्न बने हैं, जो इस कामना के सूचक हैं कि जब तक सूर्य और चंद्र हैं, तब तक यह कृति (तालाब) बनी रहे। डा० कृष्ण ने बहुत ठीक लिखा था कि यह अभिलेख भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जायसवालजी का कहना था कि दूभ का अर्थ 'हराये' नहीं हो सकता और कि **मोकरिणा मयूरशम्मणा** का विशेषण कैसे बनेगा। प्राकृत-हिन्दी कोश **पाइयसद्दमहण्णवो** (प्राकृतशब्दमहार्णव) के विद्वान् संकलयिता श्री हरगोविन्ददास सेठ ने दूभ को संस्कृत दुःख का रूपान्तर और अकर्मक क्रिया बताया है, दूभिज्ज = दुःखित।[४७] साहित्यिक प्राकृतों में वह अकर्मक क्रिया होगी, यहाँ उसका सकर्मक प्रयोग प्रतीत होता और क्त प्रत्यय लुप्त हो गया लगता है। 'दूभ' का शब्दार्थ 'सताये' प्रतीत होता है जिसका मुहावरे का अर्थ 'हराये' है। 'दूभ' से 'मोकरिणा' तक एक ही द्वन्द्वगर्भ बहुव्रीहि समास है, जो 'मयूरशम्मण' का ठीक विशेषण बनता है। अर्थात् "हराये त्रैकूट······और मोखरि जिसने, उस मयूरशर्मा ने तालाब बनवाया।"

त्रैकूटों के लेख बंबई के उत्तर कन्हेरी में तथा सूरत के ५० मील दक्खिन पारदी में मिले हैं, अर्थात् उनका उत्तरी कोंकण में राज्य था। आभीरों से डा० कृष्ण ने नासिक प्रदेश के आभीर राज्य को ही समझा था, पर वह राज्य मारवाड़ का भी हो सकता है। पल्लव सुविदित हैं। पारियात्रिक का अर्थ भी डा० कृष्ण ने ठीक ही किया था। यहाँ वह निश्चय से राजस्थान या राजस्थानी के अर्थ में है।[४८] शकस्थान से डा० कृष्ण ने गुजरात का शक राज्य माना था, पर जैसा कि हम देख चुके हैं (ऊपर उ ३ ग) गुजरात-सुराष्ट्र कभी शकस्थान नहीं कहलाया। या तो शकस्थान से यहाँ असल शकस्थान (सीस्तान) अभिप्रेत है या सिन्ध। सयिंदक का अर्थ डा० कृष्ण ने सेन्द्रक किया है जिनके अभिलेख उत्तरी कर्णाटक और मैसूर के शिमोगा जिले से मिले हैं। पुणाट की राजधानी मैसूर जिले में कीर्तिपुर या कित्तूर थी इसका प्रमाण भी उन्होंने दिया है। मोकरि से उन्होंने मगध के मौखरि समझे, पर मौखरियों की एक राज-

---

४७. हरगोविन्ददास सेठ (१९२८)—पाइयसद्दमहण्णवो।

४८. दे० ऊपर पृ० ३७ टि० ५, पृ० ५७ टि० १।

धानी तीसरी शताब्दी में कोटा राज्य के बडवा नामक स्थान में थी।[४९] यहाँ उसी मौखरि राज्य से अभिप्राय हो सकता है।

डा० कृष्ण ने इस अभिलेख के आधार पर कादम्ब साम्राज्य की कल्पना की और उसका नक्शा भी बनाया। पर कादम्ब साम्राज्य की इसमें कहीं कोई बात नहीं है। मयूरशर्मा तो अपने को राजा भी नहीं कहता। अपने राज्य में रहते हुए इन सब राज्यों को हराने की बात उसने कही होती तो वह असंभव डींग होती। पर वह किसी सम्राट् के सेनापति रूप में दूर देशों तक लड़ने गया हो इसमें कठिनाई क्या है? उलटा इससे पाइकुली अभिलेख की व्याख्या और पुष्टि होती है। एक तरफ उस अभिलेख में शाह नरसेः कहता है कि भारत की सेना ईरान के गृहयुद्ध में हस्तक्षेप करने आई थी। दूसरी तरफ इस अभिलेख में भारत का एक सेनानायक कहता है कि मैं शकस्थान में लड़ने गया था। वह सेनानायक ऐसे प्रदेश का है जो तत्कालीन भारत-सम्राट् की साम्राज्य-सीमा पर था। दोनों अभिलेख तीसरी शताब्दी के अन्त के हैं। एक दूसरे की व्याख्या वे किस खूबी से करते हैं!

कन्नड सैनिकों की ख्याति मध्य काल में हमारे उत्तर-पच्छिमी सीमान्त तक पहुँच चुकी थी (दे० ऊपर पृ० ८८)। चन्द्रवल्ली अभिलेख से अब यह प्रकट होता है कि उस ख्याति का आरम्भ और पहले से हो चुका था और तीसरी शताब्दी में भी भारत के सम्राट् ने कन्नड सैनिकों का मूल्य पहचाना था।

यदि मयूरशर्मा के सम्राट् प्रवरसेन की सेवा में रहने का यह अनुमान ठीक हो तो दक्खिणी महाराष्ट्र या उत्तरी कर्णाटक, जो इस युग से कुन्तल कहलाने लगा, पहले-पहल प्रवरसेन के राज्यकाल में ही वाकाटक राज्य में मिलाया गया होगा।

---

४९. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० ४०-४१।

७. वाकाटक और गुप्त साम्राज्य

(क) लग० ३५० ई० तक भारत में गुप्त साम्राज्य स्थापित हो जाता है। यदि उससे पहले वाकाटक साम्राज्य उपस्थित था तो प्रश्न होता है कि दोनों में कब कैसा सम्पर्क रहा। इसका ठीक उत्तर पाने में सब से बड़ी कठिनाई है गुप्त राज्य का आरम्भिक इतिहास प्राप्त न होने से। निर्विवाद रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि आरम्भ में गुप्त राज्य कहाँ था; उस बारे में अटकलें ही लगानी पड़ती है।

हम इतना ही निश्चय से जानते हैं कि **महाराज गुप्त** का बेटा **महाराज घटोत्कच** हुआ, उसका बेटा **महाराजाधिराज चन्द्र-गुप्त** जिसका कुमारदेवी लिच्छवि से विवाह हुआ। प्रकट है कि गुप्त और घटोत्कच छोटे राजा थे, चन्द्र-गुप्त ने पहलेपहल राज्य बढ़ाया। चन्द्र-गुप्त और कुमारदेवी के साझे सिक्के चलते थे जिनपर पट तरफ **लिच्छवयः** (लिच्छवि गण) लिखा होता है। इनसे गुप्त और लिच्छवि राज्य का संहत हो । प्रकट है; साथ ही यह भी कि इस संहति द्वारा ही गुप्त राज्य पहलेपहल बढ़ा। इससे यह भी सिद्ध है कि गुप्त राज्य लिच्छवि गण के प्रदेश के ठीक साथ लगा हुआ था। पर किस तरफ ? सो भी पता नहीं। इसलिए इस बारे में भी अटकल लगानी पड़ती है।

(ख) लिच्छवियों का जनपद आज का तिरहुत (उत्तरी बिहार) है, जिसकी राजधानी वैशाली थी। उसके पड़ोस में पूरब तरफ पुण्ड्रवर्धन (पूर्णिया और उत्तरी बंगाल), दक्खिन तरफ मगध और पच्छिम तरफ अवध है। आरम्भिक गुप्त राज्य इन तीनों में से किसी में होना चाहिए। मगध को चन्द्र-गुप्त के बेटे समुद्र-गुप्त ने जीता ऐसा आभास उसके प्रयाग स्तम्भ लेख से होता है। या तो वह पहले गुप्त राज्य में रह कर उससे निकल गया हो, या पहले से ही उसमें न रहा हो। तब पुण्ड्रवर्धन और अवध इन दो में से एक में पहला गुप्त राज्य रहा होगा। चीनी यात्री इ-चिङ ने लिखा है कि उसके समय से प्रायः पाँच सौ बरस पहले राजा

चि-लि-कि-तो ने नालन्दा से गंगा के रास्ते ४० योजन पूर्व चीनी भिक्षुओं के लिए एक मन्दिर बनवाया था। इ-चिङ ६७१ से ६९५ ई० तक भारत में था। चि-लि-कि-तो श्री-गुप्त का रूपान्तर माना जाता है। यों लग० १७५ ई० में पुण्ड्रवर्धन में एक राजा श्री-गुप्त का पता मिला। ब्रितानवी म्यूजियम के गुप्त सिक्कों की विवेचनात्मक सूची बनाने वाले अंग्रेज विद्वान् जौन ऐलन ने इसी श्री-गुप्त को गुप्त राजवंश का आदिपुरुष माना है। कठिनाई यह है कि गुप्त राजवंश इ-चिङ से ५०० नहीं, ४०० वर्ष पहले शुरू हुआ था। पर ऐलन कहते हैं इ-चिङ ने स्थानीय अनुश्रुति के आधार पर ऐसा लिखा और अनुश्रुति में इतनी गलती हो सकती है।[५०] फिर भी वही श्री-गुप्त प्रसिद्ध गुप्त वंश का पहला राजा था यह मानने के लिए क्या प्रमाण है ?

दूसरी तरफ हमारी पौराणिक अनुश्रुति है। उसके "भविष्य" अंश का ऐतिहासिक वृत्तान्त गुप्त वंश के उदय तक पहुँच कर समाप्त होता है। गुप्त राज्य के विषय में उसका (पार्जीटर द्वारा संशोधित) पाठ यों है—

अनुगंगाप्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥

इसका अर्थ भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है। गंगा के साथ साथ प्रयाग जनपद (अर्थात् प्रयाग प्रदेश का गंगा की तरफ का अंश, जमना पार का नहीं), साकेत और मगध—अथवा गंगा के साथ-साथ प्रयाग तक साकेत जनपद और मगध—इनमें गुप्तवंशजों का राज्य होगा। इस बारे में भी यह प्रश्न होता है कि ये सब जनपद क्या चन्द्र-गुप्त १म के समय गुप्त राज्य में आ चुके थे या यदि समुद्र-गुप्त ने मगध जीता हो तो उसके मगध जीत लेने पर। कुछ पुराणों में स्पष्ट **मागधा गुप्ताः**—मगध के गुप्त—पाठ है; पर वे आरम्भ से मगध के राजा थे कि बाद में बने

---

५०. जौन ऐलन (१९१४)—कैटलौग औफ़ दि कौइन्स औफ़ दि गुप्त डिनैस्टीज़ इत्यादि (गुप्त वंशों ··· के सिक्कों की सूची) भूमिका पृ० १५।

यह प्रश्न फिर भी उठ सकता है। अयोध्या पीछे भी पाटलिपुत्र के साथ साथ गुप्तों की राजधानी रहती रही; इसलिए साकेत से उनका आरम्भ से विशेष सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। इससे बढ़ कर समुद्र-गुप्त का जिन राजाओं से पहलेपहल युद्ध हुआ उनमें उत्तर पञ्चाल के राजा अच्युत का नाम है। समुद्र-गुप्त का आरम्भिक राज्य अवध में रहा हो तो उत्तर पञ्चाल उसका ठीक पड़ोसी होगा।

जायसवालजी ने **कौमुदीमहोत्सव** नाटक से चन्द्र-गुप्त १म के मगध पाने और खोने का इतिहास निकालने का यत्न किया था। उस नाटक के अनुसार मगध के राजा सुन्दरवर्मा ने चंडसेन को अपना दत्तक पुत्र बनाया था। बाद में बूढ़े राजा ने अपने शिशु औरस पुत्र कल्याणवर्मा को, जो प्रकटतः बुढ़ापे में पैदा हुआ था, उत्तराधिकारी बनाना चाहा। चण्डसेन ने लिच्छवियों से विवाह-सम्बन्ध कर लिच्छवि सेना के सहारे पाटलिपुत्र को घेर लिया। युद्ध में सुन्दरवर्मा मारा गया; पर मन्त्री लोग कल्याणवर्मा को बचा कर किष्किन्धा ले गये। चण्डसेन मगध का राजा बना। पर कल्याणवर्मा के बड़ा होने पर पाटलिपुत्र के लोग उसे पम्पासर से लिवा लाये और विद्रोह कर उठ खड़े हुए। चण्डसेन को भागना पड़ा।

जायसवालजी ने चण्डसेन को चन्द्र-गुप्त १म मान कर इसे उसके मगध पाने और खोने की कहानी माना। साथ ही यह कहा कि पटने से हट कर चन्द्र-गुप्त अयोध्या में रहा और वहीं समुद्र-गुप्त को उत्तराधिकारी बनाया, जिसने पटने को फिर से जीता। दूसरे विवेचकों ने उनकी इस स्थापना को नहीं माना, कारण कि लिच्छवि विवाह वाली बात से चाहे इसमें चन्द्र-गुप्त के इतिहास की झलक दिखाई देती है, तो भी नाटक-लेखिका ने कितना अंश इतिहास से लिया और कितना अपनी कल्पना से यह जानने का साधन आज हमारे पास नहीं है।

यों हम लौट घूम कर इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गुप्त वंश का आरम्भिक इतिहास धुँधला है, तो भी प्रयाग-साकेत प्रदेश में उस वंश

का पहला राज्य मानने में सुविधा है।

(ग) आगे के इतिहास के लिए हमारा सहारा समुद्र-गुप्त का प्रयाग स्तम्भ-लेख है। उसका भी पहला अंश खंडित है। आरम्भ के आठ पद्यों में से केवल चौथे का पाठ पूरा है, पर उसमें किसी विजय की चर्चा नहीं। सातवाँ पद्य यों हैं—

उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युतनागसेन ˘ ˘ — — — ˘ — — ˘ — ।
दण्डै [ᵒ] ग्राहयतैव कोटकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता
सूर्यै ने ˘ ˘ — ˘ — तट ˘ — — — ˘ — — ˘ — ॥७॥

अर्थात् लहराते और उभरे हुए बाहुवीर्य के वेग से एक ही क्षण में जिसने खेल ही खेल में **अच्युत नागसेन**······को उखाड़ कर (और) पुष्पनामक (नगर) में **कोट** वंशज को सेना से ही पकड़वाते हुए मानो सूर्य······। पुष्पनामक नगर अर्थात् पुष्पपुर या कुसुमपुर प्राचीन काल में पाटलिपुत्र ही प्रसिद्ध था। तब पद्य का अभिप्राय यह है कि एक तरफ तो समुद्र-गुप्त ने स्वयं लड़ते हुए अपने वीर्य से अच्युत, नागसेन आदि राजाओं को उखाड़ा, दूसरी तरफ पटने में अपनी सेना द्वारा ही वहाँ के कोट वंश के राजा को पकड़वा लिया। अच्युत उत्तर पंचाल का और नागसेन लगभग निश्चय से मथुरा का राजा था जिसका राज्य गंगा तक पहुँचता था। पर इन राजाओं को उखाड़ने और पटने को जीतने में परस्पर सम्बन्ध क्या था इस प्रश्न ने विवेचकों को परेशान किया है।[५१] पर ये दोनों घटनाएँ एक ही क्रिया के दो पहलू थीं यह पद्य से निश्चित है। उनका सम्बन्ध स्पष्टतः यों प्रतीत होता है कि समुद्र-गुप्त ने जब पटने पर चढ़ाई की तब उसे बचाने के लिए पच्छिम के कम से कम दो राजा बढ़े; समुद्र-गुप्त ने उन्हें रास्ते में रोक हराया और इधर उसकी सेना ने

---

५१. यथा रमेश मजूमदार (१९४६)—अलतेकर और मजूमदार द्वारा सम्पादित "वाकाटक-गुप्त युग" पृ० १४०।

पटने में घुस कर वहाँ के राजा को पकड़ लिया। यह व्याख्या जायसवालजी ने की थी और यह पूर्णतया सन्तोषजनक है। इससे बेहतर कोई व्याख्या अभी तक की नहीं गई। समुद्र-गुप्त का राज्य उस समय तक साकेत-प्रयाग में मानने से घटनाओं की पूरी संगति होती है।

जायसवालजी मथुरा राज्य को और मगध को भी प्रवरसेन के साम्राज्य के अन्तर्गत मानते थे। उस दशा में समुद्र-गुप्त का यह कार्य वाकाटक साम्राज्य के विरुद्ध उठना होता। पर हमने मगध और मथुरा का वाकाटक साम्राज्य में होना नहीं पाया, इसलिए यहाँ तक दोनों राज्यों में सीधा टाकरा हुआ नहीं मानना चाहिए।

(घ) आठवें पद्य के बाद गद्य शुरू होता है जिसमें कुछ आगे चल कर समुद्र-गुप्त के अगले विजयों की कहानी है। स्पष्टतः इन अगले विजयों के समय तक पटना लेने की बात पुरानी हो चुकी थी। और वह विजय-कहानी यों है—

कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्र-गिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराज-वैङ्गेयकहस्तिवर्मपालक्ककौग्रसेनदैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृति-सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमाहाभाग्यस्य रुद्र-देवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवर्माद्यनेकार्या-वर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिर्मालवार्जुनायनयौधेय-माद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरण-प्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रति-ष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्तयशसः दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि-शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायन-दानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधर-णिबन्धस्य ... समुद्रगुप्तस्य ... कीर्तिम् ... आचक्षाण इव ... अय-मुच्छ्रितः स्तम्भः।

अर्थात् (१) कोसल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मण्टराज, पिष्टपुर के महेन्द्र, गिरिकोट्टूर के स्वामिदत्त (अथवा पिष्टपुर के महेन्द्रगिरि, कोट्टूर के स्वामिदत्त), एरण्डपल्ल के दमन, काञ्ची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगि के हस्तिवर्मा, पालक्क के उग्रसेन, देवराष्ट्र के कुबेर, कुस्थलपुर के धनञ्जय आदि दक्खिणापथ के सब राजाओं को कैद कर छोड़ देने की कृपा से जिसका प्रताप-मिश्रित महाभाग्य पैदा हुआ, (२) रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपति नाग, नागसेन, अच्युत, नन्दी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त के अनेक राजाओं को ज़बरदस्ती उखाड़ देने से जिसका महान् प्रभाव हुआ, (३) जिसने सब आटविक राज्यों को अपना सेवक बना लिया, (४) समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमान्त राजा तथा मालव, आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खरपरिक आदि (गणराज्य) जिसके प्रचण्ड शासन को सब कर दे कर, आज्ञापालन कर और प्रणाम के लिए आ कर परितोषित करते हैं, (५) अनेक गिरे राज्यों के मिटे राजवंशों को फिर से स्थापित करने से उठा जिसका यश समूची पृथ्वी में विचर कर ही शान्त हुआ, (६) दैवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि शकमुरुण्ड आदि तथा सिंहल आदि सब द्वीपों के वासियों द्वारा अपने को (दरबार में) पेश करने, कन्याओं की भेंट और दान तथा अपने प्रदेश में राज्य करने के लिए गरुड छाप (= समुद्र-गुप्त की मोहर) वाले शासनपत्र (पट्टे) को माँगने आदि उपायों से सेवा किये गये जिसके बाहुओं के वीर्य के फैलाव ने पृथ्वी को बाँध लिया है,... उस समुद्र-गुप्त की कीर्ति को ... कहने वाला सा ... यह ... स्तम्भ खड़ा हुआ।

समुद्र-गुप्त की साम्राज्यस्थापना के कार्य को इसमें स्पष्ट छः अंशों में बाँट कर कहा है। ऐसी सीधी और नपी-तुली भाषा में यह क्रमबद्ध वृत्तान्त है कि इसमें गोलमाल की कोई गुंजाइश नहीं। पहला कार्य था दक्खिणापथ के राजाओं पर आधिपत्य स्थापित करना। दूसरा, आर्यावर्त के राज्यों को उखाड़ कर उनके इलाकों को अपने सीधे शासन में ले आना, जिसकी

तुलना महापद्म नन्द के सात शताब्दी पहले के कार्य से की जा सकती है। तीसरा, सब आटविक राज्यों को वश में करना। चौथा, पूर्वी और उत्तरी सीमा-राज्यों तथा पच्छिमी और उत्तरपच्छिमी सीमा के गणराज्यों को आधिपत्य में लेना। पाँचवाँ, अनेक गिरे राज्यों को फिर से (अपने आधिपत्य में) स्थापित होने देना। और छठा, उत्तरपच्छिमी पंजाब और अफ़गानिस्तान पर तथा सिंहल और परले हिन्द के द्वीपों पर भी किसी अंश तक आधिपत्य और प्रभाव स्थापित करना।

जिन स्थानों और राजाओं के इसमें नाम हैं उनमें से एक-एक की उधेड़बुन कर के विवेचकों ने प्रायः सब को निश्चित कर डाला है। दक्षिणापथ की चढ़ाई में समुद्र-गुप्त दक्षिण कोशल (छतीसगढ़) से बस्तर या उसके पड़ोस (महाकान्तार) से हो कर उड़ीसा और आन्ध्र होता हुआ पूर्वी तट के साथ साथ गया, कर्णाटक महाराष्ट्र में नहीं घुसा, यह प्रायः सर्वसम्मत है। आर्यावर्त के राजाओं में से चन्द्रवर्मा के बांकुड़ा प्रदेश (बंगाल) का होने की अटकल लगाई गई है, बाकी सब हिन्दी क्षेत्र के हैं। आटविक राज्य डभाल (जबलपुर प्रदेश) के आस-पास (पिछले मध्य काल के गोंडवाने में या जबलपुर के पूरब छोटा नागपुर की तरफ) थे।

समतट गंगा का मुहाना या उसके पूरब का तट था। डवाक ढाका, अथवा कामरूप के दक्खिनपूरब और सिलहट के उत्तरपूरब का नौगाँव ज़िला जिसमें अब भी डबोक नामक स्थान है। कर्तृपुर कुमाऊँ का कत्यूर या सतलज-ब्यास दोआब का करतारपुर माना गया है। मालव ढूंढाड़ (जयपुर) प्रदेश में थे; यौधेय सतलज काँठे में; माद्रक रावी-चनाब के बीच। आर्जुनायन मालवों और यौधेयों के बीच पच्छिमी ब्रज (भरतपुर आगरा) में होने चाहिएँ।

आभीर आदि पाँच गणराज्यों के स्थानों के बारे में अब तक सन्देह बाकी है। आभीरों का एक राज्य दक्खिनी गुजरात में और एक मारवाड़ में भी था; उनकी एक बस्ती अहीरवाड़ा भिलसा और झाँसी के बीच भी

है। चन्द्र-गुप्त २य के एक सनकानीक सामन्त का दानपरक लेख भिलसा के पास उदयगिरि में पाया गया है, जिससे सनकानीक जनपद के भी विदिशा के नज़दीक होने का अन्दाज़ किया गया है। पर दूर दूर से आ कर भी लोग धार्मिक दान किया करते थे। एक काकपुर भिलसा के २० मील उत्तर अब भी है। यों ये पाँचों गण विदिशा के पास-पड़ोस में मान लिये गये हैं। किन्तु नयचन्द्र सूरि के हम्मीर-महाकाव्य में उत्तरपच्छिमी पंजाब के खोकरों को खर्प्पर कहा गया है (ऊपर पृ० १०१)। चौदहवीं शताब्दी के उस कवि ने केवल वर्णसाम्य देख कर खोकर के अर्थ में खर्प्पर लिख दिया हो यह हो सकता है। पर उसके समय तक परम्परा से यह अर्थ चला आता रहा हो यह भी सम्भव है। उस दशा में यह सोचा जा सकता है कि आभीर से खरपरिक तक के गणराज्य मारवाड़ से उत्तर दिशा में मुलतान और झंग होते हुए सिन्धसागर दोआब तक फैले थे।

(ङ) समुद्र-गुप्त के "विजित" का मोटा मोटा नक्शा यों खुल जाने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आर्यावर्त और आटविक राज्यों को पूरी तरह अधीन करने से पहले ही उसने दूर दक्खिणापथ पर चढ़ाई क्यों की। यह कड़ा और महत्त्व का प्रश्न है। डा० रमेश मजूमदार कहते हैं— "यद्यपि इस (अच्युत नागसेन वाले युद्ध) के बाद दक्खिन भारत की चढ़ाई का उल्लेख है, तो भी इसपर विश्वास करना कठिन है कि समुद्र-गुप्त ने अपने पड़ोस के अनेक राज्यों को अधीन ... किये बिना अपने राज्य से इतनी दूर अभियान किया होगा। इसलिए इस गणना के क्रम पर भरोसा करना उचित न होगा" (वहीं पृ० १५४)। यों इस अत्यन्त सावधानी से गिनाये हुए घटनाओं के ब्यौरे को आप मनमाने ढंग से आगे-पीछे करना चाहते हैं! समुद्र-गुप्त के कार्यों का क्रम उसके समय के राजनीतिक नक्शे के अनुसार था। यदि हमें उस क्रम में संगति नहीं दिखाई देती तो मानना चाहिए कि हमारा उसके पहले का नक्शा ठीक नहीं बना है। मगध मिथिला अवध के राजा ने उपरले गंगा काँठे से

निपटने के पहले पूरबी दक्खिन पर चढ़ाई की, इसी से यह प्रकट है कि उस समय भारत के मध्य भाग में कोई साम्राज्य उपस्थित था, जिससे बाजी लिये बिना वह उत्तर भारत को भी न जीत सकता था और जिसके पूरबी दक्खिन वाले पहलू को सब से पहले काट लेने में उसे सुविधा दिखाई दी थी। क्या अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बंगाल-बिहार-बनारस के अंग्रेज राज्यकर्त्ताओं ने मराठा साम्राज्य पर गंगा-जमना दोआब में चोट करने से पहले उसके आन्ध्र तमिळनाड वाले पहलू को ले लेना सुविधाजनक नहीं माना था? प्रयाग स्तम्भ-लेख से यह स्पष्ट प्रकट है कि समुद्रगुप्त को अपना कार्य बराबर वाकाटक साम्राज्य को ध्यान में रखते हुए करना पड़ा था।

डा० अल्तेकर ने वाकाटक साम्राज्य के विस्तार और महत्त्व को डा० मजूमदार से अधिक माना है (वहीं, सम्पादकीय प्रस्तावना पृ० ११)। पर वे भी वाकाटक और गुप्त साम्राज्य का टाकरा हुआ नहीं मानते—उसे यत्नपूर्वक बचाते हैं। दक्षिण कोशल और आन्ध्र के प्रवरसेन के साम्राज्य में रहने का उन्होंने अन्दाज़ किया है, और इन प्रदेशों को समुद्रगुप्त ने भी जीता। पर वे कहते हैं प्रवरसेन के बाद ये प्रदेश स्वतन्त्र हो गये होंगे तथा समुद्र-गुप्त ने उसके दस बीस बरस बाद, लग० ३६० ई० में, चढ़ाई की होगी (पृ० १०५)। म० म० मिराशी ऐसी अस्वाभाविक कल्पना नहीं करते। वे स्पष्ट कहते हैं—"इन गुप्त विजयों से वाकाटक वंश ... की शक्ति और प्रतिष्ठा को गहरी ठेस लगी। महाकान्तार के व्याघ्रराज, ... कुराळ के मण्टराज, पिष्टपुर ... के महेन्द्रगिरि और अन्य कितने ही राजाओं ने जो कलिंग और आन्ध्र में राज कर रहे थे, वाकाटकों का जूआ उतार फेंका और गुप्त सम्राट् की अधीनता मान ली।"[५२]

सागर जिले में एरण (अरिकिण) नामक स्थान बुन्देलखंड का पच्छिमी

५२. वा० वि० मिराशी (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० १४।

द्वार है। समुद्र-गुप्त ने उसपर चढ़ाई की थी; उसकी रानी के वहाँ बनवाये मन्दिर और उसमें खुदवाये अभिलेख के खँडहर अब भी विद्यमान हैं। डा० अल्तेकर ने विदिशा और गंज-नाचना के बीच के इस ठेठ विन्ध्य प्रदेश पर विन्ध्यशक्ति का प्रभुत्व जो नहीं माना सो प्रकटतः समुद्र-गुप्त और वाकाटक राज्य का टाकरा बचाने के लिए ही। पर हम देख चुके हैं कि वह स्थापना किसी तरह ठीक नहीं हो सकती (ऊपर १)। अल्तेकर कहते हैं कि समुद्र-गुप्त अपने राज्य से एरण तक पद्मावती झाँसी या कौशाम्बी चित्रकूट झाँसी के रास्ते आया होगा, प्रयाग कटनी के रास्ते नहीं (पृ० १०७), अर्थात् गंज-नाचना वाले वाकाटक प्रदेश को बचा कर आया होगा। ठीक। किन्तु आपके मत से जिस जबलपुर प्रदेश के आधार से प्रवरसेन ने गंज-नाचना प्रदेश लिया था, उसे भी तो समुद्र-गुप्त ने जीत लिया था। और यदि प्रवरसेन के बाद वाकाटक आपसे आप इतने कमज़ोर हो गये थे कि दक्षिण कोशल और आन्ध्र के स्थानीय राजा उनका आधिपत्य उतार फेंक सकते थे, तो समुद्र-गुप्त ने गंज-नाचना प्रदेश वाली नोक अपने साम्राज्य के भीतर क्यों बचाये रक्खी? अल्तेकर कहते हैं कि वाकाटक आगे चल कर उपयोगी मित्र होंगे यह सोच कर समुद्र-गुप्त ने उन्हें नहीं छेड़ा (पृ० १०७-१०८)। उपयोगी मित्र अपनी राजनीतिक शक्ति के कारण ही न? पर यदि वे प्रवरसेन के बाद एकाएक क्षीण हो गये थे तो समुद्र-गुप्त के लिए उपयोगी मित्र कैसे होते? क्षीणता और उपयोगिता में संगति कैसे बैठती है?

प्रवरसेन ने सम्राट्-पद धारण किया था; उसके बाद उसके किसी वंशज ने नहीं किया। इससे भी स्पष्ट प्रकट है कि वाकाटकों के हाथ से साम्राज्य निकल गया। अल्तेकर कहते हैं (पृ० १०५-१०६) कि वाजपेय यज्ञ करने से सम्राट्-पद मिलता था (**राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति, सम्राट् वाजपेयेन**।—शतपथ ब्राह्मण ५,१,१,१३), रुद्रसेन ने वाजपेय नहीं किया, इसलिए सम्राट्-पद नहीं लिया! क्या खूब! पर उसने वाजपेय क्यों नहीं किया?

जायसवालजी ने प्रयाग स्तम्भलेख में के घटनाक्रम की यों व्याख्या की थी कि समुद्र-गुप्त ने वाकाटक साम्राज्य का पूरबी पहलू तोड़ लेने के बाद उसके केन्द्र—एरण—पर चढ़ाई की जिसमें वाकाटक शक्ति टूट जाने पर आर्यावर्त के राज्यों की सफाई की। जमना-गंगा काँठों पर जायसवालजी ने प्रवरसेन का जैसा आधिपत्य माना था, वैसा नहीं था; फिर भी महाराष्ट्र बुन्देलखंड मालवा गुजरात और शायद राजस्थान भी जिस शक्ति के वश में रहे हों उसका उन काँठों पर प्रभाव पड़े बिना न रह सकता था, वह जब कभी उनमें हस्तक्षेप कर सकती थी। उसके अतिरिक्त, भारशिवों के सम्बन्ध द्वारा भी वाकाटकों का प्रभाव उन काँठों पर रहा होगा। इसलिए वाकाटक साम्राज्य की शक्ति तोड़े बिना समुद्र-गुप्त अपना साम्राज्य स्थापित न कर सकता था।

आर्यावर्त के राजाओं में जो पहला नाम रुद्रदेव है, जायसवालजी का कहना था कि वह रुद्रसेन वाकाटक का ही है, जिसके साथ देव शब्द अधिक सम्मान दिखाने के लिए लगाया गया है। रुद्रसेन एरण की लड़ाई में मारा गया होगा। अल्तेकर कहते हैं यदि वाकाटक राजा को समुद्र-गुप्त ने युद्ध में मारा होता तो वह बात स्तम्भलेख में बड़े विस्तार-अलंकार के साथ कही गई होती, केवल चार अक्षरों में न निपटा दी गई होती। फिर रुद्रसेन का बेटा पृथ्वीषेण अपने बेटे के साथ समुद्र-गुप्त की पोती का विवाह करना क्या पसन्द करता?

पर राजनीति क्या सदा अस्थिवैर के सिद्धान्त पर चलती है? इतिहास में गुप्त सम्राटों के चरित की जो मुख्य विशेषता दिखाई देती है वह हैं ऊँचे दर्जे की वीरता के साथ साथ वैसी ही उदारता भी। चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य जैसे विजेता की ही यह हिम्मत थी कि उसने अपने राज्य से मृत्युदण्ड उठा दिया। गुप्त साम्राज्य केवल शस्त्रों के बल पर नहीं खड़ा हुआ था। विजय के समय संयम से काम लेना प्रकटतः गुप्त सम्राटों की प्रकृति में ही था। रुद्रसेन की मृत्यु की बात जो प्रयाग स्तम्भलेख में अलंकारपूर्वक नहीं कही, गंज-नाचना प्रदेश जो वाकाटकों से नहीं छीना,

और अपनी लड़की दे कर जो उनके साथ सम्बन्ध जोड़ा, यह सब गुप्त साम्राज्य की उदार सयानी नीति के अनुरूप था। गंज-नाचना प्रदेश प्रकटतः वाकाटकों का 'वतन' था। प्रायः सब तरफ से गुप्त साम्राज्य से घिर जाने के बाद नाकेबन्दी की दृष्टि से उसका विशेष मूल्य नहीं रहा था, तो भी वाकाटकों की भावनाएँ उसमें टँकी थीं। ऐसा जान पड़ता है कि भारत की साम्राज्य-शक्ति वाकाटकों के हाथ से अपने हाथ में लेने के लिए जहाँ तक उनपर चोट लगाना आवश्यक था वहाँ तक लगा चुकते ही समुद्र-गुप्त ने अपना हाथ रोक लिया और पूरे संयम से काम लेते हुए उन्हें समझाने-मनाने की कोशिश की। इसके बाद से गुप्त और वाकाटक राज्यों की शक्ति एक दूसरे से टकरा कर चूर होने के बजाय एक सूत्र में बँध कर भारतीय साम्राज्य की बुनियाद बनी। यही उदार दूरदर्शिता की नीति थी जिसके आधार पर गुप्तों का भारतीय साम्राज्य खड़ा हुआ। डा० अल्तेकर का यह कहना बिलकुल ठीक है कि समुद्र-गुप्त ने वाकाटक राज्य को उपयोगी मित्र मान कर अपनी नीति निर्धारित की। परन्तु उस नीति के कार्य में परिणत होने का यह मार्ग नहीं था कि समुद्र-गुप्त ने वाकाटक साम्राज्य को छुआ ही नहीं, प्रत्युत यह कि दो-तीन चोटों से उसे यह बतला कर कि वह अब भारत की प्रमुख शक्ति बना नहीं रह सकता, फिर उदार बर्ताव से उसे अपना सहायक बना लिया। इस नीति को चरितार्थ कर दिखाने में समुद्र-गुप्त और चन्द्र-गुप्त की जो योग्यता प्रकट होती है, वह सैकड़ों लड़ाइयों में उन्हें उतारने (समरशतावतरणदक्ष) और पार लगाने वाली उनकी वीरता से भी कहीं ऊँची थी।

प्रयाग स्तम्भलेख की जो व्याख्या जायसवालजी ने की उससे बेहतर व्याख्या नहीं की जा सकती। समुद्र-गुप्त के महाराष्ट्र-कर्णाटक पर चढ़ाई न करने से, रुद्रसेन के सम्राट् पद धारण न करने से, प्रयाग स्तम्भलेख में वर्णित घटनाओं के क्रम से तथा रुद्रसेन २य और प्रभावती के विवाह से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि गुप्तसाम्राज्य के उदय से पहले वाकाटक साम्राज्य उपस्थित था और कि गुप्तों ने उससे बाजी ले कर उसे अपना

सहायक बना लिया।

(च) पृथ्वीषेण १म के समय वाकाटक वंश की छोटी शाखा के राजा विन्ध्यसेन द्वारा कुन्तल (उत्तरी कर्णाटक) के जीते जाने की बात ताम्रपत्रों में दर्ज है। आवश्यक नहीं कि इसे वाकाटकों द्वारा पहली बार कुन्तल का विजय माना जाय। सम्भावना यह है कि कुन्तल प्रवरसेन के समय से वाकाटक साम्राज्य में था, समुद्र-गुप्त से रुद्रसेन की हार होने पर वाकाटकों की कठिनाई के समय उसे कादम्ब राजा ने दबा लिया और विन्ध्यसेन ने फिर से जीता।

८. पच्छिमी क्षत्रप और गुप्त सम्राट्

हम देख चुके हैं कि ३३२ ई० में पच्छिमी क्षत्रप राज्य का अन्त हो गया था, पर लग० ३४४ ई० में फिर एक महाक्षत्रप उठ खड़ा हुआ था, जिसके बेटे स्वामी रुद्रसेन ३य ने ३४८ ई० से सिक्के चलाना शुरू किया था (ऊपर ३ ङ)।

क्षत्रप सिक्कों की जो ढेरियाँ पाई गई है उनसे सिद्ध हुआ है कि इस रुद्रसेन के चार वर्ष राजगद्दी पर रहने के बाद ३५१ ई० में इसके राज्य में एकाएक क्रान्ति हो गई, जिससे दस-बारह बरस तक इसका सिक्का चलना बन्द रहा, पर उसके बाद फिर चलने लगा। जूनागढ़ के पास उपरकोट में क्षत्रप सिक्कों की एक ढेरी गत शताब्दी के अन्त में मिली थी। उस ढेरी में रुद्रसेन ३य के ६० सिक्के थे, पर वे सब २७० से २७३ शकाब्द (३४८–३५१ ई०) के ही थे; उसके बाद का कोई नहीं। उस ढेरी की पहलेपहल परीक्षा करने वाले पादरी स्कौट ने १८६९ ई० में इस बारे में लिखा था कि "इन सिक्कों में से बहुत से, विशेष कर पिछले वर्षों वाले, बिलकुल ताजे टकसाल से निकले हुए और अनघिसे हैं। इन कारणों से ··· यह परिणाम निकालना उचित होगा कि यह ढेरी रुद्रसेन के राज्य के पहले अंश के अन्त में गाड़ी गई थी और कि बहुत सम्भवतः इस धन को गाड़ने का कारण यह था कि उस समय राज्यक्रान्ति हुई थी

जिससे जानमाल सुरक्षित न थे।"

स्कौट के यह लिखने के १२ वर्ष बाद सन् १६११ में बाँसवाड़ा (मेवाड़) के सर्वाणिया गाँव से २३६३ क्षत्रप सिक्कों की ढेरी पाई गई। वह भी ठीक २७३ शकाब्द (३५१ ई०) में गाड़ी गई थी क्योंकि उसके बाद का कोई सिक्का उसमें नहीं था, और उसमें भी रुद्रसेन के ४४ सिक्के वैसी ही हालत में पाये गये। इससे यह परिणाम निकला कि ३५१ ई० में रुद्रसेन के समूचे राज्य में एक साथ और एकाएक क्रान्ति हुई थी, मानो कोई बाहरी आक्रान्ता बिजली की तरह गिरा हो, जिससे सभी जगह लोग अपना धन छिपाने का यत्न कर रहे थे।

मैं अपने पूर्वोक्त लेखों[५३] में इससे इस परिणाम पर पहुँचा था कि प्रवरसेन द्वारा दबा दिया गया जो महाक्षत्रप वंश उसकी मृत्यु होते ही फिर उठ खड़ा हुआ था, वह सात वर्ष तक जारी रहा जब तक कि समुद्रगुप्त वाकाटक साम्राज्य से निपटने में लगा था। किन्तु वाकाटकों से छुट्टी पाते ही अर्थात् दक्षिणापथ और एरण की चढ़ाइयों, आर्यावर्त के राज्यों को समथर करने और आटविक राज्यों को सेवक बनाने के बाद समुद्रगुप्त ने एकाएक गुजरात-काठियावाड़ पर टूट कर इस नये राज्य को मिटा दिया। उसके पूर्ववर्ती साम्राज्य द्वारा जो राज्य दबा दिया गया था और उस साम्राज्य के शिथिल होते ही फिर उठ खड़ा हुआ था, वह एक प्रकार का विद्रोही था जिसे दबाना नये सम्राट् का कर्त्तव्य ही था।

३६० या ३६४ ई० से स्वामी रुद्रसेन ३य के सिक्के फिर चलते हैं जो ३७६ तक जारी रहते हैं। उसके बाद उसका भानजा सिंहसेन उसका उल्लेख इस प्रकार करता है मानो रुद्रसेन ३य किसी का सामन्त रहा हो। रुद्रसेन के ये पिछले सिक्के एवं सिंहसेन और रुद्रसेन ४र्थ के सिक्के पुष्कर प्रदेश से मिले हैं, सुराष्ट्र से नहीं। समुद्रगुप्त के जो कार्य प्रयाग स्तम्भ-लेख के गद्य भाग में गिनाये गये हैं उनमें से पाँचवाँ है "अनेक

५३. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३७, १९४१)—दे० ऊपर टिप्पणी ३७।

गिरे राज्यों के मिटे राजवंशों को फिर से स्थापित करना"। मेरा कहना था कि इसमें इस क्षत्रप राजवंश की ओर निर्देश है, कि यह उन राजवंशों में से एक था जिन्हें समुद्र-गुप्त ने अपने सामन्त रूप में फिर से स्थापित होने दिया।

डा० अल्तेकर ने मेरे इन लेखों को नहीं देखा और सुनासुनी इस मत को जायसवालजी का सुझाव कह कर उद्धृत किया है (वहीं पृ० ६१)। जायसवालजी ने इस विषय पर कुछ नहीं लिखा था। अल्तेकर कहते हैं कि पूर्वी मालवे के काक और सनकानीक समुद्र-गुप्त के पच्छिमी पड़ोसी थे, उनके प्रदेशों को लाँघ कर समुद्र-गुप्त ने गुजरात-काठियावाड़ पर चढ़ाई की हो यह सम्भावित नहीं लगता; और की ही तो प्रयाग स्तम्भलेख में पच्छिमी भारत के शकों को कुचल देने का उल्लेख क्यों नहीं है। पर काक और सनकानीक समुद्र-गुप्त के पूरे सामन्त थे, तथा प्रयाग स्तम्भलेख में इस बात की ओर निर्देश तो पहले ही दिखाया जा चुका है। आप कहेंगे स्पष्ट शब्दों में पच्छिमी क्षत्रपों का उल्लेख क्यों नहीं है? सो इस कारण कि आज हमने उस क्षत्रप वंश को जितने महत्त्व का मान रक्खा है, २९५ ई० में प्रवरसेन द्वारा सामन्त बना लिये जाने और ३३२ ई० में पदच्युत कर दिये जाने के बाद चौथी शताब्दी के लोगों को वह उतने महत्त्व का न लगता था; उस युग के लोगों की दृष्टि में वह केवल छः-सात वर्ष (३४४—३५१) से खड़ा हुआ विद्रोही था। चन्द्र-गुप्त २य द्वारा पच्छिमी क्षत्रप वंश के उखाड़े जाने का स्पष्ट उल्लेख क्या किसी अभिलेख में है? संकेत मात्र ही तो है। स्वयं डा० अल्तेकर यह स्वीकार करते हैं कि इस बात की कोई भी व्याख्या उनसे नहीं बन पाती कि ३५१ ई० से लग० ३६४ ई० तक क्षत्रप सिक्का फिर क्यों बन्द रहा (पृ० ६२)।

३८२ ई० के बाद फिर एक नया क्षत्रप वंश उठता है। प्रकटतः समुद्र-गुप्त की मृत्यु के बाद राम-गुप्त के समय की हार और गड़बड़ में उसे उठने का अवसर मिला। चन्द्र-गुप्त २य ने अपने वाह्लीक

(बलख) विजय से लौट कर उसका निपटारा कर दिया। राम-गुप्त का अपमान करने वाले शकाधिपति को सन् १६२८-२६ में डा० अल्तेकर ने इन्हीं पच्छिमी क्षत्रपों में से कोई समझा था (दे० ऊपर पृ० ७६-७७)। पर १६४६ तक उन्होंने न केवल उस विचार को छोड़ दिया, प्रत्युत उत्तर-पच्छिमी पंजाब और अफ़गानिस्तान के शासकों में से कौन राम-गुप्त का विरोधी रहा होगा यह खोजने का यत्न भी किया।[५४] प्रकृत विषय के लिए इस तथ्य को पहचान लेना आवश्यक है कि ३४५ से ३८८ ई० तक जो क्षत्रप सरदार पच्छिमी भारत में उठते रहे, उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।

९. वाकाटक क्षत्रप और गुप्त इतिहास की कुछ तिथियाँ

गुप्त संवत् का आरम्भ ३२० ई० में होता है और उसे हाल तक चन्द्र-गुप्त १म के अभिषेक से चला माना जाता रहा है। गया से एक ताम्रपत्र गुप्त सं० ६ का समुद्र-गुप्त के समय का मिला था, पर उसकी लिपि पीछे की—हर्षवर्धन के युग की सी—लगती थी, इसलिए उसे जालसाज़ी माना जाता था। पर इधर नालन्दा से एक और ताम्रपत्र समुद्र-गुप्त के समय का गुप्त सं० ५ का मिला। कुछ विवेचक उसे भी जालसाज़ी कहते हैं, पर अधिकतर विद्वानों का मत वैसा नहीं है। इसके अतिरिक्त समुद्र-गुप्त का सिंहल के राजा मेघवर्ण का समकालिक होना सुविदित है। एक चीनी ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख है कि मेघवर्ण ने समुद्र-गुप्त के पास दूत भेज कर बुद्ध-गया में सिंहली विहार बनवाने की इजाज़त पाई थी। मेघवर्ण के समय के विषय में भी मतभेद रहा है। पर सिंहल-विषयक चीनी निर्देशों के आधार पर स्व० प्रो० सिल्व्याँ लेवी ने सिंहली इतिहास पर जो प्रकाश डाला और इधर सिंहल की पुरातत्त्व-खोज की प्रगति के आधार पर श्री सेनरत पर्णवितान ने इस युग

---

५४. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० २२-२३।

के सिंहली इतिहास का जो चित्र खींचा है,[५५] उसके बाद मतभेदों के लिए कोई गुंजाइश रही दिखाई नहीं देती। श्री पर्णवितान ने मेघवर्ण का समय ३०४–३३२ ई० रक्खा है। उस हिसाब से समुद्र-गुप्त का अभिषेक ३२० ई० में ही मानना चाहिए।[५६]

जायसवालजी ने प्रवरसेन की मृत्यु ३४४ ई० में रक्खी थी, और जैसा कि हमने (ऊपर ३ ङ) देखा, पच्छिमी क्षत्रप सिक्कों के उतार-चढ़ाव से उसकी पुष्टि होती है। गुप्त राजाओं के पुराने तिथि-क्रम के अनुसार तथा मगध और उपरले गंगा काँठे को प्रवरसेन के साम्राज्य में मानते हुए उन्होंने यह माना था कि प्रवरसेन की मृत्यु होते ही समुद्र-गुप्त ने पटना लिया, उसके बाद दक्खिन चढ़ाई की और फिर एरण चढ़ाई। गुप्तों के पुराने तिथिक्रम के साथ-साथ हमें मगध और उपरले गंगा काँठे के प्रवरसेन के अधीन होने की स्थापना भी छोड़नी चाहिए। यों अब यह मानना होगा कि समुद्र-गुप्त की पटना चढ़ाई तो ३२० ई० के लगभग हुई; पर मगध के राजा से भारत का सम्राट् बनने के बाकी सब कार्य उसने प्रवरसेन की मृत्यु के बाद किये। प्रवरसेन की मृत्यु होते ही एक तरफ उसने दक्षिणापथ पर चढ़ाई की, दूसरी तरफ पच्छिम में एक महाक्षत्रप उठ खड़ा हुआ। वाकाटक साम्राज्य के पूरबी और पच्छिमी पहलू यों टूट गये। समुद्र-गुप्त ने उसके बाद के छः वर्षों में वाकाटक साम्राज्य से बुन्देलखंड भी ले कर, मध्यदेश के पुराने राज्यों को उखाड़ वहाँ अपना दृढ शासन स्थापित कर, मगध के दक्खिन के आटविक राज्यों को पूरी तरह वशंवद बना कर, तथा वाकाटक राज्य के पास पूरबी बुन्देलखंड छोड़ उससे समझौता कर अपने को सम्राट् पद पर प्रवरसेन के उत्तराधिकारी रूप में इस प्रकार प्रतिष्ठित कर लिया कि

५५. से० पर्णवितान (१९४६)—अल्तेकर और मजूमदार द्वारा सम्पादित वाकाटक-गुप्त युग, पृ० २५१–२६४।

५६. डा० रमेश मजूमदार का वही मत है, पर कुछ डगमगाहट के साथ, और वे सिंहल इतिहास के पुराने मतभेदों का उल्लेख करते हैं। वहीं पृ० १४९।

३५१ ई० में वह साम्राज्य के पच्छिमी पहलू (गुजरात-काठियावाड़) को भी फिर से साम्राज्य में मिला सका ।

लृ. चन्द्र-गुप्त का वाह्लीक-विजय, विष्णुपद और वृजिस्थान

[दे० ऊपर पृ० ७०-७१, ७५–७७]

१. ईरान और भारत के सम्राट् तथा किदार

(क) लग० २३० ई० से ३६० ई० तक भारत के पच्छिमी और उत्तरपच्छिमी प्रदेशों के इतिहास का आलोचन ऊपर (इ, उ तथा ऋ ३, ५, ६, ८, ६ में) किया गया है। हमने देखा कि लग० २३८ ई० में सासानी सम्राट् ने हिन्दूकुश के उत्तर के प्रदेश और लग० २८४ ई० में शकस्थान और सिन्ध जीत लिये थे। फिर २९३ ई० में सासानियों का गृह-युद्ध हुआ, जिसमें अवन्ति के राजा ने, जो प्रकटतः सम्राट् प्रवरसेन ही था, अपनी सेना भेजी। उस युद्ध में अवन्ति-राज ने जिसका पक्ष लिया उसकी जीत नहीं हुई; होती तो शायद सिन्ध भारत के साम्राज्य में वापिस आ जाता। तो भी उस युद्ध के तुरत बाद प्रवरसेन ने सुराष्ट्र को अपने साम्राज्य में ले लिया।

फिर अन्दाज़न ३२० ई० के बाद अफगानिस्तान का कनिष्क-वंशी राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। लग० ३४५ ई० में ऋषिक सरदार किदार ने बलख से हिन्दूकुश के दक्खिन आ कर उन पाँच टुकड़ों को अधीन कर पेशावर में नये ऋषिक राज्य की नींव डाली; पर ३५६ और ३५८ ई० के बीच सासानी सम्राट् ने इसपर भी अपना आधिपत्य जमा लिया।

(ख) देखना चाहिए कि इसी समय तो समुद्र-गुप्त भी भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा था। समुद्र-गुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख में जिस दैवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि का उल्लेख है वह किदार ही होना चाहिए। उसके आगे जो शकमुरुण्ड का उल्लेख है उससे पंजाब का कोई शक सरदार अभिप्रेत होना चाहिए। एक गडहर राजा के सिक्कों पर समुद्र

नाम अंकित पाया जाता है।[५७] हमें यह भी याद रखना चाहिए कि समुद्र-गुप्त के समय से पहले मध्य पंजाब (शाकल = स्यालकोट) में माद्रक गण का और सतलज काँठे में यौधेय गण का राज्य खड़ा हो चुका था, और कि वे दोनों गणराज्य समुद्र-गुप्त के आधिपत्य में थे। यौधेय गण तो निश्चय से तीसरी शताब्दी से विद्यमान था, पर माद्रक गण की विद्यमानता की सूचना समुद्र-गुप्त के प्रयाग स्तम्भलेख से ही मिलती है। इसलिए यह भी सम्भावना है कि माद्रक गण को समुद्र-गुप्त ने ही उत्तर-पच्छिम की शक्तियों का मुकाबला करने के लिए खड़ा किया हो।

आरमीनी ऐतिहासिक फाउस्तोस ने लिखा है कि ३६७-६८ ई० में कुषाण-सासानी युद्ध हुआ; युद्ध कुषाण राजा ने ही छेड़ा। एक लड़ाई में तो उसने पूरी सासानी सेना का संहार कर दिया, और दूसरी में, जिसमें स्वयं शाहपुह्र २य सेना का नेतृत्व कर रहा था, शाहपुह्र को मैदान से भगा दिया। मार्टिन ने फ़ाउस्तोस का यह लेख उद्धृत कर दिखाया है कि किदार के सिक्कों की यह कैसी खूबी से व्याख्या करता है। किदार के पहले नमूने के सिक्कों पर उसका चेहरा दाहिने-रुख एकचश्मी है; दूसरे नमूने के सिक्कों पर चेहरा दोचश्मी है। वे ही अधिक पाये जाते हैं और उनसे किदार का सासानियों से स्वतन्त्र हो जाना सिद्ध है।[५८]

यों ३६७-६८ ई० में किदार ने जो सासानी सम्राट को चुनौती दी और हराया सो प्रकटतः समुद्र-गुप्त से शह और सहायता पा कर, उसे अपना अधिपति मान कर।

(ग) किदार के सिक्कों के साथ-साथ ठीक उसी नमूने के सिक्के मिलते हैं, जिनपर ब्राह्मी में लिखा होता है **शा पिरोस** (= शाहि पिरो का) अथवा **शाहि पिरो**। राजा का चेहरा उसी तरह दोचश्मी है। ये पिरो के पहले नमूने के सिक्के हैं। उसके दूसरे नमूने पर चेहरा दाहिने-

---

५७. राखालदास बनर्जी (१९०८)—पूर्वोक्त (ऊपर टि० ५), पृ० ९३।

५८. एफ़. सी. मार्टिन (१९३८)—पूर्वोक्त (ऊपर टि० २५), पृ० २८, ३२, ३८।

रुख एकचश्मी तथा पह्लवी में उसका नाम और ब्राह्मी में केवल पि लिखा होता है। दोचश्मी चेहरे वाले सिक्के पिरो की अपेक्षा किदार के अधिक मिलते हैं। किदार और पिरो के उक्त दो-दो नमूनों के सिक्कों के अतिरिक्त वरह्रान के एकचश्मी चेहरे वाले सिक्के उन्हीं के साथ मिलते हैं जिनपर पह्लवी में **लुर वरह्रान** अथवा **वरह्रान अपज़न** तथा ब्राह्मी में **पि, ना, नदक, नदय** अथवा **नद** लिखा रहता है। वरह्रान का मुकुट और वेशभूषा पिरो से मिलते-जुलते हैं, किदार से नहीं।

मार्टिन ने इन बातों से ये परिणाम निकाले (१) कि किदार का उत्तराधिकारी पिरो था, उसका वरह्रान, (२) कि पिरो को किदार से स्वतन्त्र राज्य का उत्तराधिकार मिला, पर पीछे वह उसे खो कर सासानी सामन्त बन गया (३) कि किदार की अपेक्षा पिरो कम समय स्वतन्त्र रहा, अतः पिरो को ३७५–३८० ई० के बीच कभी गद्दी मिली, और (४) कि वरह्रान भी सासानियों का सामन्त रहा। ये सब परिणाम बहुत युक्त प्रतीत होते हैं।

(घ) अब यह प्रश्न आता है कि पिरो को किस सासानी शाह ने अपना सामन्त बनाया। शाहपुह्र २य का उत्तराधिकारी अर्दशीर २य था (३७६–८३ ई०)। उसका शाहपुह्र २य से क्या सम्बन्ध था सो मालूम नहीं है; वंशवृत्त में उसे अन्दाज़ से भाई के स्थान पर रख दिया गया है। अर्दशीर २य के बाद शाहपुह्र ३य शाहानशाह रहा (३८३–८८ ई०) और फिर उसका भाई या बेटा वरह्रान ४र्थ (३८८–९६ ई०)।

किदार कुषाण सिक्कों के उपर्युक्त पाँच मुख्य नमूनों के अतिरिक्त गन्धार से बहुत कुछ उसी तरह के अनेक क्षत्रपों के भी सिक्के मिले हैं। ये क्षत्रप किदार या उसके दो उत्तराधिकारियों के हों या सासानियों के। इन क्षत्रपी सिक्कों में से कुछ पर दोचश्मी चेहरे हैं, कुछ पर एकचश्मी। मार्टिन का कहना है इनमें से जो दोचश्मी हैं वे उस क्षत्रप की अथवा उसके अधिपति किदार या पिरो की सासानियों से स्वतन्त्रता सूचित करते हैं (पृ० ३३, परिच्छेद २७)। इसका यह अर्थ हुआ कि

कोई सामन्त अपने सिक्के पर अपना दोचश्मी चेहरा न छापे यह नियम सासानी साम्राज्य में ही था, उसके बाहर क्षत्रप भी अपना चेहरा दोचश्मी छापते थे। पर उन्हें क्षत्रप माना ही क्यों जाय? जब दोचश्मी चेहरा छपा है तब स्वतन्त्र राजा ही क्यों न माना जाय? इसका उत्तर यह होगा कि बन्नू से पाये जाने वाले तांबे और चाँदी के सिक्कों पर दोचश्मी चेहरा है, पर साथ ही स्पष्ट ब्राह्मी अक्षरों में लिखा है **क्षत्रप तरिक**। सो तरिक अपने को स्वयं क्षत्रप कहता है, और उसका चेहरा दोचश्मी छपा है इसलिए वह सासानी शाह का क्षत्रप नहीं था।

पर इसी क्षत्रप तरिक का एक सिक्का ऐसा भी है जिसमें उसका चेहरा एकचश्मी दाहिने-रुख है। मार्टिन कहते हैं उसका मुकुट भी अर्दशीर २य जैसा है। कुछ और सिक्कों पर जिन्हें निकालने वाले क्षत्रपों के नाम पढ़े नहीं गये शाहपुह्र ३य का सा मुकुट है। इस आधार पर मार्टिन कहते हैं कि पिरो से गन्धार का कम से कम एक ज़िला—बन्नू—अर्दशीर २य ने वापिस ले कर वहाँ अपना क्षत्रप बिठाया—अर्थात् तरिक को अपना क्षत्रप नियत किया; फिर शाहपुह्र ३य ने बाकी ज़िले भी ले कर पिरो को अपना सामन्त बनाया (वहीं पृ० ३८, परिच्छेद ३६)।

यह युक्तिपरम्परा बहुत ही कच्ची है। तरिक के एकचश्मी चेहरे वाले एक सिक्के पर उसका मुकुट अर्दशीर २य का सा है; बाकी दोचश्मी चेहरों पर क्या वैसा ही मुकुट नहीं है? सासानी साम्राज्य के भीतर एकचश्मी दोचश्मी चेहरा छापने का इतना बड़ा अर्थ रहा हो, उसके बाहर जब वैसा अर्थ नहीं था तब क्षत्रप तरिक ने कभी अपना चेहरा दोचश्मी छापा कभी एकचश्मी इससे कोई विशेष अर्थ नहीं निकल सकता। और वेशभूषा की नकल निश्चय से सामन्त हुए बिना भी हो सकती थी। यह सिद्ध करने के लिए स्पष्ट उदाहरण है। पिरो के पहले नमूने के दोचश्मी चेहरे वाले सिक्के निश्चय से उसकी स्वतन्त्र प्रभुता के सूचक माने गये हैं। पर उन सिक्कों पर भी पिरो की वेशभूषा सासानी शैली की है। किदार का चेहरा सिक्कों पर सफाचट है; पर पिरो का सासानियों की सी गुच्छे-

दार घनी दाढ़ी-मूँछ से घिरा—कालिदास के शब्दों में मधुमक्खियों से घिरे शहद के छत्ते की तरह—है, दाढ़ी की नोक ठीक सासानी चाल से छल्ले में से गुज़ारी गई है। और तत्रप तरिक का चेहरा उसके सभी सिक्कों पर सफाचट है। फलतः केवल वेशभूषा की समानता से आधिपत्य सिद्ध नहीं हो सकता जब तक उसके समर्थन के लिए और प्रमाण भी न हों। बन्नू जीतने के लिए अर्दशीर २य को सारा अफगान पठार लाँघ कर आना होता, पर उसके अफगानिस्तान फिर से जीतने का कोई भी प्रमाण नहीं है। डा० अल्तेकर ने प्रकटतः यही देखते हुए मार्टिन को इस स्थापना की उपेक्षा की; पर डा० रमेश मजूमदार ने इसे (अर्दशीर २य द्वारा गन्धार का एक ज़िला जीते जाने की बात को) बिना जाँचे दोहरा दिया है।

(ङ) शाहपुह्र २य के अफगानिस्तान और गन्धार पर आधिपत्य जमाने के प्रमाण हैं। जैसा कि मार्टिन ने लिखा है, एच० एच० विल्सन ने १८४१ में ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि शाहपुह्र २य का पद योद्धा या लड़ाकू था, किन्तु उसने रोम से तो शान्ति बनाये रक्खी, इसलिए पूरब तरफ ही लड़ा होगा। दूसरे अफगानिस्तान के हड्डु[५९] स्तूप की धातुमंजूषा में उसके काफी सिक्के मिले थे। इमारतों की नींव में समकालीन राजा के सिक्के रखने की प्रथा हमारे देश में पुरानी है, इस लिए शाहपुह्र २य का ठेठ अफगानिस्तान पर अधिकार सिद्ध होता है।

(च) डा० अल्तेकर ने लिखा है कि जहाँ शाहपुह्र २य ने पिरो को पच्छिम से दबाया, वहाँ चन्द्रगुप्त २य ने उसे पूरब से दबाया। उनका यह भी अन्दाज़ है कि राम-गुप्त को घेर कर लाञ्छित करने वाला 'शकाधिपति' पिरो ही था।[६०] पर राम-गुप्त को जिस शकाधिपति ने पंजाब के पहाड़ी

५९. इस स्थान का नाम अंग्रेज़ी में जैसे लिखा जाता है उससे लोग उसे "हिड्डा' पढ़ते हैं। पर स्थानीय उच्चारण हड्डु है, और उस नाम की यही व्याख्या वहाँ के लोग करते हैं कि वहाँ हड्डियाँ (बुद्ध के शरीर-धातु) हैं।

६०. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० २३-२४।

गढ़ में घेरा था, वह वहीं चन्द्रगुप्त के हाथ मारा गया था। अतः इस अंश में कहानी के दो पहलू ठीक नहीं जुड़े।

इसलिए यदि यों कहा जाय कि समुद्र-गुप्त की मृत्यु के बाद शाहपुह्र ३य ने पिरो पर चढ़ाई कर उसे अधीन किया और फिर उसे शह दे कर गुप्त साम्राज्य पर चढ़ाई कराई और राम-गुप्त को लांछित कराया, पर चन्द्रगुप्त ने पिरो का निपटारा कर उस लाञ्छना को धो दिया—तब कहानी के दोनों पहलू ठीक जुड़ेंगे।

पर **शकाधिपति क्या सकानशाह** नहीं है? उस ज़माने में सकान-शाह नाम भारत के सीमान्तों पर बहुत प्रसिद्ध था; उसका ठीक संस्कृत अनुवाद शकाधिपति है; सकानशाह के उपस्थित रहते किदार-वंशज को उस युग के लोग शकाधिपति कहें यह संगत नहीं लगता। शाहपुह्र ३य के समय में सकानशाह कौन था सो हम नहीं जानते। पर यह कुछ असम्भावित नहीं है कि सासानी सकानशाह गन्धार के अपने किदार-वंशज सामन्त को साथ लिये हुए स्वयं ब्यासा तक चढ़ आया हो; और वहाँ पहले जीत जाने के बाद अन्त में चन्द्र-गुप्त के हाथों मारा गया हो।

चन्द्र-गुप्त के शकाधिपति को मारने की बात राजा चन्द्र के वाह्लीक-विजय की बात से जुड़ जाती है। महरौली लौह-स्तम्भ के राजा चन्द्र की चन्द्र-गुप्त २य से अभिन्नता का 'अत्यन्त सम्भावित' होना डा० अल्तेकर भी कहते हैं। यों हम महरौली अभिलेख के प्रश्न पर आते हैं।

२. विष्णुपद और वाह्लीक

महरौली स्तम्भ-लेख में जो कुछ कहा गया है, सो सर्वथा सीधे और स्पष्ट शब्दों में। उसके बारे में मैंने जो विवेचना बीस बरस पहले की थी[६१] उसे फिर से दोहराने की आवश्यकता दिखाई देती है। उस स्तम्भ पर लिखा है कि यह ध्वज विष्णुपद गिरि पर स्थापित किया गया।

६१. ज० च० विद्यालंकार (१९३४)— मौंट विष्णुपद (विष्णुपद पहाड़), ज० वि० ओ० रि० सो० पृ० ९७–१००।

दिल्ली का संस्थापक अनंगपाल तोमर उसे उपहिमालय के किसी पहाड़ से उठवा लाया था यह अनुश्रुति चली आती है। रामायण में अयोध्या से केकय की राजधानी गिरिव्रज जाने वाले दूतों के यात्रा-विवरण से यह प्रकट होता है कि ब्यास नदी के किनारे शिवालक या सोलासिंगी पर्वत में विष्णुपद गिरि था। महरौली वाली लाट मूलतः उसी विष्णुपद पर रही होगी। राम-गुप्त पंजाब के किसी पहाड़ी गढ़ में घिरा था और चन्द्र-गुप्त ने वहीं उसकी हार को जीत में परिणत किया था। विजय-स्थल पर विजय का स्मारक खड़ा करने की प्रथा है। यों शकाधिपति, राम-गुप्त और चन्द्र-गुप्त वाली घटना विष्णुपद पर ही हुई लगती है, और विष्णुपद स्तम्भ-लेख का राजा चन्द्र इस कारण भी चन्द्र-गुप्त २य ही है।

महरौली अभिलेख में राजा चन्द्र के विषय में कहा है कि "जिसने सिन्धु के सात मुख समर में तैर कर वाह्लीक जीते"। वाह्लीक हमारे इतिहास-वाङ्मय में बलख का प्रसिद्ध नाम है; वह उत्तरापथ का प्रसिद्ध देश था। संस्कृत वाह्लीक, पह्लवी बाहल या बाखल और आधुनिक बलख स्पष्टतः एक ही शब्द के रूपान्तर हैं।

सिन्धु के सात मुख सिन्ध की स्रोत-भूत सात धाराएँ—सतलज, ब्यास, रावी, चनाब, जेहलम, सिन्ध और काबुल—हैं। मुख का अर्थ यहाँ मुहाना करके वाह्लीक को बलोचिस्तान में नहीं रक्खा जा सकता; एक तो इस कारण कि वाह्लीक उत्तरापथ में था, बलोचिस्तान पश्चिम देश में है; दूसरे इस कारण कि वाह्लीक और बलोच नामों में ध्वनिसाम्य तो है, पर बलोचिस्तान नाम ११वीं शताब्दी के बाद का है। बलोच लोग पहले कास्पी सागर पर और फिर किरमान में रहते थे, ११वीं शताब्दी में सलजुक तुर्कों के दबाव से मकरान आये।

पाणिनि के समय से पंजाब का नाम वाहीक था। पिछले ज़माने में संस्कृत पोथियों की नकल करने वाले उस **वाहीक** को भी प्रायः **वाह्लीक** बना देते रहे हैं। किन्तु गुप्त युग के अभिलेख में वैसी गलती न हो सकती थी; और वहाँ तो स्पष्ट ही सिन्ध के सात स्रोत तैर कर वाह्लीक

पहुँचना लिखा है, इसलिए महरौली अभिलेख में वाह्लीक का अर्थ पंजाब का कोई भाग हर्गिज़ नहीं हो सकता।

३. "कश्मीर सीमा की ब्यास"

डा० रमेश मजूमदार लिखते हैं—"वाह्लीक का अर्थ बलख है ··· और यदि, जैसा कि कुछ लोगों का मत है, वाह्लीक कश्मीर की सीमा पर ब्यास दून में भी हो, तो भी राजा चन्द्र के सामरिक कारनामे कमाल के थे यह मानना होगा।"[६२] ब्यास की दून में वाह्लीक के होने की कल्पना रामायण के उसी अयोध्या-गिरिव्रज-मार्ग-विवरण में **वाहीक** की जगह **वाह्लीक** अपपाठ के आधार पर की गई है। और "कश्मीर की सीमा पर (की) ब्यास दून" हिमालय पार के कश्मीर की तरह कलकत्ते के कार्माइ-केल-विश्वामित्रों की सृष्टि में ही है, ब्रह्मा की सृष्टि में उसका कहीं पता नहीं। कश्मीर जेहलम (वितस्ता) की दून है, और जैसा कि भारत के बच्चे भी जानते हैं, ब्यासा (विपाशा) और जेहलम के बीच दो और बड़ी नदियाँ हैं—रावी और चनाब, तथा दो बड़ी पहाड़ों की शृंखलाएँ हैं—धौला धार और पीर पंजाल, जिनपर से फाँदे बिना ब्यासा कश्मीर नहीं पहुँच सकती। इसके अतिरिक्त, जब कि रावी और चनाब के बीच का मद्रों का गणराज्य, जिसकी उत्तरी सीमा कश्मीर तराई से लगती थी, समुद्र-गुप्त के करद और आज्ञाकारी राज्यों में था, तब कश्मीर की सीमा तक पहुँचने से चन्द्र-गुप्त का कौन सा कमाल प्रकट होता है?

पिछले उन्नीस बरसों से इस "कश्मीर सीमा की ब्यास नदी" ने अंग्रेज़ी माध्यम से भारतीय इतिहास-खोज की चर्चा करने वाले भारतीय "विद्वानों" को इस प्रकार भरमा रक्खा है कि जब कभी विष्णुपद और चन्द्र के वाह्लीक-विजय पर विचार आरम्भ किया जाता है, वे इसे बीच में

६२. र० च० मजूमदार (१९४६)—अल्तेकर और मजूमदार का पूर्वोक्त ग्रन्थ पृ० १६८; तथा (१९५४)—मजूमदार और पुसलकर का पूर्वोक्त ग्रन्थ, जि० ३ पृ० २०।

ले आते हैं, और इसकी भाफ से अपनी आँखें ढक लेने के कारण कुछ भी देख नहीं पाते। इसीलिए मुख्य विषय को ज़रा देर के लिए छोड़ कर इस भाफ और धुंध को साफ कर लेना आवश्यक है।

महरौली स्तम्भ वाले विष्णुपद गिरि के विषय में श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती का एक लेख १६२६ में प्रकाशित हुआ,[६३] जिसमें उन्होंने "सेंट पीटर्सबुर्ग कोश"[६४] में विष्णुपद नाम के नीचे संकलित किये हुए संस्कृत वाङ्मय के कुल सन्दर्भों को, जिनमें रामायण का उक्त सन्दर्भ भी है, उद्धृत कर विष्णुपद का स्थान निश्चित करने का यत्न किया। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि विष्णुपद "कैलाश पर्वत में कहीं था, पर गंगाद्वार और हरद्वार से दूर नहीं"। कहाँ कैलाश, कहाँ हरद्वार! बीच में पाँच ऊँचे पहाड़ों की शृंखलाएँ! मानो वे यह कहते कि विष्णुपद कांचनजंघा चोटी की पिछली तरफ था, पर राजशाही की बगल में!

इसके बाद १६३० में रामायण के उसी श्लोक के आधार पर मैंने विष्णुपद की पहचान की।[६५] रामायण का वह श्लोक (२, ६८, १८-१६) यों है—

ययुर्मध्येन् वाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम्।
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शल्मलीम्॥

वाह्लीकान् का शुद्ध रूप **वाहीकान्** होना चाहिए, यह मैंने वहीं बताया। वाहीक पंजाब का नाम था। इस श्लोक से प्रकट है कि पंजाब में घुसने

---

६३. चि० ह० चक्रवर्ती (१९२६)—दि ओरिजिनल साइट ऑफ दि महरौली पिलर (महरौली स्तम्भ का मूल स्थान) ऐ० भं० ओ० रि० इं० जिल्द ८ (१२२६-२७) पृ० १७२-७६।

६४. ओतो बोइःतलिंक और रूदोल्फ रोथ (१८५२—१८५७)—संस्कृत बोर्टेर-बुख (संस्कृत शब्दकोश; जर्मन में) विज्ञानपरिषद् सेंत पीतर्सपुर्ग (=आधुनिक लेनिनग्राद) से प्रकाशित।

६५. ज० च० विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० ३१२।

के बाद और ब्यासा को लाँघने से पहले अयोध्या से गिरिव्रज जाने वाले रास्ते पर सुदामा पर्वत और विष्णुपद दिखाई देते थे। रामायण की **तिलक** टीका का लेखक राम कहता है कि सुदामा पर्वत पर ही विष्णु के पैरों के निशान थे, इसलिए विष्णुपद सुदामा पर्वत का ही नाम था।

प्राचीन काल के रास्ते नदियों को उथले घाटों पर लाँघते थे; साथ ही पूरब से उत्तर-पच्छिम जाने वाला रास्ता हिमालय के भीतर नहीं जा सकता था; इसलिए विष्णुपद हिमालय तराई की शिवालक या सोलासिंगी शृंखला का कोई पहाड़ था। इसके अतिरिक्त, सुदामा पर्वत का उल्लेख महाभारत में अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में भी है। वहाँ **सुदामानं सुसंकुलम्** पाठ है, जिसका शुद्ध रूप मैंने **सुदामानं सुसंकटम्** सुझाया था। संकट का अर्थ है घाटा या जोत। अर्जुन के दिग्विजय में सुदामा दक्षिण और उत्तर **उलूक** के बीच आता है। मैंने यह माना था कि **उलूक** का शुद्ध पाठ **कुलूत** होना चाहिए, और दो वर्ष बाद महाभारत की आठ नौ सौ बरस पुरानी नेपाल से पाई गई प्रति में वही पाठ मिला भी। कुलूत या कुल्लू प्रदेश ब्यासा के स्रोतों की दूनों से बना है। सुदामा उसके रास्ते में कोई घाटा था। रामायण के इस श्लोक से भी सुदामा पर्वत या घाटे की ठीक वही स्थिति सूचित होती है जो महाभारत से, इससे इसमें दी हुई जानकारी का समर्थन होता है। यों सुदामा-विष्णुपद ब्यासा लाँघने से पहले दिखाई देता था।

सन् १९३४ में मैंने विष्णुपद के विषय में बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में पूर्वोक्त लेख लिखा। उस लेख का प्रयोजन, जैसा कि ऊपर प्रकट हुआ होगा, यह बतलाना था कि चूँकि विष्णुपद ब्यासा के किनारे हिमालय तराई का पहाड़ था, और उसी पर महरौली स्तम्भ खड़ा किया गया था, तथा चूँकि राम-गुप्त और चन्द्र-गुप्त वाली घटना पंजाब में हिमालय के किसी गढ़ में हुई थी और विजय-स्थल पर जयस्तम्भ गाड़ने की प्रथा है, इसलिए वह घटना विष्णुपद पर ही हुई और महरौली स्तम्भ वाला राजा चन्द्र चन्द्र-गुप्त ही है। इस विषय को

पल्लवित करते हुए मैंने ब्यासा की ऋग्वेद में आई स्तुति का भी उल्लेख कर दिया।

वह लेख प्रकाशित होने के बाद श्री योगेशचन्द्र घोष ने कलकत्ते से नई प्रकाशित हुई पत्रिका "इंडियन कल्चर" (भारतीय कृष्टि) की पहली जिल्द (१९३५) में इसी विषय पर लिखते हुए[६६] मेरे ऋग्वेद प्रतीक की गलती बताई। वास्तव में मैंने वह लेख मुसाफरी में लिखा था और अपनी स्मृति पर अनुचित भरोसा करते हुए विश्वामित्र की की हुई स्तुति को वसिष्ठ की की हुई लिख डाला था। सन् १९३९ में मैंने श्री योगेशचन्द्र घोष का लेख देखा और तब से उन्हें अपनी कृतज्ञता सूचित करने की सोचता रहा, पर अब कर पा रहा हूँ। श्री घोष ने मुझे इस बात का दोष भी दिया कि रामायण के उक्त श्लोक को पहले-पहल खोजने का श्रेय मैंने श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती को क्यों नहीं दिया। श्री चक्रवर्ती की विष्णुपद की पहचान कैसी थी सो ऊपर कहा जा चुका है, और रामायण का वह सन्दर्भ तो मेरी तरह के पुराने ढर्रे से संस्कृत पढ़ने वालों के लिए कभी गुम न हुआ था और श्री चक्रवर्त्ती ने स्वयं भी संस्कृत बोइटेंखुख से लिया था। श्री घोष ने भी सब निर्देश वहीं से लिये थे।

पर यह सब अवान्तर चर्चा है। खास बात यह है कि श्री योगेशचन्द्र घोष के इस लेख से ही पहलेपहल "कश्मीर सीमा की ब्यासा" पैदा हुई जो आज तक कुछ भारतीय विद्वानों की कल्पना में बह रही है। श्री घोष ने महाभारत वनपर्व अध्याय १३० से तीन श्लोक इस रूप में उद्धृत किये—

एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी॥ ८॥

---

६६. योगेशचन्द्र घोष (१९३५)—विष्णुपद गिरि, इंडियन कल्चर जि० १ पृ० ५१५–५१९।

अत्रैव पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवानृषिः ।
बन्धात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥ ९ ॥
कश्मीरमण्डलं चैतं सर्वपुण्यमरिन्दम ।
महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥१०॥

नौवें श्लोक के तीसरे पाद में बद्ध्वात्मानं तथा दसवें के पहले पाद में चैतत् पाठ होना चाहिए, पर श्री घोष ने जैसा उद्धरण दिया ठीक वैसा ऊपर लिखा है। इन श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है—"यह विष्णुपद नामक उत्तम तीर्थ दिखाई देता है। यह परमपावनी रम्य विपाशा (ब्यास या ब्यासा) नदी है। यहीं पुत्र के शोक से भगवान् ऋषि वसिष्ठ अपने को बाँध कर गिर पड़ा और फिर फन्दे से छूट (विपाश) उठ खड़ा हुआ। हे शत्रुओं के दमन करने वाले (युधिष्ठिर), यह कश्मीर-मण्डल है जिसमें महर्षि रहते रहे; इसे भाइयों के साथ देख।"

इन श्लोकों को उद्धृत कर श्री घोष ने लिखा "इससे यह स्पष्ट है कि न केवल विपाशा प्रत्युत कश्मीरमण्डल भी विष्णुपद से दिखाई देता था। इससे सूचित है कि विष्णुपद विपाशा पर किसी पहाड़ी पर था जो कश्मीरमण्डल से दूर न थी...। प्रतीत होता है प्राचीन आर्यों के समय में विपाशा का स्रोत कश्मीर प्रदेश के पहाड़ों में था।"

यों श्री घोष ने मेरी दिखाई इस बात को तो दोहराया कि विष्णुपद विपाशा पर किसी पहाड़ी पर था; पर इसके साथ ही यह नई खोज की कि विपाशा कश्मीरमण्डल से दूर न थी! इन श्लोकों से यह कैसे प्रकट होता है कि ब्यासा कश्मीर में थी सो तो श्री योगेश ही जानें या वे "विद्वान्" जानें जो उनकी सुनासुनी २० वर्षों से यह बात दोहरा रहे हैं। पर श्री घोष ने ऐसा मान कर इसके समर्थन में "जौन्सन की हिस्टौरिकल ऐटलस औफ इंडिया" के नकशे नं० २ का प्रमाण उद्धृत किया और लिखा कि ब्यासा वैदिक काल में कश्मीर से निकल कर सप्तसिन्धवः (पंजाब) के देश में आ कर गुरदासपुर और कांगड़ा ज़िलों की सीमा पर नुकीला मोड़ बनाती रही; विष्णुपद वहीं कहीं होगा।

२३

कैसी कमाल की खोज थी! नदियाँ अपने रास्ते बदला करती हैं यह तो सब जानते हैं, पर दूसरी नदियों और पहाड़ों के ऊपर से फाँद कर भी करती हैं, यह नया आविष्कार था। और महाभारत के श्लोकों से जैसे उन्होंने सिद्ध किया कि कश्मीर विष्णुपद से दिखाई देता था, वह दूसरा कमाल था।

वनपर्व की कहानी पाण्डवों के जुए में हारने के बाद से शुरू होती है। गंगा से पच्छिम चलते हुए वे सरस्वती तट पर काम्यक वन में पहुँचते हैं। वहाँ से कुछ समय बाद कुरुक्षेत्र होते हुए द्वैतवन सर जाते हैं। वहाँ व्यास सत्यवतीसुत आ कर मिलता और युधिष्ठिर को सलाह देता है कि अर्जुन को शस्त्रास्त्र लेने चुपके-चुपके देवताओं के पास भेजो और स्वयं दूसरे वन को चले जाओ। वे फिर काम्यक लौट कर वहाँ से अर्जुन को विदा करते हैं। अर्जुन हिमालय में घुस गन्धमादन होता हुआ इन्द्रकील पहुँचता और वहाँ तपस्या करता है; किरात-वेश-धारी शिव उससे युद्ध करते, फिर प्रसन्न हो शस्त्रास्त्र देते हैं। तब दूसरे देवता भी उसपर कृपा करते हैं, इन्द्र अपना रथ भेज उसे अपनी अमरावती पुरी में बुला मँगाता और पाँच वर्ष बाद शस्त्रास्त्र देता है। लोमश ऋषि वहाँ पहुँचता है। इन्द्र उसे कहता है कि पृथ्वी पर जा कर पांडवों को तीर्थयात्रा कराओ।

उधर पांडवों से नारद मिलता है। युधिष्ठिर उससे पूछता है—जो पृथ्वी के सब तीर्थों की प्रदक्षिणा करता है उसे क्या फल मिलता है? नारद कहता है भीष्म ने पुलस्त्य को यही बताया था, और वह भीष्म-पुलस्त्य-संवाद को दोहराता है। भीष्म ने तीर्थों की गणना पुष्कर से आरम्भ की थी और उस प्रसंग में कहा था—

अथ वामनकं गच्छेत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥
तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम् ।

(अध्याय ८१, श्लोक १६, १७)

(तब तीनों लोकों में विश्रुत वामनक को जाय, वहाँ विष्णुपद में

स्नान और वामन की अर्चना कर···)। स्पष्ट है कि यह विष्णुपद कोई तालाब था। नारद ने संवाद पूरा करते हुए कहा कि वह देखो लोमश आ रहा है, उसके साथ तुम सब तीर्थ घूमना। इस बीच पाण्डव फिर धौम्य से सब तीर्थों का विवरण सुनते हैं। तभी लोमश आ पहुँचता है और उसके साथ तीर्थयात्रा के लिए रवाना हो वे पहले पूर्व-मुख चलते हैं। गंगा-सागर-संगम पहुँच वहाँ से कलिंग की तरफ घूमते, फिर समुद्रतट के तीर्थों में होते हुए द्रविड देश से शूर्पारक (कोंकण में सोपारा) आ निकलते हैं। वहाँ से प्रभास तीर्थ (सोमनाथ) हो, पयोष्णी (तापी) और नर्मदा में तथा पुष्कर में स्नान करते, आर्चीक पर्वत होते हुए अक्षय-स्रोता यमुना पर वापिस आ निकलते हैं। यमुना के साथ-साथ ऊपर पहुँचने पर लोमश कहता है—

द्वारमेतद्धि कौन्तेय कुरुक्षेत्रस्य भारत ॥
....

एतत्प्लक्षावतरणं यमुनातीर्थमुच्यते ।
....

अत्रोपस्पृश्य राजेन्द्र सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यति ।
(अ० १२६, श्लो० ११, १३, १७)

(हे भरत के वंशज, कुन्ती के पुत्र, यह कुरुक्षेत्र का द्वार है।······ यह प्लक्षावतरण यमुनातीर्थ कहलाता है।······हे राजेन्द्र, यहाँ स्नान करे तो सब लोकों को देख लेता है।) युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ वहाँ स्नान करता और तब लोमश से कहता है—

सर्वाँल्लोकान् प्रपश्यामि तपसा सत्यविक्रम ।
इहस्थः पाण्डवश्रेष्ठं पश्यामि श्वेतवाहनम् ॥ श्लो० १९ ॥

(मैं तप से सब लोकों को देख रहा हूँ; यहीं ठहरा हुआ मैं श्वेत-वाहन अर्जुन को देख रहा हूँ।) प्लक्षावतरण में स्नान के प्रभाव से युधिष्ठिर को अपने सामने सब लोकों का नक्शा खुलता दिखाई देने लगा था। लोमश अब उस नक्शे के विभिन्न स्थानों का परिचय उसे देते हुए

कहता है—

एवमेतान्महाबाहो पश्यन्ति परमर्षयः ।
सरस्वतीमिमां पुण्यां पश्यैकशरणावृताम् ॥२०॥
वेदी प्रजापतेरेषा समन्तात्पञ्चयोजना ।
कुरोर्वै यज्ञशीलस्य क्षेत्रमेतन्महात्मनः ॥२२॥
....

एतद्विनशनं नाम सरस्वत्या विशाम्पते ॥
द्वारं निषादराष्ट्रस्य येषां द्वेषात्सरस्वती ।
प्रविष्टा पृथिवीं वीर मा निषादा हि मां विदुः ॥
एष वै चमसोद्भेदो यत्र दृश्या सरस्वती ।
....

एतत्सिन्धोर्महत्तीर्थं यत्रागस्त्यमरिन्दमम् ।
लोपामुद्रा समागम्य भर्तारमवृणीत वै ॥
एतत्प्रभासते तीर्थं प्रभासं भास्करद्युते ।
.... (अ० १३०, श्लो० ३–७)

(हे महाबाहु, बड़े ऋषि लोग इन्हें इस तरह देखते हैं। इस एक पाट में आई हुई पुण्य सरस्वती को देख। यह चारों तरफ पाँच योजन फैली प्रजापति की वेदी है। यह यज्ञशील महात्मा कुरु का क्षेत्र है। हे प्रजा के पालक, यह सरस्वती का विनशन है, निषाद राष्ट्र का द्वार, जिनके द्वेष से सरस्वती जमीन में घुस गई है कि निषाद मुझे न जानें। यह चम्मच के बराबर फूटना है जहाँ सरस्वती फिर दिखाई देती है।… यह सिन्धु का महातीर्थ है जहाँ शत्रुओं को कुचलनेवाले अगस्त्य को लोपामुद्रा ने मिल कर अपना पति चुना था। हे सूरज की सी चमक वाले, यह प्रभास तीर्थ चमक रहा है।)

इसके ठीक आगे वे तीन श्लोक हैं—विष्णुपद, व्यासा और कश्मीर का वर्णन करने वाले—जिन्हें दो भद्दी गलतियों के साथ श्री घोष ने उद्धृत किया है। उनके आगे भी वर्णन जारी रहता है—यह मानस का

द्वार है, यह वतिकखण्ड है, यह उज्जानक है, यह कुशवान् ह्रद है। यहाँ तक वर्णन करने के बाद लोमश कहता है—

समाधीनां समासस्तु पाण्डवेय श्रुतस्त्वया।
तं द्रक्ष्यसि महाराज भृगुतुंगं महागिरिम्॥ श्लो० १६॥

(पाण्डव, तुमने समाधियों का संक्षेप सुना। महाराज, अब उस बड़े पहाड़ भृगुतुंग को देखोगे।) लोमश फिर और स्थान दिखाने लगता और अन्त में कहता है—

उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत।
समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव॥
एषा गंगा सप्तविधा राजते भरतर्षभ।
....
एतद्‌द्र मानुषैरद्य न शक्यं द्रष्टुमच्युत।
समाधिं कुरुताव्यग्रांस्तीर्थान्येतानि द्रक्ष्यथ॥
श्वेतं गिरिं प्रवेक्ष्यामो मन्दरं चैव पर्वतम्।
....
दुर्गमाः पर्वताः पार्थ समाधिं परमं कुरु॥
(अ० १४०, श्लो० १-४, ८)

(कुन्ती के बेटे, राजा, तुम उशीरबीज, मैनाक और श्वेतगिरि को तथा कालशैल को भी लाँघ आये हो। भरतर्षभ, यह सात प्रकार की गंगा चमक रही है।...आज इसे मनुष्य देख भी नहीं सकते, अविचल समाधि करो तो इन तीर्थों को देखोगे। हम श्वेतगिरि और मन्दर पर्वत में घुसेंगे।...पार्थ, ये दुर्गम पर्वत हैं, पक्की समाधि लगाओ।)

यमुनातट पर प्लावावतरण तीर्थ पर खड़े-खड़े लोमश ने प्रभास (सोमनाथ) से श्वेत गिरि (पाइ शान) तक के सब तीर्थ यों समाधि से पाण्डवों को दिखाये। उन्हीं तीर्थों में विष्णुपद, विपाशा और कश्मीर मण्डल भी हैं, पर यह विष्णुपद वामनक वाला सर है कि विष्णुपद गिरि सो लोमश या पाण्डवों को ही मालूम रहा होगा।

समाधि द्वारा इस तीर्थदर्शन के बाद वे पहाड़ पर चढ़ने लगते हैं, और जैसे ही आगे बढ़ते हैं वैसे ही कुणिन्दों के राजा सुबाहु का देश देखते हैं और स्वयं सुबाहु उन्हें आ मिलता है। उसकी सहायता से वे हिमालय चढ़ते और गन्धमादन पर लौटते हुए अर्जुन से मिलते हैं। इससे प्रकट है कि प्लक्षावतरण वह स्थान है जहाँ जमना पहाड़ में से मैदान में उतरती है—अर्थात् ठीक कालसी, जहाँ की चट्टान पर अशोक की धर्मलिपियाँ खुदी हैं।

कालसी पर जमना में डुबकी लगाने से जैसे पाण्डवों को सब लोक दिखाई दे गये थे, वैसे ही संस्कृत वोइर्टेरबुख में एक डुबकी लगाने से श्री योगेश घोष को विष्णुपद विपाशा और कश्मीर के नाम पास पास दिखाई दे गये। उन्हें देख कर वे आविष्कारक की वाणी में बोल उठे कि विष्णुपद से कश्मीर दिखाई देता था! "इंडियन कल्चर" के विद्वान् सम्पादकों की मण्डली यदि ऐसी कमाल की खोजों वाले लेख को अपनी पत्रिका में न छापती तो और किसे छापती?

किन्तु अगले वर्ष श्री दशरथ शर्मा ने उनके कमाल को न मानते हुए लिखा कि श्री घोष ने महाभारत के श्लोकों का गलत अर्थ किया है; उनसे यह सूचित नहीं होता कि विष्णुपद से कश्मीर दिखाई देता था।[६७]

पर उसी वर्ष कलकत्ता युनिवर्सिटी के पहले कार्माइकेल अध्यापक डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने अपने एक लेख में श्री योगेश घोष की "खोज" का महत्त्व दिखाया और जौप्सन का प्रमाण फिर से उद्धृत कर ब्यास के कश्मीर सीमा पर होने की बात दोहराई।[६८] श्री योगेश घोष ने रामायण के उक्त श्लोक की चर्चा में 'वाह्लीक' का ठीक रूप 'वाहीक' होने की बात सुझाई थी; डा० भंडारकर ने उस बात की उपेक्षा की।

---

६७. दशरथ शर्मा (१९३७)—जर्नल औफ़ इंडियन हिस्टरी जि० १६ पृ० १३ प्र०।

६८. दे० रा० भंडारकर (१९३७)—जर्नल औफ़ दि आन्ध्र हिस्टौरिकल रिसर्च सोसाइटी जि० १० पृ० ८६ प्र०।

उन्होंने यह भी बताया कि मैंने ही अपने शिष्य श्री चिन्ताहरण चक्रवर्त्ती और श्री योगेशचन्द्र घोष को सुझाया था कि सेंट-पीटर्सबुर्ग कोश में दिये विष्णुपद के प्रतीकों से उसे पहचानने का यत्न करें। सो उनके एक शिष्य ने विष्णुपद को खोजते-खोजते जैसे हरद्वार को कैलाश की बगल में पहुँचा दिया था, वैसे ही दूसरे ने ब्यासा को कश्मीर पहुँचा दिया। और वह "मौलिक खोज" की भाँग कार्माइकेल कुएँ में जो पड़ गई सो आज तक रंग ला रही है।

डा० रमेश मजूमदार को १९४३ में उसके प्रभाव से बड़ी दूर की सूझी। उन्होंने कहा कि महरौली स्तम्भ का चन्द्र कनिष्क था![६९] महरौली अभिलेख की लिपि गुप्त युग की है; उसकी भाषा संस्कृत है जब कि कनिष्क वंश के सब लेख प्राकृत में हैं; कनिष्क बौद्ध था, और महरौली स्तम्भ "विष्णु का ध्वज" है; इन सब कठिनाइयों का उन्होंने समाधान कर लिया। असल और मुख्य बात जो उन्हें दिखाई दी वह यह थी कि जब वाह्लीक ब्यासा के काँठे में था, तब कनिष्क काबुल की तरफ से सात नदियाँ तैर कर वाह्लीक को जीत सकता था! और डा० मजूमदार को अब (१९५४) तक यह विश्वास है कि ब्यासा कश्मीर की सीमा पर है और कि इस बात को "सिद्ध" करने वाले उक्त सब लेख प्रामाणिक कह कर पेश किये जाने वाले ग्रन्थों में निर्दिष्ट किये जाने लायक हैं!

जौप्सन की वह कीमती कृति जिसकी सहायता से श्री योगेशचन्द्र घोष ने यह अद्भुत खोज की, जिसकी नींव पर दो दशाब्दियों से हमारे अंग्रेज़ी-भाषी विद्वान और और "मौलिक खोजों" की इमारत खड़ी करते जा रहे हैं, मुझे देखने को नहीं मिली। हो सकता है जौप्सन ने **वितस्ता** और **विपाशा** में गोलमाल की हो। जो भी हो, किसी अंग्रेज़ की बहक भी हमारी युनिवर्सिटियों के विद्वानों को कैसे भरमा सकती है तथा उनका

६९. रमेश मजूमदार (१९४३)—ज० रा० ए० सो० बं०, जि० ९ लेटर्स (साहित्य-विभाग) पृ० १७९ प्र०।

अपने देश और अपने पुराने साहित्य के बारे में कैसा ज्ञान है इसका यह सुन्दर नमूना है। विदेशी विद्वान् इन लेखों और ग्रन्थों को पढ़ कर अपने मन में क्या कहते होंगे! मुझे इन विद्वानों से इतना ही निवेदन करना है, कि एक बार स्वयं सतलज पार जा कर आँखें खोल कर यह देख आने का कष्ट करें कि ब्यासा कहाँ है और कश्मीर कहाँ। मुझे इतना भी केवल इस कारण लिखना पड़ा कि बीस बरस से यह धुन्ध हमारा पीछा नहीं छोड़ रही थी, प्रत्युत और बढ़ती जा रही थी।

§४. चन्द्र की वाह्लीक चढ़ाई और सासानी साम्राज्य

"कश्मीरी ब्यासा" का प्रहसन समाप्त हुआ। अब हम महरौली अभिलेख के उक्त वाक्य पर फिर विचार करें तो स्पष्ट देखेंगे कि उसका अर्थ इन दो में से एक ही हो सकता है कि (१) या तो चन्द्र ने बलख तक पहुँच कर उस देश को जीता अथवा (२) यदि अफगानिस्तान के उस युग के राज्यकर्ता वाह्लीक थे तो चन्द्र ने उन राजाओं को जीता। किदार और उसके वंशज बलख से आने के कारण निश्चय से वाह्लीक थे; इसलिए दूसरा अर्थ अधिक सम्भावित है।

चन्द्र-गुप्त की अफगानिस्तान चढ़ाई ३८२ और ३८८ ई० के बीच कभी हुई होगी, इसका संकेत पच्छिमी क्षत्रपों के इतिहास से मिलता है। समुद्र-गुप्त द्वारा पुनःप्रतिष्ठापित क्षत्रप वंश का अन्तिम सिक्का ३८२ ई० का मिला है। उसके बाद नया महाक्षत्रप वंश उठता है जो ३८८ ई० तक सिक्का चलाने के बाद मिट जाता है। सम्भवतः राम-गुप्त वाले संकट के समय इस नये वंश ने स्वतन्त्र रूप में खड़े होने का यत्न किया और चन्द्र-गुप्त ने उत्तरापथ से लौट कर इसे मिटा दिया। सासानी शाहानशाह शाहपुह ३य का राज्यकाल भी ठीक इसी अवधि में—३८३ से ३८८ ई० तक—था। शाहपुह ३य के बाद के कोई सासानी सिक्के पंजाब और अफ़गानिस्तान की खुदाइयों में नहीं पाये गये। वरहान ४र्थ के जो दो-दो चार-चार सिक्के जहाँ-तहाँ मिले हैं वे व्यापार द्वारा आये

प्रतीत होते हैं। यों चन्द्र-गुप्त की चढ़ाई के बाद सासानी आधिपत्य अफगानिस्तान पर नहीं रहा, यह निश्चित है।

२६३ ई० में अवन्ति के राजा ने सासानी गृहयुद्ध में जो हस्तक्षेप किया उसे यदि ऊपर की गई व्याख्या के अनुसार भारत-सम्राट् द्वारा भारत की सीमा से सासानी प्रभाव को पीछे हटाने का पहला प्रयत्न माना जाय तो उसके लगभग ९० वर्ष बाद चन्द्र-गुप्त की अफगानिस्तान चढ़ाई को वैसा दूसरा प्रयत्न कहना चाहिए। एक शताब्दी तक ईरान और भारत के साम्राज्यों के बीच दोनों के साझे सीमान्तों पर रस्साकशी चल रही थी इसमें सन्देह नहीं। कालिदास ने जो रघु को भारत की स्थल-सीमा लँघा कर उससे पारसीकों को हरवाया और उस वर्णन में तत्कालीन पारसीकों का जीता-जागता चित्र खींचा, उससे प्रकट होता है कि उस एक शताब्दी में भारत के राष्ट्रनेताओं के सामने बराबर यह आदर्श रहा कि उन सीमान्तों से पारसीक शक्ति को पीछे ठेलना चाहिए।

मेजर मार्टिन के सामने यह बात आई कि चौथी शताब्दी के अन्त में भारत के सीमान्त से सासानी प्रभाव और किदार-वंशजों की जो सफाई हो गई लगती है वह चन्द्र-गुप्त २य ने की होगी। पर मार्टिन ने अल्तेकर के १६२८ वाले लेख (उपर पृ० ७६-७७) का हवाला दे कर लिखा कि चन्द्र-गुप्त जिन शकों से लड़ रहा था वे तो पच्छिम भारत के थे, इसलिए सासानी आधिपत्य और किदार वंश के राज्य का अन्त श्वेत हूणों ने किया होगा। पर श्वेत हूणों का आक्रमण चौथी शताब्दी के अन्त में हुआ मानना भ्रान्तिपूर्ण है, और हमने देखा है कि डा० अल्तेकर अपने १६२८-२६ वाले मत की त्रुटि स्वयं देख चुके हैं।

५. अफगानिस्तान-पंजाब में चन्द्र-गुप्त के किये पर हूणों द्वारा पानी फेरा जाना

चन्द्र-गुप्त २य के समय तक अफगानिस्तान की राजनीति में भाग लेने वाली तीन शक्तियाँ थीं—(१) मध्य एशिया और अफगानिस्तान के

ऋषिक ("कुषाण") (२) ईरान का सासानी साम्राज्य और (३) भारत का गुप्त साम्राज्य। पर उसकी चढ़ाई के चालीस-एक वर्ष पीछे मध्य एशिया में एक नई शक्ति प्रकट हुई जिसने इन तीनों को चुनौती दी। ४२५ ई० तक श्वेत हूणों ने मध्य एशिया में पैर जमा लिये। और ४५४ ई० में सासानी शाह यज़्दगर्द २य को हराने के बाद जब वे अफगानिस्तान को रौंदते हुए भारत में घुसे, तब कुमार-गुप्त उन्हें पंजाब में भी न रोक सका। सैदपुर-भितरी (जि० गाजीपुर) में जहाँ स्कन्द-गुप्त का विजयस्तम्भ खड़ा है, प्रकटतः उनके वहाँ तक पहुँच जाने पर ही स्कन्द उन्हें हरा सका। हूणों की इन पहली चढ़ाइयों में मध्य एशिया, अफगानिस्तान और गन्धार की समृद्ध बस्तियाँ जितनी फूँकी-उजाड़ी गईं और कृष्टि-कृतियाँ जितनी खँडहर बनीं उतनी बाद की तुर्क-मुस्लिम चढ़ाइयों में भी शायद नहीं उजड़ी-टूटीं। इन चढ़ाइयों के बाद जो चीनी यात्री इन देशों में घूमे उनके विवरणों से यह बात प्रकट है। इस प्रकार चन्द्र-गुप्त ने अफगानिस्तान और पंजाब में जो शासन-व्यवस्था खड़ी की हो, उसका जीवन-काल बहुत थोड़ा ही रहा, तथा जो स्मारक छोड़े हों उनका न बच पाना भी कोई असाधारण बात नहीं है।

तो भी "कुषाण" नमूने के गन्धार से मिलने वाले चन्द्र नाम से अंकित सिक्कों से यह सिद्ध होता है कि किदार-कुषाण वंश के बाद वहाँ चन्द्र-गुप्त का आधिपत्य आया।[७०] इसी प्रकार कृतवीर्य, शीलादित्य या सलोणवीर, सर्वयशस्, भास्वन्, कुशल, प्रकाश आदि जिन राजाओं के पाँचवीं शताब्दी पूर्वार्ध के सिक्के पंजाब से पाये जाते हैं,[७१] वे भी गुप्त सम्राट् के सामन्त प्रतीत होते हैं। उनके सिक्कों पर पट तरफ किदार नाम भी अंकित रहता है। यह अन्दाज़ किया गया है कि वे किदार के वंशज होंगे; पर किदार क्या वंश का नाम हो गया था? हो तो भी उनके गुप्त सामन्त होने में कोई असंगति नहीं है। पंजाब पर गुप्त आधिपत्य का

७०. र० च० मजूमदार (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० १६९।
७१. अ० स० अल्तेकर (१९४६)—पूर्वोक्त, पृ० २३।

एक स्पष्ट स्मारक शोरकोट से मिला तांबे का देगचा है, जिसकी गरदन पर ८३वें वर्ष का एक पंक्ति का संस्कृत लेख यह बताता है कि वह शिविपुर (=शोरकोट) के विहार को दिया गया था। लिपि और भाषा को देखते हुए ८३वाँ वर्ष गुप्त संवत् का माना गया है, जो बिलकुल ठीक है।

अफगान पठार के दक्खिन-पूरबी छोर के तोर ढेरई के जिस विहार का ऊपर (पृ० २७२) उल्लेख किया गया है, उसकी खुदाई में मिले अभिलिखित ठीकरों में से ४५ पर खरोष्ठी लेख हैं जिनके आधार पर विवेचना ऊपर की गई है। ५ और ठीकरों पर ब्राह्मी लेख हैं, और वह ब्राह्मी "कुषाण" और गुप्त युगों के बीच की या गुप्त युग की है। एक पर लिखा है—**विहारस्वामिस्य मीर**···। उस विहार का स्वामी वहाँ का स्थानीय शासक था, और इस लेख से यह झलक मिलती है कि वह ब्राह्मी लिपि बर्तता था। यह बहुत हलकी सी झलक है इसमें सन्देह नहीं, फिर भी इस बात का संकेत देती है कि भारत के मध्यदेश का प्रभाव गुप्त युग में अफगान पठार में भी पहुँच रहा था।

सिन्ध से भी सासानी साम्राज्य ठेला गया इसमें सन्देह नहीं, पर कब और कैसे ठेला गया इसका कुछ पता अभी तक नहीं लगता। वह हमारे इतिहास की बड़ी समस्या है।

६. अफगानिस्तान से ऋषिक राज्य का लोप

हूणों की पाँचवीं शताब्दी की चढ़ाइयाँ बड़ी बाढ़ की तरह थीं। उस बाढ़ के वेग के सामने जो आया वह ढह गया, जो बच गया सो ज्यों का त्यों बना रहा। मध्य एशिया की जनता और वहाँ के स्थानीय राज्य भी बचे रहे। छठी शताब्दी में हूणों की तुर्क शाखा प्रमुख हो गई। य्वान च्वाङ के यात्रा-विवरण से प्रकट है कि तुर्क खाकान की राजधानी ईसिक-कुल झील के निकट तोकमक में थी और उसका उपराज कुन्दूज़ में रहता था। ईसिककुल से हिन्दूकश तक उसका आधिपत्य था, पर उसके सामन्त रूप में समरकन्द और अन्य स्थानों में शा-ओ-वू कुल के

अर्थात् पुराने ऋषिक राजा चले आते थे। समरकन्द तब भी मध्य एशिया की सभ्यता का केन्द्र था; सब हू अर्थात् हूण उसे अपना आदर्श मानते थे। जनता भी सुषमाइर से ख्वारिज्म तक समूचे पच्छिमी मध्य एशिया की शूलिक और तुखार थी, तुखारों की लिपि भी भारतीय थी। वास्तव में मध्य एशिया जो तुर्किस्तान बनने लगा सो ७५१ ई० में अरबों तुर्कों के मुकाबले में समरकन्द पर चीनियों के हारने के बाद से ही। उससे पहले तक पच्छिमी और पूरबी मध्य एशिया की आर्य जनता प्रायः ज्यों की त्यों बनी हुई थी।

य्वान च्वाङ के विवरण से हमें अफगानिस्तान के विषय में क्या पता लगता है? मध्य और पूर्बी अफगानिस्तान में बामियाँ और कपिश राज्य थे जिन दोनों के राजा क्षत्रिय थे और बामियाँ वाले अपने को शाक्यवंशी बताते थे। तीसरा बड़ा राज्य चाओकुथ था, जिसे सैं मार्ती ने गज़नी माना था, पर जैसा कि वैटर्स ने कहा था[७२] बन्नू से चाओकुथ की जो दूरी दी है उसके हिसाब से वह गज़नी नहीं हो सकता। वैटर्स ने **चाओकुथ** का मूल रूप **जागुड** बताया और वही ठीक है। जागुड गोर-हरात प्रदेश हो, अथवा अरगन्दाब के स्रोत का आधुनिक जागुड़ी प्रदेश। जागुड का राजा य्वान च्वाङ के समय 'वंशानुगत' था, अर्थात् उसका वंश एक अरसे से वहाँ राज करता आता था।

ध्यान देने की बात है कि बामियाँ और कपिश के राजा य्वान के समय में ऋषिक नहीं थे। यह साधारण रूप से समझा जाता है कि उनका अपने को क्षत्रिय कहना भारतीय या बौद्ध कृष्टि के प्रभाव को सूचित करता है। पर बौद्ध प्रभाव मध्य एशिया में भी था, वहाँ के राजाओं को तो य्वान ने क्षत्रिय नहीं कहा। दूसरे, बौद्ध कृष्टि से प्रभावित राजा यदि सचमुच कनिष्क के वंश या जाति के होते तो वे अभिमान से वैसा कहते;

---

७२. वैटर्स (१९०४)—औन य्वान च्वाङ्स ट्रैवल्स इन इंडिया (य्वान च्वाङ की भारत यात्रा) जि० २, पृ० २६५।

उस तथ्य को बदलने की आवश्यकता क्यों मानते? तीसरे, य्वान च्वाङ भी ऋषिकों को भली भाँति पहचानता था; यदि बामियाँ या कपिश के राजा उसे ऋषिकों के किसी वंश के प्रतीत होते तो वह वैसा क्यों न कहता? ईसवी सन् के आरम्भ के करीब से लग० ३८५ ई० तक अफ़गानिस्तान में ऋषिक वंश का राज्य रहा था; पौनी शताब्दी के व्यवधान के बाद फिर वहाँ हूणों का आधिपत्य आया जो प्रायः पौनी शताब्दी तक चला। हूणों की वह बाढ़ उतरने के बाद जो दृश्य हमारे सामने आता है उसमें ऋषिक कहीं नहीं हैं, प्रत्युत भारतीय मध्यदेश के से क्षत्रिय दिखाई देते हैं। इस परिवर्त्तन को बौद्ध धर्म के प्रभाव से हुआ कहना किसी प्रकार ठीक नहीं है, क्योंकि बौद्ध इतिहास में ऋषिकों का भी ऊँचा स्थान था। यह परिवर्तन वास्तव में ३८५–४०० ई० के बीच की राजनीतिक घटनाओं का फल था, जिन घटनाओं का सारमात्र उल्लेख महरौली स्तम्भ पर है।

य्वान-च्वाङ के समय का कपिश का राजवंश ही बाद के इतिहास में काबुल के शाहि वंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। उन राजाओं के शाहि पद से उनका मध्य-एशियाई उद्भव सूचित नहीं होता। वह पद उस प्रदेश में उनके चार शताब्दी पहले से चला आता था और बाद तक जारी रहा। जिस प्रकार १३वीं शताब्दी से मंगोलों का खान पद तुर्कों और हिन्दुओं के नामों के साथ भी लगा मिलने लगता है, उसी प्रकार इस युग में शाहि शब्द था। अल्बरूनी ने उस राजवंश को तुर्क शाहियों का कहा है; पर जिस वृत्तान्त के आधार पर कहा वह उसे स्वयं गप्पमय लगा था। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इस विषय की विवेचना करते हुए बहुत ठीक लिखा था कि य्वान च्वाङ अपने समय के कपिश के राजा को क्षत्रिय कहता है, वह तुर्कों के देश में से हो कर आया था, तुर्क और क्षत्रिय के भेद को खूब जानता था, यदि वह राजा तुर्क होता तो वह उसे तुर्क ही कहता।[७३]

७३. चिं० वि० वैद्य (१९२१)—मैडीवल हिन्दू इंडिया (मध्यकालीन हिन्दू भारत), भाग १ पृ० १९९–२०१।

मुस्लिम विजय के समय के मुस्लिम लेखक भी सुग्द (समरकन्द-बोखारा-प्रदेश) के राजा को कुशानशाह कहते हैं, काबुल के राजा को काबुलशाह।[७४] इससे यह प्रकट है कि सुग्द दोआब पर से हूण बाढ़ उतर जाने के बाद ऋषिक राज्य वहाँ बचा रहा था, पर अफगानिस्तान में वह नहीं बचा था। यों य्वान च्वाङ के विवरण से जो बात दिखाई दी थी, मुस्लिम लेखकों से उसकी पुष्टि होती है।

इस प्रकार ३८५ ई० के बाद अफगानिस्तान से ऋषिक राज्य का मिटना निश्चित तथ्य है और उसका स्पष्ट कारण चन्द्र-गुप्त की चढ़ाई ही हो सकती है।

७. वृजिस्थान

जागुड से प्रायः ५०० ली उत्तर जा कर य्वान च्वाङ फु-लि-शिः-स-थङ्-न देश पहुँचा था। **फु लि शिः स थङ् न** को य्हूलियाँ ने **वृजिस्थान** का रूपान्तर माना था। सैं मार्ती ने उसे **वर्दस्थान** बना कर आधुनिक वर्दक (गज़नी के ३० मील उत्तर) से अभिन्न और कनिंगहाम ने **ऊर्ध्वस्थान** बना कर काबुल का नाम माना; पर वैटर्स ने ठीक ही लिखा कि वे दोनों स्थापनाएँ असम्भव और निष्प्रमाण थीं। वैशाली के प्रसंग में **वृजि** के लिए य्वान च्वाङ ने जो शब्दाक्षर लिखे हैं, जिनका चीनी उच्चारण फु-लि-शिः है, ठीक वही शब्दाक्षर यहाँ भी लिखे हैं। वैटर्स का कहना है कि य्वान की जीवनी में इसका नाम फो लि शिः कुओ भी है, जिसमें कुओ शब्द देशवाचक प्रसिद्ध ही है। यों इस देश का ठीक नाम वृजिस्थान या वृजिदेश ही था।

यदि जागुड की आधुनिक जागुड़ी में पहचान ठीक मानी जाय तो मेरा निवेदन है कि **वृजिस्थान** नाम हेलमन्द की उपरली दून के नाम **उजरिस्तान** में आज भी जीवित है। वृजिस्थान से पूरब तरफ कपिश की सीमा तक जा कर वहाँ से **पो लो से न** पहाड़ लाँघने को कठिन यात्रा

७४. एर्न्स्ट हेर्त्सफेल्ड (१९२४)—पूर्वोक्त पृ० ४६।

कर य्वान च्वाङ **अन् त लो फो** पहुँचा था जिसकी **अन्दराब** से अभिन्नता सर्वसम्मत है। वृजिस्थान को उजरिस्तान और **पो लो से न** को ईरानियों का **उपरिशएन** (=श्येन की उड़ान से भी ऊँचा=यूनानियों का **परोपनिसस्**) मानने से वृजिस्थान से अन्दराब तक का यात्रामार्ग स्पष्ट हो जाता है।

वृजिस्थान को भी आधुनिक विवेचकों ने बौद्ध पंडितों का चलाया हुआ किताबी नाम मान रक्खा है (वैटर्स—पूर्वोक्त, पृ० २६७-६८)। किन्तु यदि वह नाम आज तक जीवित है तो उसे किताबी नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, अफगानिस्तान के एक अंश को वृजिस्थान नाम बौद्ध पंडितों ने दिया इससे यह स्थापना कहीं अधिक युक्त होगी कि चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य ने, जिसके वंश का उदय लिच्छवियों या वृजियों के सम्बन्ध से ही हुआ था, वह नाम उसे दिया। और उस नाम के सातवीं शताब्दी में और आज भी पाये जाने से महरौली स्तम्भलेख की पुष्टि और व्याख्या होती है।

पाइकुली, चन्द्रवल्ली और महरौली अभिलेख ईरान और भारत के एक शताब्दी के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। आशा है उन अभिलेखों की इस परस्पर-संगत व्याख्या से प्रकट हुआ उस शताब्दी के इतिहास का यह नया और स्पष्ट चित्र विद्वानों को मान्य होगा।

ए. गुप्त इतिहास की नई सामग्री

नेपाल भारत के उन प्रदेशों में से है जिनमें बाहरी आक्रमणों का प्रवाह प्रायः नहीं पहुँचा और इस कारण पुराने इतिहास की सामग्री अपेक्षया अधिक बची रही है। राणों के एक शताब्दी के शासन (१८४६–१९५०) में वहाँ न तो बाहर के ज्ञानार्थी सुभीते से जा कर उस सामग्री की खोज कर सकते, और न स्वयं नेपाल के लोग ज्ञानोपार्जन की वैसी कोई चेष्टा कर पाते थे। १९५० की क्रान्ति के बाद वह दशा नहीं रही। जागरूक लोगों का ध्यान तब से इस ओर जाना चाहिए था

कि नेपाल से प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास की कीमती सामग्री मिल सकती है जिसकी खोज का अवसर आ गया है।

भारत भी १६४७ से "स्वतन्त्र" है और १६५० से गणराज्य बन चुका है। उसकी दो दर्जन युनिवर्सिटियाँ तथा पुरानी और नई सरकारी खोज-संस्थाएँ, जिनमें से कई एक नेपाल के साथ लगे पच्छिम बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश "राज्यों" में हैं, कहने को ज्ञान की खोज और प्रसार के काम में ही लगी हैं। इनके अतिरिक्त भारत सरकार का पुरातत्त्व-विभाग है, उसका सलाहकार मण्डल (ऐडवाइसरी बोर्ड) है, केन्द्रीय शिक्षा-अधिकारियों का जमघट है, तथा नेपाल में भारत का राजदूतावास है जिसमें "सांस्कृतिक सलाहकार" अधिकारी भी हैं। स्वयं नेपाल की सरकार भी अब प्रगतिशील और जनता के कल्याण में लगी है। इन सब में से किसी ने आँखें खोल कर अपने इस स्पष्ट कर्त्तव्य को क्या देखा?

पर इन्हें अपनी आँखों से देखने की आदत ही कब रही? कल तक ये "गुलामखाने" थे और आज इनमें ऐसे लोगों का और भी बोलबाला है जिन्होंने अपनी आँखों से देखना कभी सीखा नहीं। इनके लिए देखने खोजने और सोचने का सब काम युरोप वाले कर देते हैं; इनका अपना काम उनकी बातों को दोहराना मात्र है।

जनवरी १६५३ में मैंने इतालवी प्राच्य प्रतिष्ठान (इस्तीत्यूतो इतालियानो पर इल मेदियो एद एस्त्रेमो ओरियन्ते) के अध्यक्ष प्रो० जुसेप्पे तुच्ची से सुना था कि नेपाल से उन्हें गुप्त लिपि के तीस नये अभिलेख मिले जिनकी छापें वे अपने साथ ले गये। अकेले इतालवी विद्वान को तीस नये अभिलेख मिले और भारत की तीस से अधिक युनिवर्सिटियों और खोज-संस्थाओं को एक भी न मिला, यह इसका पैमाना है कि कांग्रेसी शासन में "स्वतन्त्र" भारत कितना स्वतन्त्र और कितना जागरूक है।

पर चिन्ता की क्या बात है? इतालवी, जर्मन, फ्रांसीसी भाषाओं में जो मौलिक ज्ञान निकलेगा वह २०-२५ वर्ष तक अंग्रेजी में पहुँच ही जायगा। हमारा स्वतन्त्र गणराज्य अंग्रेजी राष्ट्र-परिवार से नाता

जोड़े ही हुए है, और हमारी युनिवर्सिटियों के बड़े-बड़े लोग हर साल उस राष्ट्रपरिवार के युनिवर्सिटी-सम्मेलनों में भाग लेने और वहाँ से उम्दा-उम्दा बातें सीख आने जाते ही हैं। यों अंग्रेज़ी द्वारा वह ज्ञान भारत तक पहुँच जायगा, भले ही उसे भारत के विद्यार्थियों तक पहुँचाते हुए हमारी युनिवर्सिटियों के बड़े लोग कश्मीर की तरह नेपाल को भी हिमालय के उस पार ले जा पटकें या जमना को उसी तरह नेपाल में ला बहाएँ जैसे ब्यासा को कश्मीर में ! इस बीच हमारी सरकार की खोली हुई अनेक टकसालें हिन्दी में वैज्ञानिक परिभाषाएँ गढ़ गढ़ कर ढेर लगा रही हैं। तब तक उन ढेरों से इतने कोश तैयार हो जायँगे कि उन्हें देख देख कर इन्हीं युनिवर्सिटियों के अध्यापक अंग्रेज़ी से हिन्दी में इतिहास-पुरातत्त्व के ग्रंथों का अनुवाद भी कर सकेंगे। तब भारत की जनता को मालूम हो जायगा कि पड़ोसी नेपाल के पुराने संस्कृत लेखों में उसके पुरखों के विषय में क्या लिख रक्खा था ! तब तक के लिए धीरज धरिए।

नव-परिशिष्ट ४

(छठे और आठवें व्याख्यान का)

अ. भारतीय इतिहास की मंगोल सामग्री

[दे० ऊपर पृ० १००, १०३]

चंगेज़खाँ के अफ़गानिस्तान जीतने के बाद से तैमूर की अफ़गानिस्तान पंजाब और दिल्ली पर चढ़ाई होने तक अर्थात् १२२१ से १३६७ ई० तक अफ़गानिस्तान, पच्छिमी गन्धार (पेशावर) और सिन्धु (डेरा-इस्माइलखाँ, डेरा-गाजीखाँ ज़िले तथा उनके सामने सिन्ध नदी के पूरब और नमक पहाड़ियों के दक्खिन का सिन्धसागर दोआब) प्रदेश मंगोलों के अधीन रहे। उन प्रदेशों पर पौने दो शताब्दियों के मंगोल राज्य के अनेक स्मारक चिह्न और लेख स्वभावतः वहाँ से प्राप्त हुए और होते हैं। परन्तु सल्तनत युग के इतिहास का जैसा एकतरफ़ा और अधूरा अध्ययन करने की परिपाटी चली हुई है उसके कारण उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

टोची दून में ईदक से स्पिनवम जाने वाले रास्ते के मीर-अली नामक स्थान से प्रायः ४ मील पर खजाना गाँव, से एक शिलाभिलेख कप्तान बार्नेस को १६२६ में मिला, जो पेशावर म्यूज़ियम में नं० २६ अंकित कर रक्खा गया। वह आधा शारदा लिपि में और आधा मंगोल भाषा और लिपि में है। उसी दून के शेर-तला नामक स्थान से प्राप्त मंगोल लिपि का एक शिलाभिलेख वहाँ नं० ६, ६अ लगा कर रक्खा गया। जुलाई सन् १६४६ में जब मैंने उन्हें वहाँ देखा, तब तक वे लेख प्रकाशित न हुए थे, किसी ने उनके सम्पादन की ओर ध्यान भी न दिया था।

और तो और, भारत के विद्याकेन्द्रों में किसी ने इस बात की

आवश्यकता ही नहीं देखी कि मंगोल भाषा सीख कर अपने इतिहास की इस सामग्री का उपयोग किया जाय अथवा इन पौने दो शताब्दियों का वृत्तान्त स्वयं मंगोलों ने जिस रूप में दिया है उसका अध्ययन किया जाय । सन् १६३७ के अन्त में भारतीय इतिहास-परिषद् की स्थापना इस उद्देश्य, आशा और घोषणा के साथ हुई थी कि भारतीय इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री का मूल स्रोतों से अध्ययन करने वाले भारतीय विद्वान् तैयार किये जायँगे । पर भारत के "स्वतन्त्र" होने के बाद उस परिषद् का चिराग भी बुझ चुका है, और जिस अँधियारे समय में से हम आज गुज़र रहे हैं उसमें सत्य की खोज जैसे किसी आदर्श की चर्चा करना भी मज़ाक लगता है ।

इ. कश्मीर में हिन्दू राज्य का अस्त और सल्तनत का उदय

[दे० ऊपर पृ० १०२]

§१. राजतरंगिणियों का ऐतिहासिक उपयोग

भारत के प्रान्तों में से एक कश्मीर ही ऐसा है जिसका मध्य काल का पूरा प्रामाणिक इतिहास वहीं के विद्वानों का लिखा हुआ प्राप्त है। कल्हण की राजतरंगिणी की कहानी ११४६-५० ई० तक आती है। जोनराज दूसरी राजतरंगिणी में वहाँ से कहानी का सूत्र थामता और उसे जैनुलाबिदीन के राज्यकाल के बीच (लग० १४३२) तक पहुँचाता है। फिर जोनराज का शिष्य श्रीवर तीसरी राजतरंगिणी में उसे वहाँ से उठा कर १४८६ तक ले आता है। अन्त में प्राज्यभट्ट और शुक चौथी राजतरंगिणी में उसे अकबर के कश्मीर जीतने तक पहुँचा देते हैं।

ये वृत्तान्त समकालिक सरकारी लेखों और समकालिक जानकारी के आधार पर सचाई के साथ लिखे गये हैं। कश्मीर का पूरा इतिहास तो इनसे आलोकित होता ही है, समूचे भारत की उस युग की राजनीतिक

आर्थिक और सामाजिक दशाओं—विशेष कर भारत के मध्यकालीन ह्रास और उसके बाद के पुनरुत्थान की दशाओं—पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है। कश्मीर के स्थानीय मुस्लिम राजा भी अपने युग का इतिहास संस्कृत में लिखवाते रहे यह पते की बात है। १६१७ ई० में हैदर मलिक चादूर ने फारसी में कश्मीर की पहली 'तारीख' लिखी। बाद की 'तारीखें' १८ वीं, १९वीं शताब्दियों में लिखी गईं।

१९वीं शताब्दी में बंगाल के शिक्षा-विभाग और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ने इन राजतरंगिणियों को अधूरा छाप कर प्रकाशित किया। सुप्रसिद्ध विद्वान् रमेशचन्द्र दत्त के भाई श्री योगेशचन्द्र दत्त ने उन मुद्रित प्रतियों के आधार पर १८७९, १८८७ में कल्हण की राजतरंगिणी का तथा १८९८ में बाकी तीन राजतरंगिणियों का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया। पर जिस प्रति से उन्होंने अनुवाद किया एक तो वह अधूरी थी, दूसरे, अधिकतर दुरूह अंशों को उन्होंने अनुवाद में छोड़ दिया। १८९२-९४ में औरेल स्टाइन ने तथा दुर्गाप्रसाद ने कल्हण-राजतरंगिणी के सुसम्पादित संस्करण अलग-अलग प्रकाशित किये। दुर्गाप्रसाद की कृति के परिशिष्ट रूप में १८९६ में पिटर्सन ने शेष तीन राजतरंगिणियों को प्रकाशित किया। सन् १९०० में औरेल स्टाइन ने कल्हण-राजतरंगिणी का अत्यन्त सावधानी से किया हुआ अंग्रेज़ी अनुवाद कश्मीर के भूवृत्त इतिहास राजसंस्था आदि की विवेचनापरक गम्भीर-विद्वत्तापूर्ण टिप्पणों और परिशिष्टों के साथ प्रकाशित किया।

यों पिछली राजतरंगिणियों को प्रकाशित हुए आज ५८ तथा स्टाइन द्वारा उनकी विवेचना का मार्ग दिखाये हुए ५४ वर्ष बीत चुके हैं। पर हमारे देश में इतिहास-अध्ययन की दशा ऐसी है कि अब तक किसी विद्वान् ने इस सामने पड़ी सामग्री का उपयोग नहीं किया! डा० ईश्वरी-प्रसाद के मध्यकालीन भारत के इतिहास में कश्मीर की सल्तनत के बारे में एक शब्द भी नहीं है। लेफ्टिनेंट-कर्नल सर वूल्सली हेग ने भारत के कैम्ब्रिज इतिहास जि० ३ में उसके बारे जो लिखा है सो केवल पिछली

'तारीखों' के आधार पर। केवल एक डा० हेमचन्द्र राय ने अपने **डिनैस्टिक हिस्टरी ऑफ नौर्दर्न इंडिया—अर्ली मेडिवल पीरियड** (पहले मध्य युग में उत्तर भारत के राजवंशों का इतिहास) जि० १ (१६३१) में जोनराज की राजतरंगिणी का उपयोग किया है। डा० राय जैसा सच्चा विद्वान् इस बात को देखने से नहीं चूक सकता था कि उसे नज़रन्दाज़ कर के कश्मीर में हिन्दू राज्य के अस्त का इतिहास नहीं लिखा जा सकता। पर डा० राय भी जोनराज के मूल ग्रन्थ पर श्रम नहीं कर सके; उन्होंने योगेश दत्त के अधकचरे अनुवाद से काम चलाया। **इतिहास-प्रवेश** में भारत के सम्पूर्ण इतिहास की पर्यवेक्षा करते समय मुझे अपने देश के इतिहास में यह रीता स्थान विशेष रूप से खटका, और इसलिए मैंने अपने शिष्य और सहयोगी श्री अमृत पाल को इस विषय के अध्ययन में लगाया। इ० प्र० के चौथे संस्करण (१६५२) में इस विषय पर जो लिखा गया सो श्री अमृत पाल के और मेरे पहले अध्ययन के आधार पर। उसके बाद मैंने जोनराज की राजतरंगिणी पर और श्रम किया, जिससे अब ऐसा लगता है कि उसका पहली दो शताब्दियों (११५०— लग० १३६५) वाला अंश प्रायः पूरी तरह स्पष्ट हो गया है।

जोनराज को इतिहास में विशेष रुचि थी। दूसरी राजतरंगिणी लिखने के अतिरिक्त उसने पृथ्वीराज चौहान के दरबार के कश्मीरी कवि जयानक की कृति **पृथ्वीराजविजय** की टीका भी लिखी है। जैसा कि श्रीयोगेश दत्त ने लिखा है, जोनराज का वृत्तान्त कल्हण के वृत्तान्त से बेहतर और अधिक सीधा है।[1] घटनाओं का ठीक-ठीक वर्णन करने में, संक्षिप्त सीधी और खरी बात कहने में तथा जनता के हृद्गत भावों और वेदनाओं को अंकित करने में जोनराज कल्हण से इक्कीस नहीं तो

---

१. योगेश चन्द्र दत्त (१८९८)—किंग्स् ऑफ कश्मीर (कश्मीर के राजा) जि० ३, प्रस्तावना पृ० २।

उन्नीस भी नहीं है। अनेक बार उसके वृत्तान्त पढ़ते हुए हमें उसी की उक्ति याद आती है कि **वस्तूचितमालेख्यमतुलयत्तराम्**—वह अच्छा चित्र ठीक वस्तु की तुलना का था। पर जैनुलाबिदीन के समय में लिखते हुए उसने पिछले राजाओं के वृत्तान्त इतने संक्षेप से दिये हैं कि आज हमें वे विशेष प्रयत्न के बिना समझ नहीं आते। तो भी जितनी जानकारी और झाँकियाँ उसने दी हैं, उन्हीं के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

§२. कश्मीर पहले मध्य काल के उत्तरार्ध में

नौवीं शताब्दी ईसवी भारत में बड़े साम्राज्यों और लम्बे सुशासनों का युग थी। राजशाही-पुर्णिया से सुराष्ट्र के समुद्र तक और वहाँ से कश्मीर की सीमा तक कन्नौज का साम्राज्य फैला था। प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज (८३६–८९० ई०) और महेन्द्रपाल (८९१–९०७ ई०) के प्रशासनों में उसने जैसी शान्ति और समृद्धि देखी, दक्खिन भारत ने तभी राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष (८१५–८७७ ई०) और अकालवर्ष (८७७–९११ ई०) के प्रशासनों में वैसी ही शान्ति और समृद्धि का सुख पाया। कश्मीर में वह युग उत्पल वंश के पहले दो राजाओं अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) और शंकरवर्मा (८८३–९०२) के प्रशासनों का था, जो उसी तरह गौरव से मण्डित था।

पर उसके बाद से अवनति का युग शुरू होता है। दसवीं शताब्दी से कश्मीर में **डामर** अर्थात् जागीरदार सिर उठाने लगते हैं। राजा के **तन्त्रियों** अर्थात् प्रासाद-रक्षकों और डामरों की लड़ाइयाँ बार-बार होती हैं; स्वयं राजा का डामरों से संघर्ष बराबर चलता है। राजा भी प्रायः कुशासक और अत्याचारी निकलते हैं; यशस्कर के दस वर्ष (९३९–९४८ ई०) के सुशासन जैसे कोई-कोई अपवाद बीच में आते हैं। प्रजा का निश्चेष्ट हो कर सब कुछ सहने को तैयार होना इस सारी दुरवस्था की जड़ में था।

रानी दिद्दा के अपने भतीजे संग्रामराज को उत्तराधिकारी बनाने से

लोहर राजवंश शुरू होता है (१००३ ई०)। तब से डामरों की शक्ति खुल कर बढ़ने लगती है। राज्य के लिए महत्त्व के अनेक गढ़ डामरों के हाथों में चले जाते हैं। हर्ष (१०८६–११०१ ई०) अपने राज्य में उन्हें वापिस लेने का यत्न करता, इसलिए डामरों को क्रूरता से दबाता है। पर वह भी अन्त में विफल होता है। डामर हर्ष के दो गोतिये भाइयों—उच्चल और सुस्सल—का पक्ष ले कर विद्रोह करते जिससे हर्ष मारा जाता और उच्चल के राज्य पाने के साथ दूसरा लोहर राजवंश शुरू होता है। इस वंश के प्रशासन में डामर बराबर राजवंश के किसी न किसी व्यक्ति को राज्य का दावेदार बना कर खड़ा करते रहते हैं। यों राज्यकेन्द्र का डामरों से और डामरों के गुट्टों का परस्पर संघर्ष और बढ़ जाता है। धीरे-धीरे राजधानी के पड़ोस के तथा राजकीय सेना के कब्ज़े में के प्रदेशों के सिवाय समूची भूमि डामर हड़प लेते हैं। राजा उनमें से किसी एक गुट्ट का साथ ले दूसरों को दबा पाता तथा अनेक डामर राजकर्त्ता बने रहते।

डामर शब्द राजतरंगिणी में ठीक जागीरदार के अर्थ में है। पर हर्ष के राज्यकाल के वर्णन में कल्हण उन्हें **लवन्य** भी कहता है, और जोनराज ने उसी शब्द का अधिक प्रयोग किया है। लवन्य (=आधुनिक लून) कश्मीरी कृषक जनता की प्रमुख जाति थी; अधिकतर डामर उसी जाति या जात के थे। पिछले राजाओं के वृत्तान्तों में कल्हण डामरों को दस्यु (डाकू) भी कहता है। प्रजा के उनके विषय में भाव उस शब्द से प्रकट हैं।

इस बढ़ती हुई भीतरी कमज़ोरी के बावजूद भी कल्हण के समय तक कश्मीर का राज्य काफी मजबूत रहा। महमूद गज़नवी ने संग्रामराज के समय उस पर पंजाब की ओर से चढ़ाई की, पर लोहर के गढ़ से हार कर लौटा। इससे प्रकट है कि कश्मीर का रास्ता देने वाले घाटों की तब तक सजगता से रक्षा की जाती रही। ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा कलश (१०६३–१०८६ ई०) के अधीन पच्छिम तरफ उरशा (हज़ारा), पूरब

तरफ काष्टवाट (कष्टवार) और चम्पा (चम्बा) और दक्खिन तरफ राजपुरी (राजौरी) के प्रदेश भी थे। कलश के उत्तराधिकारी हर्ष की राजपुरी और दरदों से हार हुई। कल्हण के समकालिक राजा जयसिंह ने फिर दरद देश पर विफल चढ़ाई की। पर इन हारों से भी यह सिद्ध है कि कश्मीर दून के पड़ोसी प्रदेशों पर आधिपत्य रखने का तब तक कश्मीर के राजाओं को उत्साह और ध्यान था। हर्ष का समकालिक दरद राजा विद्याधर शाहि और जयसिंह का समकालिक यशोधर शाहि था। इससे यह प्रकट है कि पहले मध्य काल के अन्त तक दरद हिन्दू थे।

जोनराज की कहानी जब शुरू होती है तब जयसिंह का प्रशासन जारी था।

"त्रिगर्त्त (जलन्धर-होशियारपुर-कांगड़ा प्रदेश) के अधिपति सुशर्मा के वंशज मल्ल को जो वैरियों द्वारा निर्वासित हो वृत्ति पाने के लिए आया, राजा ने (अपने यहाँ) रख लिया (३०)। राजा के यवनों की भूमि जीतने जाने पर मल्ल अपने शौर्य के उभाड़ के कारण सेना का अतिप्रिय हो गया (३२)।"[२] इस युद्ध में तुर्क सेना अधिकांश मारी गई, तब मल्लचन्द्र उनके शिविर में घुसा (३३)। यह चढ़ाई स्पष्टतः पंजाब के गज़नवी तुर्कों के प्रदेश पर थी। त्रिगर्त्त राज्य को महमूद गज़नवी ने लूटा तो था ही; उसका मैदान का अंश अर्थात् जलंधर ज़िला गज़नवी तुर्कों के हाथ चला गया हो तो अचरज नहीं। महमूद गज़नवी के बाद मालवे के राजा भोज और चेदि के गांगेयदेव और कर्ण

---

२. इस प्रसंग में दूसरी राजतरंगिणी के जिस श्लोक के आधार पर जो बात लिखी गई है उस श्लोक की संख्या उस बात के आगे कोष्ठ में दी गई है। जहाँ श्लोक का पूरा शब्दानुवाद दिया है वहाँ उसे उलटे कामों से घेर दिया है, और शब्दानुवाद के अतिरिक्त व्याख्यापरक बात उसके भीतर कोष्ठों में। जहाँ श्लोक उद्धृत किये गये हैं वहाँ यदि उनमें कोई पाठसुधार अभीष्ट है तो उद्धृत श्लोक के बाद सबसे पहले उसे सुझाया गया है। फिर डैश (—) चिह्न लगा कर एक वाक्य में श्लोक का शब्दानुवाद उलटे कामों से घेरे बिना। उसके बाद व्याख्या-विवेचना।

ने उत्तर भारत की ओर बढ़ कर हरियाना (=कुरुक्षेत्र) प्रदेश और पंजाब के पूरवी अंश को तुर्कों से मुक्त कराया। सम्भवतः भोज से ही प्रेरणा पा कर अनंगपाल तोमर ने पंजाब से पूरब और दक्खिन की ओर तुर्कों की बाढ़ रोकने के लिए दिल्ली की स्थापना की। राजतरंगिणी के इस सन्दर्भ से पता चलता है कि पंजाब में महमूद-वंशजों के विरुद्ध संघर्ष में कश्मीर राज्य ने भी भाग लिया।

"३०वें वर्ष में फाल्गुन कृष्ण द्वादशी को राजा (जयसिंह)······ (स्वर्ग सिधारा) (३८)।" यह वर्ष सप्तर्षि संवत् या लौकिक संवत् का है, जो कश्मीर और पड़ोसी प्रदेशों में शताब्दी के अंक छोड़ कर बर्ता जाता था। इसमें २४-२५ वर्ष जोड़ने से ईसवी सन् बनता है।[3] यों जयसिंह की मृत्यु फरवरी ११५५ ई० में हुई।

"इसके बाद जड (मन्दबुद्धि) लोगों ने उसके बेटे उस परमाणुक को अभिषिक्त किया, जैसे माघ के दिनों ने छोटे छोटे पत्तों के फैलाव वाले कुन्द पौधे को (३६)।" कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी (तरंग ८, श्लोक ३३०१, ३३७१–७३) में जयसिंह के पाँच बेटों के नाम दिये हैं—गुल्हण, अपरादित्य, ललितादित्य, जयापीड और यशस्कर। इनमें से गुल्हण सबसे बड़ा था और उसका लोहर के राजा रूप में अभिषेक जयसिंह ने लग० ११४५ ई० में ही करवा दिया था। परमाणुक उसी का छेड़ का नाम रहा होगा। उसके प्रशासन का यह विवरण है—"प्रजा की रक्षा से छुट्टी ले कर और दिग्विजय का तिरस्कार करके राजा अनथक कोश का संचय करने लगा। (४०)।" किन्तु "श्रोत्रिय की तरह सम्पत्ति को देने और भोगने में असमर्थ उस राजा की लक्ष्मी को प्रयाग और जनक (नामक) धूर्त्त चुराने लगे (४१)।" किस प्रकार उसे बेवकूफ बना कर वे लूटते रहे इसके उदाहरण दे कर कवि कहता है—"यों इस

---

३. गौ० ही० ओझा (१९१८)—भारतीय प्राचीनलिपिमाला २य संस्क०, पृ० १५९—१६१।

बच्चे जैसे निकम्मे राजा को हौआ दिखा दिखा कर दोनों विट समूचे कोश को लूटते रहे (५०)। साढ़े नौ बरस और दस दिन पृथ्वी को भोग कर ४०वें वर्ष (= ११६४ ई०) श्रावण शुक्ल ७ को राजा मर गया (५१)।"

उसके बेटे के सात बरस के प्रशासन को जोनराज ने इस एक श्लोक में निपटा दिया है—"उसका बेटा वह वन्तिदेव नामक सैंतालीसवें वर्ष (= ११७१ ई०) भादों शुल्क दशमी को मर गया (५२)।"

तब "पुर के लोगों ने किसी और योग्य के न मिलने से बुप्पदेव नामक को राजा बना दिया, मानो घास का रचा हुआ भिषायक पूजा के लिए बिठा दिया हो (५३)!" भिषायक एक यक्ष का नाम है। बुप्पदेव किस वंश का था सो भी हम नहीं जानते। इसलिए डा० हेमचन्द्र राय ने वन्तिदेव के साथ दूसरे लोहर राजवंश का अन्त माना है। बुप्पदेव की मूर्खता के उदाहरण दे कर जोनराज कहता है—"इस प्रकार मूर्खों का नमूना बन कर उसने ९ वर्ष ४ मास २½ दिन (११७१–११८१ ई०) नाम का राज्य किया (५८)।" यह श्लोक यों छपा है—

एवं निदर्शनीभूय मूर्खाणां नाम राजताम्।
नवाब्दांश्चतुरो मासान्सार्धे द्वे च दिने व्यधात् ॥५८॥

इसमें **नामराजताम्** इकट्ठा करके पढ़ना चाहिए। आगे ३८७ श्लोक में भी ठीक ऐसा प्रयोग आयगा।

"उसके बाद उसके छोटे भाई अत्यन्त अज्ञ जस्सक को, जो भूमि का भार उठाना भी नहीं चाहता था, लवन्यों ने अपनी बढ़ती चाहते हुए अभिषिक्त कर दिया (५९)।" राजा कमज़ोर से कमज़ोर और निकम्मे से निकम्मा रहे लवन्यों को यही अभीष्ट था, जिससे वे अपने इलाकों में मनमानी कर सकें। क्षुत्र और भीम नामक दो चालाक ब्राह्मण सगे भाई राजा जस्सक के बहुत मुँह लगे थे (६२)। "उन दोनों में से एक ने जो स्वयं राजलक्ष्मी नहीं ले ली इसका कारण (उनका) अनौचित्य की शङ्का करना नहीं, प्रत्युत लवन्यों का गर्व था,—हाँ इसका

कारण बड़े लवन्यों का डर था, अनौचित्य (का विचार) नहीं (६३) ।" १८ वर्ष १३ दिन के प्रशासन के बाद (११९९ ई०) जस्सक चल बसा (६७) ।

यों पहले मध्य काल और बारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते कश्मीर में राजा का पद मज़ाक बन गया । और जब कश्मीरी ठिकानेदार अपने देश की राजशक्ति को यों धूल में मिला रहे थे तभी उनकी दक्खिनी सीमा के पार दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हो गई थी ।

§३. तेरहवीं शताब्दी में कश्मीर राज्य

तेरहवीं शताब्दी के शुरू से अवस्था कुछ बदली क्योंकि जस्सक के वंशज योग्य और बलिष्ठ निकल आये ।

"उसके बाद उसके बेटे विनय-बल-युक्त श्री जगदेव ने वसन्त मास की तरह जनता का हर्ष बहुत अधिक बढ़ाया (६८) । सन्ध्या का क्षण आने पर जैसे कुमुद और कमल एक जैसे हो जाते हैं, वैसे ही उसके समय में परस्परविरोधी भृत्य समान वृत्ति वाले हो गये (६९) । बड़े विज्ञान और कौशल वाले उस महीपति ने भूतल पर से दुर्व्यवस्था उसी तरह हटा दी जैसे शल्य को निकालने वाला शल्य को हटाता है (७०) ।"

किन्तु "मन्त्रियों ने मन में बाण की तरह चुभने वाले उस असामान्य गुणों वाले राजा को कुचक्र करके देश से निर्वासित कर दिया (७१) !" जनता पर तुच्छ अत्याचार करने वाले अधिकारियों और ठिकानेदारों के लिए कोई भी योग्य राजा आँखों का काँटा था । गुणाकर-राहुल नामक योग्य मन्त्री राजा जगदेव को निर्वासन में मिला और उसके साथ राजा फिर कश्मीर आया (७२-७३) । "(उनके) शत्रु जो बहुत दिन भोगी लक्ष्मी को छोड़ना न सह सकते थे, लड़ने को उद्यत हो कर आये, और उनकी नीति और ओज की आग के अन्दर पतंगों की तरह गिर पड़े (७४) ।" ये 'शत्रु' भ्रष्ट राज्याधिकारी और

डामर ही रहे होंगे। राजा विजयी हुआ (७५), पर एक अरसे बाद

वाल्लभ्याद्द्वारपतितां पद्मोनामवता ततः।
दुरात्मनावधिच्छन्नविषदानेन भूपतिः ॥७७॥

पहली पंक्ति में म की जगह प्त पढ़ना चाहिए।— लिहाज़-पक्षपात से द्वारपति पद को पाये हुए पद्म दुरात्मा ने तब छिपा विष दे कर राजा को मार दिया। १४ वर्ष राज्य कर ८९वें वर्ष (१२१३ ई०) में जगदेव यों परलोक सिधारा (७८)।

द्वारपति या द्वारेश का अर्थ पहले मुख्य प्रतीहार अर्थात् राजप्रासाद का द्वारपाल माना जाता था। श्री योगेश दत्त ने उसका अर्थ किया था द्वार नामक स्थान या प्रदेश का स्वामी। पर औरेल स्टाइन ने दिखाया कि राजतरंगिणी में प्रतिहार और द्वारेश दोनों का इकट्ठा उल्लेख भी है जिससे दोनों का अलग अलग होना प्रकट होता है। उन्होंने द्वारेश विषयक सब उल्लेखों की विवेचना कर यह सिद्ध किया कि द्वारेश कश्मीर राज्य का वह बड़ा अधिकारी होता था जिसके ज़िम्मे कश्मीर के सब द्वारों अर्थात् पहाड़ी घाटों की रक्षा का निरीक्षण रहता था।[४]

जगदेव की मृत्यु के बाद

तत्पुत्रो राजदेवोथ काष्टवाटं भयाद्गतः।
आनिन्ये वामपार्श्वस्थैर्द्वारेशस्य विरोधिभिः ॥७९॥

—उसके बेटे राजदेव को जो भय से काष्टवाट चला गया था, वामपार्श्व में ठहरे हुए द्वारेश के विरोधी ले आये। काष्टवाट आधुनिक कष्टवार अर्थात् चनाब की उसके पहले दक्खिनी मोड़ पर की प्रसिद्ध दून है। एक काष्टवाट कश्मीर से पुंच के रास्ते पर वराहमूल (बारामूला) के थोड़ा ही आगे, अर्थात् कश्मीर दून के पच्छिमी किनारे के पास भी था।[५]

---

४. औरेल स्टाइन (१९००) —कल्हणज़ राजतरंगिणी (कल्हण की राजतरंगिणी) ५,२१४ पर टिप्पणी।

५. वहीं, ६, २०२ पर टिप्पणी।

लेदरी (लिदर) नदी के दाहिने (पच्छिम) और बाँयें (पूरब) तट के प्रदेश क्रमशः दक्षिणपार्श्व (दचुनपोर) और वामपार्श्व (खोवुरपोर) कहलाते हैं। वामपार्श्व या खोवुरपोर कश्मीर दून के पूरबी छोर पर है जिसके आगे अमरनाथ पर्वत के पार कष्टवार दून है। इसलिए काष्टवाट का अर्थ यहाँ चनाब वाली कष्टवार ही है। राजदेव के लौट आने पर

तं सल्हणाख्यदुर्गान्तःप्रविष्टं दुष्टचेष्टितः।
अवेष्टयद्बलैः पद्मो मण्डलैरिव पन्नगम् ॥८०॥

—उसे सल्हण नामक गढ़ में घुस जाने पर दुष्टतापूर्ण चेष्टा करने वाले पद्म ने सेना से ऐसे घेर लिया जैसे साँप को मंडलों से घेरा हो। सँपेरे गोल लकीरें (मंडल) बना कर साँप को घेरते हैं। अथवा यदि **पन्नगम्** के बजाय **पन्नगः** पाठ हो तो यह अर्थ होगा कि पद्म ने राजदेव को ऐसे घेरा जैसे साँप ने किसी को अपने कुण्डलों से घेरा हो। सल्हण उच्चल और सुस्सल का सौतेला भाई था जिसने उच्चल के बाद चार मास (११११–१२ ई०) कश्मीर का राज्य किया था। उसके नाम का कोई गढ़ प्रकटतः पूरबी कश्मीर में था।

पद्म के राजदेव को सल्हणगढ़ में घेर लेने पर "किसी चण्डाल (जाति के व्यक्ति) ने भेंट में लाई हुई अपूर्व खड़ाँवों को देखने के तमाशे में बेसुध हुए हुए द्वारेश को युद्ध में मार डाला (८१)। तब भट्ट ब्राह्मणों ने नगाड़ों और शंखों के घोष के साथ (राजदेव को) अभिषिक्त कर दिया…(८२)।"

असामान्यो लवन्येन्द्रान्स वास्तव्यकुटुम्बितान्।
निन्ये द्रोणीपरिवृढो रूढिभारोढिमादिशन् ॥८३॥

सवास्तव्य… मिला कर पढ़ना चाहिए।—वह असामान्य राजा बड़े-बड़े लवन्यों को उनके प्रदेशों में बसे लोगों और कुटुम्बियों सहित रूढि-भारोढि का आदेश दे कर ले जाता रहा।

रूढिभारोढि या **रूढभारोढि** कश्मीर की बेगार प्रथा थी जिसे कल्हण के अनुसार नौवीं शताब्दी के अन्त में राजा शंकरवर्मा ने चलाया था।

कल्हण ने उसका वृत्तान्त यों दिया है—

अथ क्रमेण नृपतिर्लोभाभ्यासेन भूयसा ।
आधीयमानचित्तोभूत्प्रजापीडनपण्डितः ॥५, १६५॥

—अब राजा क्रमशः लोभ का बहुत अभ्यास करने से रुग्णचित्त हो कर प्रजा-पीडन में पण्डित हो गया। किस प्रकार उसने देवमन्दिरों की सम्पत्ति हथियाई इसका विवरण देने के बाद कल्हण कहता है—"जब वह दूसरे देश में ठहरा हुआ था तब जो ग्रामीण भार ले कर नहीं आये उन्हें उसने उस देश के मँहगे दामों के अनुसार (उतने) भार का मूल्य एक वर्ष के लिए दण्ड लगाया (५, १७२)। दूसरे वर्ष सब ग्रामों को जो निरपराध थे उसी हिसाब से भार का मूल्य प्रति-ग्राम दण्ड लगाया (५, १७३)।"

इत्येषा रूढभारोढिः प्रथमं तेन पातिता ।
दारिद्र्यदूती ग्रामाणां या त्रयोदशधा स्थिता ॥५, १७४॥

—यह है रूढभारोढि जो पहलेपहल उसने लगाई, जो तेरह प्रकार की चली आती है और जो ग्रामों के लिए दरिद्रता की दूती (सन्देश लाने वाली) है। शंकरवर्मा ने काबुल-ओहिन्द राज्य को जीता था और प्रकटतः उसी प्रसंग में उसने यह प्रथा चलाई। उसके बाद यह जारी रही। हर्ष ने अपने प्रशासन में मन्दिरों के धन को अनेक उपायों से ज़ब्त किया। पहलेपहल उसने भीमकेशव के बन्द मन्दिर के खजाने को खोला तो उसे बहुत धन मिला। वहाँ के पुरोहितों ने तब अनशन का धरना देते हुए यह माँग की कि उस धन की जब्ती के बदले में उन्हें रूढभारोढि से मुक्त किया जाय। राजा ने उनकी माँग मान ली (कल्हण राजत० ७, १०८८)। राजा जयसिंह ने अपने प्रशासन (११२८—११५५ ई०) में जब दरद देश की सीमा पर कृष्णगंगा दून में शिरःशिलाकोट्ट पर चढ़ाई की, तब उस गढ़ को घेरने वाली सेना के लिए लकड़ी के मकानों का नगर सा वहाँ बसा दिया। उस छावनी के बढ़िया प्रबन्ध की प्रशंसा के अन्त में कल्हण कहता है—"किन्तु भारोढिपीडित ग्रामीणों

की पुकार क्षान्ति-चरु (=भूलचूक की क्षमा के लिए दी जाने वाली आहुति = शान्तिपाठ) के समान थी (८, २५१३)।"

राजदेव ने बड़े-बड़े जागीरदारों और उनके कुटुम्बियों से भी बेगार ली इसका यह अर्थ है कि वह प्रबल और कड़ा राजा था। जोनराज आगे कहता है कि "उस महातेजस्वी नरसिंह ने जंगली हाथियों जैसे लवन्यों का दर्प वैसे ही चूर किया जैसे आग ने वनों का (८४)।" किन्तु

माल्लैर्बलाढ्यचन्द्रस्य बलिनो लहरेशितुः।
हरतो नगरार्धं स शक्तो नाभून्निवारणे ॥८५॥

—लहर के स्वामी बली बलाढ्यचन्द्र को मल्ल-वंशजों द्वारा नगर का आधा छीनने से वह रोक नहीं सका। महा-हिमालय में ज़ोजी-ला अर्थात् ज़ोजी घाटे से दक्खिन तरफ सिन्धु नाम की छोटी नदी उतरती है जिसके किनारे गान्द्रबल बस्ती है तथा जो श्रीनगर के उत्तर-पच्छिम वितस्ता में मिलती है। इस सिन्धु या उत्तरगंगा का प्रस्रवणक्षेत्र तथा इसके दाहिने तरफ का खादर मिला कर कश्मीर का सबसे बड़ा लहर (=लार) परगना बनता है। लदाख और मध्य एशिया के व्यापार का रास्ता इसी में से गुजरने के कारण इसका सदा महत्त्व रहा है। लहर के डामर दूसरे लोहर वंश के समय में प्रायः कश्मीर के राजकर्त्ता बने रहे थे। उच्चल और सुस्सल के पिता का नाम मल्ल था। वन्तिदेव के साथ उस मल्ल का राजवंश जिसे हम दूसरा लोहर राजवंश कहते हैं, समाप्त हो गया था; तो भी बहुत से मल्ल-वंशज श्रीनगर में बसे रहे होंगे। लहर के डामर बलाढ्यचन्द्र के उनके साथ मिल कर नगर का आधा अंश छीनने का ठीक अर्थ क्या है सो स्पष्ट नहीं होता। पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह अनिच्छुक राजा से अपनी कोई माँग मनवाने के लिए किया हुआ उपद्रव मात्र था, क्योंकि अगले श्लोक में कहा है कि बलाढ्यचन्द्र ने अपने नाम का मठ नगर के अन्दर बनवाया, और इसके साथ ही इस विषय की चर्चा समाप्त हो जाती है।

भट्टों ने राजा राजदेव के बारे में कभी कुछ हलकी चर्चा कर दी, तब उसने भट्टों को लूटने का आदेश दे दिया (८७-८८)! इससे राजा की स्वेच्छाचारिता प्रकट है। आगे यह सूचना दी है कि राजदेव ने राजपुरी और राजोलक की रचना की (९०)। यह राजपुरी अभिसार देश की राजपुरी (राजौरी) से भिन्न कोई छोटी बस्ती होनी चाहिए। राजोलक की पहचान स्टाइन ने वेर परगने के रुज़ुल गाँव से की थी।[६] कश्मीर दून के दक्खिन-पूरबी छोर में प्रसिद्ध वेरनाग स्रोत है जिससे वितस्ता का निकास माना जाता है। उसके पासपड़ोस का प्रदेश वेर परगना है, जिसमें पञ्चहस्त (पांज़थ) नामक स्थान है। पांज़थ के दक्खिन एक सुन्दर दून है जिसका मुख्य गाँव रुज़ुल है।

राजदेव ने सवा तेइस बरस (१२१३–१२३६ ई०) प्रशासन किया (९१)।

उसका बेटा संग्रामदेव भी दृढ राजा था। अपने छोटे भाई सूर्य को उसने अपना प्रतिनिधि बनाया, पर सूर्य ने कुचक्र में पड़ कर द्रोह करना सोचा (९३), और लहर के ठिकानेदार चन्द्र से जा मिला (९४)। यह चन्द्र प्रकटतः बलाढ्यचन्द्र का उत्तराधिकारी था। राजा ने सूर्य और चन्द्र दोनों को दबाया (९५)। तब शमाला के स्वामी तुङ्ग ने सूर्य को सहारा दिया, पर उसे भी नीचा देखना पड़ा (९६)। सूर्य पकड़ा और मारा गया (९७)। पहले मध्य काल या और पहले से कश्मीर दून के दो विभाग किये जाते रहे हैं। श्रीनगर के ऊपर अर्थात् दक्खिन-पूरब वितस्ता के दोनों तरफ का प्रदेश मडवराज्य (=मराज़) था; श्रीनगर के नीचे अर्थात् उत्तर-पच्छिम का क्रमराज्य (=कमराज)। शमाला (=हमाल) क्रमराज्य में वोलुर झील और वितस्ता के उत्तर का जिला है।

राजा संग्रामदेव ने सूर्य का कुचक्र तोड़ दिया, फिर भी उसे स्वयं

---

६. वहीं जि० २ पृ० ४७०।

कश्मीर छोड़ना पड़ा। "गोतियों के बलिष्ठ होने पर निराश हुए उस राजा ने राजपुरी (राजौरी) के राजा के पास अच्छी और अभीष्ट शरण पाई (६६)।"

तस्मिन्दण्डधरे दूरं याते डामरफेरवः।
अन्त्राण्यपि विशामाशुरशेषं रक्तपायिनः ॥१००॥

—उस दण्डधर के दूर चले जाने पर खून पीने वाले डामर सियार प्रजाओं की आँतें भी पूरी-पूरी खा गये!

राज्ञा सुमनसा त्यक्तं द्विजैश्च स्पर्शदूषितम्।
भोज्यं डामरडोम्बानां तद्राज्यान्नमभूच्चिरम् ॥१०१॥

—सहृदय राजा द्वारा त्यागा हुआ वह राज्य द्विजों द्वारा त्यागे हुए स्पर्श-दूषित (जूठे) अन्न सा चिर तक डामर-डोमों का भोज्य बना रहा। कश्मीर राज्य की भीतरी दशा कैसी थी, और डामरों के विषय में प्रजा के कैसे भाव थे, इन दो श्लोकों में उनका पूरा चित्र है।

संग्रामदेव ने राजपुरी से वापिस आ कर अपने शत्रुओं को हराया (१०३), पर बाद में वह अपने दादा जगदेव की तरह मारा गया (१०६)। उसका प्रशासन १६ वर्ष (१२३६–१२५२ ई०) रहा। उसके बेटे रामदेव ने अपने पिता के घातकों को मार कर २१ वर्ष (१२५२–१२७३ ई०) राज्य किया (११७), और उस अवधि में शमाला को जीता अर्थात् वहाँ के डामरों को वश में किया (१११-११२)।

यों तेरहवीं शताब्दी की पहली तीन-चौथाई में जिन चार राजाओं ने कश्मीर पर राज्य किया, वे प्रबल और शक्त थे। उन्होंने राज्य से दुर्व्यवस्था दूर की, तथा डामरों को दबा कर रक्खा। इसी से इस अवधि में कश्मीर राज्य बचा और बना रहा; अन्यथा, यदि कोई विदेशी आक्रमक उसे जीतने न आता तो भी वह आप से आप छिन्न-भिन्न हो गया होता। इसके बाद दूसरे किस्म की कहानी शुरू होती है।

रामदेव के कोई सन्तान नहीं थी। उसने किसी ब्राह्मण के लड़के लक्ष्मण को गोद ले लिया। लक्ष्मण में राजा होने की योग्यता न थी।

कथंचिल्लक्ष्मदेवोथ पाट्यमानाङ्गविह्वलः।
नग्नः कण्टकिनीं वल्लीमिव क्षोणीं बभार सः ॥११८॥

—जैसे काँटों वाली बेल को कोई नंगा छिदते अंगों से व्याकुल होता हुआ ले चले वैसे ही लक्ष्मदेव किसी तरह पृथ्वी को धारण करता रहा। सवा तेरह बरस (१२७३–१२८७) उसने इस प्रकार राज किया (१२२)। उस बीच

कज्जलेन तुरुष्केण बहिरेत्यात्र मण्डले।
लुण्ठाकेन प्रजादृष्टिरुत्पाद्यास्रुवता हता ॥१२१॥

"'पाद्यास्रु'"'के बजाय "'साद्यास्र'" पाठ होना चाहिए। लुटेरे तुर्क कज्जल ने बाहर से इस (कश्मीर) मण्डल में आ कर चारों तरफ से टपकते हुए (आस्रवता) प्रजा-रूपी दृष्टि उजाड़ कर मार दी। कज्जल (काजल) से दृष्टि साफ होनी चाहिए, पर तुरुष्क कज्जल ने प्रजा रूपी दृष्टि उलटा मार दी।

४. कज्जल तुरुष्क

कज्जल कौन था, किधर से आया ? वह बाहर से आया यह तो श्लोक में स्पष्ट कहा है। दक्खिन से दिल्ली की सल्तनत से आया होता तो दिल्ली के इतिहासों में उसके कश्मीर लूटने का उल्लेख होता। इसके अतिरिक्त दिल्ली की तुर्क सल्तनत इस समय स्वयं मंगोलों से मार खा रही थी, और जैसा कि हम अभी देखेंगे, एक मंगोल सरदार उससे लाहौर छीन कर वहाँ का राजा बन बैठा था। राजा लक्ष्मण के उत्तराधिकारी के विषय में जोनराज ने कहा है कि कज्जल के उपद्रव के कारण वह लेदरी मात्र का नायक रह गया था (१२३)। लेदरी (लिदर) नदी जिसके किनारे प्रसिद्ध पहलगाँव है, अमरनाथ तीर्थ के नीचे कश्मीर दून के पूरवी छोर पर है। पूरब और उत्तर से कश्मीर में उतरने के रास्ते एक दूसरे के निकट-निकट हैं। राजा ने लेदरी दून में शरण ली, इससे यह सूचित है कि कज्जल पूरब या उत्तर से अर्थात्

लदाख से या दरददेश से नहीं आया था। तब निश्चय से वह कश्मीर में पच्छिम से घुसा अर्थात् उरशा (हज़ारा) से दोमेल (मुज़फ्फराबाद) और बारामूला हो कर। पर वह कौन था और उसने किन दशाओं में कश्मीर पर चढ़ाई की?

महान् इतालवी यात्री मार्को पोलो के समकालिक यात्रा-वृत्तान्त से इन प्रश्नों पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। वंक्षु और सिन्ध नदियों के बीच के प्रदेशों को करौना लुटेरों ने किस प्रकार बरबाद किया था मार्को पोलो ने इसका मार्मिक वर्णन किया है। "करौना नाम उन्हें इसलिए दिया गया कि वे भारतीय माताओं के तातार पिताओं से पुत्र थे।"[७]

'भारतीय' से स्पष्ट अभिप्राय यहाँ अफ़गानिस्तान के भारतीयों से है। तातार शब्द उसी अर्थ में है जिसमें आधुनिक विद्वान् अल्तइक का प्रयोग करते हैं, अर्थात् वह मानव वंश जिसमें मंगोल मंचु और तुर्क लोग सम्मिलित हैं। हिन्द-तातारी दोगलों को करौना क्यों कहते थे? शायद वह किसी तातारी भाषा का शब्द हो जिससे वह अर्थ निकलता हो; अथवा वह हमारे आधुनिक करंटा शब्द की तरह, जो हिन्द-युरोपी दोगलों के अर्थ में बर्त्ता जाता है, जनता का चलाया हुआ निरर्थक घृणा-सूचक शब्द हो। मार्को पोलो आगे कहता है—

"इन बदमाशों का राजा नोगोदर था। नोगोदर बड़े खान के भाई चगताइ के दरबार में १० हज़ार सवारों के साथ आया। चगताइ उसका चचा (अथवा ताऊ, मामा या मौसा) था।... उसका चचा जब बृहत्तर अरमिनिया में था, तब नोगोदर अपने सवारों सहित भाग गया, पहले बदशाँ में, फिर पशाई-दीर होते हुए अरिओरा-केशेमुर। वहाँ सड़कें बहुत तंग और खतरनाक होने से उसके बहुत घोड़े और आदमी मरे। इन सब प्रान्तों को जीत कर वह भारत घुसा दिलिवर प्रान्त के किनारे पर।

---

७. हेन्री यूल (१८७१)—दि बुक ऑफ़ सेर मार्को पोलो (सेर मार्को पोलो का ग्रन्थ) का हेन्री कोर्दिये कृत ३य संस्करण (१९०३), जि० १, पृ० ९८।

उस नगर को वहाँ के राजा असेदिन सोल्दान से, जो बड़ा शक्तिशाली और धनाढ्य था, छीन कर वहाँ बैठ गया । वहाँ अब नोगोदर अपनी सेना के साथ रहता है, चारों तरफ के तातारों से लड़ता हुआ ।"[८]

'दिलिवर' का मूल रूप इतालवी में 'चित्ता दि लिवर' (= लिवर का नगर) था, और उससे लाहौर नगर अभिप्रेत है, यह बात पहले ही पहचानी गई थी। यूल ने सुझाया कि 'असेदिन सोल्दान' का अर्थ गियासुद्दीन सुल्तान बलबन है जिसने १२६६ से १२८६ ई० तक दिल्ली में राज किया। बलबन के समय में लाहौर पर मंगोल धावे का उल्लेख मुस्लिम इतिहास में भी है। 'निगूदर' भी फारसी तारीखों में सुविदित व्यक्ति है। 'बदशाँ' स्पष्ट बदख्शाँ, और 'केशेमुर' कश्मीर है। दीर पंजकोरा (प्राचीन गौरी) नदी की पच्छिमी शाखा के स्रोत का सुविदित प्रदेश है, जो चितराल से पेशावर के रास्ते पर है। पशाई काफिरिस्तान (कपिश) के काफिरों का एक फिरका है, जिनका प्रदेश काबुल के उत्तरपूरब पंजशीर दून में है। बदख्शाँ से कश्मीर का रास्ता दक्खिन-पूरब होना चाहिए, पर पशाई बदख्शाँ के दक्खिन-पच्छिम है, इस कठिनाई को यूल न सुलझा सके थे। सर औरेल स्टाइन ने इसे सुलझाया। पशाई और उससे मिलती बोलियाँ, जो १३वीं शताब्दी में उससे अभिन्न रही होंगी, कूनड़ नदी तक फैली हैं। कूनड़ बदख्शाँ के दक्खिन-पूरब है और कपिश की पूरबी तथा गन्धार की पच्छिमी सीमा है। 'अरिओरा' उरशा की अग्रोर बस्ती—प्राचीन अत्युग्रपुर—है, यह पहचान भी पहलेपहल स्टाइन ने की।[९] वह बुनेर के सामने सिन्ध के पूरब है। अग्रोर प्रदेश कल्हण के समय कश्मीर के अधीन था, और स्टाइन का विचार है कि इस समय तक भी अधीन रहा होगा। यों

---

८. वहीं पृ० ९८-९९ ।

९. औरेल स्टाइन (१९१९)—मार्को पोलोस अकाउंट ऑफ़ ए मंगोल इन्रोड इंटु कश्मीर (कश्मीर पर एक मंगोल धावे का मार्को पोलो का वृत्तान्त), जिओग्राफ़िकल जर्नल (भूवृत्त-पत्रिका) १९१९, पृ० ९२—१०३ ।

नोगोदर का रास्ता स्टाइन ने यों निश्चित किया—बदख्शाँ से मंडल घाटे द्वारा हिन्दूकुश पार करके बशगोल दून द्वारा कुनड़ नदी तक, वहाँ से दीर, स्वात, बुनेर, अग्रोर होते हुए जेहलम दून में चढ़ कर कश्मीर।

स्टाइन ने लिखा था कि नगोदर के इस आक्रमण का वर्णन पिछली राजतरंगिणी में मिलना चाहिए। मेरा निवेदन है कि कज्जल तुरुष्क या तो स्वयं नगोदर था, या उसका कोई सरदार। 'तुरुष्क' शब्द यहाँ तातार के अर्थ में है। 'कज्जल' किसी मंगोल नाम का अनुवाद हो, या किसी और कारण से कश्मीर में नगोदर का वह नाम पड़ गया हो। हमने देखा कि कज्जल का आक्रमण पच्छिमी रास्ते से हुआ यह राजतरंगिणी से प्रकट होता है। नगोदर के आक्रमण का रास्ता ठीक वही है। मार्को पोलो १२७२-७३ ई० में ईरान में से गुज़रा, तब नगोदर के धावे की बात ताज़ी थी। लक्ष्मण का प्रशासन ठीक १२७३ ई० में शुरू होता है। यों जोनराज और मार्को पोलो एक दूसरे का समर्थन करते हैं।

श्री योगेश दत्त ने उक्त श्लोक १२१ का यों अनुवाद किया कि कज्जल ने राजा लक्ष्मण को, जो प्रजा की आँखों के समान था, मार डाला। डा० हेमचन्द्र राय ने इसे ऐतिहासिक तथ्य मान लिया।[१०] पर यह अर्थ उस श्लोक में हरगिज़ नहीं है। जोनराज ने लक्ष्मण के बारे में जो लिखा है, उससे लक्ष्मण को प्रजा की आँखों के समान कहना किसी तरह संगत नहीं होता। प्रजा का यहाँ दृष्टि के साथ रूपक बाँधा गया है, और उस रूपक की बात कवि को कज्जल के नाम से सूझी है। असंगति अलंकार का प्रयोग जोनराज को बहुत प्रिय है; यहाँ रूपक-मूलक असंगति है। कज्जल की लूटमार के समय लक्ष्मण लिदर

---

१०. हेमचन्द्र राय (१९३१)—दि डिनैस्टिक हिस्टरी ऑफ़ नॉर्दर्न इंडिया, अर्ली मेडीवल पीरियड (पहले मध्य काल में उत्तर भारत के राजवंशों का इतिहास) जि० १ पृ० १७६।

दून में भाग गया और सवा तेरह बरस नाम का प्रशासन करता रहा, यही तथ्य राजतरंगिणी से निकलता है।

५. सिंहदेव और सूहदेव के प्रशासन

"इसके बाद राजा सिंहदेव जो कज्जल के उपद्रव के कारण लेदरी मात्र का नायक रह गया था, संग्रामचन्द्र द्वारा झकझोरा गया (१२३)। ...लहरेन्द्र के मर जाने पर राजा सिंहदेव ने क्षयाकुल पृथ्वी की रक्षा की (१२४)।"

प्रकट है कि संग्रामचन्द्र लहर का ठिकानेदार था। वह ऊपर श्लोक ६४ में उल्लिखित चन्द्र का उत्तराधिकारी रहा होगा। सिंहदेव राजा लक्ष्मण का कौन था सो जोनराज ने नहीं बताया, पर प्रकटतः पुत्र ही था। डा० हेम राय ने इन श्लोकों के शब्दार्थ पर ध्यान न दे कर कुछ दूसरे ढंग से वृत्तान्त लिखा है।

अगले दस श्लोकों में सिंहदेव के ध्यानोद्धार में नृसिंह का मन्दिर बनवाने (१२५-२६) विजयेश्वर की मूर्ति को एक लाख निष्क से खरीदे दूध से नहलाने (१२७) प्रतिदिन प्रातः उठ कर शंकर की वन्दना का श्लोक पढ़ने (१२६-३०) तथा खोनमोष के जागीरदार की कन्या द्वारा मडवाश्रम ग्राम में प्याऊ बनवाने (१३१–३३) जैसी बातों का उल्लेख है। विजयेश्वर मडवराज्य के उत्तरपूरवी भाग, में श्रीनगर से मार्त्तण्ड (मटन) और अमरनाथ के रास्ते पर वितस्ता के किनारे का विजब्रोर गाँव है। वितस्ता में दक्खिन से गम्भीरा जहाँ आ कर मिलती है उसके पास मरहोम गाँव मडवाश्रम है।[११] विजयेश्वर से वितस्ता-गम्भीरा-संगम की दूरी ४ मील के लगभग है। ध्यानोद्धार की पहचान नहीं हुई, पर कल्हण-राजतरंगिणी ८, १४६७–१५१० से प्रकट होता है कि वह उक्त संगम के निकट ही था। उड्डार कश्मीरी उडुर का संस्कृत रूप है जिसका अर्थ है खादर से बना पठार। खोनमोष (खोनमोह) बिल्हण कवि का जन्मस्थान था।

११. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, जि० २ पृ० ४६३ प्र०।

श्रीनगर के दक्खिनपूरब केसर-क्यारियों के प्रसिद्ध गाँव पद्मपुर (पामपुर) से वह ४ मील उत्तरपूरब है। खोनमोह में भी केसर की क्यारियाँ हैं।

यों ये सभी स्थान मडवराज्य के हैं। इसलिए क्रमराज्य अर्थात् पच्छिमी कश्मीर पर और उसके आगे उरशा पर कश्मीर का राजा अपना अधिकार फिर से स्थापित कर सका कि नहीं इस प्रश्न पर प्रकाश नहीं पड़ता। यह भी प्रकट है कि कज्जल के लम्बे उपद्रव के बाद भी कश्मीर के घाटों रास्तों की रक्षा पर ध्यान देने के बजाय राजा मन्दिर बनवाने और पूजा-पाठ में लगा हुआ था। प्रत्यक्ष कर्तव्य से हट कर अधिक पूजा-पाठ करने वालों का जैसा चरित्र प्रायः होता है अन्त में सिंहदेव उसका नमूना दिखाता है।

स दुर्जनपरिष्वङ्गादास्तिकप्रज्ञयोज्झितः।
धात्रीपुत्र्यां स्मरादर्शे स्वात्मानं प्रत्यबिम्बयत् ॥१३५॥

—दुर्जनों की संगति के कारण उसे आस्तिक बुद्धि ने छोड़ दिया; तब उसने काम के दर्पण में (अपनी) धाय की बेटी पर अपना प्रतिबिम्ब डाल दिया! धाय की बेटी उसकी बहन के समान थी। तब "दर्या नामक गणनाधिकारी ने कामसूह (नामक व्यक्ति) से बढ़ावा पा कर उसे, जो कि विनय छोड़ चुका तथा प्रजा को अपने से विरक्त कर चुका था, धोखे से मार डाला (१३६)।" उसका प्रशासन १४½ वर्ष (१२८७–१३०१ ई०) रहा (१३७)।

"उसके बाद उसके भाई सूहदेव ने मन्दबुद्धि होते हुए भी कामसूह का सहारा पा कर समूची कश्मीर भूमि को वश में कर लिया (१३८)।" समूची कश्मीर भूमि को वश में कर लिया यह स्पष्ट सूचना महत्त्व की है। पर समूची कश्मीर भूमि में कवि ने उरशा को भी गिना है कि नहीं यह प्रश्न बाकी रह जाता है। "जीविका पाने की लालसा से विभिन्न दिशाओं से आ कर अनेक व्यक्तियों ने उस राजा का वैसे ही आश्रय पाया जैसे फूले पेड़ का भौंरे पाते हैं (१३९)।" इनमें से एक ने आगे चल कर कश्मीर में अपना राजवंश स्थापित किया।

६. शाहमेर का उद्भव और कश्मीर आना

इन आगन्तुकों का वर्णन यों है—

वृत्त्यै लंकारचक्रोपि दरद्देशात्तदाययौ ।
सन्ततेर्भाविसाम्राज्यः प्राज्यं कश्मीरमण्डलम् ॥१४०॥

साम्राज्यः के बजाय साम्राज्यं पढ़ना चाहिए ।—वृत्ति के लिए लंकार चक्र भी तब दरद देश से बड़े और भरपूर कश्मीर मण्डल को आया, जहाँ उसकी सन्तति का साम्राज्य होने को था । लंकार चक्र का संस्कृत रूप अलंकार चक्र होगा । राजा जयसिंह के समय दरददेश की सीमा पर का शिरःशिलाकोट्ट अलंकार चक्र नामक डामर के ही अधिकार में था । उसी के विरुद्ध राजा को चढ़ाई करनी पड़ी थी ।

क्रमराज्याभिधे राष्ट्रे त्राहग्रामं नृग्रामणीः ।
ददौ वसतये तस्मै नियतेः स नियोगतः ॥१४१॥

—राजा ने भाग्य की प्रेरणा से उसे क्रमराज्य नामक ज़िले में त्राहग्राम बसाने को दिया । इससे स्पष्ट सूचित है कि क्रमराज्य भी अब कश्मीर राज्य में सम्मिलित हो चुका था । यों सूहदेव ने समूची कश्मीरभूमि को वश में कर लिया था इस बात की पुष्टि होती है ।

पार्थोन्य इव पार्थोभूत्पञ्चगह्वरसीमनि ।
यो गह्वरपुरं चक्रे तत्पुत्रो बभ्रुवाहनः ॥१४२॥

—मानो दूसरा पार्थ (अर्जुन) सा पार्थ हुआ था जिसने पञ्चगह्वर की सीमा पर गह्वरपुर रचा था; उसका बेटा बभ्रुवाहन (हुआ) । राजौरी के पूरब चनाब के अन्तिम दक्खिनी घुमाव पर उसमें अस नदी सीधे उत्तर से आकर मिलती है जिसका नाम चनाब के वैदिक नाम असिक्नी का घिसा रूप है । उसकी उपरली दून ही पञ्चगह्वर (पंजगब्बर) है ।[१२] यों यह कश्मीर दून की दक्खिनी सीमा बनाने वाले पञ्चालधारा (पीर पंजाल) पर्वत की ठीक दक्खिनी तलहटी में है ।

---

१२. वहीं, १, १३७ पर टिप्पणी ।

तद्वंश्यः कुरुशाहोभूद्—उसका वंशज कुरुशाह हुआ (१४३)। "कश्मीर देश पार्वती है, वहाँ (का) राजा हर के अंश से उत्पन्न जानना चाहिए, मानो यही बताने के लिए जिसकी तीन आँखें थीं (१४४)।"

काश्मीरेषु हि साम्राज्यं कुरुशाहस्य संततिः।
शंशादीनमुखीमुख्या ख्यातकीर्त्तिः करिष्यति ॥१४५॥

—कश्मीर देश में विख्यात कीर्त्ति वाली कुरुशाह की सन्तति, जिसका प्रमुख शंशदीन मुखी होगा, साम्राज्य करेगी। शंशदीन अर्थात् शम्सुद्दीन शाहमेर का गद्दी पर बैठने के बाद का नाम है। मुखिया के अर्थ में मुखी शब्द सिन्ध में अब तक चलता है; पहले पच्छिमी पंजाब में भी चलता होगा।

ताहराजोजनिष्टास्माद्—इस (कुरुशाह) से ताहराज पैदा हुआ (१४६)। "उससे शौर्य की गर्मी वाला ग्रीष्म का सूर्य शाहमेर पैदा हुआ ··· (१४७)। कभी वन में विहरते हुए उस शाहमेर की दृष्टि को पहले मृगया ने फिर नींद ने ललचाया (१४८)।"

राज्यमा संततेर्भावि कश्मीरेषु तवेति सः।
स्वप्ने वाक्सुधया तत्र महादेव्याभ्यषिच्यत ॥१४९॥

—कश्मीर में तुम्हारा राज्य पीढ़ियों तक होगा इस वचन-सुधा से महादेवी ने उसका वहाँ स्वप्न में अभिषेक कर दिया। "तब शकसंवत् १२३५ में ८९वें वर्ष (=१३१३ ई०) में वह सपरिवार धीरे-धीरे कश्मीर आ पहुँचा (१५०)। सकुटुम्ब आते हुए उसे राजा ने वृत्ति दे कर बढ़ावा देते हुए अनुगृहीत किया ··· (१५१)।"

श्री योगेश दत्त के अनुवाद में १४०-१४१ श्लोक नहीं हैं, तथा १४३ श्लोक में **तद्वंश्यः** के बजाय **सद्वंश्यः** पाठ है। १४२ श्लोक का उन्होंने यह अर्थ किया कि राजा (सूहदेव) मानो दूसरा अर्जुन था, जिसने पञ्चगह्वर की सीमा पर अपना अधिकार जमा लिया; उसके बेटे बभ्रुवाहन ने गर्भरपुर बसाया। किन्तु १३६ श्लोक से स्पष्ट ही उन लोगों का वृत्तान्त चलता है जिन्होंने विभिन्न दिशाओं से आ कर कश्मीर में आश्रय

पाया; बीच में यह श्लोक राजा के अर्थ में नहीं लग सकता। इसके अतिरिक्त सूहदेव को जब १३८ श्लोक में स्पष्ट ही जड (मन्दबुद्धि) कहा है, और आगे २०५ श्लोक में राक्षस कहा है, तब उसकी तुलना अर्जुन से भला कैसे की जा सकती है? डा० हेमचन्द्र राय ने यहाँ भी श्री योगेश दत्त का अनुसरण करते हुए यह कल्पना कर ली कि सूहदेव की यह सफलता शायद शाहमेर के कारण हुई होगी जो १३१३ ई० में राजा की सेवा में प्रविष्ट हुआ, और कि राजा सूहदेव के पुत्र बभ्रुवाहन द्वारा गभंरपुर की स्थापना से उसके प्रशासन की समृद्धि सूचित होती है।[13]

श्री अमृतपाल ने और मैंने सन् १६५० में यह माना कि १४२वें श्लोक में जिसे दूसरा अर्जुन सा कहा है, वह १४०-४१ श्लोकों में उल्लिखित लंकार चक्क ही है। अर्थात् लंकार चक्क ने कश्मीर के क्रमराज्य में बस जाने के बाद दक्खिन जा कर गह्वरपुर बसाया; लंकार चक्क का बेटा बभ्रुवाहन हुआ, फिर उसका वंशज कुरुशाह, कुरुशाह का बेटा ताहराज और ताहराज का शाहमेर। १४० श्लोक में जो यह कहा है कि लंकार चक्क की सन्तति का कश्मीर में साम्राज्य होगा, और १४५ में कुरुशाह की तथा १४६ में शाहमेर और उसकी सन्तति के बारे में जो वही बात दोहराई है उससे हमने यह माना कि लंकार चक्क का शाहमेर का पूर्वज होना प्रकट होता है। जोनराज के समय तक शाहमीर के वंशज कश्मीर में राज कर रहे थे। यदि लंकार चक्क उनका पूर्वज न होता तो जोनराज उसके बारे में यह कैसे कहता कि उसकी सन्तति का कश्मीर में साम्राज्य होगा?

पर १४० श्लोक में जो यह कहा है कि "वृत्ति के लिए लंकार चक्क भी तब (अर्थात् सूहदेव के समय) दरद देश से आया," इससे हमारी स्थापना के रास्ते में बड़ी कठिनाई थी। इसे दूर करने के लिए हमने **तदाययौ** का अर्थ तदा आययौ (तब आया) न करके तद्

---

१३. हेमचन्द्र राय (१९३१)—पूर्वोक्त, पृ० १७७।

आययौ (सो आया था) किया। अर्थात् वह पहले कभी कश्मीर में आया था, फिर उसके वंशज गह्वरपुर में जा बसे, जहाँ से शाहमेर सूहदेव के समय में आया। इस व्याख्या में काफी खींचातानी थी।

इस समूचे सन्दर्भ का फिर मनन करने से अब मुझे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि १४२वाँ श्लोक न तो सूहदेव के विषय में और न लंकार चक्क के विषय में है। १३६ श्लोक में यह कहा है कि दिगन्तर से अनेक वृत्तिलिप्सु आये। आगे वैसे दो व्यक्तियों का वृत्तान्त है, १४०-४१ श्लोकों में लंकार चक्क का तथा १४२ से १५१ श्लोक तक शाहमेर का १४२ श्लोक का स्पष्ट अर्थ यह है कि दूसरा पार्थ-सा पार्थ (नामक व्यक्ति) हुआ था जिसने ''' गह्वरपुर बसाया था, उसका बेटा बभ्रुवाहन। यों शाहमेर के पूर्वज का नाम पार्थ था। पार्थ का अर्थ न तो राजा सूहदेव है, न लंकार चक्क। यह प्रश्न रह जाता है कि इस दशा में लंकार चक्क की सन्तति का कश्मीर में साम्राज्य होने की बात जो १४० श्लोक में कही है उसका क्या अर्थ है। इसका उत्तर यह है कि जैनुलाबिदीन के समय तक भी चक्क सरदारों की जागीरें कश्मीर में काफी फैल चुकी थीं, और जोनराज ने उन्हीं को लक्ष्य करके यह बात कही। प्रत्युत इससे हमें यह नया ऐतिहासिक तथ्य मिला कि शाहमेर के वंश के बाद जिस चक्क वंश ने कश्मीर का राज्य हथिया लिया उसका मूल पुरुष प्रकटतः वही लंकार चक्क था।

जोनराज ने स्पष्ट कहा है कि शाहमेर का पूर्वज पार्थ अर्जुन पार्थ के समान था। अर्जुन का एक बेटा बभ्रुवाहन था, और इस पञ्चगह्वर वाले पार्थ ने भी अपने बेटे का नाम बभ्रुवाहन रक्खा था। पर कश्मीर का राज्य पाने के बाद शाहमेर के वंशज पाण्डव अर्जुन को ही अपना पूर्वज मानने लगते हैं, जैसा कि अबुल फजल ने आईने-अकबरी में लिखा है।[14] अपने पूर्वजों के वृत्तान्त में कल्पना के रंग भर कर जो

१४. वहीं उद्धृत।

चित्र-कथा उन्होंने बना ली थी वह चौथी राजतरंगिणी श्लोक ४७६–५०० में अंकित है।

उस कहानी का आरम्भ महाभारत की अर्जुन और बभ्रुवाहन की कहानी से होता है। अर्जुन की मृत्यु के बाद उसके बेटे परीक्षित और बभ्रुवाहन ने सारी पृथ्वी को आपस में बाँट लिया। आभीर देश में बभ्रुवाहन ने डेढ़ सौ वर्ष राज्य किया, जहाँ उसके ८४ बेटे हुए। उन बेटों की सन्तति बढ़ गई; उन्हें छोड़ योगी बभ्रुवाहन अपने ननिहाल पाताल देश चला गया। "तब वे अतिबलोन्मत्त परस्परविरोधी हो कर प्रजा को पीडित करते और मर्यादा दूर कर बैठे (४८४)। आज्ञोल्लंघन के कारण तब पिता (बभ्रुवाहन) ने उन्हें शाप दिया, और वे अपने नाश के लिए सब देशों को **धाटीभिः समपीडयन्**—धाड़ें मार कर पीडित करने लगे (४८५)। वह जनपीडन देख कोई एक दयावान् सिद्ध आकाश गया और उसने ईश्वर से शिकायत की (४८६)।"

अथोच्चचार नभसो वागेवमशरीरिणी।
सृष्टः सागरमध्येऽस्ति सासिरेव यमोपमः ॥४८७॥

—तब आकाश से बिना देह के ऐसी वाणी हुई कि सागर के बीच यम जैसा (पुरुष) तलवार सहित ही सृजा गया है।

स गृहीतस्ततस्तेन रोमदेशे च वर्धितः।
तेनासिना हयारूढः कण्टकोद्धरणं व्यधात् ॥४८८॥

—उस (सिद्ध) ने उस (तलवार वाले पुरुष) को ले कर रोम देश में पोसा; (बड़े हो कर) उसने घोड़े पर चढ़े हुए उसी तलवार से सब काँटे (अत्याचार) उखाड़ दिये। "उस सर्वभूतविजेता ... चक्रवर्ती को उसके मित्रों बन्धुओं ने भी नहीं देखा (४८६)। उसका वंशज पार्थ हुआ ... जिसने पञ्चगह्वर भूमि में गह्वरपुर बनाया (४६१)। उसका वंशज कुरुशाह हुआ जिसने सारी उत्तर और पश्चिम दिशा को जीत कर अपने धनुष का देवालय बनाया (४६२)। उसका बेटा ताहिराल हुआ

जो तीन लोचनों से भूषित ··· लोभरहित (४६३) त्रिकालदर्शी ··· दयालु योगी दानी सर्वशास्त्रवेत्ता था (४६४)। उसी के प्रभाव से कश्मीर के राजा यहाँ राज्य भोगते हैं (४६५)।"

कश्मीरभूमिपालानां यः स्यादशुभचिन्तकः ॥४९५॥
दिगन्तरीयभूपालस्ताहिरालो निहन्ति तम् ॥ (४९६)

—कश्मीर के राजाओं का जो कोई अशुभ सोचे, दिगन्तर का राजा ताहिराल उसे मार डालता है। "कश्मीर पार्वती है, यहाँ का राजा हर के अंश से उत्पन्न होना चाहिए (४६६), यही जताने के लिए जिसकी तीन आँखें थीं। इसका कोई शत्रु नहीं हुआ, न यह किसी का शत्रु था (४६७)। दैवी आपत्ति को भी (यह) तप से ही हटा देता था ··· (४६८)। आकाश में उठी इस वाणी को उसने दो तीन बार सुना कि कश्मीर में राज्य ले लो, ··· तुम्हारा जो बेटा शाहमीर अत्यन्त नीतिज्ञ बुद्धि वाला है उसे ही भेज दो ··· (४६६-५००)।"

महाभारत की कहानी में सिद्ध और रोम देश की बात जिस तरह आ मिली है सो मनोरञ्जक है। हिन्दू मुस्लिम गाथाओं के मिलने का यह नमूना है। ताहराज से ताहिराल बन गया, और अपने पिता कुरुशाह के बजाय वही त्रिलोचन हो गया।

श्री योगेश दत्त यह नहीं पहचान सके कि चौथी राजतरंगिणी में यह कहानी क्यों आई। पर शाहमेर के वंशजों को जब मुगलों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा और कुछ समय के लिए वे सफलता से कर सके, तब अपने को अर्जुन का वंशज मानने से और यह मानने से कि हमारा पूर्वज ताहिराल हमारे देश की रक्षा कर रहा है, उन्हें बल मिलता होगा; इसलिए यह कहानी वहाँ आई है। जो भी हो, इससे यह भी सिद्ध होता है कि जोनराज के श्लोक १४२ का पार्थ न तो राजा सूहदेव है, न लंकार चक्र, प्रत्युत शाहमेर का पूर्वज। पञ्चगह्वर अभिसार (छिभाल) देश की उत्तरपूर्वी सीमा पर है। छिभाल के निवासी अब छिभ कहलाते हैं। यों शाहमेर के वंश को हम छिभ वंश कह सकते हैं।

७. डुल्च की कश्मीर चढ़ाई

शाहमेर जब कश्मीर आया

डुलुचाख्यः कर्मसेनचक्रवर्त्तिचमूपतिः ।
कश्मीरान्स तदैवागात्सिंहो मृगगुहामिव ॥१५२॥

—तभी कर्मसेन चक्रवर्त्ती का सेनापति डुलुच नामी कश्मीर आया, मानो कोई सिंह मृग की गुफा में (आया हो)। 'तभी' से ठीक क्या समझना चाहिए इसपर आगे विचार करेंगे। "वह मानो यहाँ के साठ हज़ार ग्रामों में स्वामित्व देने के लिए उतनी ही संख्या के सवार अपनी सेना में लाया (१५३)।" कश्मीर में ६० हज़ार ग्राम माने जाते थे और डुलुच की सेना में उतने ही सवार थे। "डुल्च को धन दे कर लौटाने की इच्छा से राजा ने सब वर्णों पर दण्ड (कर) लगा दिया, जिससे वह सबकी दृष्टि में बदरंग हो गया (१५४)।" इसपर

प्राणाहुत्या प्रभोः कोपे तत्प्रतिग्रहसांहसः ।
प्रायस्था ब्राह्मणाः प्रायश्चित्तीयांचक्रुरक्रमम् ॥१५५॥

...चित्तीयांचक्रु... के बजाय ...चित्तीयं चक्रु... पढ़ना चाहिए। —ब्राह्मणों ने राजा का कोप होने पर उस (राजा) से हमने दान क्यों लिया था इससे अपने को दोषी मानते हुए उपवास कर प्राणों की आहुति से प्रायश्चित्त का धरना (अक्रम) किया। ब्राह्मणों ने राजा को शाप दिया कि उसका वंश टूट जायगा; वैसा ही हुआ (१५६)।

८. रिंचन कश्मीर की सीमा पर

"उसी अवसर पर कालमान्य नामक भोट राजाओं ने अपने देश में वकतन्य नामक (अपने) गोतिये का बेटा मार डाला। गोतिया वकतन्य बन्धुओं सहित धोखे से मारा गया (१५७)। (पर) दैवयोग से उसका एक असामान्य बुद्धि वाला मान्य बेटा रिञ्चन ... बच गया (१५८)।" उसने व्याल टुक्क आदि अपने साथियों के साथ अपने शत्रुओं से बदला लेने की ठानी और उन्हें यह कहला भेजा कि मेरा

धन चुकता जा रहा है, सो मुझे अपना नौकर रख लो (१५६-१६०)। नदी के किनारे बालू में उसने शस्त्र छिपा रक्खे; जब कालमान्य लोग वहाँ आये तब उन्हें "कुल्हाड़े की आग में तिनकों की तरह डाल दिया" (१६१-६२)। यों "वैरियों के रक्त से पिता के द्रोह-रूपी रज (आर्त्तव) का मल धो कर बाकी शत्रुओं के डर से वह अपने बान्धवों सहित कश्मीर चला आया (१६३)।" आर्त्तव पानी से धोया जाता है, रक्त से नहीं; पर उसने रक्त से धोया। इस दशा में

पूर्णस्य रामचन्द्रस्य रुचिहान्यै धरार्यमा।
नीलाशाभ्रे रिञ्चराहोरुदयं सोथ सोढवान्॥ १६४॥

—पृथ्वी के सूर्य (अर्थात् कश्मीर के राजा) ने पूरे चन्द्र के समान राम की कान्ति की हानि करने के लिए नीली दिशा (= अन्तरिक्ष) के बादल में रिञ्च-राहु का उदय सह लिया (होने दिया)।[१५] अर्थात् रिञ्चन के उदय से रामचन्द्र की प्रत्यक्ष हानि होने वाली थी; राजा ने रामचन्द्र से ईर्ष्या होने के कारण उसकी हानि कराने के लिए रिञ्चन को कश्मीर में आने और बढ़ने दिया। रामचन्द्र कौन था और यह सारी बात कैसे हुई इसकी विवेचना आगे होगी। इस गूढ श्लोक का यह शब्दार्थ पं० दयाराम साहनी का किया हुआ है, और यह अगले वृत्तान्त में बिलकुल ठीक बैठता है। श्री योगेश दत्त ने रामचन्द्र को कभी राजा सूहदेव से अभिन्न और कभी उसका सम्बन्धी मान कर बहुत गोलमाल किया था।

हेतिभिस्तापयत्याशा डुलुचे कृष्णवर्त्मनि।
काश्मीरकैर्जनैः सर्वैः शलभत्वमलभ्यत॥१६५॥

१५. दयाराम साहनी और ए० एच० फ्रांके (१९०८)—रिफ़रेंसेस टु दि भोट्टस ... इन दि राजतरंगिणी ऑफ कश्मीर (कश्मीर की राजतरंगिणी में भोट्टों विषयक निर्देश), ई० ऑं० १९०८ पृ० १८१ प्र०। रिंचन विषयक सारे सन्दर्भ का अर्थात् १५७ से १६९ तथा १९५ से २५३ तक श्लोकों का इसमें पं० दयाराम साहनी ने सावधानी से अनुवाद और विवेचन किया है। कहीं कहीं अनुवाद में और सुधार करने की आवश्यकता लगती है, पर वह प्रायः गौण बातों के विषय में।

—डुलुच आग जब अपनी लपटों से दिशाओं को तपा रही थी, तब सब कश्मीरी लोगों की उसमें पतंगों की सी गति हुई।

रुद्धयोर्डुल्चरिञ्चाभ्यां प्राच्युदीच्योर्बहुर्जनः।
वसतेः पश्चिमामाशां प्राग्यमाशामथागमत् ॥१६६॥

—डुल्च और रिञ्च द्वारा पूर्व और उत्तर दिशा रोक दी जाने के कारण बहुत लोग पहले आबादी की पच्छिमी फिर दक्खिनी दिशा को गये (भागे)। योगेश दत्त ने वसति का अर्थ राजधानी कर दिया और उसके आधार पर डा० हेमचन्द्र राय ने लिखा कि डुल्च और रिञ्चन ने राजधानी को पूरब और उत्तर से घेर लिया।[१६] यह बिलकुल गलत है। डुल्च और रिंचन एक दूसरे से सहयोग करते हुए कश्मीर पर चढ़ाई नहीं कर रहे थे, और रिंचन की सेना-टुकड़ी यदि डुल्च की सेना के नजदीक आती तो बुरी तरह मार खाती। डुल्च उत्तर से बढ़ा आ रहा था, रिंचन अभी कश्मीर की पूरबी सीमा पर था, जैसा कि अगले वृत्तान्त से प्रकट होगा। कश्मीर के पच्छिम पच्छिमी गन्धार (ओहिन्द, पेशावर) में अभी तक हिन्दू राज्य था, सो हम आगे (परिच्छेद १८ श्लोक ४२८ में) देखेंगे। इसलिए लोग पहले उधर ही भागे।

अधो डुल्चाम्बुपूराद्वीर्गिरौ रिञ्चनमारुतात्।
छायाजुषां फलाढ्यानां पुंनागानामभूत्तदा ॥१६७॥

—छाया वाले और फलों से लदे जायफल वृक्षों के समान हैसियत और धन वाले पुरुषों को नीचे डुल्चरूपी पानी की बाढ़ से डर था, पहाड़ के ऊपर रिंचन की आँधी से।

पत्त्रिशावमिव स्थानच्युतं चिल्लोल्लसद्रया।
बलश्री रैञ्चनी लोकं काश्मीरकमपाहरत् ॥१६८॥

—चील की तरह दमकती वेग वाली रिंचन की सेना अपने ठिकाने से गिरे हुए पक्षी के बच्चे की तरह कश्मीरी लोगों को हर ले जाती थी। अर्थात्

१६. हेमचन्द्र राय (१९३१)—पूर्वोक्त, पृ० १७८।

डुल्च की मार से बचने को जो कश्मीरी अपने घर छोड़ भाग रहे थे उन्हें रिंचन के सैनिक चील की तरह झपट कर उड़ा ले जाते थे।

धनाम्बु प्राप्य भोट्टेभ्यः काश्मीरजनविक्रयात्।
गर्जन्नाशाः प्यधात्सर्वास्तदा रिञ्चनवारिदः ॥१६९॥

—कश्मीरी लोगों की भोटियों के हाथ बिक्री द्वारा उनसे धन-जल पा कर रिंचन-बादल ने गरजते हुए तब सब दिशाएँ ढक लीं।

कश्मीर के रंगमञ्च पर हुए इस भयानक बीभत्स और करुण नाटक के पात्रों का यह आरम्भिक वर्णन है। कश्मीर की उत्तरपूर्वी और पूर्वी सीमा पर बाल्ती, लदाख, ज़ङ्स्कर ये भोट (तिब्बती) प्रदेश हैं। इनसे कश्मीर आने का रास्ता हिमालय के प्रसिद्ध घाटे ज़ोजी-ला पर से है। रिंचन उसी रास्ते आया था यह आगे पूरी तरह प्रमाणित होगा। पच्छिम-तिब्बती इतिहास के विशेषज्ञ फ्रांके का अन्दाज़ है कि यह रिंचन लदाखी इतिहास में उल्लिखित चौदहवीं शताब्दी का वहाँ का दूसरा राजा ल्हचेन ग्र्यल्बु रिंचेन (=महान् देवता राजकुमार रिंचेन) है।[१७]

९. डुल्च का कश्मीर पर बलात्कार

डुल्च द्वारा कश्मीर की लूटमार की जोनराज ने २५ श्लोकों में जो झाँकियाँ दी हैं, मेरे जानते हमारे वाङ्मय में उससे अधिक वेदनापूर्ण सन्दर्भ नहीं है। योगेश दत्त के अनुवाद में इसके २० श्लोक (१७१–१९०) नहीं हैं; दयाराम साहनी को इस सन्दर्भ से प्रयोजन नहीं था। यों इसका पहली बार अनुवाद और विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

तुरुष्कताजिकम्लेच्छसैन्यच्छादितभूतलः।
डुलुच्यो नगरं प्रापदथागस्त्य इवार्णवम् ॥१७०॥

—तुर्क ताजिक और म्लेच्छ सेनाओं से भूतल को ढक कर डुलुच नगर (श्रीनगर) पहुँचा, मानो अगस्त्य समुद्र पर पहुँचा हो। अगस्त्य क्रोध में आ कर सारे समुद्र को एकाएक पी गया था!

१७. दयाराम साहनी और ए० एच० फ्रांके (१९०८)—पूर्वोक्त, पृ० १८७।

ताजिक शब्द हमारे ऐतिहासिक वाङ्मय में आठवीं शताब्दी में अरब लोगों के लिए आता है, जैसे पुलिकेशी अवनिजनाश्रय के ७३९ ई० के नवसारी अभिलेख में। उस लेख में सिन्ध से **ताजिकानीक** (अरब सेना) के दक्खिनी गुजरात में नवसारी तक चढ़ आने और वहाँ पुलिकेशी अवनिजनाश्रय द्वारा हराये जाने का वृत्तान्त है।[१८] पर चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर के उत्तर तरफ अरब कहीं नहीं थे। पिछले मध्य काल से मध्य एशिया की आर्य-भाषी जनता ताजिक कहलाने लगती है। बाबर के समय वहाँ तीन जातियों का भाषा और रंग-रूप की दृष्टि से स्पष्ट भेद किया जाता था—ताजिक, तुर्क और मंगोल।[१९] अब भी मध्य एशिया के आर्य-भाषी ताजिक कहलाते हैं और उनके कारण उनका देश पामीर ताजिकिस्तान। हम देखेंगे कि डुल्च पामीर या उसके पड़ोस के किसी देश से ही आया था; सो उसकी सेना में इन ताजिकों का होना स्वाभाविक था। यों पहली राजतरंगिणी में जिस अर्थ में कम्बोज शब्द है, यहाँ ताजिक उसी अर्थ में है।

म्लेच्छ शब्द हमारे यहाँ साधारण रूप से अपरिचित विदेशियों के लिए आता है। तुर्क और ताजिक कश्मीरियों के लिए सुपरिचित हो चुके थे; नये विदेशी थे मंगोल जो मध्य एशिया में तेरहवीं शताब्दी में ही आये थे; और यहाँ म्लेच्छ से उन्हीं का अभिप्राय है। हम देखेंगे कि डुल्च लगभग निश्चय से मंगोल सेनापति था। १५वीं शताब्दी के इस संस्कृत ग्रन्थ में १४वीं शताब्दी की घटना के विवरण में मध्य एशिया की इस

---

१८. गौ० ही० ओझा (१९२०)—अनहिलवाड़े के पहले के गुजरात के सोलंकी, ना० प्र० पत्रिका १९७७, पृ० २०७–२१८।

१९. एन्० ईलियस और ई० डेनिसन रौस (१८९५)—तारीख-ए-रशीदी ऑफ़ मिर्ज़ा मुहम्मद हैदर दुगलात (मिर्ज़ा मुहम्मद हैदर दुगलात की तारीख-ए-रशीदी का अंग्रेज़ी अनुवाद) पृ० ९७-९८—"यूनुसखाँ का चेहरा ताजिकों जैसा था", तथा भूमिका पृ० ७२ प्र०। मिर्ज़ा मु० हैदर बाबर का मौसेरा भाई था। उसने अपने युग का मध्य एशिया का ऐतिहासिक विवरण बहुत अच्छा दिया है।

युग की तीनों मुख्य जातियों का यों इकट्ठा नाम आना महत्त्व का है।

मृगाः सिंहमिवोदग्रं गरुत्मन्तमिवाण्डजाः।
तमापतन्तमालोक्य पलायन्त पुरौकसः ॥१७१॥

—जैसे विकराल सिंह को देख कर मृग या गरुड को देख कर पक्षी भागें, उसी तरह उसे आ पड़ते देख पुर-वासी भागे।

बद्धाः पलायिनस्तेन मान्त्रिकेणौव पन्नगाः।
केचित्पलायिता भीत्या प्रविष्टा गिरिगह्वरम् ॥१७२॥

'''णौव की जगह '''णेव पढ़ना चाहिए।—उसने भागने वाले ऐसे पकड़ लिये जैसे सपेरा साँपों को पकड़ता है; कुछ भागे हुए डर के मारे पहाड़ों की गुफाओं में जा घुसे।

राजापि क्वापि संछन्नो भीत्या घूकवदास्त सः।
इतरेषां तु लोकानां का कथा तत्र वासिनाम् ॥१७३॥

—राजा भी डर के मारे कहीं उल्लू की तरह छिप कर जा बैठा; वहाँ रहने वाले दूसरे लोगों की तो बात ही क्या ?

विप्रशापो नरेन्द्राणां वृथा जातो न जातुचित्।
सलक्ष्मा राजयक्ष्मा हि नाहत्त्वा विनिवर्त्तते ॥१७४॥

—राजाओं को दिया हुआ विप्रों का शाप कभी वृथा नहीं हुआ; पूरे लक्षणों सहित राजयक्ष्मा कभी मारे बिना नहीं हटता।

गूढार्थं दापिताः पूर्वं गाढया बन्धपीडया।
विक्रीता वाजिभिः पश्चात्तुरुष्कैर्हस्तगा जनाः ॥१७५॥

—तुर्कों ने हाथ में आये हुए लोगों से बन्धन की गाढ़ी पीड़ा के मारे पहले तो (उन्हें छुटकारा देने के लिए) गूढार्थ (खंडनी) लिया; पीछे उन्हें घोड़ों के बदले में बेचा। अर्थात् पकड़े हुए लोग पहले तो रुपये के रूप में खंडनी दे कर छुटकारा पाते, पीछे जब उनके पास रुपया देने को न रहा तब घोड़ों के बदले छोड़े जाते रहे।

विद्धाः केचित्परे बद्धा विराद्धास्तेन केचन।
प्लोषं केचित्परे शोषं दोषं यान्त्यनला द्रुमाः ॥१७६॥

अनला द्रुमाः के बजाय **अनलाद्द्रुमाः** पढ़ना चाहिए।—उस (डुल्च) ने कुछ लोग बींध डाले, कुछ बाँध लिये, कुछ को यातनायें दीं; आग से कुछ पेड़ जल जाते हैं, कुछ सूख जाते हैं, कुछ बिगड़ जाते हैं।

जत्रुवेधेन बद्धानामेकया चर्मवध्रया।
तेषां दुरापमप्यासीदन्योन्यमुखदर्शनम् ॥१७७॥

—कन्धे और छाती के जोड़ पर बींध कर एक ही चाम की डोरी से बँधे हुए उन लोगों को एक दूसरे का मुँह देखना भी दुर्लभ था! कन्धे के जोड़ पर छेद कर दासों को बाँधने का यह तरीका डुल्च की ईजाद था या उस युग में पहले भी चलता था इसकी खोज मैं नहीं कर सका। इसके तीन शताब्दी बाद बंगाल में लूटमार करने वाले पुर्त्तगाली चांचिये जिन लोगों को पकड़ते थे उनके एक एक हाथ में छेद कर एक रस्सी से बाँध लेते थे (ऊपर पृ० १५०-५१)।

घासेन्धनादिसंभारढौकनाय क्षणं क्षणम्।
बद्धा म्लेच्छैरमुच्यन्त बिडालैरिव मूषकाः ॥१७८॥

—घास ईंधन आदि के बोझे ढोने के लिए वे कैदी क्षण-क्षण पर म्लेच्छों द्वारा इस प्रकार छोड़े जाते थे जैसे बिलावों द्वारा चूहे!

येषामन्ने जुगुप्सा भूद्बिडालस्पर्शदोषतः।
म्लेछोच्छिष्टं गवांश्चास्थि निबद्धैर्भक्षितं क्षुधा ॥१७९॥

—जिन्हें बिल्ली के छुए अन्न से भी घिन लगती थी, उन्हीं ने बन्दी बनने पर भूख के मारे म्लेच्छों की जूठन और गौओं की हड्डियाँ खाईं! जिन हिन्दुओं की दृष्टि में म्लेच्छ बिल्लियों से भी बुरे थे, उन्हें उन म्लेच्छों ने बैलों या गधों सा माना तो क्या आश्चर्य?

वैतस्तमपि ये वारि न पपुः पङ्कसंकुलम्।
बद्धैर्मरुषु तैर्नीतैर्मूत्रं पीतं भृशं तृषा ॥१८०॥

—वितस्ता के पानी को भी जो गँदला मान कर न पीते थे, उन्हीं ने बन्दी दशा में रेगिस्तानों में ले जाये जाने पर प्यास के मारे बहुत बार मूत्र पिया!

क म्लेच्छान्नं क वंशो नो दुःसहा क्षुत्क्षुतेन किम् ।
निद्रा नाद्यापि मार्गेण तेन्तरेवमचिन्तयन् ॥१८१॥

—कहाँ म्लेच्छों का अन्न, कहाँ हमारा वंश, भूख सही नहीं जाती, पढ़े-लिखे से क्या, आज भी नींद नहीं (मिलती), मार्ग में वे लोग मन में यों सोचते थे। १७९ और इस श्लोक में म्लेच्छ शब्द साधारण अर्थ में है, और शायद १७८ में भी।

गच्छतां तिष्ठतां तेषामश्नतां जल्पतामपि।
सोभून्नैव क्षणो यत्र न ते कार्यमसाधयन् ॥१८२॥

—चलते बैठते खाते बात करते उनका कोई क्षण ऐसा न होता जिसमें वे (अपने स्वामियों का) कार्य न करें।

म्लेच्छैः केचित्खशैः केचिद्दरद्भिरपरे तथा।
भोट्टैः केचित्तुरुष्कैश्च केचिद् बन्दीकृता जनाः ॥१८३॥

—कुछ लोग म्लेच्छों द्वारा, कुछ खशों द्वारा, दूसरे दरदों द्वारा, कुछ भोटियों द्वारा तथा कुछ तुर्कों द्वारा बन्दी बनाये गये। खश या खस कश्मीर की ही जनता का निचला स्तर थे। पंचालधारा (पीर पंजाल) की दक्खिनी तलहटी में वाणशाला (बानहाल) घाटे से चन्द्रभागा तक की दून खसालय कहलाती थी; अब भी उसका नाम खैशाल है। शाहमेर वहीं का था। कश्मीर से नेपाल तक समूचे हिमालय की जनता का निचला स्तर खसों का है। दरद कश्मीर के उत्तरी और भोट्ट (तिब्बती) पूर्वी पड़ोसी थे। रिंचन के भोटिये किस दशा में इस लूट में शामिल हुए सो हमने देखा। डुल्च जब उत्तरी मार्ग से कश्मीर आया तब कश्मीर की लूट की चर्चा सुन कर कुछ दरद लुटेरे भी उसकी सेना के पीछे पीछे आ गये लगते हैं। यहाँ दरदों के इस उल्लेख से भी यह प्रमाणित होता है कि डुल्च की बाढ़ कश्मीर में उत्तरी मार्ग से ही आई थी।

अन्नं गृहे वने वित्तं मार्गे बन्धून्विहाय च।
पलायामासुरपरे तुरुष्कभयसंभ्रमात् ॥१८४॥

—दूसरे (बहुत से लोग) तुर्कों के भय से सहम कर घर में अन्न, वन में धन और मार्ग में बन्धुओं को छोड़ कर भागे !

करुणागौरवघृणा द्रुतं गन्तुमशक्तिषु ।
बालवृद्धाबलास्वेते त्यक्तवन्तः पलायिनः ॥१८५॥

—बच्चों बूढ़ों और अबलाओं के जल्दी जल्दी चलने में अशक्त होने पर इन भगोड़ों ने उनपर करुणा गौरव और तरस छोड़ दिया !

न भुक्तं क्षुधितैर्मार्गे न पीतं तृषितैरपि ।
किमन्यद्भयसंभ्रान्तैः पश्चात्तैर्नापि वीक्षितम् ॥१८६॥

—उन्होंने मार्ग में भूखे होने पर भी नहीं खाया, प्यासे होने पर भी नहीं पिया, और तो क्या, भय से सहमे होने के कारण पीछे (मुड़ कर) देखा भी नहीं !

क्षुधा केचित्तृषा केचिद्भिया केचित्परे ह्रिया ।
भयाद्बिलदरीष्वेव प्रविश्यान्तर्विपेदिरे ॥१८७॥

—भय से बिलों और गुफाओं में घुस कर उनमें से बहुत से भूख से, बहुतेरे प्यास से, कुछ डर के मारे और कुछ शर्म के मारे अन्दर ही मर गये !

बिलप्रविष्टांस्ताञ्छ्रुत्वा ततो निष्कासनेच्छवः ।
निष्कारुण्यास्तुरुष्कास्ते धूमं बिलमुखे ददुः ॥१८८॥

—उन्हें गुफाओं में घुसा सुन कर उनमें से निकालने के इच्छुक उन निर्दय तुर्कों ने गुफाओं के मुँह में धुँआँ दे दिया !

धूमेनान्तर्विपन्नानां नराणामस्थिराशयः ।
दृश्यन्तेद्यापि धूमोत्थं मालिन्यं च गुहामुखे ॥१८९॥

—धुएँ से अन्दर ही मरे हुए मनुष्यों की हड्डियों के ढेर तथा गुफाओं के मुँह पर धुएँ के काले दाग आज भी दिखाई देते हैं ! जोनराज के समय तक वे चिह्न मिटे न हों यह पूरी तरह सम्भावित है ।

राजापचारमकरोत्प्रजासु फलितस्तु सः ।
नारीणां चपला दृष्टिर्दन्तैर्गण्डस्तु खण्ड्यते ॥१९०॥

—राजा ने बुराई की, पर उसका फल प्रजा को मिला; नारियों की ···। यह दृष्टान्त इस करुण प्रसंग में अत्यन्त बेमेल है। कश्मीरी कवि ने इस बात को अनुभव न किया हो, पर यह सारे वृत्तान्त में हलकापन ला देता है। प्रजा का दोष यह था कि उसने ऐसे राजा को गद्दी पर बिठाये रक्खा। कश्मीर को प्रकृति ने पहाड़ी गढ़ बनाया है। उसके पहाड़ी घाटों की रक्षा करने वाली थोड़ी सी सेना महमूद गजनवी जैसे सेनापति को भी पीछे ठेल सकती थी (ऊपर पृ० ३७५)। पर जब कश्मीर की प्रजा अपने इस साधारण कर्त्तव्य को भी भूल गई तब उसे इसका फल भोगना ही था।

नाशिताशेषदेषोथ हिमपातभयाकुलः।
डुल्चः कश्मीरतस्तारबलमार्गेण निर्ययौ ॥१९१॥

देष की जगह देश पढ़ना चाहिए।—सारे देश को नष्ट करके डुल्च हिम गिरने के डर से कश्मीर से तारबल मार्ग से निकल गया। श्री योगेश दत्त की पोथी में देश के बजाय देव पाठ रहा होगा, इसलिए उन्होंने अर्थ किया—असंख्य देवताओं को नष्ट करके। बाकी अंश का अर्थ उन्होंने किया—कश्मीर के कड़े जाड़े से डर कर डुल्च अच्छे सैनिक मार्ग से चला गया। डा० हेमचन्द्र राय ने इन्हीं शब्दों को उद्धृत कर दिया।

डुल्च दक्खिन से नहीं आया था, और कश्मीर के पूरब, उत्तर और पच्छिम के देश कश्मीर से कम ठंडे नहीं हैं कि वहाँ से आने वाला जाड़े से डरता। बल शब्द कश्मीरी स्थान-नामों में प्रायः आता है जैसे अछेबल, गान्द्रबल आदि। तारबल यों किसी स्थान का नाम है। कश्मीर में घुसने वाला प्रत्येक मार्ग किसी न किसी घाटे पर से आता है, इसलिए घाटा और मार्ग शब्द वहाँ एकार्थक हो गये हैं। घाटों के रक्षक अधिकारी तीसरी चौथी राजतरंगिणियों में **मार्गेश** कहलाते हैं। यों उक्त श्लोक का स्पष्ट अर्थ यह है कि डुल्च तारबल घाटे से लौटा, और वह घाटा बरफ गिरने से बन्द न हो जाय इस डर से जल्दी लौट गया।

तारबल घाटा कौन सा है यह प्रश्न बाकी रहा। सो वह निश्चय से कश्मीर के उत्तर का त्रागबल या राजदिअंगन घाटा है जिसपर से श्रीनगर से गिल्गित जाने वाला रास्ता लाँघता है।

"हिमालय की बड़ी शृंखला ... नंगा पर्वत से शुरू हो कर दक्खिन-पूरब जाते हुए दूसरी बड़ी चोटी नुनकुन से करीब ४० मील पहले एकाएक नीचे गिर कर फिर उठती है। वही व्यवधान ज़ोजी-ला है। उसके उत्तर तरफ सिन्ध की शाखा द्रास नदी का स्रोत है, ... दक्खिन तरफ ... छोटी सिन्धु का ...। छोटी सिन्धु या उत्तरगंगा के स्रोत से हिमालय की बड़ी शृंखला ने पच्छिम तरफ एक बाँह बढ़ा दी है, जिसे हरमुकुट (हरमुक) पर्वत कहते हैं, और जो वितस्ता और कृष्णगंगा के बीच पनढाल का काम करती है। वही कश्मीर दून और दरद देश के बीच सीमा भी है।"[२०]

कश्मीर दून से उत्तर को जाने वाले रास्ते वोलुर झील के उत्तरी तट से उस झील में मिलने वाली मधुमती (बंडपोर) नदी के साथ चढ़ते हैं। यह नदी हरमुक से ही उतरी है और इसकी दून की एक शाखा उस पर्वत के दुग्धघात (दुदखुट) घाटे पर पहुँचा देती है, दूसरी शाखा उसके ८ मील पच्छिम त्रागबल घाटे पर। दुदखुट के आगे कृष्णगंगा के तट पर दरदपुरी (गुरैस) बस्ती है। कृष्णगंगा में उत्तर तरफ से बुरज़िल नदी आ कर मिलती है। कृष्णगंगा दून से उत्तर जाने वाला रास्ता बुरज़िल दून द्वारा ही है, और वह महा-हिमालय को बुरज़िल घाटे पर लाँघ कर आगे अस्तोर और गिल्गित की ओर जाता है। बुरज़िल संगम के २० मील नीचे पच्छिम तरफ कृष्णगंगा की दून तंग दरी बन गई है जिसमें से कोई सुगम रास्ता नहीं है। मधुमती या बंडपोर के पूरब तरफ भी हरमुक की बरफ से ढकी धार को लाँघने को कोई और घाटा नहीं है। यों कश्मीर से उत्तर जाना हो तो कृष्णगंगा की उपरली दून

---

२०. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० १४०-४१, कुछ शब्दों के फेरफार के साथ।

में से ही जाना होता है, और उसके लिए रास्ता उक्त दो घाटों—दुदखुट या त्रागबल—पर से हो कर ही है। राजा जयसिंह की दरददेश पर चढ़ाई विफल होने पर उसके गोतिये चचा—राजा हर्ष के सौतेले भाई—भोज ने दरद राजा के साथ जब कश्मीर पर चढ़ाई की तब उनके मातृग्राम में छावनी डालने का उल्लेख कल्हण ने किया है (८,२७७५)। वह मातृग्राम आधुनिक मात्रिग्राम है जो त्रागबल घाटे के ठीक नीचे है।

इन दोनों घाटों पर बरफ जल्दी गिरने की आशंका रहती है, और ये साल में केवल चार मास अर्थात् आधे जेठ से आधे असौज (जून से सितम्बर) तक ही खुले रहते हैं जब कि लदे जानवर या बहुसंख्यक आदमी इनपर से जा सकते हैं।[२१] त्रागबल के आगे डुल्च को अपनी सेना दासों और लूट के माल के साथ बुरज़िल घाटा भी पार करना था, इसलिए वह शुरू सितम्बर में ही चल पड़ा होगा। वह जून अन्त के लगभग कश्मीर आया होगा। यों वह दो मास का ग्रीष्मावकाश ही कश्मीर में रहा।

त्रागबल घाटे से जाने से यह भी प्रकट है कि डुल्च पामीर के पूर्वी भाग या उसके पूरब काशगर या यारकन्द से आया था। नक्शे में यह स्पष्ट दिखाई देगा कि पामीर के पच्छिम के किसी भी देश से आने वाले के लिए कश्मीर में घुसने को पच्छिमी रास्ता ही सीधा और सुगम है। तिब्बत से आने वाला पूर्वी रास्ता ज़ोजीला हो कर है। वह दुदखुट और त्रागबल वाले उत्तरी रास्तों के नज़दीक ही है। फलतः डुल्च जिस "कर्मसेन चक्रवर्ती" का सेनापति था, वह बहुत सम्भवतः काशगर का कोई मंगोल शासक था। 'कर्मसेन' उसके मंगोल नाम का संस्कृत रूपान्तर है। सर औरेल स्टाइन ने अटकल लगाई थी कि डुल्च और रिंचन दोनों ज़ोजीला से आये थे।[२२] रिंचन निश्चय से ज़ोजीला से

२१. औरेल स्टाइन (१९०७)—एन्श्येंट खोतन (प्राचीन खोतन) जि० १ पृ० १-२।

२२. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, जि० २ पृ० ४०८।

आया, पर डुल्च का रास्ता स्पष्टतः उत्तर से था। डा० फ़ोखल (Vogel) का अन्दाज़ था कि डुल्च तुर्क था;[२३] पर वह मंगोल ही जान पड़ता है, क्योंकि इस युग में कश्मीर के उत्तर मध्य-एशिया के चक्रवर्ती मंगोल ही थे।

डुल्च के जाने के बाद कश्मीर की दशा का वर्णन जोनराज ने तीन श्लोकों में किया है।

ओताविव गते तस्मिन् काश्मीरा मूषका इव।
मन्दं मन्दं विनिर्याता मृतशेषा बिलान्तरात् ॥१९२॥

—उस बिलाव के चले जाने पर मरने से बचे हुए कश्मीरी मूसे धीरे-धीरे बिलों के अन्दर से निकले!

नालब्ध पितरं पुत्रः पिता तं च न कंचन।
भ्रातॄंश्च भ्रातरो डुल्चराक्षसोपप्लवात्यये ॥१९३॥

—डुल्च राक्षस के किये उलटफेर और विनाश के बाद बेटे अपने बापों को, बाप बेटों को और भाई भाइयों को नहीं पाते थे!

मितलोकाखिलक्षेत्रा निर्भोज्या दर्भनिर्भरा।
सर्गारम्भ इव प्रायस्तदा कश्मीरभूरभूत् ॥१९४॥

मितलोका खिल··· अलग-अलग पढ़ना चाहिए।—उस समय कश्मीर की भूमि थोड़े लोगों वाली, बिना जोते बोये खेतों वाली, खुराक से खाली और घास से भरी ऐसी हो गई थी जैसे सृष्टि के आरम्भ में!

१०. रिंचन का कश्मीर जीतना

सामर्थ्यान्न्यग्रहीड्डुल्चो रिञ्चनः प्राभवत्ततः।
विश्वमन्धयति ध्वान्तं सुखभाजोभिसारिकाः ॥१९५॥

—डुल्च ने सामर्थ्य से पकड़ा था, उसके बाद रिंचन प्रभु बन बैठा; अँधेरा विश्व को अन्धा कर देता है तो अभिसारिकाओं की मौज बन

---

२३. जे० फोखल (१९०८)—दयाराम साहनी (१९०८) पूर्वोक्त, पृ० १८२ श्लोक १६५ पर टिप्पणी में उद्धृत।

आती है। "डुल्च राहु से मुक्त हुए राजा को उस रिंचन-अस्ताचल ने अपनी ऊँची चोटी से रोक लिया (१६६)।" इन श्लोकों से स्पष्ट सिद्ध है कि डुल्च जब तक कश्मीर में था तब तक रिंचन एक किनारे खड़ा था; उसके बाद वह बढ़ा।

दृष्ट्वा गगनगिर्यग्रे भास्वन्तं रिञ्चनं स्थितम्।
अशङ्क्यत न के राज्ञः प्रत्यासन्नोस्तसंस्तवः ॥१९७॥

—गगनगिरि के आगे चमकते हुए रिंचन को देख कर किन्हें राजा की निकट आई अस्त-प्रस्तावना की शंका नहीं हुई? गगनगिरि (गगनगीर) ज़ोजीला के २५ मील नीचे (छोटी) सिन्ध की दून में समुद्र-सतह से ७४०० फुट की ऊँचाई पर इस तरफ कश्मीर का अन्तिम गाँव है।[२४] योगेश दत्त उसे नहीं जानते थे, पर आश्चर्य है कि दयाराम साहनी ने स्टाइन द्वारा उक्त सूचना प्रकाशित किये जाने के आठ वर्ष बाद भी उसका अर्थ किया आकाश का पर्वत!

"रिंचन श्येनराज के नगर (राजधानी)-मांस पर झपटने की कोशिशों में कुलचन्द्र रामचन्द्र पग पग पर विघ्न करता रहा (१६८)।" यह रामचन्द्र वही है जिसका नाम ऊपर श्लोक १६४ में आया था, जिसकी कान्ति-हानि के लिए राजा ने रिंचन को बढ़ने दिया था। कश्मीर राज्य के राज्यकर्त्ताओं—राजा और जागीरदारों—को जोनराज एक कुल रूप में देखता है; आगे श्लोक २५६, २६६ से भी यह प्रकट होगा। कौटलीय अर्थशास्त्र (१, १७) के अनुसार **कुलस्य वा भवेद्राज्यम्** —कुल का भी राज्य हो सकता है, और जोनराज ने कश्मीर राज्य को वैसा ही माना। रामचन्द्र अकेला कश्मीर को विदेशी से बचाने को लड़ा, इसलिए उसे उसने कुलचन्द्र कहा।

"ठगने के उद्योग में लगा हुआ रिंचन भोटियों को कपड़ा बेचने के बहाने प्रतिदिन लहरकोट्ट के अन्दर भेजता रहा (१६६)। उस प्रकार

---

२४. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, जि० २ पृ० ४९०।

लहर के अन्दर भोटियों के घुसा दिये जाने पर रिंचन ने रामचन्द्र के रुधिर का मधु शस्त्रों को पिला दिया (२००)।" अर्थात् रिंचन ने अपने बहुत से भोटिये सैनिकों को कपड़ा बेचने वालों का भेस धरा कर लहरकोट के अन्दर भेज दिया, और जब वे अच्छी संख्या में अन्दर घुस गये तब उन्होंने रामचन्द्र पर हमला कर उसे मार डाला।

रामचन्द्र कौन था इस प्रश्न पर अब विचार किया जा सकता है। वह प्रकटतः लहर का ठिकानेदार और उस संग्रामचन्द्र का उत्तराधिकारी था जिसने राजा सिंहदेव को झकझोर दिया था (ऊपर श्लोक १२३-२४)। लहर का परगना ज़ोजीला के ठीक नीचे है। रिंचन ज़ोजीला से जब उतरा तब उससे रामचन्द्र की प्रत्यक्ष हानि होने को थी, और राजा सूहदेव ने इसीलिए रिंचन को बढ़ने दिया था (श्लोक १६४)। लहर को लिये बिना रिंचन कश्मीर के भीतर तक न पहुँच सकता था। रामचन्द्र ने रिंचन का रास्ता रोका और अन्त में लहरकोट्ट में लड़ता हुआ मारा गया।

पिछले वृत्तान्त में लहर के इन चार ठिकानेदारों का उल्लेख आया है—

कश्मीर के राजा	लहर के ठिकानेदार
राजदेव (१२१३–३६ ई०)	बलाढ्यचन्द्र
संग्रामदेव (१२३६–५२ ई०)	चन्द्र
रामदेव (१२५२–७३ ई०)	
लक्ष्मण (१२७३–८७ ई०)	
सिंहदेव (१२८७–१३०१ ई०)	संग्रामचन्द्र
सूहदेव (१३०१–१३२० ई०)	रामचन्द्र

लहर के इन चार में से तीन ठिकानेदारों की कश्मीर के राजाओं के साथ रस्साकशी चलती रही थी इसमें सन्देह नहीं। फिर भी विदेशी आक्रमक को बढ़ने दे कर अपने किसी ठिकानेदार के पराभव की बात सोचना आत्मघाती मूर्खता थी और देशद्रोह था। राजा सूहदेव ने वैसा

किया और उसका तुरत फल पाया। रामचन्द्र की मृत्यु के बाद

रामचन्द्रकुलोद्यानकल्हवल्लीं स रिंचनः।
वक्षःस्थले महाबाहुः कोटादेवीमरोपयत् ॥२०१॥

कल्ह के बजाय योगेश दत्त की पोथी में शायद कल्प पाठ था और वही ठीक लगता है।—रामचन्द्र के कुलोद्यान की कल्पलता कोटादेवी को उस महाबाहु रिञ्चन ने (अपनी) छाती पर रोप लिया। कोटा बहुत सम्भवतः रामचन्द्र की युवती बेटी थी।

"श्री रिञ्चन के भय से राजा ने तब राजधानी छोड़ दी, विप्र-शाप की आग से जले हुओं का उदयाङ्कुर कैसे हो सकता है (२०२)। डरा हुआ राजा-सियार तब प्रमण्डल-गुहा में जा घुसा; पापी की वैसी ही मौत होती है, युद्ध में सामने आ कर कैसे हो सकती है (२०३)। आश्चर्य कि वैरी-बादल ने युद्ध में राजा का खून बरसा कर दण्ड-कर देने वाले द्विजों के आँसू सुखा दिये (२०४)।" डुल्च के आने पर राजा ने द्विजों पर कर लगाया था जिससे उनके आँसू बहने लगे थे; अब राजा की मृत्यु होने पर वे थमे।

प्रमण्डल गुहा कौन सी है सो न तो योगेश दत्त और दयाराम साहनी पहचान सके थे, न मैं ढूँढ पाया हूँ। पर यह प्रकट है कि रिञ्चन के आगे बढ़ने पर सूहदेव भाग गया और फिर पकड़ा और मारा गया। जोनराज ने उसे इन शब्दों में बिदाई दी है—

पञ्चाहोनांश्चतुर्मासान्वर्षांश्चैकोनविंशतिम्।
स राजराक्षसो रक्षाव्याजात्क्षोणीमभक्षयत् ॥२०५॥

—उन्नीस बरस चार महीने और पाँच दिन वह राजा-राक्षस रक्षा करने के नाम पर पृथ्वी को खाता रहा! यों १३२० ई० में उसकी मृत्यु हुई।

शाहमेर १३१३ ई० में कश्मीर आया था। जोनराज ने कहा है कि तभी डुलुच भी आया (श्लोक १५२), डुल्च के जाने के बाद रिञ्चन प्रबल हो उठा और लहरकोट्ट लेने के बाद उसने १३२० ई० तक कश्मीर जीत लिया। यों ये सब घटनाएँ १३१३ से १३२० ई० तक के

बीच में घटीं। फलतः श्लोक १५२ के तदैव (तभी) का अर्थ निश्चय से १३१३ ई० में ही नहीं करना होगा। लहर का गढ़ लेने में और उसके बाद राजधानी की ओर बढ़ने में रिञ्चन को कितना समय लगा सो नहीं कहा जा सकता। गढ़ों को जीतने में बरसों भी लग जाते हैं। पर डुल्च की चढ़ाई के समय ही रिञ्चन का ज़ोजीला के इस तरफ आना और डुल्च के जाने के शीघ्र बाद आगे बढ़ने की चेष्टा करना निश्चित है। ये सब घटनाएँ १३१३ और १३२० ई० के बीच कभी हुई—बहुत सम्भवतः १३१६-२० में।

११. रिञ्चन का प्रशासन

(क) श्रीरिञ्चनसुरत्राणो श्रान्तां यवनविप्लवैः।
अनयद्विश्रमं तुङ्गे भुजवातायने महीम् ॥२०६॥

—श्री रिंचन सुलतान ने यवनों के विप्लवों से थकी हुई भूमि को अपनी भुजाओं के ऊँचे झरोखे में विश्राम दिया। "कश्मीरमण्डल ने तब पुराने राजाओं वाला वह सुख देखा, जैसे अँधेरा हट जाने पर मनुष्य पहले देखे हुए सब सुख को देखता है (२०७)।" जोनराज के समय तक विदेशी राजा के अर्थ में सुलतान शब्द और उसका संस्कृत रूप सुरत्राण चल चुका था, इसलिए विदेशी राजा के लिए उसने वह शब्द बर्ता है।

(ख) रिंचन के प्रशासन की उक्त साधारण समीक्षा के बाद सबसे पहले डामरों की बात आती है, क्योंकि डामरों को वश में किये बिना उस युग में कश्मीर भूमि को शान्ति न मिल सकती थी।

दीपैरिव प्रतिस्थानं यैर्लवन्यैः स्थिरैः स्थितम् ॥
अकम्पन्त प्रभातस्य ते राज्ञो बलवायुना ॥२०८॥

—जो लवन्य अपने अपने स्थान पर दीवों की तरह स्थिर टिके रहे थे, उदय हुए राजा के बल के वायु से वे काँपने लगे। यह स्पष्टतः डुल्च के उपद्रव के समय की दशा की ओर निर्देश है। डामर लोग

तब अपने-अपने कोटलों में स्थिर टिके रहे। उनमें से किसी ने अपने कोटले से बाहर निकल कर अपने इलाके को लूटमार से बचाने की कोशिश नहीं की। डुल्च को भी जल्दी-जल्दी देश को लूटना था, अतः यदि वे उसे न छेड़ें तो वह भी उनके कोटले ढाने में अपनी शक्ति क्यों नष्ट करता? रिंचन ने लवन्यों को काबू करने के लिए मन्त्र (नीति) से उनमें भेद डाला और फिर शस्त्रों से काम लिया (२०६)। "कँटीले वन में भी जहाँ नंगे अंगों वाला व्यक्ति परेशान हो जाय, राजा (रिञ्चन) अन्तरिक्ष में पक्षी की तरह मज़े में घूमता (२१०)।" श्री योगेश दत्त ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए वन में अनंग (कामदेव) के घूमने की बात लिखी थी, और श्री दयाराम साहनी ने भी गलत अर्थ किया कि 'जिस वन में वह (रिञ्चन) फँस जाता था'।

(ग) "प्रजाओं के हित के लिए दया और दान करने में तत्पर वह (रिञ्चन) दोष करने वाले अपने पुत्र, मन्त्री या मित्र को भी क्षमा नहीं दिखलाता था (२११)।" रिञ्चन की प्रजाहितेच्छा, उदारता और न्याय-परायणता का यों उल्लेख करके जोनराज ने उसके दो उदाहरण दिये हैं।

एक बार राजा रिञ्चन शिकार पर गया। रास्ते में टुक्क के भाई तिमि ने किसी ग्वालिन से छीन कर दूध पी लिया। ग्वालिन के शिकायत करने पर राजा ने तिमि से पूछा तो उसने साफ इनकार किया। ग्वालिन जब शपथ दिलाने पर भी अपनी बात से न टली तब राजा ने सचाई को देखने के लिए तिमि का पेट चिरवा दिया! "उसके चिरे पेट से निकलती दूध की धार से राजा की कीर्त्ति और ग्वालिन की मुखश्री खिल उठी (२१६)।" याद रहे कि टुक्क रिञ्चन के पहले साथियों में से था।

एक बार वानवाल के जंगल में किन्हीं दो आदमियों की घोड़ियों ने एक साथ बच्चे जने। एक बछेरे को सिंह खा गया; पर उसकी माँ दूसरे को अपने की तरह प्यार करने लगी। यह बछेरा मेरा है कि मेरा है इस विवाद को ले कर उन घोड़ियों के मालिक राजा के यहाँ पहुँचे। बछेरे की माँ और धाय की पहचान जब किसी तरह न हो सकी, और राज-

सभा के सदस्य हैरान और चुप बैठे रहे, तब राजा ने नाव में दोनों घोड़ियों और बछेरे को चढ़वा कर वितस्ता के बीच ले जा बछेरे को गिरा दिया। उसकी माँ उसके पीछे कूद पड़ी, दूसरी केवल हिनहिनाती रही।

"सन्दिग्ध व्यवहारों का इस प्रकार निश्चय करने वाले उस राजा के प्रशासन में लोगों ने यह जाना कि कृत युग वापिस आ गया (२२४)।" जोनराज की इस उक्ति में सूक्ष्म व्यंग्य है। उसने चुन कर दो ऐसे उदाहरण दिये हैं जिनसे रिंचन की न्यायपरायणता के साथ साथ उसके जंगलीपन या लड़कपन की झलक भी मिले। पर कश्मीर को इस समय जैसे दृढ और न्यायपरायण राजा की आवश्यकता थी, रिंचन वैसा था। वह संस्कृत परिष्कृत नहीं था सो गौण बात है।

(घ) "श्री देवस्वामी से राजा ने शैव दीक्षा माँगी; पर उसने उसके भोटिया होने से अपात्रत्व की शंका कर उसपर अनुग्रह नहीं किया (२२५)।" इसी से बाद में रिंचन इस्लाम की ओर झुका जैसा कि उसके बेटे के नाम हैदर से सूचित होता है।

(ङ) अन्त में रिंचन एक षड्यन्त्र का शिकार हुआ। उस षड्यन्त्र और उसके सूत्रधार का परिचय जोनराज ने यों दिया है—

"कश्मीर में तेजी से घुसते हुए डुल्च को धन दे कर लौटाने के लिए राजा ने जिसे (दूत रूप में) भेजा था, डुलुच्य के (धन लेने से) इनकार कर घुस आने पर वह उद्यानदेव अवसर पा कर डर के मारे गान्धार देश चला गया था (२२९-२३०)। अब श्रीमान् उद्यानदेव ने छिद्र में चोट करने को तैयार हो गान्धार के पास रहते हुए टुक्क आदि के पास सन्देश भेजे (२३१)।" राजा रिंचन का साथी "व्यालराज अपनी एकमात्र-सत्यनिष्ठा के कारण राजा का छोटा भाई, बेटा, बन्धु, मन्त्री, सहचर, सखा (मानो सब कुछ) था (२२६)", वह राजा के मन के समान था (२२७)। उद्यानदेव का नाम आगे श्लोक २५७ में उदयनदेव दिया है। सो उस उदयन ने टुक्क आदि को रिंचन और व्याल के विरुद्ध भड़काया। रिंचन ने जो

टुक्क के भाई तिमि को केवल दूध छीनने के अपराध में मरवा दिया था, इससे उन्हें उभाड़ने में उसे आसानी हुई। टुक्क आदि ने एक दिन रास्ते में राजा और व्याल पर हमला किया।

तत्खड्गधारासंपातैर्व्यालस्तेषां हृदन्तरात्।
स्वैश्वर्यतापमनुदद्राजा मूर्च्छतु केवलम् ॥२३७॥

—उनकी तलवारों की धारों के पड़ने से व्याल ने उनके हृदय के अन्दर से अपने ऐश्वर्य का ताप निकाल दिया, राजा केवल मूर्छित हुआ। अर्थात् उनकी तलवारों के प्रहारों से व्याल मर गया, जिससे उनके हृदय से उसके ऐश्वर्य के प्रति ईर्ष्या का ताप निकल गया। श्री योगेश दत्त ने इसका यह अर्थ किया था कि व्याल ने उनपर अपने खड्ग से प्रहार किया और उनके दिल से अपने धन का अभिमान निकाल दिया। पर श्लोक में स्पष्ट तत्खड्ग ··· = उनकी तलवार ··· कहा है। श्री दयाराम साहनी ने इसका यों अर्थ किया कि व्याल ने उन्हीं की तलवार से उनके हृदय से अपने (= व्याल के) ऐश्वर्य के प्रति ईर्ष्या का भाव निकाल दिया। पर यह भी गलत है। आगे स्पष्ट कहा है कि "उसकी मृत्यु से उनका क्रोध शान्त हुआ और वे अपनी जीत हुई मान कर राज्य हथियाने के लिए अहंकार से नगर के अन्दर गये (२३८)।" आगे उनके कार्यों का वर्णन है। सो २३७ श्लोक में कवि ने यह जो कहा है कि व्याल ने उनके हृदय से ताप निकाल दिया, उसका अर्थ निश्चय से यही है कि अपनी मृत्यु द्वारा उनका ताप निकाल दिया।

रिंचन कुछ देर तक मरा सा पड़ा रहा; फिर शत्रुओं को गया देख उठ खड़ा हुआ (२३९)। राजा को आया देख वे सब हैरान हो गये; वे उसे मरा समझ छोड़ आये थे। उनमें से कुछ उस हड़बड़ के रेले में महल से गिर कर मर गये (२४२), बाकी सूली चढ़ाये गये (२४३)। "उस राजा ने रोष में आ कर वैरी भोटियों की गर्भिणी स्त्रियों को (भी) तलवारों से ऐसे चिरवा डाला जैसे धान की भरी छीमियों को नखों से (२४४)। उनके कुल को मार देने से उनके द्रोह से हुए रोष की पीड़ा

राजा के चित्त में शान्त हो गई, पर तलवार की चोट से हुई सिर की पीड़ा शान्त नहीं हुई (२४५)।" शाहमेर उस द्रोह में सम्मिलित नहीं था, इसलिए राजा रिंचन ने उससे प्रसन्न हो कर उसपर भरोसा करते हुए और यह जानते हुए कि मैं अब बच न सकूँगा, अपने बेटे हैदर को उसकी माँ कोटा के साथ शाहमेर के हाथ सौंप दिया (२४७)।

कोटा देवी के प्रसाद से शाहमेर की ऐसे ही बढ़ती हुई जैसे बरसात में किसी पेड़ की (२४८)—इस श्लोक का निश्चय से यही अर्थ है। श्री योगेश दत्त और दयाराम साहनी दोनों ने इसमें कोटा के लड़के के बढ़ने की बात कही है जो जुड़ती नहीं। अन्त में "६६वें वर्ष पौष ११वीं को[२५] मृत्यु वैद्य ने राजा का सिरदर्द दूर कर दिया (२५३)।"

---

२५. "पौषे एकादश्यां" का क्या अर्थ किया जाय—शुक्ला एकादशी कि कृष्णा? अथवा प्रविष्टा एकादशी अर्थात् ११वीं सौर मिति? पंजाब-कश्मीर में सौर मिति चलती है इसलिए मेरे विचार में यहाँ सौर मिति ही माननी चाहिए। श्री दयाराम साहनी ने न जाने कैसे इसे कृष्णा एकादशी मान लिया और फिर डा० फोखल का प्रमाण देते हुए लिखा कि इस श्लोक में दी हुई रिंचन की मृत्यु-तिथि २५ नवम्बर १३२३ ई० निकलती है। पर पौष मास नवम्बर में नहीं आता, दिसम्बर मध्य से जनवरी मध्य तक होता है। पौष कृष्णा ११ सप्तर्षि संवत् ९९ की ईसवी तारीख होगी २४ दिसम्बर १३२३ ई०, और मिति ११ पौष की २५ दिसम्बर; दे० स्वामिकन्नु पिल्लै (१९१५)—इंडियन एफ़िमेरिस ए० डी० ७०० टु १७९९ (भारतीय पंचांग ७०० से १७९९ ई०), २य संस्करण। सूहदेव की मृत्यु-तिथि नवम्बर १३२० के पहले सप्ताह में पड़ती है। रिंचन का राज्यकाल श्लोक २५४ में ३ वर्ष १ मास १९ दिन दिया है। यों भी रिंचन की मृत्यु दिसम्बर १३२३ अन्तिम सप्ताह में हुई। जोनराज ने सब राजाओं के राज्यकाल के ठीक ठीक दिन और प्रायः सब की ठीक मृत्यु-तिथियाँ भी दी हैं। उनके आधार पर स्वामिकन्नु पिल्लै के ग्रन्थ की सहायता से कश्मीर इतिहास की पूरी कालगणना ईसवी सन् में बन सकती है। मेरा ज्योतिष का ज्ञान न के बराबर है, इसलिए यह कार्य किसी दूसरे विवेचक के लिए छोड़ता हूँ।

१२. उदयन का राज्य पाना और प्रशासन

रिंचन के प्रशासन में शाहमेर ऊँचे पद पर पहुँच गया था। रिंचन की रानी और युवराज उसी की रक्षा में होने के कारण अब वह राज्य का सूत्रधार बन गया था। किन्तु

पुत्रं हैदरनामानं बाल्यादनभिषिक्तवान्।
अतथाविधशक्तित्वाद्राज्यं स्वेनाप्यसंवहन्॥२५५॥
लवन्यैः कुलनाथत्वाद्रिञ्चने प्रतिघादपि।
अव्याहतप्रवेशाशो मतिमान् शाहमेरकः॥२५६॥

श्लोक २५६ की पहली पंक्ति का अर्थ श्री योगेश दत्त ने उलटपुलट किया है। मुझसे भी उसका शब्दान्वय नहीं बन पड़ा। तो भी दोनों श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है।—बुद्धिमान् शाहमेर ने (आगे चल कर राज-पद पर अपने) निर्विघ्न प्रवेश की आशा करते हुए हैदर नामक (रिंचन के) पुत्र को बच्चा होने के कारण अभिषिक्त नहीं किया, और (अपनी) वैसी शक्ति न होने के कारण, रिंचन के समय में दबाये जाने के बावजूद भी लवन्यों के (कश्मीर का) कुलनाथ होने के कारण स्वयं भी राज्य-भार नहीं उठाया। "मूर्त्त जयश्री सी श्रीकोटादेवी के साथ तब उस उदयनदेव को कश्मीर की भूमि प्राप्त करा दी (२५७)।"

यों शाहमेर की कृपा से उदयन को राज्य मिला। हमने देखा कि उदयन राजा सूहदेव का कोई राज्याधिकारी था। डा० हेमचन्द्र राय ने उसे रिंचन का कोई सम्बन्धी और मैंने भी गलती से भोटिया माना था। डुल्च और रिंचन के समय में उसने गन्धार अर्थात् रावलपिंडी या पेशावर में शरण ली थी। अब उसके प्रशासन का वर्णन सुनिए।

"राज्यलक्ष्मी-रूपी गुणों की डोर से बँधा हुआ भारी बड़ा झूला रिंचन द्वारा ऊँचे पद पर जा कर राजा (उदयन) द्वारा नीचे पद पर आ गया (२५८)। राजा ने शाहमेर के उन दो पुत्रों ज्यंशर और अल्लेशर को क्रमराज्य आदि प्रदेशों का स्वामित्व दे कर प्रसन्न किया (२५९)।" क्रम-

राज्य कश्मीर दून के समूचे पच्छिमी विभाग का नाम है, पर संकुचित अर्थ में वह वोलुर सरोवर के केवल पच्छिमी उत्तरपच्छिमी प्रदेश का नाम होता है। यहाँ संकुचित अर्थ ही लेना चाहिए।

"कोटादेवी तत्र सर्वाधिकारिणी बुद्धि सी थी; राजा देह की तरह पूरी तरह उसके आदेश पर चलता था (२६०)। रिंचन सूर्य के तेज से जो दब गये थे उन लवन्य तारों का राजा की सन्ध्या में फिर उदय हुआ (२६१)। जिस सौम्य के घर में गृहिणी कोटा के कदम पड़ते थे, उसके इलाकों पर लवन्य अपने कदम रक्खें यह क्या शोचनीय न था (२६२)? लवन्यों के प्रदेश मानो चंडालों के घर थे जिन्हें छू जाने से बचने के लिए वह श्रोत्रिय की तरह अपना काल स्नान तप जप से बिताता था (२६३)। उस (तपस्वी का) भेस धरने वाले के आस्तिकपन का कितना वर्णन किया जाय, जो कीड़े कुचले न जाँय इस डर से घोड़े के गले में घंटा बँधवा देता था (२६४)। उसने ··· चक्रधारी (विष्णु) (की मूर्त्ति) को सोने का हार और मुकुट दिया (२६५)।"

ऐसे आस्तिक राजा के राज्य पर शक्त पड़ोसी चढ़ाई न करें तो क्यों?

१३. अचल की चढ़ाई

अथ मुग्धपुरस्वामिदत्तानीकिन्यहंकृतः।
कश्मीरानचलोविशद्बलाड्डुल्च इवापरः ॥२६६॥

—इसके बाद मुग्धपुर के राजा की दी हुई सेना से गर्वित अचल जो (सैनिक) बल में दूसरा डुल्च सा था, कश्मीर में घुस आया!

स्वपक्षैराशिपत्याशाबलेनाक्रम्य मेदिनीम्।
नाचले गोत्रभित्त्वं स कर्त्तुमैष्ट महीवृषा ॥२६७॥

आशा बलेन अलग-अलग और महीवृषा के बजाय महीवृषः पढ़ना चाहिए।—बल (सेना) से पृथ्वी को दबोच कर सब दिशाओं में अपने पक्ष (के आदमी) फैलाते हुए उस अचल (पर्वत जैसे अचल) के पंख तोड़ने की हिम्मत वह राजा (उदयन) नहीं कर सका। पौराणिक गाथा

के अनुसार अचल (पर्वत) उड़ा करते थे, तब इन्द्र ने उनके पक्ष (पंख) काट दिये थे; इसी से इन्द्र का नाम गोत्रभिद् पड़ा।

प्राप्ते भीमानकं तस्मिन्ससैन्ये दैन्यमाश्रितः।
भौट्टदेशमगात्तूर्णमुर्वीपरिवृढो भयात् ॥२६८॥

—उसके सेनासहित भीमानक पहुँच जाने पर पृथ्वीपति घबराया हुआ डर के मारे तेजी से भोट देश को चला गया।

भीमानक या भीमादेवी का स्थान श्रीनगर के पड़ोस के डल सरोवर के पूरब था; उसके नाम का आधुनिक रूप ब्रान है।[२६] किन्तु श्रीनगर के पूरब तक अचल की सेना के पहुँच जाने पर तो उदयन पूरब तरफ भोट देश को भाग भी न सकता। कश्मीर राज्य सन् १८४६ से १९४७ तक जैसा था उसकी ठीक पच्छिमी सीमा पर भी एक ब्रानकोट है। कश्मीर से हज़ारा जाने वाला रास्ता दोमेल (वितस्ता-कृष्णगंगा-संगम) के आगे कुछ दूर पहाड़ों की कमर पर चलने के बाद जहाँ कुन्हार नदी पर पहुँचता है वहाँ कश्मीर राज्य की अन्तिम चौकी रामकोट थी। रामकोट से नदी के बायें किनारे के साथ-साथ पौन मील आगे जा कर ब्रानकोट है, और उसके दो मील आगे गढ़ी-हबीबुल्ला, जहाँ कुन्हार पर पुल है। उस पुल को पार करते ही रास्ता सुगन्धित चीड़ के जंगल से ढके एक डाँडे पर चढ़ता और फिर उससे उतर कर मनसेहरा की खुली लम्बी मनोरम दून में जा निकलता है।[२७] ब्रानकोट का मूल संस्कृत रूप **भीमानक कोट्ट** होगा।

---

२६. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, जि० २ पृ० ४५४।

२७. सन् १९४६ में कश्मीर से हज़ारा हो कर पेशावर जाते हुए रास्ते की एक पछ (जलप्रपात) में बाढ़ आ जाने के कारण मुझे २४ घंटे सपरिवार रामकोट-ब्रानकोट के ऊपर के जंगल में पड़े रहना पड़ा था। तभी स्थानीय लोगों से यह नाम मैने सुना। सन् १९३७ में भी मोटरलौरी का पेट्रोल चुक जाने के कारण हमें कई घंटे गढ़ी-हबीबुल्ला के ऊपर वाले चीड़ के उस जंगल में पड़े रहना पड़ा था। सर्वे ऑफ इंडिया (भारत भूपर्यवेक्षा) के इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कंट्रीस सिरीज़

कल्हण के समकालिक राजा जयसिंह के प्रशासन में कश्मीर राज्य में उरशा (हज़ारा) भी सम्मिलित थी। सर औरेल स्टाइन का विचार था कि नोगोदर के आक्रमण के समय तक भी वैसा ही था। उस आक्रमण के कारण सिंहदेव का राज्य केवल लेदरी दून में रह गया था। पर सूहदेव के प्रशासन में जब समूची कश्मीर-भूमि फिर से अधीन की गई (ऊपर श्लोक १३८), तब उरशा भी सम्भवतः फिर से उसमें मिल गई। रिंचन ने कश्मीर के उस पुराने इलाके को अधीन किये बिना शायद ही छोड़ा हो। उरशा का इस युग में कश्मीर राज्य में रहना हमें विशेषतः इसलिए सम्भावित प्रतीत होता है कि उसका स्वतन्त्र राज्य रूप में अथवा और किसी पड़ोसी राज्य के अधीन रहने का कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी दशा में अचल ने जब अपनी सेना उरशा में फैला ली और वह ब्रानकोट तक अर्थात् खास कश्मीर की पच्छिमी चौकियों तक आ पहुँचा तभी राजा उदयन श्रीनगर से भाग खड़ा हुआ। उदयन डुल्च की चढ़ाई देख चुका था, और जब उसने भागने की ही ठानी तब वह अचल के श्रीनगर के पूरव तक पहुँच जाने की राह देखने वाला न था।

भीमानक की इस पहचान से यह भी प्रकट हुआ कि अचल भी नोगोदर की तरह पच्छिमी रास्ते से कश्मीर में घुसा। पर यह बात स्वतन्त्र रूप से—उदयन के भौट्टदेश को भागने से—भी सिद्ध है। कश्मीर से भोट का रास्ता ज़ोजीला हो कर ही है, जिसे कल्हण ने ८,२८८७ में **भुट्टराष्ट्राध्वन्** (भोट राष्ट्र का रास्ता) कहा है। जैसा कि डुल्च के प्रसंग में कहा जा चुका है, कश्मीर का उत्तरी रास्ता उस रास्ते के बहुत निकट है। यों उदयन के ज़ोजीला की ओर भागने से यह सूचित है कि

(भारत और पड़ोसी देश माला) के १ इंच = १ मील पैमाने वाले १९१० में प्रकाशित नक्शे ४३ एफ ७ में ब्रानकोट का नाम गलती से बरारकोट छपा है। भारतीय सेना के मुख्याधिष्ठान द्वारा १९५० में प्रकाशित गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया ऐंड पाकिस्तान (भारत और पाकिस्तान का स्थल-कोश) में भी, जिसमें उक्त माला के सब नक्शों में आये सब नामों का संकलन है, वह गलती दोहराई गई है।

पूर्वी और उत्तरी रास्तों पर उस समय खतरा नहीं था, शत्रु पच्छिम से आ रहा था। अचल के दक्खिन से आने का तो प्रश्न ही नहीं है। फलतः वह जिस मुग्धपुर से आया, वह पामीर के पच्छिम का कोई स्थान था (दे० ऊपर परिच्छेद ६ में श्लोक १६१ की विवेचना)।

मेरा निवेदन है कि **मुग्धपुर** अपपाठ है **सुग्धपुर** का। शारदा लिपि में **म** और **स** का अन्तर नाममात्र का रहा। उसके सबसे पहले दसवीं शताब्दी वाले नमूने में जो सराहाँ की प्रशस्ति से ओझाजी ने उद्धृत किया है, दोनों अक्षरों के रूप क्रमशः ये हैं— [शारदा अक्षर] । ११वीं शताब्दी के सोमवर्मा के कुलेत से मिले दानपत्र में **मु** और **सु** दोनों अक्षर एक ही पंक्ति में हैं, और उनके रूप यों हैं— [शारदा अक्षर] ।
यह मनोरंजक बात है कि कुलेत के इस दानपत्र का नागरी रूप देते समय ओझाजी के ग्रन्थ में भी **मुरारिः** के बजाय **सुरारिः** छप गया है। यह छापे की गलती हो सकती है, अथवा यह भी सम्भव है कि नागरी रूपान्तर करते समय स्वयं ओझाजी महाराज से ही चूक हो गई हो। फिर १६वीं शताब्दी के दोनों अक्षरों के जो नमूने शाकुन्तल नाटक की पोथी तथा कुल्लू के राजा बहादुरसिंह के दानपत्र से उन्होंने उद्धृत किये हैं वे क्रमशः यों हैं— [शारदा अक्षर]; [शारदा अक्षर] ।[२८]

ध्यान से देखने से प्रकट होगा कि १०वीं से १६वीं शताब्दी तक के इन सब नमूनों में **म** और **स** में केवल इतना अन्तर है कि **म** की घुंडी गोल है और **स** की तिकोनी। पर हाथ से लिखी पोथियों में यह अन्तर कहाँ तक बना रह सकता था? जब ओझाजी जैसे आचार्य से **मु** को **सु**

---

२८ गौ० ही० ओझा (१६१८)—भारतीय प्राचीनलिपिमाला २य संस्क० लिपिपत्र २८, ३०, ३१ तथा पृ० ७६।

पढ़ने की चूक हो सकती है, तब जोनराज के ग्रन्थ के पोथी-लेखक या उस पोथी को पढ़ने वाले श्री पिटर्सन ने सुग्धपुर को मुग्धपुर पढ़ लिया तो क्या आश्चर्य ? वंक्षु-सीर दोआब का प्राचीनतम नाम सुग्द या सुग्ध था। सुग्धपुर = सुग्ध की राजधानी = समरकन्द ।

राजा के भोट देश भाग जाने के बाद रानी कोटा ने अमात्यों के हाथ अचल के पास यह लिखित सन्देश भेजा कि "पराई सेना को लौटा दो, व्यर्थ में देश को पीडित करने से क्या लाभ, अराजक कश्मीर देश के कुलनाथ बन कर इसका पालन करो (२६६) ।" यह सन्देश पाने पर **आसारसैन्यमचलः प्रत्यमुञ्चद्विमोहितः**—अचल ने विमोहित हो कर चारों तरफ फैलाई हुई अपनी सेना को लौटा दिया (२७०)। कश्मीरी अमात्यों ने तब उसे रास्ते के उत्सवों के बहाने कुछ काल तक रास्ते में विलमाये रक्खा (२७१)। "उस बीच कोटा देवी ने प्रजाओं को पालने के लिए राजधानी में रिञ्चन नामक भोटिये को राजा के स्थान में नियुक्त किया (२७२)।" यह स्पष्ट ही कोई दूसरा रिंचन था। "तब अचल की बुद्धि को जो विधवा हो गई स्त्री के समान अथवा मरा बच्चा जनने वाली माँ के समान (सिद्ध हुई) उसके अपने लोगों ने चिर तक धिक्कारा (२७३)।" अपने वंश का राज्य स्थापित करने के लालच में अचल बेवकूफ बना। उसके बेवकूफ बनने की पूरी तफसील जोनराज ने नहीं दी, तो भी उस घटना के होने में कोई सन्देह नहीं है।

इधर "राजा (उदयन) तुषारलिंगों की पूजाओं से (अपने) दिन कृतार्थ करके डर निकल जाने पर भोट देश से अपने देश चला आया (२७४)।" कोटा ने उसे फिर स्वीकार किया (२७५)। हिमालय में बरफ से बहुत बार लिंग की शकल बन जाती है; **तुषारलिंग** का वही अर्थ है। वह किसी विशेष लिंग का नाम नहीं जैसा कि श्री योगेश दत्त ने समझा था। अमरनाथ तीर्थ में उसी किस्म के तुषारलिंग की पूजा होती है। जोनराज का कटाक्ष उसी पर है।

१४. शाहमेर का शक्तिसंचय

यं कोटासूत जट्टाख्यं भिक्षणाख्यस्य मन्त्रिणः।
वर्धनायात्मजं राजा स तं मृत्युमिवादित ॥२७६॥

—कोटा ने भिक्षण नामक मन्त्री से जट्ट नामक जिस (बच्चे) को जना था, उस बेटे को उस राजा ने पालने के लिए मृत्यु की तरह स्वीकार किया (आदित = ले लिया)। हम देखेंगे कि उदयन का राज्यकाल १५ वर्ष २ मास का था तथा उसकी मृत्यु पर यह लड़का बच्चा ही अर्थात् १० वर्ष से कम का ही था (आगे श्लोक २६८, ३००)। इससे यह सिद्ध है कि कोटा का मन्त्री भिक्षण से सम्बन्ध न तो रिञ्चन के प्रशासन में और न उदयन के प्रशासन के पहले अंश में हुआ था। प्रकटतः उदयन के भोट देश भाग जाने पर ही कोटा का भिक्षण से सम्बन्ध हुआ, और उदयन जब लौट कर आया तब उसका बच्चा हुआ ही था। यों अचल की चढ़ाई हुई उदयन का राज्यकाल कम से कम आधा बीत चुकने के बाद अर्थात् १३३१ ई० के बाद—बहुत सम्भवतः लग० १३३४-३५ ई० में। उदयन के अपने देश और पत्नी को विपत्ति में छोड़ कर भाग जाने पर कोटा ने दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध किया, इससे कोटा को चरित्र-दोष नहीं दिया जा सकता। अपने क्षेत्रज बेटे को उदयन ने मृत्यु की तरह कड़वा घूँट मान कर ही स्वीकार किया होगा।

"और वह वीर शहमेर जिसने रिञ्चन के बेटे को पाला था, पुत्र-प्रेम के कारण राजा की आँखों का काँटा था (२७७)। पर देवी (कोटा) की दोनों पुत्रों पर सम दृष्टि होने के कारण शाहमेर को अपना द्वेषपात्र होने पर भी राजा भय के मारे छू न सकता था (२७८)।" यह तो राज-परिवार की उलझन हुई; अब प्रजा की बात सुनिए।

"अचल के उपप्लव के आतंक में डर के मारे लोगों ने जिसका आश्रय लिया था वह शहमेर राजा को तिनका भर भी नहीं गिनता था (२७६)।" इससे प्रकट है कि अचल को लौटाने का कार्य मुख्यतया

शाहमेर की ही सूझ और हिम्मत से हुआ था, और उसने अचल की चढ़ाई के समय कश्मीर की रक्षा की तैयारी की थी। कश्मीर का उत्तर-पच्छिमी भाग क्रमराज्य उसके बेटों के हाथ में था (ऊपर श्लोक २५६), और अचल का सामना पहले उसी प्रदेश को करना पड़ता। "शहमेर राजा पक्षी को बार-बार हैदर श्येन दिखला कर दिन-रात डराता रहता था (२८०)।"

रक्षंस्तटस्थानुद्वेगरहितो जलवर्जितः।
अल्लेश्वराम्बुपूरः स प्रजाश्चित्रमतापयत् ॥२८१॥

—आश्चर्य कि वह अल्लेश्वर-रूपी सूखा रौ जो उद्वेग से रहित था, तटस्थों (निष्पक्ष लोगों या अपने तट पर रहने वालों) की रक्षा करता हुआ प्रजाओं को गर्मी देता था। अम्बुपूर शब्द यहाँ और आगे श्लोक २६५ में भी बरसाती नदी के अर्थ में है। उसमें एकाएक पानी की बाढ़ आती है इसलिए वह शब्द बहुत उपयुक्त है। होशियारपुर जिले में वैसी नदियाँ चो, अलमोड़े में गधेरा और देहरादून के खड़ी बोली प्रदेश में रौ कहलाती हैं। देहरादून शहर के पूरबी बाजू पर रिस्पना रौ है, पच्छिमी पर बिंडाल रौ। शाहमेर के बेटे का नाम अल्लेशर या अल्लेश्वर था (ऊपर श्लोक २५६)। योगेश दत्त की पोथी में शायद **अत्रापयत्** पाठ था, जिससे उन्होंने अर्थ किया प्रजा की रक्षा करता था। पर उस पाठ से छन्द टूटता है, 'रक्षन्' की पुनरुक्ति होती है, और 'चित्रम्' की सार्थकता नहीं रहती। जोनराज की काव्य-शैली में असंगति अलंकार का प्रयोग बहुत है, जैसे कज्जल द्वारा दृष्टि मारी जाने की बात में। सो यहाँ भी इस असंगति पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि रौ तटस्थों की रक्षा करता और प्रजा को भिगोने या बहाने के बजाय गर्मी देता था। **अतापयत्** का अर्थ तपाता न कर के गर्मी देता करना ठीक है, क्योंकि कश्मीर जैसे ठंडे देश में गर्मी देना अच्छी बात है।

शिरःशाटकहिन्दाख्यौ समभूषयतामुभौ।
चन्द्रार्काविव तस्याशां शूरौ पौत्रौ गुणोच्छ्रितौ ॥२८२॥

—शिरःशाटक और हिन्द नामक दो शूर गुणों से उन्नत पोते सूरज और

चाँद की तरह उसकी दिशाओं को या आशा को अलंकृत करते थे। ये दोनों अल्लेश्वर के पुत्र थे सो आगे श्लोक ३९२-३९३ तथा ५३२, ५३६ से प्रकट होता है। ३९२ श्लोक में जहाँ फिर शिरःशाटक का नाम आया है, वहाँ योगेश दत्त की पोथी में **शिवस्वामिक** पाठ है। शाहमेर अपने उस पोते को लाड़ से शीराशामक (= क्षीराशी, दूध पीने वाला) कहता था और जान पड़ता है जोनराज ने उसे **शिराशामक** लिखा था जिसे संस्कृत शब्द बनाने के प्रयत्न में लिपिकारों ने शिरःशाटक और शिव-स्वामिक बना दिया।

"द्वारैश्वर्य के कारण जिसका दर्प उमड़ता था, राजा की आज्ञा का लंघन करने को उद्यत वह शहमेर राजा की सेवा करने वालों के लिए विपत्ति का द्वार बन गया था (२८३)।" इससे प्रकट है कि द्वारेश का महत्त्वपूर्ण पद शाहमेर के हाथ में था। वह पद उसे रिंचन ने दिया हो या स्वयं उदयन ने भोट देश को भागने से पहले दिया हो।

सोल्लेश्वरसुतां दत्त्वा लुस्तस्य तदधीशितुः।
श्रीशंकरपुरं जित्वा राज्ञः शङ्कामवर्धयत् ॥२८४॥

—उसने अल्लेश्वर की लड़की उस (= शंकरपुर) के अधीश (ठिकानेदार) लुस्त को दे कर शंकरपुर को जीत कर (= अपने वश में कर के) राजा की शंका बढ़ाई। शंकरपुर बारामूला से श्रीनगर के रास्ते पर की पटन नामक बड़ी बस्ती है।[२९]

वशेतेलाकशूरोस्य भाङ्गिलैश्वर्यभाजनम्।
ज्यंशरस्य सुतां हस्तेकृत्य कृत्यविदोभवत् ॥२८५॥

वशे ते··· अलग अलग पढ़ना चाहिए।—कार्यकुशल ज्यंशर की बेटी को हाथ में कर के भाङ्गिल का स्वामी तेलाकशूर इस (शाहमेर) के वश में आ गया। भाङ्गिल आधुनिक बांगिल है जो पटन के पास ही है।[३०]

---

२९. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, ५,१५६ पर टिप्पणी।
३०. वहीं जि० २ पृ० ४८०-४८१।

बहुरूपजयी लक्ष्मीनिधिरच्युततापदम्।
शमालां स नृसिंहोथ दैत्यश्रियमिवाद्रुनोत्॥२८६॥

तापदम् की जगह तापदाम् होना चाहिए।—बहुत तरह से जीतने वाले धनसम्पन्न उस नृसिंह ने ताप देने वाली शमाला को वैसे ही दबा कर वश में किया जैसे नृसिंह ने दैत्यों की श्री को। शंकरपुर और भाङ्गिल क्रमराज्य के वितस्ता के दक्खिन वाले भाग में हैं, शमाला उसी के उत्तरी भाग में। प्रथम राजतरंगिणी ८, ३१३० में भी शंकरपुर, भाङ्गिल और शमाला के डामरों का एक साथ उल्लेख है। कम से कम उत्तरी क्रम-राज्य का स्वामित्व उदयन ने ज्यंशर और अल्लेशर को दिया था (ऊपर श्लोक २५६); इसलिए शमाला को वश में करना शाहमेर का पहला कर्त्तव्य था। पर अब वह मडवराज्य की तरफ भी कैसे हाथ फैलाता है उसका वृत्तान्त सुनिए।

मकरालयगाम्भीर्यः करालम्बो जयश्रियः।
कराले स करालौजाः करमालम्बयज्जनान्॥२८७॥

—जयश्री का हाथ थामना समुद्र की सी गहराई वाला (कार्य) है; उस कराल ओज वाले ने कराल में लोगों को हाथ थमाया। योगेश दत्त ने अर्थ किया है—लोगों से कर उगाहा। कराल या अर्धवन (आदविन) विशोका (वेसाउ) नदी की सुवर्णमणिकुल्या (सुनमंकुल) नहर का प्रदेश है।[31] विशोका पीरपंचाल की तलहटी के क्रमसरस् (कोंसरनाग) से निकलती, तथा बानहाल से सिद्धपथ (सिदउ) के बीच के कुल पानी को लेती है। यों कराल मडवराज्य के दक्खिनी भाग में है। वहाँ के लोग प्रकटतः किसी कष्ट में थे, शाहमेर ने उन्हें अपना हाथ थमा कर सहारा दिया।

असिस्मरत्स्मेरयशा दह्यमानमितस्ततः।
राज्ञः कलशदेवस्य विजयेशपुरं ततः॥२८८॥

---

३१. वहीं जि० २ पृ० ४७१।

—मुसकाते हुए यश वाले (उस) ने उसके बाद राजा कलशदेव के जहाँ तहाँ जलते हुए विजयेशपुर को याद किया। विजयेश्वर (विजभ्रोर) मडवराज्य के उत्तरपूर्वी भाग में श्रीनगर से मार्त्तण्ड के रास्ते पर है सो ऊपर कह चुके हैं। कलश कश्मीर के साधु राजा अनन्त (१०२८–१०८१ ई०) और उसकी प्रसिद्ध रानी सूर्यमती का बेटा था। जवानी में निर्लज्ज ऐयाशी के कार्य करने के कारण उसका माता पिता से बिगाड़ हो गया। अनन्त ने उसे कैद करना चाहा, पर सूर्यमती के कहने से न किया और विजयेश्वर में रहने दिया। कलश ने पीछे बिगड़ कर विजयेश्वर में आग लगा दी। उसके पिता ने तब आत्महत्या कर ली और माँ सती हो गई। इसके बाद जब कलश पर राज्य की जिम्मेदारी पड़ी, तब उसका चरित्र सुधर गया।

जलते हुए विजयेशपुर को याद कर शाहमेर ने क्या किया सो अगले श्लोक में कहा है—

> स्थित्यै प्रकल्प्य चक्रस्य स्वस्य चक्रधराचलम्।
> शह्मेरोऽचलकार्याणि जनस्य समदर्शयत् ॥२८९॥

—अपने लोगों की जीविका के लिए चक्रधर पहाड़ की जागीर लगा कर शहमेर ने लोगों को अचल के कार्य याद कराये। चक्रधर पठार (चक्दर उडर) विजभ्रोर के लगभग दो मील नीचे वितस्ता के एक मोड़ में है।[32] सुस्सल के राज्यकाल में भी ११२१ ई० में राजा हर्ष के पोते भिक्षाचर ने विद्रोह करते हुए पृथ्वीहर आदि डामरों को साथ मिला कर विजयेश्वर पर राजकीय सेना को हराया और चक्रधर के मन्दिर को जला दिया था। चक्रधर उडर हाथ में रहने से विजयेश्वर प्रदेश में कलश या भिक्षाचर की तरह शरारत करने वाले विद्रोहियों पर अंकुश रहेगा यह सोच कर शाहमेर ने उसे अपने हाथ में कर लिया। अचल की चढ़ाई के समय शाहमेर ने देश को बचाया था, इसलिए चक्दर उडर जैसे

---

३२. वहीं जि० २ पृ० ४६३।

नाकेबन्दी के स्थान उस जैसे ज़िम्मेदार व्यक्ति के हाथ में रहने चाहिएँ, जनता को यह समझा कर उसने यह कार्य किया। अचल उत्तरपच्छिम से आया था, पर कोई आक्रमक दक्खिनपूरब से भी आ सकता था, इसलिए उधर के नाकों को सुरक्षित करना भी आवश्यक था। द्वारेश होने के कारण सब रास्तों की रक्षा का उपाय करना शाहमेर का कर्त्तव्य था।

इस प्रसंग के श्लोकों का अर्थ करने में श्री योगेश दत्त ने बड़ा गोलमाल किया है। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ उन्होंने किया है—अपने इलाकों की सुरक्षा के लिये (स्वस्य चक्रस्य स्थित्यै) शाहमेर ने चक्रधर पहाड़ की किलाबन्दी की, और लोगों को दिखाया कि मेरे कार्य अटल (अचल) हैं!

कम्पनेश्वरलक्ष्मस्य लक्ष्मीमिव सुतां दधत्।
अल्लेशो लब्धवान् शुद्धं स्वदायमिव सद्यशः ॥२९०॥

—प्रधान सेनाध्यक्ष लक्ष्म की लक्ष्मी जैसी बेटी को धारण करते हुए अल्लेश को अपने शुद्ध दाय (विवाह-भेंट) की तरह अच्छा यश मिला। प्रधान सेनाध्यक्ष के अर्थ में पहली राजतरंगिणी में बराबर कम्पनाध्यक्ष या कम्पनेश शब्द आता है; कम्पना = कँपानेवाली = सेना।

नारिङ्गरङ्गशैलूषं कोटराजमथाग्रहीत्।
शाह्मेरस्तनया रत्नगुहरोन्मालिकेन सः ॥२९१॥

तनयारत्न··· मिला कर पढ़ना चाहिए।—इसके बाद शाहमेर ने माला उठाये हुई रत्न जैसी कन्या गुहर द्वारा रंगशाला के नट (=ज़माना-साज़) कोटराज नारिंग को वश में किया। विवाह के समय कन्या वर के गले में माला डालती है, इसलिए कोटराज नारिंग को कन्या दे कर वश में किया यह अभिप्राय है। गुहर प्रकटतः शाहमेर की बेटी का नाम है। फारसी में गुहर का अर्थ है मोती। यों रत्नगुहर··· कहने में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। कोट से कौन सा स्थान अभिप्रेत है सो मैं नहीं पहचान सका।

बड़े-बड़े जागीरदारों के यों काबू आने की बात कह कर जोनराज

साधारण रूप से कहता है—"बेअसूले लवन्य कुछ साम से, कुछ भेद से, कुछ दान से और कुछ डर से उसके शासन को मानने लगे (२६२)। लवन्य लोगों ने उसकी पुत्रियों को मालाओं की तरह धारण किया; यह नहीं जाना कि वे प्राण हरने वाली घोर विष वाली नागिनें थीं (२६३)।" जोनराज ने यह बात शाहमेर के पोते के पोते जैनुलाबिदीन के समय में लिखी है। इससे प्रकट है कि उसने सच्चे ऐतिहासिक की तरह अपना मत खुल कर व्यक्त किया है, अपने आश्रयदाता के वंश की प्रशंसा ही नहीं की। जैनुलाबिदीन जैसे उदार शासक ने उसे यह स्वतन्त्रता दी यह उस शासक के अनुरूप ही था।

इन विवाहों के विषय में यह भी जानना चाहिए कि कश्मीर में एक वर्ग या एक जात के हिन्दुओं और मुसलमानों में पारस्परिक विवाह करने की प्रथा सत्रहवीं शताब्दी तक बनी रही। जैसे शैवों शाक्तों वैष्णवों बौद्धों आदि में परस्पर-विवाह होने में मत का भेद बाधक न होता था, वैसे ही हिन्दुओं मुसलमानों में भी। जैसे हिन्दू की लड़की मुस्लिम के घर जा कर मुस्लिम हो जाती, वैसे ही मुस्लिम की लड़की हिन्दू के घर आ कर हिन्दू हो जाती। पत्नी की मृत्यु के बाद उसका देह उसके पति के धर्म के अनुसार जलाया या दफनाया जाता। शाहजहाँ ने अपने प्रशासन में इस प्रथा को एकतरफा करने के लिए अक्तूबर १६३४ में यह आदेश निकाला कि हर हिन्दू जो मुस्लिम स्त्री को ब्याहे वह या तो मुस्लिम बन उससे फिर ब्याह करे और या उसे त्याग दे। इस आदेश का कड़ाई से पालन कराया गया, तब यह प्रथा बदली।[33] यों शाहमेर-परिवार के ये विवाह-सम्बन्ध अपनी राजनीतिक शक्ति बढ़ाने के लिए थे, इनका सामाजिक साम्प्रदायिक मूल्य तब कुछ न था।

अन्त में "कौन-सा वह लवन्य-हाथी था जो शाहमेर-सिंह के मन्त्र

---

३३. यदुनाथ सरकार (१९१२)—हिस्टरी ऑफ औरंगज़ेब (औरंगज़ेब का इतिहास) जि० १ पृ० ६२-६३, २४३।

(नीति) से या विक्रम से अथवा राजवंश के व्यक्ति द्वारा काबू किये जाने की आदत के कारण वश में नहीं हो गया (२९४)?" और "शहमेर-रौ की बाढ़ से चारों तरफ से घिरा हुआ राजा मिट्टी के ऊँचे ढेर पर खड़े पेड़ की तरह रह गया (२९५)," तथा "मानो राजधानी मात्र का आधिपत्य रह जाने की लज्जा से राजा का जीवन भी शुद्ध यश के साथ चला गया (२९६)।" १४वें वर्ष की शिवरात्रि त्रयोदशी को (फरवरी १३३९) उसकी मृत्यु हुई (२९७); कुल १५ वर्ष २ मास २ दिन उसने कश्मीर भूमि का भोग किया (२९८)।

१५. कोटा का प्रशासन

कोटा ने शाहमेर के डर से चार दिन राजा की मृत्यु की बात छिपाये रक्खी (२९९)। "शहमेर मेरे बेटे द्वारा साम्राज्य कहीं अपने हाथ में न ले ले इस डर से बड़े बेटे को और बच्चा होने के कारण दूसरे को (राजा बनाने का विचार) छोड़ कर (३००) पुत्र-स्नेह से और बुढ़ापे के दोष से विमोहित रानी कोटा महल के भीतर बन्द न रहना चाहती थी, तब (३०१) लवन्यों ने उसे स्त्री होने और बन्धु होने के कारण ढारस दिलाया, और उसने स्वयं अपनी विधवा सखी सी भूमि को सान्त्वना दी (३०२)" अर्थात् भूमि का शासन अपने हाथ में लेना तय किया। तब "डर निकल जाने पर शुक्ल प्रतिपदा के दिन उसने राजा की अन्त्येष्टि की (३०३)।"

कोटा का पहला बेटा हैदर अब १८ एक वर्ष का रहा होगा। दूसरा बेटा जट्ट अभी तक बच्चा था। स्वयं कोटा की आयु अब कितनी रही होगी? यदि रिंचन के हाथ पड़ने के समय वह १६ वर्ष की रही हो तो अब वह ३५-३६ वर्ष की होगी। पर उस दशा में श्लोक ३०१ में उसे वृद्ध क्यों कहा है? यदि रिंचन की पत्नी बनने के समय वह २५ बर्ष की रही हो तो अब लगभग ४५ की होगी, और उसे वृद्ध कहना अयुक्त न होगा। किन्तु २५ वर्ष की आयु तक उस युग में उसके अविवाहित

रहने की सम्भावना बहुत कम थी। और यदि वह विवाहित थी—रामचन्द्र की पत्नी थी—तो उसकी किसी सन्तान का उल्लेख क्यों नहीं है? इस समस्या को मैं ठीक ठीक सुलझा नहीं पा रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि श्लोक ३०१ में कवि ने थोड़ी असावधानी से उसे वृद्ध कह दिया है; वह तब ३६ एक वर्ष की ही होगी, क्योंकि बड़ी विपत्तियों में से लाँघने और अपने बेटे से वञ्चित हो जाने पर भी उसका दिल टूटा न था। इसके बाद भी उसने काफी दृढता दिखाई और शाहमेर ने अन्त में उससे विवाह की बात भी की।

कोटा के अपने हाथ में शासन ले लेने पर "शाहमेर आदि सब अमात्यों ने पुराने उपकारों को याद करते हुए उसे उसी प्रकार प्रणाम किया जैसे मनुष्य चन्द्रमा की नई कला को प्रणाम करते हैं (३०४)। ताप को दूर करने में दक्ष उनाले की वर्षा सी उस (रानी) ने समूची धूल को शान्त करते हुए प्रजा-लताओं को पनपाया (३०५)।"

किन्तु "शहमेर से अपने उदय के भ्रंश की शंका उसे थी, इसलिए उस देवी ने उसके दर्प को तोड़ने के लिए भट्टभिक्षण को बढ़ावा दिया (३०६)। वह तब उसकी प्रज्ञा की नाव पर चढ़ कर दुस्तर पानी की बाढ़ों जैसे बड़े भयानक कार्यों के परले पार लगने लगी (३०७)। शहमेर ... भिक्षण के इस उदय को दिल से न सह पाता था ... (३०८)। सुलगती हुई आग धुएँ ताप आदि से जानी जाती है, पर इस बुद्धिमान् के क्रोध का कोई भी चिह्न दिखाई न देता था (३०९)।"

"सयाने शहमेर ने तब बीमार होने का बहाना किया और ऐसा दिखाया कि मैं मरने वाला हूँ (३१०)। उसका हालचाल देखने के लिए कोटा देवी ने भट्टभिक्षण को अवतार आदि के साथ भेजा (३११)। (शाहमेर के) द्वारपालों ने उनके अनुयायियों को यह कह कर भीतर जाने से रोक दिया कि उसका पित्त कुपित है, पसीना आना उचित नहीं है (इसलिए भीतर भीड़ करना अभीष्ट नहीं है) (३१२)। वे दोनों भिक्षण और अवतार उसके पास जा बैठे, पर उनके प्राणरक्षक देवता

मानो रास्ता तंग होने से न घुस सके (३१३)। उन्होंने उसकी बीमारी का हालचाल पूछा; कुछ समय बाद उसने अपने आदमियों द्वारा उनके देह में छुरी गड़वा दी और अपने मन की व्यथा उखाड़ फेंकी (३१४)। नाड़ियों से लहू, आँखों से पानी और सब अंगों से प्राण उन दोनों ने तुरन्त छोड़ दिये ; उसने अपने मन से उनका द्वेष छोड़ दिया (३१५)। लहू से गीले घाव-दीये जिसकी गोद में हैं ऐसे पूर्ण पात्र से उनके सिर थे; उसने रोग छुटने के बाद का स्नान उनके खून से किया (३१६)।"

इस प्रत्यक्ष अपराध पर शाहमेर को दण्ड देना राज्य का तुरत का कर्त्तव्य था। "कोटादेवी शहमेर को कैद कर लेने को तैयार और समर्थ भी थी; पर वह दूसरों के कहने में आ जाती थी, और उसके अपने दुर्बुद्धि अमात्यों ने उसे यह कर रोक दिया (३१९) कि ये दोनों आपके बेटों की संरक्षा में लगे हुए थे, विधाता ने इनमें से एक को छोड़ कर दूसरे को हर लिया (३१७) ··· (३१८)!" यों कातिल के वार को विधि की लीला कह कर उन्होंने कर्त्तव्य से मुँह मोड़ा और शासन की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी।

जोनराज का कहना है कि इसके बाद भी "साम्राज्य-कुमुद के लिए चाँदनी सी (वह रानी कोटा) लोगों को उसी तरह तृप्त करती रही जैसे नहर समृद्धिदायक पानी से क्यारी को (३२०)।" किन्तु शाहमेर को दण्ड न मिलने से शासन की जो दुर्बलता प्रकट हो चुकी थी, उसका प्रभाव हुए बिना न रह सकता था। कम्पनाधिपति (प्रधान सेनापति) ने रानी की आज्ञा का व्यतिक्रम किया, रानी ने तब युद्ध की तैयारी कर उस पर चढ़ाई की (३२१)।

संकटात्कम्पनेशस्तं कुलायादिव पक्षिणीम्।
जीवग्राहं गृहीत्वाथ कारापञ्जरमानयत् ॥३२२॥

—कम्पनेश ने उसे घोंसले में से पक्षिणी की तरह पहाड़ के घाट से जीते जी पकड़ कर कारा के पिंजरे में ला डाला! ध्यान रहे कि कम्पनेश

शाहमेर का समधी था; उसने अपनी लड़की अल्लेश्वर को व्याही थी (ऊपर श्लोक २६०)।

कुमारभट्ट नामक कोटा के योग्य मन्त्री ने उसे छुड़ाने का इरादा किया और पहले दिखावे के लिए दूसरे मन्त्रियों से (जो प्रकटतः कोटा के पक्ष में थे) झगड़ा किया (३२३)। उसके बाद वह रानी से मिलती शकल वाले एक सुन्दर विद्यार्थी को अपने साथ ले (३२४) कम्पनाधीश के पास पहुँचा और उसकी प्रशंसा कर उससे बोला (३२५-२६) कि रानी दान भोग उत्सव से परहेज़ करती हुई बहुत सा धन अपने बन्धुओं के यहाँ तथा सेना की छावनियों में जमा करती रही है (३२७), आपकी इजाज़त से मैं कारा में जा कर उसे धमका और फुसला कर उस धन का पता निकालना चाहता हूँ (३२८)। कम्पनाधीश ने उसे इजाज़त देते हुए यह कह कर विदा किया कि हमारा उपकार भी याद रखना (३२६)। सन्ध्या के समय वह अपने विद्यार्थी के साथ कारा में घुसा "और रानी के दिल से शोक निकल गया" (३३०-३१)—इससे प्रतीत होता है कि रानी को इस बात की सूचना पहले से थी। रानी-भेसधारी विद्यार्थी को वहाँ छोड़ बटुक-वेशधारिणी कोटा को ले कर वह निकल आया (३३२)।

रक्षितारोपि नाजानंस्तद्यावत्तावदेव सा।
कम्पनाधिपतिं चक्रे स्वचक्रेभशकृत्करिम् ॥३३३॥

—जब तक रखवालों को भी इसका पता न चला तब तक उसने कम्पनाधिपति को 'अपने चक्र का हाथी का बच्चा' बना लिया। यह मुहावरा अपरिचित सा है, पर इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उसने कम्पनाधिपति को एकाएक कैद कर लिया। कोटा शाहमेर पर भी इसी प्रकार की कार्रवाई कर सकती थी और कर लेती तो विपत्ति में क्यों फँसती? अचल की चढ़ाई के समय तथा अब उसने जैसा बर्त्ताव किया उससे प्रतीत होता है कि वह काफी हिम्मत-हौसले वाली और समझदार थी।

सान्वशेत कुमारेण मोचिता भट्टभिक्षणम्।
एकदन्तहतारेः किं नान्येनेभमुखाद्भयम् ॥३३४॥

—कुमार द्वारा छुड़ाई जा कर वह भट्टभित्तुण को याद कर पछताने लगी…। दूसरी पंक्ति का शब्दार्थ ठीक नहीं बनता, पर भावार्थ यह स्पष्ट है कि एक शत्रु को जिसने मार लिया उसे क्या दूसरे शत्रु से डर नहीं होता।

"उसने शहमेर पर कृपा नहीं दिखाई, शहमेर ने भी शंका न छोड़ी, क्योंकि समर्थ से वैर कर के बुद्धिमान् उदासीन नहीं हो बैठते (३३५)। उस बलशाली पर वह न प्रसन्न होती और न कुपित होती, घृणा के साथ (ऐसा) प्रमाद विनाश का पहला अङ्कुर होता है (३३६)।" … कोटा और शहमेर में से एक जिस पक्ष को बढ़ाता दूसरा उसे नष्ट करने का यत्न करता … (३३८)।

"एक बार वह कार्यवश जयापीडपुर गई; बली शहमेर ने पीछे राजधानी को हथिया लिया (३३९)।" जयापीडपुर या जयपुर वितस्ता-सिन्धु-संगम के तीन मील नीचे वितस्ता के बाँये (दक्खिनी) तट पर, क्रमराज्य के दक्खिनी भाग में, है। उसका एक अभ्यन्तरकोट्ट (अंदरकोठ) और एक बाह्यकोट्ट था। अब जयापीडपुर का स्थान अंदरकोठ ही कहलाता है।[३४]

"लवन्य लोगों ने (शाहमेर को) अधिक बलशाली (देख) उसकी आज्ञा ग्रहण कर ली; तब रानी ने जयश्री के साथ-साथ कोट्ट के द्वार को बन्द कर लिया (३४०)। शहमेर ने उसके (समाचार लाने वाले) चार-रूपी नेत्र बन्द कर दिये, तब वह उस बिलाव के सामने बिल में घुसी चुहिया सी केवल उसकी चपलता उभाड़ने का कारण बन गई (३४१)।" तब शाहमेर उसे मनाने के सन्देश भेजने लगा, रानी के पुराने उपकारों की याद दिला कर (३४३-४४) उसने कहला भेजा कि "मेरे साथ सिंहासन पर, लक्ष्मी के साथ मेरी छाती पर और क्षमा के साथ मेरे चित्त में रानी आ विराजे (३४५)। इस प्रकार के

३४. औरेल स्टाइन (१९००)—पूर्वोक्त, जि० १ पृ० १३०।

सन्देशों से उसे यत्नपूर्वक भुला कर उस बुद्धिमान् ने कोट्ट की भूमि और कोटादेवी को हाथ में कर लिया (३४६)।"

"एक बिछौने पर रात उसके साथ बिता कर उसने प्रातः उठ कर तीक्ष्णों द्वारा देवी को घिरवा दिया (३४७)।" श्री योगेश दत्त ने समझा था तीक्ष्ण कश्मीर के किन्हीं विशेष लोगों का नाम है। कोशों में वह शब्द संज्ञावाचक नहीं है, पर कौटल्य के अर्थशास्त्र (१,१२) में तीक्ष्ण उन चारों (गुप्तचरों) का नाम है जो पैसे की खातिर कोई भी दुःसाहस करने को तैयार हों।

यों "पन्द्रहवें वर्ष (= १३३६ ई०) श्रावण की शुक्ल दशमी को रानी अन्तरिक्ष से तारे की तरह राज्य से गिर पड़ी (३४८)। उसके उन दोनों बेटों को भी ··· उस कार्यकुशल शाहमेर ने कैद में डाल दिया (३४६)।"

शाहमेर पहले रिंचन का विश्वासपात्र बन कर ऊँचे पद पर पहुँचा था। फिर अचल की चढ़ाई के समय धैर्य, हिम्मत और चतुराई से देश की रक्षा कर कश्मीर की प्रजा का प्रीतिपात्र बना। उसके बाद लवन्यों से रिश्ते जोड़ उसने सारे कश्मीर में अपना जाल फैला लिया। फिर हत्यारा बन अपना प्रतिद्वन्द्वी काँटा उखाड़ फेंका, और अन्त में होशियारी दृढ़ता और निर्ममता से कश्मीर का राज्य हथिया लिया। उसकी प्रत्येक अवसर की कुशलता से प्रभावित हो कश्मीरी कवि देखता है कि मनुष्य का कर्म ही वास्तविक दैवी शक्ति है और गा उठता है—

स्वं रूपं चिदचिद्भिरेभिरभितो व्यञ्जन्स्वयं निर्मितै-
र्यस्योन्मीलति देशकालकलनानिष्कीलितं तन्महः।
आत्मा वास्तु शिवोस्तु वास्त्वथ हरिः सोप्यात्मभूरस्तु वा
बुद्धो वास्तु जिनोस्तु वास्त्वथ परस्तस्मै नमः कुर्महे ॥३५०॥

—स्वयं किये हुए ज्ञानात्मक या अज्ञानात्मक अपने इन (कर्मों) से अपने रूप को प्रकट करता हुआ जिसका देश काल की गणना से न बँधा हुआ वह तेज खुलता है, वह आत्मा हो या शिव हो या हरि हो या ब्रह्मा हो या बुद्ध हो या जिन हो या परला (आत्मा) हो, हम उसे

नमस्कार करते हैं !

भियं लवन्यलोकेषु कीर्त्तिं दिक्षु महीभुजे ।
लक्ष्मीं वक्षसि कोटां च कारायां स ततो व्यधात् ॥३५१॥

महीभुजे के बजाय **मही भुजे** पढ़ना चाहिए, **व्यधात्** की जगह **न्यधात्** पाठ हो तो बेहतर ।—तब उसने लवन्य लोगों में भय और दिशाओं में (अपनी) कीर्त्ति (फैला दी), पृथ्वी को (अपनी) भुजा पर, लक्ष्मी को छाती पर और कोटा को कारा में रख दिया ।

१६. शाहमेर का प्रशासन

नीत्वावस्थान्तरं दौःस्थ्यशमात्कश्मीरमण्डलम् ।
श्री शंसदीन इत्याख्यामन्यां स्वस्य व्यधान्नृपः ॥३५२॥

—कश्मीरमंडल को दौःस्थ्य (बुरी दशा) के शमन द्वारा दूसरी अवस्था (दौःस्थ्य से उलटी दशा स्वास्थ्य) में ला कर राजा ने अपना दूसरा नाम श्री शंसदीन (शम्सुद्दीन) रक्खा ।

जिन राज्याधिकारों को कोटा ने स्त्री होने के कारण अपने विश्वास-पात्रों को सौंप दिया था (३५६) उन्हें तथा काष्टवाट (कष्टवार) के राजस्थानीय (राजप्रतिनिधि) से उसका अधिकार शाहमेर ने वापिस लिया (३५७) । "अँधेरे के समान बलशाली लवन्य जहाँ सन्ध्या के सूर्य जैसे राजा का प्रकाश पहुँचना रोक देते थे, वह सारा कश्मीर-मण्डल ··· उसने पहले की तरह क्षण में वश में कर लिया (३५८) ।"

फिर वह "अपने पुत्रों स्वाद और नून पर राज्य की धुरी डाल कर ··· सुख से राज्य भोगता रहा (३६०) ।" स्वाद ص और नून ن फारसी-अरबी लिपि के दो चिह्न हैं । शाहमेर ने अपने बेटों ज्यंशर और अल्लेशर के किसी कारण प्यार से ये संकेत-नाम रक्खे हों । पर इन नामों के रखने में क्या सार्थकता थी मैं अभी नहीं कह सकता । ३ वर्ष ५ दिन राज्य कर १८वें वर्ष (१३४२ ई०) आषाढ की प्रतिपदा-युक्त पूर्णिमा को शाहमेर की मृत्यु हुई (३६१) ।

१७. ज्यंशर और अल्लेशर के प्रशासन

ज्यंशर का नाम फ़ारसी तारीखों में जमशेद है। उसे राजगद्दी पर बैठने के कुछ काल बाद अपने अनुज पर, जो कि युवराज पद पर था, शंका हुई (३६३–६७)। अल्लेशर बिगड़ कर अपने साथी षड्यन्त्रियों के पास अवन्तिपुर गया; ज्यंशर उसका पीछा करने उत्पलपुर पहुँचा (३६८-६६)। अवन्तिपुर (वांतिपोर) मडवराज्य के उत्तर-पूरवी भाग में वितस्ता के दाहिने तरफ है। उत्पलपुर मडवराज्य के दक्खिन भाग में वितस्ता के बायें काकपोर गाँव है जो शुपियन बस्ती का नदी-पत्तन है। ज्यंशर ने सन्देश भेज कर भाई को, जो कम्पनाधिपति भी था, मनाने का यत्न किया (३६६-३७२)। वह अवन्तिपुर तक बढ़ा, वहाँ भाई की एक सेना-टुकड़ी को हराया, पर बाद थक कर भाग आया (३७८–३८०)। अल्लेश्वर ने दो मास के लिए कलह-विराम का प्रस्ताव किया (३८३), और उस बीच अवन्तिपुर को छोड़ क्षीरीपथ से ईक्षिका पहुँच गया (३८४)। क्षीरीपथ से स्पष्ट ही क्षीरनदी का रास्ता अभिप्रेत है। क्षीरनदी को अब दूदगंगा या छाचकुल (छाछ की कुल्या=नहर) कहते हैं; वह पीर पंचाल की तटकुटी चोटी के नीचे से निकल कर दक्खिन से वितस्ता में मिलती है। ईक्षिका मडवराज्य के दक्खिनी भाग में श्रीनगर के पड़ोस तक का येच परगना है। यों अल्लेशर दक्खिन घूम कर श्रीनगर के पड़ोस तक पहुँच गया। ज्यंशर अपने मन्त्री सय्यराज को राजधानी की रक्षा सौंप क्रमराज्य को चला गया (३८५)। युवराज (अल्लेशर) ने सय्यराज को फोड़ कर राजधानी हथिया ली (३८६)। यों ज्यंशर थक कर या डर कर ही भाग गया यह कहना चाहिए। "कश्मीरमण्डल में नाम के राजा रूप में दो मास कम दो वर्ष दुःख भोग कर (वह) राजा अवसान (=अन्त) को प्राप्त हुआ (३८७)।"

अल्लेशर अलाउद्दीन नाम से गद्दी पर बैठा। "उस समय (अपने) को कलह में समर्थ न जानते हुए अलावदेन ने भाई से वैर निवृत्त करने

के लिए उसे द्वारैश्वर्य दिया (३८८)।" भाई कौन? क्या ज्यंशर? पर ज्यंशर का अवसान (अन्त) होने की बात तो ऊपर कही है। तब क्या कोई तीसरा भाई था और उससे भी अलाउद्दीन का वैर था? श्री योगेश दत्त ने ऐसा ही माना हैं। पर तीसरे भाई का और कहीं उल्लेख नहीं है। अगले श्लोक में फिर ज्यंशर के बारे में कहा है—"सय्यपुर में पानी से पार उतरने के लिए ज्यंशर ने सेतु बनवाया, पर विपत्ति से पार उतरने का उपाय उसने नहीं सोचा (३८९)।" अगला श्लोक भी स्पष्टतः ज्यंशर के विषय में है—"उसने पर्वत की सीमा पर पथिकों के रहने के लिए कद्या-विभाग सहित (=अनेक कमरों वाला) अपने नाम का मठ (सराय) बनवाया (३९०)।" आगे कहा है—"कपट और बेशर्मी के आरोप के कारण राजा से डरा हुआ वह स्वयं द्वार (=द्वारैश्वर्य) को छोड़ कर ज्येष्ठेश्वर नाम के गाँव को चला गया (३९१)। इस प्रकार विक्रम और नीति से अपने देश को शुद्ध करते हुए राजा के द्वारैश्वर्य को श्री शिरःशाटक ने पाया (३९२)। उस राजपुत्र ने ··· (३९३)।"

ज्येष्ठेश्वर के मन्दिर कश्मीर में तीन जगह थे। सब से पहला हर-मुकुट पर्वत के नीचे नन्दिक्षेत्र में; दूसरा डल झील के उत्तरपूर्व छोर से तीन मील पूरब त्रिपुरेश्वर (त्रिफर गाँव) के पास, और तीसरा श्री-नगर के पड़ोस में डल के गग्रिबल अंश के दक्खिनपच्छिम उठती पहाड़ी पर जहाँ ज्येठेर गाँव है।[३५] श्लोक ३९१ में स्पष्ट शब्दों में 'ज्येष्ठेश्वर नामक गाँव को' कहा है, इसलिए श्रीनगर के पड़ोस के डल के दक्खिन वाले ज्येठेर गाँव से ही अभिप्राय है।

ज्येष्ठेश्वर गाँव को जाने वाला 'वह' अलाउद्दीन का वही भाई है जिसे द्वारैश्वर्य दिये जाने की बात ३८८ श्लोक में कही है। अलाउद्दीन ने अपने भाई को केवल नीति-वश द्वारैश्वर्य दिया था। बाद में उसपर कपट और बेशर्मी के आरोप लगाये। तब वह डर कर स्वयं चला गया

३५. वहीं, १,११३ और १२४ पर टिप्पणी तथा जि० २ पृ० २८९।

और राजपुत्र शिरःशाटक (या शिवस्वामिक) अर्थात् अलाउद्दीन के बेटे शीराशामक को द्वारैश्वर्य मिला। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन ने अपने जिस भाई को द्वारैश्वर्य सौंपा वह ज्यंशर ही था; उसी से उसका वैर चल रहा था जिसकी निवृत्ति अभीष्ट थी, और कि श्लोक ३८७ में जो अवसान की बात है वह ज्यंशर के राज्यकाल के अवसान की है न कि उसके जीवन के। अगले श्लोकों में ज्यंशर की चर्चा जारी ही है और श्रीनगर से भागने के बाद ज्यंशर की तुरत मृत्यु हो गई ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। अल्लेशर ने राजधानी हथियाने के बाद उसे द्वारैश्वर्य सौंप कर मनाया, पर पीछे वह अल्लेशर का भीतरी अभिप्राय समझ कर राजकीय जीवन से निवृत्त हो ज्येष्ठेश्वर में रहने लगा।

आगे राजपुत्र शीराशामक की एक कहानी दी है जो उस समय की सामाजिक दशाओं पर प्रकाश डालती है। "उस राजपुत्र ने कभी लीलारस से वाकपुष्टा वन में घूमते हुए पहाड़ की गुफा में योगिनीचक्र देखा (३९३)। उदयश्री और चन्द्र डामर उसके प्रिय (साथी)··· (३९४)" भी उसके साथ थे। वे घोड़ों से उतर कर धीरे धीरे मौन-पूर्वक योगिनियों के पास पहुँचे (३९७-९८)। "तब योगिनीनायिका ने दूर से ही राजा के बेटे को पहचान कर असीस-सहित मन्त्र फूँका हुआ शराब का प्याला भेजा (३९९)। राजा (=राजपुत्र) ने तृप्त हो कर जो बचाया उसे चन्द्र ने तृप्त हुए बिना उदयश्री को देखते हुए कुछ बचा दिया (अर्थात् कुछ पिया कुछ बचा दिया) (४००)। भवितव्य के बल से उदयश्री अश्वपाल को एकदम भूल कर वह सारा पी कर बहुत तृप्त हुआ (४०१)। वे तृप्त हो गये, पर उनके नेत्रों में आश्चर्य और अतृप्ति थी; निमित्त पहचानने वाली योगिनी ने हाथ जोड़े खड़े राजपुत्र को तब कहा (४०२)—तेरा राज्य अखण्ड होगा, चन्द्र तेरे वैभव का अंश पायगा, उदयश्री भी जीवन भर अखण्ड श्री से भूषित होगा (४०३), यह अश्वपाल हमारे अनुग्रह से वर्जित है, इसके प्राण जल्दी

ही छूटने को हैं (४०४)। यों भविष्य की सूचना दे कर योगिनियों के साथ वह अन्तर्धान हो गई और उसके पीछे पीछे अश्वपाल के प्राण-पखेरू उड़ गये (४०५)।"

वाक्पुष्टा कश्मीर के राजा तुंजीन १म की रानी थी। अपने पति के पीछे जिस वन में वह सती हुई उसका नाम वाक्पुष्टाटवी पड़ा (कल्हण राजत० २,५७)। उस वन की पहचान नहीं हो सकी। शाहमेर वंश के सुल्तानों के मन्त्री और प्रमुख राज्याधिकारी हिन्दू ही होते रहे। उदयश्री और चन्द्र डामर शीराशामक के प्रिय साथी रहे। और हमने देखा कि मुस्लिम राजा के साथ एक ही प्याले से पीने में वे विशेष जूठ-सुच नहीं मानते रहे।

१६वें वर्ष अर्थात् १३४३-४४ ई० में (ज्यंशर के राज्यकाल में) कश्मीर में बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा था (४१२)। अलाउद्दीन १२ वर्ष ८ मास १३ दिन राज्य कर ३०वें वर्ष में मरा (४१३)। इस गणना में ज्यंशर की "नाम-राजता" के २२ मास भी सम्मिलित हैं, तभी ३०वें वर्ष में—अर्थात् मार्च १३५५ ई० में—अलाउद्दीन की मृत्यु पड़ती है।

६८. शहाबुद्दीन के दिग्विजय

उसके बाद शीराशामक शहाबुद्दीन नाम से गद्दी पर बैठा। जोनराज उसकी कहानी यों शुरू करता है—"मन्द राजाओं की कथा कहने से मेरी वाणी में जड़ता आ गई है, तीक्ष्ण-प्रताप शहाबुद्दीन के आख्यान से वह नष्ट हो जाय (४१४)! राजा शाहावदीन के समय (इस) भूमि ने ललितादित्य (के समय) की सम्पत्ति विपत्ति और सुख दुःख का स्मरण (कर तरसना) छोड़ दिया (४१५)। श्रीमान् शाहावदीन ने भरपूर साम्राज्य को हाथ में लिया, तब राजन्वती (अच्छे राजा वाली) भूमि अन्तरिक्ष पर हँसने लगी—वह हँसी उस (राजा) का यश था (४१६)।"

आगे उसके विजयों और विजययात्राओं के बारे में कहा है—"जय के बिना क्षणमात्र को भी वृथा गये मानने वाले उस राजा को

यात्रा ऐसी प्रिय थी जैसे बूढ़े को तरुणी (४२१)। न मृगलोचनी, न मद्यपान-लीला और न चाँदनी उस भूमि-भर्त्ता का मन हरती थी, बस केवल यात्रा (४२२)। न ताप, न हिम, न सन्ध्या, न रात, न भूख और न प्यास उस राजा की यात्रा में विघ्न डाल सकती थी (४२३)। यात्रा के अभिमानी इस राजा के लिए कोई नदी दुस्तर न थी, कोई पर्वत दुरारोह न था, कोई मरु दुर्लंघ्य न था (४२४)।"

इस भूमिका के बाद उसके दिग्विजयों का वर्णन है। "पहले राजाओं द्वारा न जीती गई पारसीक कुलों से घिरी हुई उत्तर दिशा को जीतने के लिए उसने पहले प्रस्थान किया (४२५)। ... चन्द्रलौलक-शूरों को उसने अपना सहायक चुना (४२६)।" चन्द्रलौलक शूर कहाँ के सैनिक थे, अभी मैं नहीं खोज सका। "गोविन्दखान जिसका पालन करता था उस उदभाण्डपुर में पहले उसके बाणों ने उसके बाद सैनिकों ने प्रवेश किया (४२८)। राजा की सेना के पहाड़ की चोटी पर पहुँच जाने पर उसके विरोधी डर गये और ऊँची चोटी से उतर गये (४२९)। सिन्धुप कोई अच्छी भेंट देने में समर्थ न था, (इसलिए) उसने बचाव के लिए इस राजा को कन्या-रत्न भेंट किया (४३०)। गान्धारों की भू-वधू ने राजा के बाहु को गौरव दिया...(४३१)।"

उदभाण्डपुर (ओहिन्द या उन्द) सिन्ध नदी के पश्चिमी तट पर की प्रसिद्ध बस्ती है। वहाँ का राजा इस समय गोविन्द खान था यह महत्त्व की सूचना है। खान पद मंगोलों से दूसरी जातियों ने लिया और १३वीं शताब्दी से भारत में अनेक हिन्दुओं ने भी अपनाया। हुसेन-शाह बंगाली (१४९३–१५१९ ई०) के मन्त्री, सुभाषचन्द्र बसु के पूर्वज, गोपीनाथ वसु का पद पुरन्दरखान था। उत्तरपच्छिमी सीमा प्रान्त और बंगाल के हिन्दुओं में खान उपनाम अब तक चलता है। अफगानिस्तान के मंगोल शासन में चले जाने पर उसके पड़ोस के हिन्दू प्रदेशों में भी खान पद का प्रचलित हो जाना साधारण बात थी। उदभाण्डपुर पच्छिमी गन्धार का नगर था और उसका राजा इस समय हिन्दू था। शहाबुद्दीन

गोरी के खोकरों द्वारा मारे जाने (१२०६ ई०) के बाद से गन्धार देश (उत्तर-पच्छिमी पंजाब) में बराबर हिन्दू राज्य बना हुआ था। प्रतीत होता है गोविन्दखान को ही यहाँ सिन्धुप कहा है, सिन्धु नदी के तट प्रदेश का राजा होने के कारण; पर यह बात निश्चय से नहीं कही जा सकती। सिन्धु देश गन्धार के ठीक दक्खिन सिन्ध नदी के दोनों तटों का प्रदेश अर्थात् आधुनिक डेरा-इस्माइलखाँ डेरा-गाजीखाँ जिलों तथा नमक-पहाड़ियों के दक्खिन सिन्धसागर दोआब से बनता था। या तो यहाँ सिन्धु का यही अर्थ है, या सिन्धु नदी का और ऊपर का अर्थात् उदभाण्डपुर के पास-पड़ोस का तट-प्रदेश; पर किसी भी दशा में आधुनिक सिन्ध प्रान्त नहीं। गान्धारों की भूमि से बहुत सम्भवतः यहाँ पूर्वी गन्धार—रावलपिंडी प्रदेश—अभिप्रेत है। शायद उदभाण्डपुर, पूर्वी गन्धार और सिन्धु तीनों गोविन्दखान के ही अधीन रहे हों; पर यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

आगे कहा है—"शौर्यशाली राजा ने शितों के इस देश में भी ऊँची चोटी को तोड़ा, तलवारों को नहीं (४३२)," अर्थात् जब राजा ने ऊँचे पहाड़ पर अधिकार कर लिया, तब शितों ने हार मान ली, तलवारें नहीं चलीं। शितों का यह देश गन्धार ही था या कोई और, सो अभी नहीं सूझता।

आगे "राजसिंह की सिंहनादमयी सेना को सुन कर गजिनी पुरी ने मद छोड़ दिया, स्खलित हुई, डर गई (४३३)।" यह स्पष्ट गजनी है। गज़नी का रास्ता डेरा-इस्माइलखाँ गोमल हो कर ही है, इसलिए रास्ते में सिन्धु का उल्लेख भी ठीक ही था।

आगे **अष्टनगर** के क्षत्रियों के हराये जाने का (४३५) और **पुरुषवीर** का यश और सम्पत्ति लूटे जाने का (४३६) उल्लेख है। अष्टनगर निश्चय से हश्तनगर है और पुरुषवीर = पुरुषपुर = पुरुषावर = पेशावर। पश्चिम गन्धार की सब से पुरानी राजधानी पुष्करावती अब हश्तनगर कहलाती है, क्योंकि उसके विभिन्न युगों के खँडहर—पड़ांग

चारसद्दा आदि—मिला कर कुल आठ बस्तियाँ हैं। उसका यह अष्टनगर या हश्तनगर नाम १५वीं शताब्दी में चल चुका था यह इससे सूचित है। यों गज़नी से कवि हमें वापिस पच्छिमी गन्धार में ले आता है।

आगे **नगराग्रहर** के जीते जाने की बात है (४३७)। योगेश दत्त ने उसका अर्थ किया था—नगर जो अग्रहार थे अर्थात् ब्राह्मणों को दिये हुए थे। पर नगराग्रहर से यहाँ निश्चय से नगरहार या निंग्रहार अर्थात् पेशावर और काबुल के बीच के जलालाबाद प्रदेश से अभिप्राय है। आगे कहा है—

अश्वत्तोददलद्धिन्दुघोषधातुतटच्छलात्।
उदक्पतितिरस्कारप्रशस्तिं स व्यधात्प्रभुः ॥४३८॥

—घोड़ों द्वारा (उड़ाई) धूल से कुचले जाते हिन्दुघोष के धातुओं वाले तट के रूप में उस स्वामी ने उत्तर दिशा के राजा के तिरस्कार का अभिलेख रचा। **त्तोद** के बजाय **त्तोड** पाठ हो तो बेहतर। तब अर्थ होगा—घोड़ों (को बाँधने) के खूँटों से कुचले जाते ···। **हिन्दुघोष** स्पष्ट हिन्दुकश पर्वत है। राजा अपनी प्रशस्ति—कारनामों के वृत्तान्त—प्रायः पहाड़ों की चट्टानों पर खुदवाते थे; कवि का कहना है कि हिन्दुकश के नंगे किनारे पर पहुँच जाना ही उसकी प्रशस्ति थी जो उत्तर दिशा के राजा को चुनौती थी। श्री योगेश दत्त ने **प्रशस्ति** को **प्रशास्ति** बना कर इस श्लोक का अर्थ किया था—जब कि घुड़सवार सेना के नायक घोषधातु नदी के तट पर जाने के बहाने चले गये थे तब राजा ने उत्तर दिशा के राजा को कड़ा दण्ड दिया!

उदक्पति—उत्तर दिशा के राजा—इस युग में मंगोल थे जिन्हें जोनराज ने श्लोक ४२५ में पारसीक कह डाला है। उन्हीं के देश से डुल्च और अचल ने कश्मीर पर चढ़ाइयाँ की थीं, और अब कश्मीर का राजा बदले में उनके साम्राज्य में हिन्दुकश तक पहुँचा। कश्मीर से उदभाण्डपुर पच्छिम है, पर आगे इस यात्रा में राजा हिन्दूकश तक गया, इसीलिए कवि ने इसे उत्तर दिशा की चढ़ाई कहा।

आगे सुनिए। "वहाँ से लौट कर दक्षिण दिशा को जाते हुए उसने अपने घोड़ों की मार्ग-थकान की गर्मी शतद्रु (सतलज) के पानी से दूर की (४३६)। ढिल्ली का उल्लंघन कर के तत्काल वहाँ पहुँचे हुए उदक्पति का रास्ता रोक कर राजा ने उसे खूब तंग किया (४४०)। उदक्पति योगिनीपुर के जिन नागरिकों को धाड़ मार कर ले आया था उन्हें उसने (उदक्पति को) मार्ग देने के उपकार के बदले ... वापिस ले लिया (४४१)। राजा ने उन्हें घोड़े और वस्त्र दे कर सम्मानपूर्वक अपने देश भेज दिया, मानो बहुत सी मूर्त्त कीर्ति-राशियाँ भेजी हों (४४२)।"

ढिल्ली और योगिनीपुर दोनों दिल्ली के प्रसिद्ध नाम हैं। अफगानिस्तान का कोई मंगोल राजा दिल्ली पर चढ़ाई कर वहाँ से बहुत से दास पकड़ कर लौट रहा था; कश्मीर के राजा ने उसका रास्ता रोक उन दासों को छुड़ा कर स्वदेश भेजा। यह महत्त्व की घटना है।

आगे सुशर्मपुर और केदार के विजयों का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है (४४३-४४४)। सुशर्मा महाभारत में त्रिगर्त्त के उस राजा का नाम है जिसने कौरवों के साथ राजा विराट् के मत्स्यदेश पर चढ़ाई की थी जब कि पाण्डव वहाँ अज्ञातवास कर रहे थे। ऊपर श्लोक ३० में त्रिगर्त्त के राजा मल्ल को भी सुशर्मा का वंशज कहा है (ऊपर पृ० ३७६)। सुशर्मपुर प्रकटतः उसी सुशर्मा के नाम पर बसी त्रिगर्त्त की राजधानी थी जो आधुनिक कांगड़ा होशियारपुर जिलों में कहीं होनी चाहिए। केदार से क्या केदारनाथ के प्रदेश गढ़वाल का अभिप्राय हो सकता है? कश्मीर के राजा ने गढ़वाल का कुछ ही अंश चाहे जीता हो तो भी उस अंश के केदारक्षेत्र में सम्मिलित होने से कवि केदारवासियों की हार की बात कह सकता है।

श्लोक ४४५-४६ में भोट्टों को जीतने का और उस प्रसंग में सिन्धु नदी को लाँघने का उल्लेख है। यह स्पष्ट ही लदाख की चढ़ाई थी। शहाबुद्दीन की दिग्विजय-कहानी का उपसंहार करते हुए जोनराज कहता हैं—"प्रसंगवश उसके अतिमानुष शौर्य का वर्णन जो हमने किया है

उससे आगे आने वाली जनता कहीं हमें चापलूस न मान बैठे (४४६) !"

यहाँ हम भी इस कहानी को समाप्त करेंगे। कश्मीर का दो शताब्दियों का इतिहास स्पष्ट होने से भारत और मध्य एशिया के इस युग के इतिहास पर भी और उसके साथ भारतीय राष्ट्र के मध्यकालीन ह्रास और बाद के पुनरुत्थान की दशाओं पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। इसी मार्ग से राजतरंगिणियों के सहारे अगली दो शताब्दियों के इतिहास को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न उन विद्वानों द्वारा जिन्हें मुझसे अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं अथवा उन संस्थाओं द्वारा जिनके पास सब प्रकार के साधन उपस्थित हैं, किया जायगा, इस आशा के साथ इस कहानी को यहाँ छोड़ा जाता है।

१९. कश्मीर इतिहास के प्रचलित विवरण

इन प्रामाणिक समकालिक वृत्तान्तों की ओर आँख मूँदते हुए कश्मीर का इस युग का इतिहास कहने के जो प्रयत्न किये गये हैं, उनकी भी बानगी देखिए। कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया (भारत का कैम्ब्रिज इतिहास) जि० ३ में लिखा है—

"कश्मीर में इस्लाम का प्रवेश १४वीं शताब्दी ई० के आरम्भ में स्वात के साहसिक शाह मिर्ज़ा ने, जो कि १३१५ में राजा सिंहदेव ··· की सेवा में प्रविष्ट हुआ था, कराया। सिंहदेव को तिब्बती रैनचन ने उखाड़ा और मार डाला। रैनचन भी सिंहदेव की सेवा में था और कहा जाता है कि उसने इस्लाम को अपनाया, शायद शाह मिर्ज़ा के सुझाव पर जिसे कि उसने अपना मन्त्री बनाया और अपने बच्चों की शिक्षा सौंपी। रैनचन की मृत्यु पर पुराने राजवंश का एक वंशज उदयनदेव, जिसने उस (रैनचन) के राज्यापहरण के समय किश्टवार में शरण पाई थी, कश्मीर दून को लौटा, और रैनचन की विधवा कोटादेवी से व्याह कर गद्दी पर बैठा। वह १५ वर्ष राज्य कर के मरा। उसकी विधवा ने शाह मिर्ज़ा से कहा कि मेरे बेटे को गद्दी पर बिठाओ, पर उस मन्त्री ने ···

(स्वयं राज्य ले लिया)। एक वृत्तान्त के अनुसार उस (शाह मिर्ज़ा) ने विधवा रानी से विवाह का प्रस्ताव किया, जिसने उसे मानने के बजाय आत्महत्या कर ली। पर अधिक सम्भावित ··· यह है कि शाह मिर्ज़ा ने जब उसकी आज्ञा न मानी तब उसने सेना इकट्ठी कर उसपर हमला किया और हारी। तब शाह मिर्ज़ा ने उसे ज़बरदस्ती व्याह लिया और २४ घंटे के भीतर ही उसे कैद कर १३४६ में स्वयं शम्सुद्दीनशाह पद धारण कर गद्दी हथिया ली। ··· ३ वर्ष राज्य कर वह १३४९ में मरा, चार बेटे—जमशेद, अलीशेर, शीराशामक और हिन्दाल—छोड़ कर।"

आगे लिखा है कि इनमें से जेठा गद्दी पर बैठा, १३५० में दूसरे ने उसे गद्दी से उतारा और स्वयं अलाउद्दीन नाम से गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन ने "ऐसा भरोसा करते हुए जो कि पूर्वी देशों के शासकों में दुर्लभ है" अपने भाई शीराशामक को अपना मन्त्री बनाया।[३६] अलाउद्दीन की मृत्यु १३५९ ई० में बताते हुए पादटिप्पणी में कहा है कि कश्मीर के सुलतानों की कालगणना में बड़ा गोलमाल है।

शीराशामक शिहाबुद्दीन नाम से गद्दी पर बैठा यह बताने के बाद लिखा है कि अपने राज्यकाल के आरम्भ में उसने सिन्ध (= सिन्ध प्रान्त) की सीमा पर चढ़ाई की और सिन्ध नदी के तट पर जाम को हराया (सिन्ध के शासक जाम कहलाते थे)। वहाँ से लौट कर, उसने पेशावर में अफगानों पर विजय पाया; फिर अफगानिस्तान हो कर हिन्दूकुश की सीमा तक चढ़ाई की। "पर उसके इस प्रयत्न का चाहे जो भी उद्देश रहा हो, उसे उस पर्वत को पार करने की कठिनाई के कारण इसे छोड़ कर आना पड़ा।"[३७]

यह वृत्तान्त अब कितना गलतशलत और ऊलजलूल लगता है! इसके प्रकाशित होने के ३२ वर्ष पहले जोनराज की राजतरंगिणी प्रकाशित

---

३६. वूल्सली हेग (१९२८)—कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंडिया जि० ३ पृ० २७७।
३७. वहीं पृ० २७८।

हो चुकी थी, और २० वर्ष पहले दयाराम साहनी और फ्रांके का रिंचन विषयक लेख अंग्रेजी में प्रकाशित हो चुका था, पर कैम्ब्रिज इतिहास के विद्वान् सम्पादकों ने उनकी तरफ आँख उठा कर देखने की आवश्यकता नहीं मानी। राजतरंगिणी में प्रत्येक राजा के प्रशासन के महीने और दिन तक गिनाये हैं; उसके बावजूद भी यदि कोई कहे कि कश्मीर की कालगणना में गोलमाल है तो कहना होगा—**नायं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।**

कैम्ब्रिज इतिहास के इस अध्याय के ग्रन्थनिर्देश में स्टाइन के राजतरंगिणी अनुवाद का भी नाम है। पर विद्वान् लेखक ने स्टाइन का ग्रन्थ खोल कर उसकी भूमिका भी पढ़ी होती तो वे 'शाह मिर्ज़ा' को स्वात का न कहते और न उसके कश्मीर जीतने की तिथि १३४६ ई० में रखते। स्पष्ट है कि स्टाइन के ग्रन्थ को बिना देखे ही उसे उन्होंने अपने ग्रन्थनिर्देश में दर्ज किया।

शहाबुद्दीन की सिन्ध पर चढ़ाई की बात तारीख-लेखकों ने प्रकटतः जोनराज के 'सिन्धु' को ठीक न समझ कर लिखी। पर कैम्ब्रिज के विद्वान् ने उसे दोहराते हुए यह भी न देखा कि उनके अपने लिखे के साथ इसकी संगति कैसे होती है। कश्मीर से सिन्ध का रास्ता पंजाब लाँघे बिना कैसे होता? पर कैम्ब्रिज इतिहास के उस युग के सभी नक्शों में समूचा पंजाब—सिन्ध नदी के पच्छिमी तट के मैदान सहित—दिल्ली की सल्तनत में दिखाया है, और सिन्ध के प्रकरण में लिखा है कि कश्मीर के शहाबुद्दीन की चढ़ाई का सिन्ध के इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है।[३८]

उक्त वृत्तान्त में दो बातें कैम्ब्रिज के विद्वान् ने मुस्लिम तारीखों का अनुसरण करके नहीं लिखीं। वे उनकी अपनी मौलिक खोजें हैं। एक तो यह कि कश्मीर में इस्लाम का प्रवेश शाह मिर्ज़ा ने कराया—मानो शाहमेर वहाँ इस्लाम का प्रचार करने ही आया था और उससे पहले

३८. वहीं पृ० ५०१।

कोई मुस्लिम वहाँ न था। दूसरे, अपने भाइयों पर भरोसा करना युरोपी शासकों का ही गुण रहा है, पूर्वी शासकों में वह वस्तु दुर्लभ है। लौर्ड कर्जन ने अपने भारत-शासनकाल में कहा था कि सत्य की कल्पना पाश्चात्य है, पूर्वी लोग उसे क्या समझें! कैम्ब्रिज इतिहास भी किस प्रकार युरोपी नस्ल के उसी उत्कर्ष को "सिद्ध" करने और भारत के इतिहास को हिन्दू-मुस्लिम किचकिच के साँचे में ढालने के लिए लिखा गया, तथा उसकी प्रामाणिकता कितनी है, सो इस उदाहरण से स्पष्ट है।

पर यह बात पुरानी है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह पुकार कई दशाब्दियों से गूँजती रही है। कैम्ब्रिज इतिहास तीसरी जिल्द के प्रकाशित होने पर स्व० अध्यापक राखालदास बनर्जी ने उसकी आलोचना करते हुए लिखा था कि उसके "सम्पादक द्वारा लिखे हुए अठारहों अध्याय गलतियों से भरे हैं, जिनका भारत के भूअंकन का ज्ञान विचित्र ... और रहस्यमय है ... मुद्रानुशीलन से प्राप्य साक्ष्य की पूरी उपेक्षा की गई है ... इन अध्यायों से सिद्ध होता है कि केवल फ़ारसी-अरबीदाँ को भारत के इतिहास का कोई भी अंश लिखने की योग्यता नहीं होती", इत्यादि।[३९]

इसके सात वर्ष बाद इसी विषय की चर्चा करते हुए मैंने कहा था—"अंग्रेज़ों के लिखे इतिहासों से इस प्रकार लुब्ध होने और चाबुक खाने के बावजूद भी हम लोग स्वयं अपना इतिहास अब तक प्रस्तुत नहीं कर सके यह हमारे उद्यम और हमारी कर्मण्यता का कैसा सुन्दर नमूना है! अब तक उन्हीं इतिहासों से हम अपने बच्चों को शिक्षा दिलाते हैं। ... लेकिन जब तक हम स्वयं अपने इतिहास की सुध नहीं लेते, दूसरे हमारे इतिहास की छीछालेदर किया ही करेंगे, और हमारा उनकी शिकायत करना निरा नामर्दी का रोना होगा।"[४०]

---

३९. राखालदास बनर्जी (१९२९)—कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ़ इंडिया वौल्यूम ३ (कैम्ब्रिज का भारत-इतिहास जिल्द ३), मौडर्न रिव्यू जि० ४५ (१९२९ पूर्वार्ध) पृ० ४५५—५७।

४०. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३६)—नागपुर अभिभाषण पृ० ४-५।

यह बात भी आज से १८ बरस पहले की है। उस समय यह प्रतीत होता था कि हमारे राष्ट्र के नेता राष्ट्र की इस तृषा को अनुभव करते हैं, पर उनमें में इतनी शक्ति नहीं देखते कि इसकी तृप्ति का यथोचित उपाय कर सकें। पर आज बिलकुल दूसरी दशा है। आज उनके हाथ में राष्ट्र की सब राजनीतिक आर्थिक शक्ति है, तो भी वे राष्ट्र की इस बुनियादी आवश्यकता की ओर से आँखें फेरे हुए हैं, और सब कुछ जानते-बूझते "स्वतन्त्र" भारत के नवयुवकों को उसी कैम्ब्रिज की दिमागी गुलामी की दीक्षा लेने को प्रोत्साहित किया करते हैं!

उ. चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक का पुनरुत्थान

[दे० ऊपर पृ० १७२–१७५]

(क) सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों में मराठों बुन्देलों व्रजवासियों (व्रज के जाटों) और पंजाब के सिक्खों का राजशक्ति रूप में खड़ा होना हिन्दू पुनरुत्थान को सूचित करता है यह हम अरसे से मानते आ रहे हैं। सिक्खों का राजनीतिक उत्थान उनके धार्मिक संशोधन का परिणाम था यह तो स्पष्ट ही था। पर महाराष्ट्र से पंजाब तक सारा देश हिन्दू पुनरुत्थान से प्रभावित हुआ था यह बात जहाँ तक मुझे मालूम है पहलेपहल स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने देखी।[४१] प्रायः तभी स्व० महादेव गोविन्द रानडे ने दिखलाया कि मराठों का १७वीं-१८वीं शताब्दियों का राजनीतिक पुनरुत्थान महाराष्ट्र में हुए धार्मिक संशोधन का फल था।[४२] यह बात तब से सर्वसम्मत सत्य रूप में स्वीकृत हो चुकी

---

४१. हरप्रसाद शास्त्री (१८९७)—ए स्कूल हिस्टरी ऑफ इंडिया (भारत का पाठशालोपयोगी इतिहास) प्रस्तावना पृ० १ तथा पृ० १४८–१८४। शास्त्री महोदय ने पहले १८९५ में यह ग्रन्थ बँगला में निकाला था, पर वह बँगला ग्रन्थ मुझे देखने को नहीं मिला।

४२. म० गो० रानडे (१९००)—राइज़ ऑफ दि मराठा पावर (मराठा शक्ति का उदय) अध्याय १,३,८। इस ग्रन्थ का मराठी अनुवाद "मराठ्यांचा

है। इसके बाद नेपाल के इतिहास पर ध्यान देने से मुझे यह दिखाई दिया "कि इस युग का गोरखा इतिहास भी बहुत सम्भवतः उसी प्रेरणा से अनुप्राणित था जिसने १७वीं शताब्दी के मध्य में शिवाजी को जगाया था।"[४३] "इतिहास-प्रवेश" तथा इस ग्रन्थ में मैंने महाराष्ट्र बुन्देलखण्ड ब्रज पंजाब और नेपाल के इस युग के इतिहास की घटनाओं को एक धारा रूप में उपस्थित किया तथा इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि भारत के अनेक प्रान्त इस पुनरुत्थान की प्रेरणा से अछूते रहे और कि क्यों वे इससे अछूते रहे यह हमारे इतिहास की बड़ी बुनियादी समस्या है।[४४]

हिन्दू पुनरुत्थान की इस स्थापना के सम्बन्ध में कुछ और समस्याएँ भी थीं। इस विषय के और मनन से मैं अब इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि हमें इस स्थापना में थोड़ा परिवर्तन करना चाहिए।

(ख) शिवाजी के उदय (१६४६ ई०) में जैसे पुनरुत्थान और अग्रसर राजनीति के एक अध्याय का आरम्भ होता है, महाराणा कुम्भा के मेवाड़ का तथा कपिलेन्द्र के उड़ीसा का राज्य पाने (१४३३, १४३५ ई०) से भी वैसे ही अध्यायों का आरम्भ दिखाई देता है। कुम्भा से सांगा तक (१४३३–१५२८) मेवाड़ के इतिहास में तथा कपिलेन्द्र और पुरुषोत्तम के काल (१४३५–१४६७) में उड़ीसा इतिहास में वैसी ही अग्रसर प्रवृत्ति है जैसी महाराष्ट्र में शिवाजी से जारी होती है। मेवाड़ और उड़ीसा में वे प्रवृत्तियाँ पन्द्रहवीं शताब्दी में उठ कर एक

सत्तेचा उत्कर्ष" नाम से तथा उसका श्री भा० रा० भालेराव कृत हिन्दी अनुवाद "मराठों का उत्कर्ष" नाम से प्रकाशित हुआ।

४३. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३६)—नागपुर अभिभाषण पृ० १६।

४४. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहासप्रवेश प्रक० ९ अ० ४,५, प्रक० १० (=४र्थ संस्क० पर्व ९ अ० ४,५,६, पर्व १०), तथा (१९४१)—ऊपर पृ० १२२–२८, १४०-४१।

शताब्दी बाद जैसे शान्त हो जाती हैं, वैसे ही महाराष्ट्र में पुनरुत्थान की धारा सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में उठ कर प्रायः एक शताब्दी बाद छीज जाती है। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रायः सारा भारत ही पस्त पड़ा था। यों, पुनरुत्थान की एक लहर पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत के कुछ प्रदेशों में स्पष्टतः उठी दिखाई देती है, प्रायः एक शताब्दी बाद वह शान्त हुई लगती है, और उसके शान्त होने के एक शताब्दी बाद फिर दूसरे प्रदेशों में दूसरी लहर उठ कर शताब्दी भर चलती है।

(ग) धार्मिक संशोधन की जो लहर महाराष्ट्र के सत्रहवीं शताब्दी के राजनीतिक पुनरुत्थान की प्रेरक थी, उसका आरम्भ वास्तव में चौदहवीं शताब्दी से ही हो चुका था। रामानन्द और विसोबा खेचर दोनों ही चौदहवीं शताब्दी में हुए थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के राजस्थान आदि प्रान्तों का पुनरुत्थान भी उस धार्मिक संशोधन की लहर से सम्बद्ध था।

उसके साथ-साथ कला और साहित्य में भी पुनरुत्थान की स्पष्ट लहर थी। चित्रकला की अपभ्रंश शैली, १०वीं-११वीं शताब्दियों से चली थी। उसमें भारतीय कला का चरम ह्रास, उसका "सर्वतोमुख सड़ान और अधःपतन" लक्षित होता है। मेवाड़ में ठीक महाराणा कुम्भा के समय उस शैली को रूढ़ियों को तोड़ कर एक नई जानदार शैली चली जिसे राजपूत कलम नाम दिया गया है।

भारतीय संगीतशास्त्र की पुनरुन्नति पन्द्रहवीं शताब्दी के इस पुनरुत्थान का एक विशेष पहलू थी। महाराणा कुम्भा को संगीत में विशेष रुचि थी, उसने स्वयं संगीत के ग्रन्थ रचे। उसके मित्र कश्मीर के सुलतान जैनुलाबिदीन ने भी संगीत-शास्त्र को बढ़ावा देने के वैसे ही प्रयत्न किये। पर उन दोनों से भी बढ़ कर संगीत की उन्नति के लिए प्रयत्न किया गया जौनपुर की शर्की सल्तनत में, जहाँ १४२८ ई० में दूर दूर के गायकों का सम्मेलन जुटा कर संगीतशिरोमणि नामक ग्रन्थ

तैयार कराया गया।[४५]

पन्द्रहवीं शताब्दी के भारतीय प्रादेशिक राज्यों ने वास्तुकला में किस प्रकार नई जान फूँकी और देसी भाषाओं में साहित्य-रचना को प्रोत्साहित किया सो सुविदित है। उस दिशा में मुस्लिमों की देन हिन्दुओं की देन से अधिक थी।

(घ) सत्रहवीं शताब्दी वाले पुनरुत्थान को हम हिन्दू पुनरुत्थान कहते आये हैं। पर हमने देखा कि पन्द्रहवीं शताब्दी वाली उत्थान की लहर में भारतीय मुस्लिमों का भी भाग था और कि विभिन्न प्रदेशों के हिन्दू और मुस्लिम पुनरुत्थान-नेताओं में परस्पर मैत्री थी। जैनुलाबिदीन कुम्भा का मित्र था; उसने गन्धार (उत्तर-पच्छिमी पंजाब) के राजा जसरथ खोकर की सहायता से राज्य पाया था। बहलोल लोदी ने दिल्ली में अपने राजवंश की स्थापना भी उसी जसरथ की सहायता से की थी। हम यह भी देखते हैं कि उस पुनरुत्थान से प्रभावित हिन्दू और मुस्लिम नेता धार्मिक विषयों में अत्यन्त उदार थे। इस बारे में जैनुलाबिदीन की कहानी सुविदित है। कुम्भा ने अपने कीर्त्तिस्तम्भ में ब्रह्मा विष्णु और शिव की मूर्त्तियों के साथ अल्लाह का नाम भी अंकित किया था।[४६]

(ङ) बहलोल लोदी पठान था। पठान भी भारतीय मुस्लिम थे। महमूद गज़नवी के ज़माने से वे तुर्कों के अधीन रहे; फिर चंगेज़खाँ के ज़माने में मंगोलों के अधीन और तैमूर लंग के ज़माने से फिर तुर्कों के अधीन। किन्तु १४४० ई० में जब सिबी के एक पठान ने तैमूर द्वारा नियुक्त सैयद शासक से मुलतान ले लिया, और १४५१ में जब बहलोल

---

४५. राय कृष्णदास (१९३९)—भारत की चित्रकला अ० ४, ५। जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५२)—इतिहास-प्रवेश ४र्थ संस्क० पृ० ३६५-६६।

४६. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३८)—इतिहास-प्रवेश पृ० ३०७ (४र्थ संस्क० पृ० ३५८)।

लोदी ने दिल्ली ली, तब से पठानों में पुनरुत्थान और अग्रसर प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके बाद उनकी बस्तियाँ पूरब तरफ दरभंगे तक और दक्खिन तरफ कडप और कर्णूल तक फैल जाती हैं। शेरशाह इसी पुनरुत्थान की उपज था। मुगल साम्राज्य के आरम्भ से अन्त तक पठान जो उस साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते रहे सो भी इसी का फल था। पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक की पठानों की इस सचेष्टता की ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की उनकी निश्चेष्टता के साथ तुलना करने से स्पष्ट दिखाई देता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में उनमें पुनरुत्थान की लहर उठी थी। पठान देश में पुनरुत्थान का उदय कैसे हुआ, यह महत्त्व का प्रश्न है जिसकी ओर आज तक किसी ऐतिहासिक का ध्यान नहीं गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्र और अफगानिस्तान की तुलना करना भी उपयोगी है। मराठा साम्राज्य के संस्थापक बाजीराव १म का पोता बाजीराव २य जैसे महाराष्ट्र में अंग्रेज़ी सेना को बुला लाता है, वैसे ही अब्दाली साम्राज्य के संस्थापक अहमदशाह का पोता शाहशुजा अफगानिस्तान में उसे ले आता है। पर मराठे अपने नेता के उस देश-द्रोह और अंग्रेज़ों की संघटित शक्ति के सामने जहाँ किंकर्त्तव्य-विमूढ हो कर घुटने टेक देते हैं, वहाँ पठान शाहशुजा को कुत्ते की मौत मार समूची अंग्रेज़ी सेना का संहार कर डालते हैं। इन घटनाओं के आधार पर पठानों और अन्य भारतीयों की राष्ट्रीय प्रवृत्ति में अन्तर माना गया है। पर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दियों के पठान शायद इस तरह का बर्त्ताव न करते, और मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इससे महाराष्ट्र और अफ़-निस्तान में हुए पुनरुत्थान के स्वरूप और मात्रा का अन्तर ही प्रकट होता है।

भारत के विभिन्न प्रदेशों में चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक पुनरुत्थान की लहर कैसे उठी और कैसे चली इसकी तफसीलवार खोज महत्त्व की होगी।

(च) कश्मीर के इतिहास की ११५० ई० से लग० १३७० ई० तक जो समीक्षा हमने ऊपर की है उससे उस प्रदेश में भी राष्ट्रीय ह्रास और पुनरुत्थान की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई दी हैं। १२७२ ई० से लग० १३३६ ई० तक कश्मीर पर चार विदेशी चढ़ाइयाँ हुईं। इनमें से पहली तीन अर्थात् कज्जल, डुल्च और रिंचन की चढ़ाइयों के समय कश्मीरियों ने अपने को "सिंह के सामने मृगों की तरह" अथवा "बिलाव के सामने चूहों की तरह" असहाय माना। चौथी, अचल की, चढ़ाई भी डुल्च की चढ़ाई की तरह भयानक होने को थी, पर उसके शुरू होने पर सरदार शाहमेर के नेतृत्व में कश्मीरियों ने हिम्मत और हौसले से काम लिया और आक्रमक को लौटा दिया। शाहमेर कश्मीरी था; ठेठ कश्मीर दून का नहीं तो उसके साथ सटे पहाड़ की तराई का, जो भाषा से पंजाबी प्रदेश है, पर जिसका इतिहास में सदा कश्मीर से निकटतम सम्बन्ध रहा है। इसके बाद जब शाहमेर का पोता कश्मीरी सेना को उलटा कज्जल और अचल के देश में हिन्दूकश तक ले जाता है, तब कश्मीरियों की मनोवृत्ति पूरी तरह पलट चुकी थी। यों १३२० और १३६० ई० के बीच बड़ा परिवर्त्तन हो गया था; कश्मीरी अपने पड़ोसियों को बिलाव और अपने को चूहों की तरह मानने के बजाय मनुष्यों के बीच मनुष्य बन कर उठ खड़े हुए थे। न केवल वे अपनी रक्षा करने में समर्थ थे, प्रत्युत जब अफगानिस्तान का मंगोल शासक दिल्ली से दास पकड़ कर ले चला तब कश्मीर के सुल्तान ने उसका रास्ता रोक उन दासों को मुक्त कराया। इस पुनरुत्थान के नेता मुस्लिम थे, शायद उन्हें उठ खड़े होने की प्रेरणा इस्लाम से मिली हो, इस कारण हम इस उत्थान को भारतीय राष्ट्र के जीवन की घटना रूप में न देखें, यह भारी भ्रम होगा।

(छ) हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि ईसवी तेरहवीं शताब्दी की अन्तिम और चौदहवीं की पहली चौथाई में भारतीय राष्ट्र अपने ह्रास की चरम सीमा को छू लेता है, पर उसके शीघ्र बाद ही पुनरुत्थान की पहली लहर उठती है, जो पन्द्रहवीं शताब्दी में—जसरथ खोकर,

जैनुलाबिदीन, कुम्भा, कपिलेन्द्र और बहलोल लोदी के समय—अपने पूरे यौवन पर आ जाती है। चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दियों में जो प्रादेशिक राज्य खड़े हुए—चाहे हिन्दू चाहे मुस्लिम—उन सभी के प्रशासक अपने अपने प्रदेश में जनता की रक्षा करने, दृढ न्यायपूर्ण शासन बनाये रखने, जनता का हित करने और विद्या और कला के प्रोत्साहन के आदर्शों से प्रायः अनुप्राणित रहे।[४७] किन्तु उस युग की अवस्थाएँ ऐसी थीं अथवा उनके उत्थान की सीमा इतनी थी कि उनमें से किसी ने भी समूचे भारत में साम्राज्य स्थापित करने की हिम्मत नहीं की। भारत और मध्य एशिया मिला कर तब एक ही राजनीति-क्षेत्र था। सोलहवीं शताब्दी में मध्य एशिया से आये "मुग़लों" (तुर्कों) का वंश इस अंश में भारत के दूसरे सब राज्यों से बाज़ी मार ले जाता है। मुग़ल साम्राज्य का संस्थापक अकबर भी जैनुलाबिदीन और शेरशाह के अपनाये आदर्शों की बुनियाद पर ही अपने साम्राज्य को खड़ा करता है। उन आदर्शों को यदि वह न अपनाता तो टिकाऊ साम्राज्य खड़ा न कर पाता। एक शताब्दी बाद जब वह साम्राज्य उन आदर्शों से डिगने लगता है तब पुनरुत्थान की दूसरी लहर शिवाजी के नेतृत्व में उठती है जिसका वेग फिर एक शताब्दी तक जारी रहता है।

---

४७. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९५२)—इतिहासप्रवेश, ४र्थ संस्करण पृ० ३६५-३६।

नव-परिशिष्ट ५

(सातवें व्याख्यान का)

"मराठा राज की लूट मार"

[दे० ऊपर पृ० १४२–४५]

भारत के मुख्य भाग का साम्राज्य अंग्रेज़ों ने मराठों से लिया। वह साम्राज्य लेने के लिए अनुकूल वातावरण बनाने को उन्होंने मराठा राज को खूब बदनाम किया। अंग्रेज़ों ने यह खेल इतनी चतुराई से खेला कि उनकी उड़ाई हुई धूल आज तक भी अनेक इतिहास-विद्यार्थियों की आँखों पर छाई हुई है।

इतिहास के इस प्रश्न के सम्बन्ध में श्री पृथ्वीसिंह महता ने कुछ आँखें खोलने वाले तथ्य प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने दिखाया है कि मराठा राज की लूटमार विषयक जो धारणा प्रचलित रही है, वह उन्हीं लोगों की करतूतों से अथवा यत्नपूर्वक किये हुए प्रचार से पैदा हुई थी जो स्वयं अंग्रेज़ों के भड़काऊ भेदिये या गुप्त कारिन्दे थे। पहले अंग्रेज-मराठा युद्ध के पहले से तीसरे मराठा युद्ध के अन्त तक ऐसे अनेक भेदिये और कारिन्दे अंग्रेज़ों ने छोड़ रक्खे थे। उनमें से जिनका क्षेत्र राजस्थान था उनकी करतूतों का दिग्दर्शन श्री महता ने कराया है।[1]

उस युग के राजस्थानी समाज के विभिन्न वर्गों के अंग्रेज़ी राज के प्रति विभिन्न रुखों की छानबीन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि राजस्थान के व्यापारियों और मुत्सद्दियों का वर्ग बहुत पहले से ही अंग्रेज बनियों के षड्यन्त्रों में लिप्त था, जब कि जनता और सरदार लोग उन विदेशियों से घृणा करते थे। अंग्रेज राजनेताओं ने दूसरे

---

१. पृथ्वीसिंह महता (१९५०)—हमारा राजस्थान पृ० १६५–२१६।

अंग्रेज़-मराठा युद्ध के बाद अपने भड़काऊ भेदियों और गुप्त कारिन्दों द्वारा राजस्थान में लूटमार और हत्याओं का बाज़ार गर्म कराया, तथा उन "लुटेरों को, जो भीतर ही भीतर अंग्रेज़ों के इशारों पर खेल रहे थे, जनता पर मराठों के नाम से अधिकाधिक अत्याचार और उत्पीडन करने" को प्रेरित किया। "इससे मराठों की बदनामी और जन-साधारण में उनके प्रति कटुता के भाव बढ़ते गये। ऐसी दशा में राजाओं के साथ जनता और सरदारों को भी उनसे निस्तार पाने के लिए अब सिवा अंगरेज़ों का आसरा पकड़ने के और कोई उपाय न सूझ पड़ने लगा, और तब वही व्यक्ति जो इस सारी अराजकता और अव्यवस्था के लिए ज़िम्मेवार थे ... अंगरेज़ों का आश्रय लेने के औचित्य का प्रचार जनता में करने लगे। जनता और सामान्य सरदार वर्ग ने भी जो अधिकांश में या तो भीतर की सच्ची परिस्थिति से अनभिज्ञ थे या सब कुछ जानते बूझते भी जिन्हें और कोई रास्ता सूझता न था, तब विवश हो कर इसके लिए एक तरह अपनी सहमति दे दी।"[२]

भारतीय इतिहास के किसी युग में किसी क्षेत्र में समाज के विभिन्न वर्गों की विभिन्न मनोवृत्तियों की इस प्रकार की छानबीन बड़े पते की है।[3] इसके द्वारा श्री महता ने "मराठा-ब्रिटिश युगसन्धि" (१७६५–१८१८ ई०) में राजस्थानी नेताओं के उस अद्भुत मनोविभ्रम की बड़ी विशद व्याख्या की है जिसमें फँस कर अभिमानी राजपूत राजाओं ने विदेशी बनियों से शरण माँगते हुए स्वयं अपनी गरदनें उनके जुए में दे दी थीं! "मराठा इतिहास" पर अर्थात् १७वीं-१८वीं-१६वीं शताब्दियों में मराठों की प्रमुखता के इतिहास पर इस विवेचना और व्याख्या से नया प्रकाश पड़ा है।

———

२. वहीं पृ० २०६-०७।

३. वहीं पृ० २६२-६३ की पादटिप्पणी भी।

नव-परिशिष्ट ६

(सातवें आठवें व्याख्यानों का)

नेपालियों की देन

[दे० ऊपर पृ० १२७-२८, १४१, १६०, १७२]

१. गोरखाली उत्थान का मूल्याङ्कन

अठारहवीं शताब्दी ई० के मध्य में हिमालय की काली-गण्डक दून की गोरखा नामक बस्ती के राजाओं ने अपना राज्य बढ़ाना आरम्भ किया। वहाँ के राजा पृथ्वीनारायण शाह (१७४२–१७७५ ई०) ने पूरब बढ़ कर ठेठ नेपाल दून को उसकी तीन प्रसिद्ध नगरियों—काठमांडू, भातगाँव और पाटन—सहित जीत लिया। गोरखा से आये होने के कारण पृथ्वीनारायण, उसके अनुयायी और वंशज गोरखे कहलाये, और उनके कारण उनकी भाषा पर्बतिया का दूसरा नाम गोरखाली पड़ गया। नेपाल दून से पूरब और पच्छिम बढ़ते हुए इन गोरखों ने उन्नीसवीं शताब्दी की पहली दशाब्दी तक कश्मीर के पूरब से सिकिम तक प्रायः समूचे पहाड़ी-भाषी हिमाचल प्रदेश को जीत लिया। इसके बाद अंग्रेज़ों के मुकाबले में उन्हें हारना पड़ा और सन् १८४६ में उनका राज्य पूरी तरह अंग्रेज़ों का गुलाम बन गया। पृथ्वीनारायण के अभिषेक (१७४२ ई०) से १८४६ ई० तक के नेपाली इतिहास को यों हम सुविधा के लिए गोरखाली इतिहास कह सकते हैं, जिस प्रकार शिवाजी के उदय से १८१८ ई० तक का महाराष्ट्र का इतिहास "मराठा इतिहास" कहलाता है।

यह गोरखाली इतिहास भी "हिन्दू पुनरुत्थान" की उसी प्रेरणा से अनुप्राणित था जिससे कि मराठा इतिहास यह बात मेरे जानते पहले-

पहल स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने कही।[1] उन्होंने गोरखाली इतिहास को प्रकटतः इस कारण "हिन्दू पुनरुत्थान" का अंश माना कि गोरखाली भी हिन्दू थे और उनकी बढ़ती ठीक मराठा प्रमुखता के युग में ही हुई। उसके बाद विद्वानों की दृष्टि से यह बात ओझल हो गई। सन् १९३६ में जब मैंने फिर इस ओर ध्यान खींचा[2] तब मुझे मालूम न था कि महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री मुझसे पहले ऐसा कर चुके हैं। गोरखालियों की बढ़ती में पुनरुत्थान की प्रेरणा होने का अनुमान मैंने उक्त कारणों के अतिरिक्त उस ऊँची वीर भावना के आधार पर भी किया था जो कि उन्होंने १८१४-१५ में अंग्रेज़ों से लड़ते हुए दिखाई थी। इधर नेपाली विद्वान् श्री सूर्यविक्रम ज्ञवाली ने अत्यन्त श्रमपूर्ण अध्ययन, वैज्ञानिक विवेचन और गहरे मनन के आधार पर जो अनेक कृतियाँ पर्बतिया में प्रकाशित की हैं[3] उनसे गोरखाली इतिहास के मार्ग पर भरपूर प्रकाश पड़ा है और हमारे अनुमान की सचाई पूरी तरह सिद्ध हुई है। यहाँ हमें श्री ज्ञवाली द्वारा खोले गये और अन्य ज्ञात तथ्यों के आधार पर गोरखाली इतिहास का मूल्यांकन उसी प्रकार करना है जैसे हमने ऊपर (पृ० १२६—१४५, १४८—१८०) मराठा और सिक्ख इतिहासों का किया है, विशेष कर यह देखना है कि गोरखालियों के राज्य का जो फैलाव हुआ उसमें कहाँ तक राष्ट्रीय उत्थान की प्रवृत्ति काम कर रही थी और कि अंग्रेज़ों का मुकाबला पड़ने पर उन्होंने कहाँ तक योग्यता दिखाई या नहीं दिखाई।

---

१. हरप्रसाद शास्त्री (१८९७)—पूर्वोक्त (नवपरि० ४ टिप्पणी ४१, ऊपर पृ० ४५१), प्रस्तावना पृ० १ तथा पृ० १८२—१८३।

२. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३६)—नागपुर अभिभाषण पृ० १५-१६।

३. सूर्यविक्रम ज्ञवाली (१९३३)—(१) रामशाह को जीवन चरित्र (२) द्रव्य-शाह को जीवन-चरित्र वा गोर्खा विजय को इतिहास; (१९३५)—पृथ्वीनारायण शाह; (१९४०)—वीर बलभद्र; (१९४३)—अमरसिंह थापा। अन्तिम ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद १९४७ में प्रकाशित हुआ है।

२. पृथ्वीनारायण का चरित—नेपाल दून और सप्तकौशिकी का विजय
(१७४२–१७७५ ई०)

गोरखाली शक्ति के उदय के पहले केवल २६ मील लम्बी १६ मील चौड़ी नेपाल दून में तीन नगरियों के तीन राज्य थे, जिनमें उस दून के पच्छिम त्रिशूलीगंडक तथा पूरब दूधकोसी तक का भी—अर्थात् सब मिला कर पूरब-पच्छिम १०० मील लम्बा—प्रदेश सम्मिलित था। उसके पच्छिम सप्त-गण्डकी अर्थात् गण्डक के प्रस्रवणक्षेत्र में चौबीस और उसके पच्छिम घाघरा के प्रस्रवणक्षेत्र में बाईस राज्य थे। दूधकोसी के पूरब तिस्ता तक तथा काली नदी के पच्छिम अलमोड़े से चम्बे और कांगड़े तक उसी प्रकार के छोटे छोटे राज्य थे।[४] हिमाचल के राज्यों की राजनीतिक दृष्टि की परिधि तब कितनी क्षुद्र थी सो इसी से प्रकट है। उस क्षुद्रतामय वातावरण में गोरखालियों ने समूचे हिमाचल को एक राज्य में ले आने की चेष्टा जगा कर स्पष्ट ही नये युग का आरम्भ किया।

---

४. किर्कपैट्रिक (१८१९)—ऐन ऐकाउंट ऑफ़ दि किंगडम ऑफ़ नेपाल (नेपाल राज्य का विवरण) तथा फ्रांसिस हैमिल्टन (१८१९)—ऐन ऐकाउंट ऑफ़ दि किंगडम ऑफ़ नेपाल ऐंड ऑफ़ दि टेरिटरीस ऐनेक्स्ड टु दिस डोमीनियन बाइ दि हाउस ऑफ़ गोरखा (नेपाल राज्य का तथा गोरखा के राजवंश द्वारा उस राज्य में जीत कर मिलाये प्रदेशों का विवरण) में इन सब राज्यों का पूरा समकालिक ब्यौरा है, जिससे हिमाचल की तात्कालिक स्थिति पर भरपूर प्रकाश पड़ता है। ई० टी० ऐटकिन्सन (१८८३)—नोट्स ऑन दि हिस्टरी ऑफ़ दि हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ़ दि नौर्थवेस्ट प्रौविंसेस ऑफ़ इंडिया (भारत के उत्तरपच्छिमी प्रान्तों के हिमालय वाले ज़िलों के इतिहास पर टिप्पणियाँ) में कुमाऊँ-गढ़वाल के, हचिसन और फ़ोखल (१९३३)— हिस्टरी ऑफ़ दि पंजाब हिल स्टेट्स (पंजाब की पहाड़ी रियासतों का इतिहास) में जमना से चनाब तक के, तथा सू० वि० ज्ञवाली (१९३५)—पृथ्वीनारायण शाह में सप्तगण्डकी के राज्यों की ऐतिहासिक विवेचना है।

गोरखालियों में वह महत्त्वाकांक्षा और विजिगीषु भावना कैसे जगी यह उनके इतिहास का पहला प्रश्न है।

गोरखाली राजवंश के उद्भव के विषय में मेवाड़ में यह अनुश्रुति है कि अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ जीतने पर राजा रत्नसिंह का भाई कुम्भकर्ण वहाँ से निकल गया, उसके वंशज कुमाऊँ में आ बसे और कालान्तर में गण्डक की दून में पाल्पा में आये। नेपाल की अनुश्रुति भी इससे मिलती-जुलती है, पर उसमें कुछ गोलमाल भी है (सू० वि० ज्ञवाली १६३३—द्रव्यशाह पृ० १–६ तथा परिशिष्ट)। इन अनुश्रुतियों की सचाई जाँचने को हमारे पास अभी तक कोई साधन नहीं। गोरखाली राजवंश के उपनाम शाह से मुझे यह सूझता है कि काबुल-ओहिन्द-भेरा का जो शाहि राजवंश महमूद गज़नवी द्वारा उखाड़ा जाने पर कश्मीर और हिमालय की अन्य अनेक दूनों में बिखर गया था, यह शाह वंश भी उसी की कोई शाखा तो नहीं है।

जो भी हो, १५वीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के गण्डक दून में आने पर इनके साथ आये आर्यभाषी लोग मुख्यतः खस थे, जो प्राचीन काल से कश्मीर से मध्य हिमालय तक की अनेक दूनों में रहते थे। गण्डक दूनों के स्थानीय निवासी किरात नृवंश के मगर और गुरुंग लोग थे, जिनका तब से इन आर्यभाषियों के साथ मिश्रण होने लगा। १४५६ ई० में उक्त क्षत्रिय राजवंश का एक पुरुष पाल्पा के पच्छिम रिड़ी में स्थापित हुआ। उसके वंशजों ने आगे उसी प्रदेश में भीरकोट, सतहूँ, गरहूँ, नुवाकोट, कास्की आदि ठिकाने जीते। कास्की में उस वंश के राजा यशोब्रह्म को कास्की के पूरब लमजुङ बस्ती की प्रजा ने स्वयं अपना राजा बनाया। यशोब्रह्म के दूसरे बेटे द्रव्यशाह ने गोरखा बस्ती को जीत १५५६ से १५७० तक वहाँ राज्य करते हुए अच्छे शासन की नींव डाली। फिर द्रव्यशाह के पोते रामशाह ने उस राज्य की सीमाएँ और समृद्धि खूब बढ़ाई तथा विधान-व्यवस्था और न्याय-मर्यादा की स्थापना कर प्रसिद्धि पाई (१६०६–१६३३)।

गोरखा राज्य का वह गौरव आगे चार दशाब्दियों तक बना रहा, किन्तु रामशाह के पोते पृथ्वीपतिशाह के प्रशासन (१६६६–१७१६) में पड़ोसी राज्यों ने उसका बहुत सा प्रदेश छीन लिया। पृथ्वीपति की मृत्यु पर उसका पोता नरभूपालशाह राजा हुआ। १७३७ में नुवाकोट की लड़ाई में हारने पर उसे मानसिक रोग ने आ घेरा। यह नुवाकोट गंडक दून वाले नुवाकोट से भिन्न और गोरखा से ठेठ नेपाल दून के रास्ते पर है। नरभूपाल के रुग्ण होने से गोरखा राज्य की दशा बिगड़ने लगी, पर नरभूपाल की जेठी रानी चन्द्रप्रभावती ने उसे सँभाल लिया। नरभूपाल की दूसरी रानी कौशल्यावती ने २७ दिसम्बर १७२२ को पुत्र पृथ्वीनारायण को जन्म दिया था। १७४२ ई० में उसके पिता की मृत्यु होने पर चन्द्रप्रभा ने उसे गोरखा की गद्दी पर बिठाया।

पृथ्वीनारायण ने माँ चन्द्रप्रभा से परामर्श कर नुवाकोट पर फिर आक्रमण किया। नेपाल दून के काठमांडू और पाटन के राजाओं ने नुवाकोट को सहायता दी। पृथ्वीनारायण सफल न हुआ। तब उसे यह सूझा कि 'मदेस' (=मध्यदेश, नेपाल के दक्खिन का मैदान) से बन्दूक बारूद आदि ला कर अपनी सेना की शक्ति बढ़ानी चाहिए। इस उद्देश से उसने माँ चन्द्रप्रभा से आशीर्वाद ले कर काशी की यात्रा की और वहाँ से बन्दूक बारूद बनाने वाले कुछ कारीगरों को अपने साथ लाया।[५] बन्दूकों तोपों का प्रयोग 'मदेस' में इसके दो शताब्दी पहले से चल रहा था, और हिमाचल के लोग वहाँ बराबर आते जाते थे। फिर भी पृथ्वी-नारायण से पहले हिमाचली राज्यों के नेताओं का ध्यान उनकी ओर

५. यह वृत्तान्त श्री ज्ञवाली ने दिया है (पृ० ना० शाह पृ० ५७–६०, ६८)। किन्तु यह बात पहले से विदित थी कि हिमाचल के इस भाग में आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग पहलेपहल पृथ्वीनारायण ने चलाया, देखिए जी० आर० सी० विलियम्स (१८७४)—हिस्टौरिकल ऐंड स्टैटिस्टिकल मेमौयर औफ़ देहरादून (देहरादून का ऐतिहासिक और अंकात्मक विवरण) पृ० ११३। श्री ज्ञवाली के वृत्तान्त से यह स्पष्ट हुआ है कि कैसी परिस्थिति में ऐसा हुआ।

नहीं गया था इससे प्रकट है कि वे कैसी गहरी नींद में सोये हुए थे।

काशी से लौट कर पृथ्वीनारायण ने नुवाकोट को जीत लिया। तब उसने नेपाल दून की ओर ध्यान दिया। सवा चार सौ वर्गमील की वह दून कश्मीर के बाद हिमालय का सबसे उपजाऊ अंश है। न केवल पूर्वी हिमाचल प्रत्युत भूटान और मध्य तिब्बत के भी आर्थिक जीवन की वह धुरी है। उसे लेने के लिए जो लम्बा और गहरा युद्ध पृथ्वीनारायण को करना पड़ा उससे प्रकट है कि वहाँ के लोग कड़े लड़ाके थे और उनके राज्यों की शक्ति काफी थी। पृथ्वीनारायण ने नेपाल दून के चौगिर्द पहाड़ों को जीतते हुए उनपर अपनी गढ़ियाँ स्थापित कीं। नेपाल का व्यापार तब कश्मीरी मुस्लिमों और एक विशिष्ट पन्थ के गोसाइँयों के, जो साधु वेश में रहते हुए व्यापार और युद्ध भी करते थे, हाथ में था। १६२८ ई० से नेपाल में कापुचिन पन्थ के ईसाई युरोपी प्रचारक भी रहते थे। नेपाल का घेरा पड़ने पर इन विदेशी व्यापारियों और प्रचारकों ने बाहर जा कर पृथ्वीनारायण की निर्दयता के बारे में बढ़ा चढ़ा कर कहानियाँ उड़ाईं और भारत और तिब्बत के शासकों को उसपर आक्रमण करने के लिए उकसाया। बंगाल-बिहार की नवाबी सन् १७६० में मीर कासिम को मिली थी, और वह ईस्ट इंडिया कम्पनी के शिकंजे से निकलने के लिए अपनी स्वतन्त्र शक्ति बनाने के प्रयत्न में लगा था। मीर कासिम ने अपने अरमिनी सेनानायक गुर्गीनखाँ के साथ १७६२ में चम्पारन के उत्तर मकवानपुर दून पर चढ़ाई की। पृथ्वीनारायण की सेना ने उसे पूरी तरह हरा कर भगा दिया।

१७६५ से पृथ्वीनारायण ने नेपाल दून के भीतर युद्ध छेड़ा। वहाँ के एक पराजित राजा, कश्मीरी और गुसाईं व्यापारियों और कापुचिन प्रचारकों ने इस बार ईस्ट इंडिया कम्पनी से सहायता माँगी। १७६७ ई० में कम्पनी ने मेजर किनलोक को, जो तभी त्रिपुरा पर चढ़ाई कर के लौटा था, पृथ्वीनारायण के विरुद्ध भेजा। किनलोक ने दरभंगे की कमला नदी के साथ बढ़ते हुए जनकपुर की तराई पार कर सिन्धूली

गद्दी ले ली। पृथ्वीनारायण भी चौकन्ना था। उसकी सेना पाटन को लगभग जीत चुकी थी कि उसने उसे समेट कर दक्खिन भेजा। किनलोक गोरखालियों से मार खा कर भाग आया। १७६४-६५ में अंग्रेजों ने बक्सर और कोड़ा की लड़ाइयों में नवाब मीर कासिम के साथ साथ अवध के नवाब शुजाउद्दौला, मुगल सम्राट् शाह-आलम और मल्हार होलकर को भी हरा कर भगा दिया था। तब से वे मानने लगे थे कि भारत की कोई शक्ति उनके सामने ठहर नहीं सकती। उस दशा में गोरखालियों के हाथों किनलोक की हार उनके दिलों में कैसी करकती रही इसकी कल्पना की जा सकती है। अंग्रेज ऐतिहासिक आज तक उस हार को मानना नहीं चाहते और यह लिखते आते हैं कि बरसाती मौसम के कारण किनलोक तराई के जंगल या नदियों को पार न कर सका और लौट आया। तथ्य यह है कि उसने बरसात के बाद अक्तूबर में प्रयाण किया था—ठीक उस ऋतु में जो भारत में सेना की चढ़ाई के लिए सर्वोत्तम मानी जाती है—तथा दिसम्बर में वह पीछे हटा था। बाहरी हस्तक्षेप को दो चेष्टाओं को यों विफल कर १७६६ तक पृथ्वीनारायण ने नेपाल दून के राज्यों को पूरा जीत लिया।

इसके बाद उसने पच्छिम तरफ सप्तगंडकी को जीतने का फिर प्रयत्न किया, किन्तु उसमें सफल न हुआ। १७७० के बाद उसने पूरब तरफ दूधकोसी लाँघ किराँतियों[६] के देश में प्रवेश किया और तीन वर्ष में अपनी राज्य-सीमा किराँतियों की पूर्वी सीमा अरुण नदी तक पहुँचा दी।

---

६. किरात शब्द हमारे प्राचीन वाङ्मय में ठीक उस अर्थ में है जिसमें आधुनिक भाषाविज्ञानी और नृवंशविज्ञानी तिब्बतबर्मी शब्द का प्रयोग करते हैं; देखिए जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३०)—भारतभूमि और उसके निवासी पृ० १७१, ३०५-६; (१९३३)—भार० इति० की रूपरेखा पृ० ८२-८३, १०६०। दूधकोसी और अरुण के बीच रहने वाली उस महान् नृवंश की शाखा का विशिष्ट नाम वही किराँत है। नेपाल राज्य के मगर गुरुंग नेवार किराँत लिम्बू और लिम्बुओं के दक्खिनपूरव रहने वाले राइ सभी किरात नृवंश के हैं।

किराँतियों के दक्खिन का चौदण्डी राज्य भी, जिसकी राजधानी उदयपुर गढ़ी थी, उसने जीत लिया। वहाँ का राजा कर्णसेन मोरंग (पुर्णिया के उत्तर विराटनगर के चौगिर्द की तराई) भाग गया। अरुण और तमोर के बीच लिम्बू लोग बसते हैं, जिससे वह प्रदेश लिम्बुआन या दस-लिम्बू (लिम्बुओं के दस विभाग) कहलाता है। लिम्बुओं ने पृथ्वीनारायण का आधिपत्य स्वयं मान लिया। इसके बाद उसने लिम्बुआन के दक्खिन का मोरंग भी जीत लिया, जिससे उसकी सीमा कनकाई नदी तक पहुँच गई। फिर कनकाई और तिस्ता के बीच की तराई का बहुत सा अंश ले कर उसने अपनी सीमा सिकिम के साथ सटा दी। सन् १७७४ से यों गोरखालियों की सिकिम से मुठभेड़ छिड़ी जो १८१४ तक चलती रही। १० जनवरी १७७५ ई० को पृथ्वीनारायण की मृत्यु हुई। आज नेपाल राज्य जितना है उसका पूर्वी आधा भाग (अर्थात् ठेठ नेपाल दून और कोसी का प्रस्त्रवणक्षेत्र या सप्तकौशिकी) यों उसका खड़ा किया हुआ है।

पर पृथ्वीनारायण केवल विजेता न था। उसके सामने सुशासन का और अपने देश को खुशहाल और समृद्ध बनाने का आदर्श था। "पृथ्वीनारायण का दृढ विश्वास था कि कृषक प्रजा ही राजा का बल है और उसकी समृद्धि में राजा की समृद्धि है। वह गोरखाली और नेवार में कोई भेद न करता था। मेरा मुल्क ४ जातों ३६ वर्णों की फुलवारी है और सबको अपना कुलधर्म का कार्य करना चाहिए यह ··· (उसका) उपदेश था। जानबूझ कर न्याय बिगाड़ने और घूँस खाने वाले हाकिम राजा और राज्य के महाशत्रु गिने जाते और अपराध करने पर प्राण-दण्ड या सर्वस्व-हरण की सजा पाते थे। स्वदेश की आर्थिक समृद्धि ··· (पृथ्वीनारायण) के जीवन का प्रधान लक्ष्य था।" (पृ० ना० शाह पृ० १९८-९९)। इस लक्ष्य का अनुसरण करते हुए उसने यह नीति निर्धारित की थी कि नेपाल का देशी विदेशी व्यापार नेपालियों के ही हाथ आ जाय, देश के लिए आवश्यक कपड़ा देश में ही बने और

काँच के सामान जैसी विलास-सामग्री देश में न लाई जाय जिससे देश का धन बाहर न जाय (वहीं पृ० १८४-८८)। इसी लक्ष्य का अनुसरण करते हुए पृथ्वीनारायण ने नेपाल में जुवा खेलने पर रोक लगाई, विदेशी नर्तकियों का आना रोका (वहीं पृ० १९२) तथा नेपाल की मुद्रा का सुधार किया। उसके पहले के नेपाली राजाओं के सिक्के में बहुत मिलावट होने लगी थी जिसे दूर कर उसने खरा सिक्का चलाया।

उस युग में और उसके बहुत काल पहले से तिब्बत में नेपाल का ही सिक्का चलता था। अभी हाल तक भी तिब्बत और भूटान में नेपाली सिक्का ही चलता रहा है (शायद १९५० में चीन द्वारा तिब्बत का पुनरुद्धार किये जाने के बाद वह बात न रही हो)। उस सिक्के को तिब्बत में नेपाल के एक पहले राजा के नाम से महेन्द्रमल्ली कहते थे। पृथ्वीनारायण ने जब नेपाल का सिक्का सुधारा तब तिब्बत के शासकों से भी पुराने मिलावटी सिक्के का चलन बन्द करने को सहयोग माँगा। किन्तु उन्होंने सहयोग नहीं दिया और पुराने खोटे सिक्के को चलने देते रहे। खोटा सिक्का खरे सिक्के को निकाल देता है यह अर्थशास्त्र का बुनियादी सिद्धान्त है। तिब्बत में चलने वाला खोटा सिक्का नेपाल के नये खरे सिक्के को भी बाजार से निकाल न दे इसका एक ही उपाय था कि तिब्बत के व्यापार पर रोक लगा दी जाय। पृथ्वीनारायण ने वैसा किया, जिससे दोनों देशों में तनातनी बढ़ी और आगे जा कर युद्ध हुआ।[७] यों हम देखते हैं कि पृथ्वीनारायण के अपनी प्रजा के आर्थिक

---

७. किर्कपैट्रिक (१८११)—पूर्वोक्त, पृ० ३३९-४४। तिब्बत से नेपाल के झगड़े के कारण चीन ने १७९२ में नेपाल पर चढ़ाई की। उस चढ़ाई की आशंका होने पर नेपाल ने गंगा-काँठे की अंग्रेजी सरकार से सन्धि की जिसकी बदौलत किर्कपैट्रिक को फ़रवरी १७९३ में नेपाल भेजा गया। नेपाल में पैर रखने वाला वह पहला अंग्रेज़ था। नेपाल दरबार ने तिब्बत से हुए झगड़े के कारणों का जो विवरण तब दिया उसका उपर्युक्त अनुवाद किर्कपैट्रिक ने अपने ग्रन्थ के परिशिष्ट में दिया है। इस विवरण में आर्थिक इतिहास विषयक अत्यन्त महत्त्व की जानकारी है, पर आज

स्तर को उठाने के प्रयत्नों के कारण जैसे नेपाल के पुराने विदेशी व्यापारी उसके विरोधी हुए, वैसे ही तिब्बत और नेपाल के शासकों के बीच भी रस्साकशी शुरू हुई।

नेपाल-विजय के बाद पृथ्वीनारायण ने कापुचिन पादरियों को, जिन्होंने अंग्रेजों को नेपाल की भीतरी जानकारी दे कर नेपाल पर चढ़ाई के लिए उकसाया था, निर्वासित कर दिया। वे लोग तब बेतिया के पास आ कर रहने लगे। उनके मुखिया जिउसेप्पे ने पृथ्वीनारायण के नेपाल-विजय की कहानी उसके अत्याचारों की बातें बना और बढ़ा चढ़ा कर लिखी।[८] "पृथ्वीनारायण को हिन्दुस्तान में बढ़ती हुई अंग्रेजी

तक किसी अर्थशास्त्री या ऐतिहासिक ने इसका उपयोग नहीं किया। बाद के लेखकों ने नेपाल-तिब्बत झगड़े का जो ब्यौरा दिया है उसमें इस बुनियादी कारण की उपेक्षा कर छोटी बातों की ही चर्चा की है अथवा इस सिक्के वाली बात को उलटपुलट ढंग से कहा है। श्री सू० वि० ज्ञवाली का ध्यान किर्कपैट्रिक के ग्रन्थ के इस परिशिष्ट की ओर न गया हो यह हो नहीं सकता, पर इस आर्थिक समस्या की कठिनाई को देखते हुए उन्होंने इसे सुलझाने का यत्न नहीं किया।

८. फ़ादर जिउसेप्पे (१७९०)—ऐन ऐकाउंट औफ़ दि किंगडम औफ़ नेपाल (नेपाल राज्य का विवरण), एशियाटिक रिसर्चेस (एशियाई खोज) जि० २ (लंदन का पुनर्मुद्रण १७९९) पृ० ३०७–२२। पृथ्वीनारायण का उल्लेखनीय अत्याचार था १७६५ में कीर्त्तिपुर के विजय के बाद वहाँ के लोगों की नाकें कटवाना। कीर्त्तिपुर नेपाल दून के दक्खिनपच्छिमी कोने में पाटन राज्य के अन्तर्गत था। श्री ज्ञवाली का कहना है कि वहाँ कुछ लोगों की नाकें काटी जाने की बात सत्य है क्योंकि ललितावल्लभ-कृत समकालिक संस्कृत काव्य पृथ्वीन्द्रवर्णनोदय में भी उसका उल्लेख है, पर सारी जनता के उस रूप में दण्डित किये जाने की बात निरी अत्युक्ति है (पृ० ना० शाह पृ० १४३-४४)। पंडित गुणानन्द के पूर्वजों की लिखी वंशावली के अनुसार १२ वर्ष से बड़ी आयु के सब पुरुषों की नाकें काटी गईं थीं, और उनकी संख्या ८६५ थी, दे० डेनियल राइट का मुंशी शिवशंकर से करवाया हुआ उक्त वंशावली का अनुवाद (१८७७)—हिस्टरी औफ़ नेपाल (नेपाल का इतिहास) पृ० २५९। ध्यान रहे कि नेपाल में अंगच्छेद का दण्ड उस युग में

शक्ति का बहुत डर था।" उसका कहना था कि "दक्षिण के समुद्र के बादशाह (अर्थात् अंग्रेज) के साथ मेल तो रखना चाहिए, किन्तु वह महाचतुर है" अतः उससे दूर ही रहना चाहिए (पृ० ना० शाह पृ० १८८, २०१)।

अंग्रेजों को दूर रखने की यह नीति ठीक वही है जिसे उस शताब्दी के आरम्भ में रामचन्द्र नीलकण्ठ बावडेकर ने महाराष्ट्र के मेधावियों के सामने रक्खा था (ऊपर पृ० १५३)। चीन के राजनेता भी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इसी नीति पर चलने का यत्न करते रहे। भारत के अनेक प्रशासकों ने अपने राज्यों में इन विदेशियों को खुला व्यापार करने, बस्तियाँ बसाने और उन बस्तियों में अपने देश के कानून के अनुसार शासन चलाने की जो छूट दे दी थी, उससे यह नीति बेहतर थी। पर इससे भी युरोपियों का मुकाबला नहीं किया जा सकता था। यह बात भी उल्लेखनीय है कि सन् १७७० तक अंग्रेजों के महाचतुर या छली होने की बात हिमालय के भीतर रहते पृथ्वीनारायण ने पहचान ली थी।

"तिब्बत के साथ स्वयं झगड़ा न करने की उसकी नीति थी, पर यदि युद्ध आ ही पड़े तो उसके लिए वह सदा प्रस्तुत था। चीन के प्रति उसके हृदय में भय और श्रद्धा थी। चीन के विशाल देश, प्राचीन सभ्यता और बड़ी जनसंख्या के कारण चीन के साथ अपना विशेष

साधारण था। तो भी कीर्त्तिपुर की यह घटना पृथ्वीनारायण की कीर्त्ति पर धब्बा है इसमें सन्देह नहीं। पर दूसरी तरफ उसी इतिहास में दूसरे किस्म की घटनाओं का उल्लेख भी है। नेपाल दून के पूर्वी भाग में चौकोट गाँव के मुखिया महीन्द्रसिंह ने १५ दिन पृथ्वीनारायण की सेना को रोके रक्खा। अन्त में उसके मारे जाने पर पृथ्वीनारायण ने उसके शव पर के घाव देख कर कहा कि ऐसे वीर के परिवार का भरण-पोषण होना चाहिए और तुरन्त उसका प्रबन्ध कर दिया (वहीं पृ० २५५)। जान पड़ता है कि क्रोध के आवेश में क्रूर कार्य कर डालने की प्रवृत्ति के बावजूद भी पृथ्वीनारायण उदात्त प्रकृति का पुरुष था।

सम्बन्ध न होने पर भी वह चीन को आदर की दृष्टि से देखता था।" (वहीं पृ० २०१)।

पृथ्वीनारायण के स्वभाव व्यक्तिगत जीवन और साथियों के विषय में श्री ज्ञवाली ने लिखा है कि वह धार्मिक वृत्ति का मनुष्य था (पृ० १६०), "कभी कहीं उसने क्रोध के आवेग में अथवा भयप्रदर्शन के लिए कोई निर्दयतापूर्ण कार्य भले ही किये हों तो भी वह निर्दय प्रकृति का मनुष्य न था (पृ० १६६) ... अभीष्ट-सिद्धि के निमित्त दुष्कर ... कार्य करने को वह सदा प्रस्तुत रहता था। उसका पारिवारिक जीवन अत्यन्त प्रेमपूर्ण था। उसकी मातृभक्ति अलौकिक थी तथा अपने सहोदर और विमातृक भाइयों को उसने कभी भेद की दृष्टि से नहीं देखा था। ... स्वयं साधारण पढ़ा होने पर भी विद्वानों का आदर करता था। उसके दरबार में अनेक उच्च कोटि के पंडित थे। असि वृत्ति और मसि वृत्ति दोनों में निपुण वीरभद्र ने उसकी आज्ञा से यज्ञार्थ-पद्धति नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उसके विषय में ... दो खण्डकाव्य लिखने वाला ललितावल्लभ भी उसका आश्रित था। जयमंगल, महेश्वर, हरिदत्त, कुलानन्द, बालकृष्ण आदि वेद धर्मशास्त्र ज्योतिष आयुर्वेद के ज्ञाताओं ने उसके दरबार में आदरणीय स्थान पाया था। कुशल राजनीतिज्ञ और वीर योद्धाओं का पृथ्वीनारायण के दरबार में बड़ा मान था" (पृ० २००)। योग्य मनुष्यों को पहचान कर उन्हें उचित पद पर बिठाने की पृथ्वीनारायण में वास्तविक योग्यता थी जिससे उसे सच्चा जननायक कहना चाहिए।

यों हम इस महापुरुष के चरित में जो विजिगीषु भावना, उत्कट देशप्रेम, न्याय्य और कल्याणकर शासन स्थापित करने के आदर्श की सिद्धि के लिए अथक श्रम करने और सब प्रकार के कष्ट झेलने की क्षमता, निष्ठा, दृढ़ता तथा जागरूकता पाते हैं, वह कहाँ तक इसे अपने पूर्वजों से दाय में मिली थी और किन परिस्थितियों में जगी और पनपी थी, ये प्रश्न हैं जिनपर कि और प्रकाश पड़ना चाहिए। हम यह जानते

हैं कि पृथ्वीनारायण के साथी बहुत से ब्राह्मण भी थे जो उसके नेपाल-युद्ध के अवसर पर वहाँ की जनता के बीच जा कर उसे उसके शासन के लाभ समझाते थे। यों पृथ्वीनारायण के चौगिर्द उस जैसे आदर्शों और विचारों वाली मंडली थी। पर उस मंडली में वे आदर्श और विचार कैसे कहाँ से आये या जगे और पनपे इसपर और प्रकाश पड़ना चाहिए।

हमें यह भी जानना चाहिए कि पृथ्वीनारायण के चरित और समूचे गोरखाली इतिहास की व्याख्या दूसरे ढंग से भी की जाती रही है। उदाहरणार्थ, १८ सौ पचासों में काठमांडू की अंग्रेज़ी रेज़िडेंसी के सर्जन डा० हेन्री आम्ब्रोस ओल्डफील्ड ने पृथ्वीनारायण के नेपाल-विजय की कहानी कापुचिन पादरियों वाली कहानी में खूब नमक-मिर्च लगा कर कहने के बाद और यह बताने के बाद कि मेजर किनलोक के अधीन सेना "तिब्बत और नेपाल के व्यापार की रक्षा के लिए" (!) भेजी गई थी तथा किनलोक सन् १७६७ की "बरसात के मध्य में" नेपाल के पहाड़ों के नीचे पहुँचा था, उस कहानी का उपसंहार यों किया है—"पृथ्वीनारायण कायर चालबाज़ और मनुष्यताहीन राजा था। नेपाल का राज्य पाने पर उसने बड़े अत्याचार किये, भूतपूर्व ··· राजवंश से सम्बद्ध प्रायः प्रत्येक प्रमुख व्यक्ति को कत्ल किया। ··· गोरखों ने अपने सब विजयों के साथ जो पाशविक बर्बरता दिखाई उससे अपने नाम पर सदा के लिए कलंक लगा लिया है। कहते हैं पृथ्वीनारायण के साथ जो गोरखा सेना नेपाल में गई वह संख्या में बहुत कम थी, शस्त्रास्त्र और सन्नाह में तथा नियम-पालन में दरिद्र थी। उसके राजा के पास इतने साधन न थे कि और सेना भरती करता या सैनिकों को अधिक कार्यक्षम बनाता। इसीलिए (नेपाल) दून जीतने में उसे इतना काल लगा। बहुत सम्भवतः यह सच है कि उसकी सेना अत्यन्त अक्षम दशा में थी। पर इस तथ्य से ··· (नेपाल के पहले राजवंश) की वीर देशभक्ति-भावना को कम न मानना चाहिए ··· यदि किनलोक की चढ़ाई दुर्भाग्य से विफल न होती तो ···

(वह) वंश नेपाल की गद्दी पर बना रहता।"[१]

डा० ओल्डफ़ील्ड का यह विचार प्रतीत होता है कि कायर पृथ्वीनारायण ने, जिसकी सेना भी मुट्ठी भर और किसी काम की न थी, केवल अपनी चालबाज़ी और निर्दयता के बल पर अढ़ाई सौ मील लम्बा नब्बे मील चौड़ा राज्य खड़ा कर लिया। यह कहने के बाद उन्हें याद आता है कि नेपाल के जिन पुराने राजाओं सरदारों और सैनिकों ने पृथ्वीनारायण का चार बरस डट कर मुकाबला किया था उनकी तो वे बड़ी ज़ोरदार भाषा में प्रशंसा कर आये हैं, तब वे फरमाते हैं कि उस कायर की निकम्मी सेना से हार जाने वाले उन नेपालियों की वीरता और देशभक्ति को कम न मानना चाहिए, केवल यही दुर्भाग्य था कि किनलोक उनकी सहायता को न पहुँच सका! इस व्याख्या से इतिहास के किसी प्रश्न पर प्रकाश पड़े या न पड़े, इस अंग्रेज़ शल्यचिकित्सक के अपने मानसिक स्वास्थ्य पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। काश कि किनलोक काठमांडू पहुँच जाता और इस निगोड़े गोरखाली राज्य की जड़ ही न जम पाती, यह टीस ही उसके कहने का सार है। यह टीस साम्राज्यलिप्सु अंग्रेज़ों को १८ सौ अस्सियों तक क्योंकर सालती रही यह बात स्वयं गोरखाली इतिहास पर काफी प्रकाश डालती है।

३. सिंहप्रताप राजेन्द्रलक्ष्मी और बहादुर के शासन—गंडक से गंगा तक विजय

(१७७५–१७६५ ई०)

पृथ्वीनारायण के बेटे सिंहप्रताप ने केवल पौने तीन बरस (जनवरी १७७५–अक्तूबर १७७७) राज्य किया। उस अवधि में भी सतगण्डकी के तनहूँ राज्य का कपिलास प्रदेश गोरखालियों ने जीता इससे उनकी अग्रसर प्रवृत्ति का जारी रहना सूचित होता है।

---

१. ओल्डफील्ड (१८८०)—स्कैचेस फ्रौम नेपाल हिस्टौरिकल ऐंड डिस्क्रिप्टिव (नेपाल के ऐतिहासिक और वर्णनात्मक रेखाचित्र) १ पृ० २७५-७६।

सिंहप्रताप की मृत्यु पर उसका बेटा रणबहादुर केवल २।। बरस का था। सिंहप्रताप के प्रशासन में उसका छोटा भाई बहादुर बेतिया जा बसा था; अब उसने लौट कर अपने भतीजे के नायब रूप में राजकाज हाथ में कर लिया। पर राजकाज चलाने में सिंहप्रताप की विधवा राजेन्द्र-लक्ष्मी से उसकी नहीं पटी। उसने अपनी भावज को कैद किया। पीछे जनमत के दबाव से उसे उसको छोड़ना पड़ा और स्वयं फिर बेतिया की राह लेनी पड़ी। यों तीन वर्ष (१७७७–८०) देवर-भौजाई के झगड़े में बीते, जिस बीच नेपाल राज्य की बढ़ती रुकी रही।

१७८० से ८६ तक राजेन्द्रलक्ष्मी ने अपने बेटे के नाम पर शासन किया। वह बड़ी प्रतिभा और जीवट वाली स्त्री थी, उसने सेना के संघटन में अनेक सुधार किये। १७८१ से गोरखालियों की विजय-यात्रा फिर जारी हुई। नेपाल दून अब उनके हाथ में होने से उनके विजयों के लिए अच्छा आधार उपस्थित था। राजेन्द्रलक्ष्मी के शासन में उन्होंने सप्तगण्डकी के मुख्य अंश जीत लिये। पच्छिमी विजयों के नेताओं में अमरसिंह थापा भी था, जिसके पिता ने पृथ्वीनारायण के ज़माने में वीर गति पाई थी।

राजेन्द्रलक्ष्मी की मृत्यु के बाद १७८६ में बहादुर ने बेतिया से लौट कर नेपाल का शासन फिर हाथ में लिया। पच्छिमी विजयों का सिलसिला जारी रहा। इस बार उस कार्य में नेपाल के राज्य ने पाल्पा राज्य का सहयोग पाया। श्री ज्ञवाली ने अमरसिंह थापा के प्रारम्भिक युद्धों का विवरण देते हुए लिखा है कि १७८६ या ९० में डोटी प्रदेश जीतने के बाद नेपाल राज्य की सीमा महाकाली नदी तक पहुँच गई। "डोटी जीतते ही नेपालियों ने अलमोड़ा पर आक्रमण किया ... अलमोड़ा पर भी नेपालियों का आधिपत्य स्थापित हो गया। अलमोड़ा से क्रमशः ... गढ़वाल पर आक्रमण किया। अलखनन्दा नदी के इस पार का इलाका बिना लड़ाई किये ही नेपालियों के अधीन हुआ। अलखनन्दा के उस पार गढ़वाल के राजा के साथ नेपाली लोग लड़ाई कर ही रहे थे कि

एकाएक चीन के साथ लड़ाई छिड़ जाने का समाचार पा नेपालियों ने गढ़वाल के राजा के साथ सन्धि कर ली। यह सन्धि सन् १७६१ ई० में हुई। यह सन्धि करने के बाद नेपाली सेना का मुख्य भाग नेपाल लौट गया। लौटने वाली सेना के साथ अमरसिंह थापा भी थे। उसी साल नेपालियों ने तिब्बत पर आक्रमण किया। इस चढ़ाई में अमरसिंह थापा केरुङ्ग घाटी के रास्ते तिब्बत में प्रवेश कर ब्रह्मपुत्र तक पहुँच कर लौटे थे। दूसरे साल चीन ने नेपाल पर आक्रमण किया। नुवाकोट तक चीनी पलटन आ पहुँची। अन्त में चीन का आधिपत्य स्वीकार कर नेपाल ने सन्धि कर ली। अनुमानतः यह सन्धि सन् १७६२ ई० के अन्त में हुई।" (हिन्दी अमरसिंह थापा पृ० १६-१७)।

श्री ज्ञवाली ने अपने उसी ग्रन्थ में आगे जा कर लिखा है—"सन् १७६० ई० में डोटी तथा सन् १७६४ ई० में अलमोड़ा नेपाल के अधीन हुआ था और सन् १८०४ ई० में नेपालियों ने गढ़वाल तथा देहरादून जीता" (वहीं, पृ० ७४)।

इन दोनों विवरणों में अस्पष्टता और परस्परविरोध की झलक है। कुमाऊँ के इतिहास से वह अस्पष्टता दूर होती है।

१७६० ई० के आरम्भ में गोरखाली सेना डोटी से कुमाऊँ चढ़ी थी। कालीकुमाऊँ (कुमाऊँ के काली नदी की दून वाले अंश) में गोरखाली जीते और अलमोड़े के नीचे हवालबाग के पास एक साधारण लड़ाई के बाद चैत्र कृष्ण १ संवत् १८४७ वि० को अर्थात् संवत् १८४७ के पहले दिन (मार्च १७६० में) उन्होंने अलमोड़ा लिया। १७६१ में गोरखाली गढ़वाल में लंगूरगढ़ तक बढ़े, पर उसे सर न कर सके। उसपर फिर चढ़ाई के उद्योग में वे लगे थे कि चीनियों की नेपाल चढ़ाई की खबर आई। तब नेपाल दरबार से आज्ञा आई कि कुमाऊँ का शासन हर्षदेव जोशी को तथा गढ़वाल गढ़वाली राजा को सौंप कर लौटें। पर गढ़वाल का राजा प्रद्युम्नशाह इतना डर गया था कि उसने गोरखालियों का आधिपत्य और उन्हें कर देना स्वीकार कर लिया।

पृथ्वीनारायण के ज़माने से तिब्बत के साथ संघर्ष क्योंकर चल रहा था सो ऊपर कहा जा चुका है। वह संघर्ष बढ़ता गया। १७८१ ई० में टशी-ल्हुन्पो (शिगर्चा) के बड़े लामा की मृत्यु होने पर उत्तराधिकार के लिए उसके भाइयों में झगड़ा हुआ, जिसमें छोटे भाई ने नेपाल से सहायता ली। उस सहायता के बदले में जो कर देने का इकरार उसने किया था वह न आने पर १७९१ में गोरखालियों ने टशी-ल्हुन्पो पर चढ़ाई कर उस मठ को लूटा। टशी-ल्हुन्पो ब्रह्मपुत्र दून में की बस्ती शिगर्चा का मठ है। वहाँ के लामा चीनी सम्राटों के गुरु होते थे। नेपालियों के उस मठ को लूटने पर तिब्बत के अधिपति चीनियों ने नेपाल पर चढ़ाई कर उन्हें हराया, और नेपाल ने चीन का आधिपत्य मान सन्धि की (१७९२)।

चीन से युद्ध छिड़ने की आशंका होने पर नेपालियों ने बनारस के रेज़िडेंट डंकन द्वारा अंग्रेज़ी सरकार से सहायता माँगते हुए मार्च १७९२ में सन्धि की, जिसके अनुसार गवर्नर-जनरल कौर्नवालिस ने अपने दूत किर्कपैट्रिक को नेपाल भेजा। किर्कपैट्रिक १५ फरवरी १७९३ को रणबहादुर के दरबार में नुवाकोट पहुँचा, पर उससे पहले नेपाली चीन का आधिपत्य मान सन्धि कर चुके थे।

कुमाऊँ में पहला नेपाली कर-बन्दोबस्त संवत् १८४८ वि० (=१७९१-९२ ई०) में सुब्बा जोगमल्ल के शासन में हुआ। संवत् १७५० में काजी नरशाह और उसका नायब रामदत्त मुल्की शासक नियत हुए, कालू पांडे फ़ौजी सरदार। कुमाऊँ का राजा महेन्द्रचंद अलमोड़े से हट कर काशीपुर तराई में जा टिका और वहाँ से अपना राज्य वापिस लेने के लिए धावे मारता रहा। १७९४ ई० में अमरसिंह थापा ने उसके अड्डे किलपुरी गढ़ पर चढ़ाई कर उसे ले लिया।[१०]

---

१०. ई० टी० ऐटकिन्सन (१८८३)—पूर्वोक्त, अध्याय ५। बदरीदत्त पांडे (१९३७)—कुमाऊँ का इतिहास पृ० ३८५–३९३। पांडेजी ने तार्किक छानबीन से

यों यह प्रकट है कि गोरखालियों ने डोटी को १७८९ ई० में और अलमोड़े को १७९० ई० में जीता तथा कुमाउँनी राजवंश का संघर्ष १७९४ में मिटाया। सन् १७९६ में जब कप्तान हार्डविक ने गढ़वाल की यात्रा की, तब वहाँ का राजा प्रद्युम्नशाह गोरखाली राज्य को २५०००) वार्षिक कर देता था।[११] यों गढ़वाल १७९१ से बराबर गोरखालियों का आधिपत्य मानता था, यद्यपि वह उनके सीधे शासन में नहीं था।

इस बीच राजा रणबहादुर वयःस्थ हो चुका था। उसने राजकाज अपने हाथ में लेना चाहा, पर बहादुर अपना अधिकार छोड़ने को तैयार न हुआ। बहादुर ने, जो सात बरस अंग्रेज़ों की शरण में बेतिया में रह चुका था, किर्कपैट्रिक से मेलजोल बढ़ाया। नेपाल के प्रमुख लोग इससे उसके विरुद्ध हो गये। बहादुर ने अपने भतीजे को कैद करने की तैयारी की, पर रणबहादुर ने प्रमुख अधिकारियों के सहयोग से उलटा उसे कैद कर के शासन अपने हाथ में ले लिया (१७९५ ई०)। (हिन्दी अमर० पृ० १८-१९)।

इस वृत्तान्त में अब कोई अस्पष्टता या धुँधलापन बाकी नहीं है। किन्तु एक विश्वविश्रुत विद्वान् ने इसी युग के नेपाल के भीतरी शासन और बाहरी फैलाव का वृत्तान्त दूसरे ढंग से कहा है। सिंहप्रतापशाह की मृत्यु के बाद बहादुर के बेतिया से नेपाल लौटने की बात कह कर आचार्य सिल्व्याँ लेवी लिखते हैं—"बहादुर कर्मठ और अध्यवसायी पुरुष था, किन्तु उसे अपने ही समान दृढ राजा-माता राजेन्द्रलक्ष्मी का सामना करना पड़ा। तब से १७९५ में रानी (राजमाता) की मृत्यु होने तक दोनों में गहरा संघर्ष चलता रहा जो कि कभी कभी थोड़े काल के लिए परस्पर समझौते से थम जाता, पर हर बार फिर छिड़ने पर अनेक हत्याकाण्डों से रंजित होता जिनमें विजेता द्वारा विजित के साथियों पर नृशंसता से

काम नहीं लिया, तो भी उनका अनुश्रुतियों और स्थानीय जानकारी का संग्रह कीमती है।

११. जी० आर० सी० विलियम्स (१८७४)—पूर्वोक्त, पृ० ११२।

प्रहार किये जाते। कहा जाता है कि रानी और स्थानापन्न राजा में दोनों की समान महत्त्वाकाङ्क्षा के कारण गुप्त विवाह हुआ, किन्तु उससे भी संघर्ष समाप्त नहीं हुआ।"[१२]

यह कहानी एकदम निराली है। आचार्य सिल्व्याँ लेवी ने किस आधार पर ये सब बातें—राजेन्द्रलक्ष्मी के १७६५ तक जीवित रहने, १७७७ से १७६५ तक बहादुर के लगातार स्थानापन्न राजा बने रहने, देवर-भौजाई का झगड़ा चलते रहने, उनके गुप्त विवाह और हत्याकाण्डों की—लिख डालीं सो कुछ समझ नहीं आता। पंडित गुणानन्द वाली वंशावली में रणबहादुर की माँ राजेन्द्रलक्ष्मी के नौ वर्ष (१७७७–८६) तक राजस्थानीय रहने, उस अवधि में सप्तगण्डकी के तनहूँ लमजुङ और कास्की राज्यों के जीते जाने, तथा राजेन्द्रलक्ष्मी की मृत्यु होने पर बहादुर के राजस्थानीय बनने और उसके शासन में गढ़वाल तक जीते जाने की बात स्पष्ट रूप से लिखी है।[१३] किर्कपैट्रिक ने जो कि इन घटनाओं के शीघ्र बाद नेपाल आया था, राजेन्द्रलक्ष्मी और बहादुर का झगड़ा तीन वर्ष चलने और उसके बाद बहादुर के बेतिया भाग जाने की बात लिखी है (सू० वि० ज्ञवाली—हिन्दी अमरसिंह पृ० ६ पर उद्धृत)। प्रो० लेवी की यह कहानी कोरी कल्पना की उपज है जिसमें गोरखाली इतिहास को झगड़ों और षड्यन्त्रों का सिलसिला बना कर दिखाने की अंग्रेज़ लेखकों की प्रवृत्ति का अनुसरण है।

आचार्य सिल्व्याँ लेवी उसी प्रसंग में आगे फ़रमाते हैं—"पृथ्वी-नारायण ने गोरखालियों को जो नवजीवन दिया था वह इन झगड़ों के बावजूद मन्द नहीं पड़ा।" आगे सप्तगण्डकी से कुमाऊँ तक के विजय का वृत्तान्त दे कर आप कहते हैं कि १७८६ तक सिकिम जीता गया, जिससे तिब्बत से झगड़ा और चीन से युद्ध हुआ। "चीनी युद्ध

---

१२. सिल्व्याँ लेवी (१९०५)—ल नेपाल (नेपाल) जि० २ पृ० २७८।

१३. डे० राइट (१८७७)—पूर्वोक्त पृ० २८२।

से पच्छिमी बढ़ाव क्षण भर को रुका ··· कुमाऊँ के बाद गढ़वाल नेपाल का प्रान्त बन गया (१७६४) । नेपाल तब भूटान से कश्मीर तक फैल गया ।" (वहीं, पृ० २७८–८०) ।

यह बाहरी विजयों की कहानी भी वैसी ही अद्‌भुत है जैसी भीतरी कलहों की । प्रकट है कि १७६४ में कुमाऊँ के राजा महेन्द्रचन्द्र का नैनीताल भाबर (तराई) का किलपुरी गढ़ जो अमरसिंह ने जीता उसे आचार्य लेवी ने गढ़वाल जीतना मान लिया है। फिर गढ़वाल से कश्मीर तक नेपाल राज्य को जो एक ही साँस में उन्होंने पहुँचा दिया सो सब से लाजवाब है ।

आचार्य सिल्व्याँ लेवी ने नेपाल के प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास को जो सुलझाया सो उनका अत्यन्त कीमती कार्य था । किन्तु अर्वाचीन नेपाल की भीतरी प्रेरणाओं तक वे नहीं पैठ सके, अंग्रेज़ों ने अपने साम्राजिक स्वार्थों से प्रेरित हो उसके चौगिर्द जो धुन्ध फैलाई उसे साफ नहीं कर सके तथा जैसा कि उक्त उदाहरण से प्रकट है, उसकी घटनाओं को भी ठीक-ठीक निर्धारित नहीं कर सके । नेपाली इतिहास की सामग्री की विवेचना उन्होंने बड़ी संग्राहक दृष्टि से १४४ पृष्ठों में की है, जिसमें देसी वंशावलियों अभिलेखों आदि के अतिरिक्त नेपाल-विषयक प्रत्येक तिब्बती चीनी और युरोपी लेख का भी ब्यौरा दिया है । किन्तु आश्चर्य है कि उस ब्यौरे में गोरखालियों के विद्यमान नेपाल राज्य के बाहर फैलने विषयक समकालिक वृत्तान्तों तक की पूरी उपेक्षा की गई है ! यों नेपाल का इतिहास लिखते हुए उन लेखों की ओर आचार्य लेवी ने आँख उठा कर भी नहीं देखा !

अंग्रेज़ लेखक पर्सिवल लैंडन ने भी इस अंश में प्रो० लेवी का आँख मूँद कर अनुसरण करते हुए १७६४ में गोरखालियों द्वारा कुमाऊँ-गढ़वाल को एक साथ जिता कर नेपाल की सीमा कश्मीर से जा लगाई है ![१४]

---

१४. पार्सिवल लैंडन (१९२८)—नेपाल १ पृ० ६९-७० ।

४. रणबहादुर का पिछला चरित—गंगा से सतलज तक विजय (१७९५—१८०६ ई०)

१७७७ से १७९५ तक रणबहादुर का पहला प्रशासन रहा था, जब कि उसके नाम से राजेन्द्रलक्ष्मी और बहादुर ने शासन चलाया। १७९५ से वह स्वयं शासन चलाने लगा। वह रँगीला जवान था। उसकी बड़ी रानी गुल्मी के राजा की बेटी थी जिससे उसका विवाह किशोर आयु में ही हो गया था। उस रानी का नाम राजराजेश्वरी था यह ज्ञवालीजी की खोज है (हिन्दी अमर० पृ० २१)। उससे रणबहादुर को कोई सन्तान नहीं हुई। उसकी दूसरी रानी सुवर्णप्रभा किसी पर्बतिया क्षत्रिय की बेटी थी। उससे रणोद्यत शाह नामक लड़का हुआ। पर रणबहादुर को अपनी प्रेमिका तिरहुत की विधवा ब्राह्मणी कान्तवती से भी एक लड़का हुआ और उसने उसी को अपना उत्तराधिकारी बनाना तय किया। सन् १७९७ में उस दो बरस के बच्चे गीर्वाणयुद्धविक्रम का राजतिलक करा के और बड़ी रानी को उसका नायब (राजस्थानीय)[१५] बना कर वह स्वयं संन्यासी हो गया! कान्तवती भी उसके साथ ही संन्यासिनी हो गई। यों रणबहादुर का असल शासन २½-३ वर्ष ही रहा। उस अवधि में १७९६ ई० में घाघरा की उपरली धारा कर्णाली की एक शाखा की दून का जुमला राज्य जो कि घाघरा क्षेत्र के बाइस राज्यों में प्रमुख था, जीता गया।

१७९९ ई० में संन्यासिनी कान्तवती चल बसी। तब रणबहादुर विक्षिप्त हो कर राजकाज में उलट-पुलट दखल देने लगा। प्रधान मन्त्री दामोदर पांडे ने उसे कैद करना तय किया। एक वर्ष तक दोनों की रस्साकशी चली। बाद रणबहादुर बड़ी रानी के साथ बनारस चला गया

१५. राजा के स्थानापन्न (रिजेंट) या राजप्रतिनिधि (वाइसराय) के अर्थ में राजस्थानीय शब्द गुप्त युग का है, यथा मन्दसोर के ५८९ संवत् वाले अभिलेख के श्लोक १९ में—निजशुचिसचिवाध्यासितानेकदेशान् राजस्थानीयवृत्त्या सुरगुरुरिव यो वर्णिणनां भूतयेऽपात्।

(१८-४-१८०१)। सुवर्णप्रभा राजस्थानीय रही।

भारत के गवर्नर-जनरल वेलेस्ली ने नेपालियों की इस आपसी खींचातानी से लाभ उठा कर नेपाल पर प्रभाव जमाने का अवसर देखा। दामोदर पांडे ने भी चाहा कि अंग्रेज़ी सरकार रणबहादुर को नज़रबन्द रक्खे। इस उपकार के बदले में उसके अंग्रेज़ों का पल्ला पकड़ने को तैयार हो जाने पर अक्तूबर १८०१ में व्यापार और मैत्री की सन्धि लिखी गई और अप्रैल १८०२ में कप्तान नौक्स उसे पक्का कराने और उसके अनुसार नेपाल का पहला रेज़िडेंट बनने को काठमांडू पहुँचा। फ्रांसिस हैमिल्टन जिसने पीछे गोरखा और उसके अधीन राज्यों का पूरा ब्यौरा लिखा, नौक्स की मंडली में ही गया था।

"कम्पनी के साथ दामोदर पांडे को मेल बढ़ाते हुए तथा ब्रिटिश राजदूत को नेपाल में आया देख पुराने विचार के अधिकारियों के बीच खलबली मच गई तथा ... वे इसका विरोध करने लगे। इसी विरोध के कारण बहुत दिनों तक इस सन्धिपत्र पर नेपाल का हस्ताक्षर नहीं हुआ। इस विरोधी दल में अमरसिंह थापा भी थे ...। अतएव दामोदर पांडे ने ... अपने ... सहयोगी तुल्य अमरसिंह थापा को पकड़ कर कैद कर लिया। उनकी यह इच्छा थी कि इसी प्रकार धीरे-धीरे विरोधियों को अपने वश में लाने के बाद ही सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किया जाय।" (वहीं, पृ० २०-२७)।

इस बीच बनारस में रणबहादुर का मस्तिष्क ठीक हो गया और नवम्बर १८०२ में प्रकटतः उसकी या उसके मन्त्रदाताओं की प्रेरणा से राजराजेश्वरी नेपाल की ओर चली। "पहाड़ों के दक्खिनी छोर पर मकवानपुर तक ही उसके पहुँचने पर नेपाल दरबार ने इस डर से कि आने वाले गृहकलह में अंग्रेज़ी सरकार का सहारा लिये बिना काम न चलेगा, सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, और राजराजेश्वरी को कैद करने को सेना भेजी। वह सेना राजराजेश्वरी से जा मिली। फरवरी १८०३ में राजराजेश्वरी ने नेपाल का शासन अपने हाथ में लिया। दामोदर पांडे

को ··· प्रधानमन्त्री पद पर रहने दिया, पर अमरसिंह थापा को कैद से छुड़ा मन्त्रिमण्डल में ले लिया और फिर शीघ्र गढ़वाल का विजय पूरा करने को रवाना कर दिया।"[१६]

"सन्धि के अनुसार किसी प्रकार से भी काम नहीं करा सकने तथा अपनी ओर दिखाये गये तिरस्कार ··· (और) तटस्थतापूर्ण व्यवहार से ऊब जाने के कारण कप्तान नौक्स को नेपाल छोड़ना पड़ा ···। ··· नौक्स तथा उनके दल ने मार्च १८०३ ई० में राजधानी छोड़ दी। ··· जनवरी १८०४ ई० में ··· वेलेस्ली ने ··· सन्धि को रद्द कर दिया।

"सन्धि रद्द होते ही रणबहादुर शाह भी काशी में स्वतन्त्र हो गये ···। जब रणबहादुर काशी में थे उसी समय से उन्होंने नेपाल में गुप्त रीति से अमरसिंह थापा प्रभृति ··· को अपनी ओर मिलाना आरम्भ कर दिया था। ब्रिटिश से सन्धि नहीं करनी चाहिए तथा यथासम्भव उन लोगों से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं रखना चाहिए इस प्रकार के विचार रखने वाले अधिकारियों का जो विरोधी दल काठमांडु में था उसकी रणबहादुर शाह के साथ सहानुभूति होना तो स्वाभाविक ही था। सन्धि रद्द होने के समय तक काठमांडु में रणबहादुर शाह के पक्ष में एक ज़बरदस्त दल खड़ा हो गया था ऐसा अनुमान होता है।" (हिन्दी अमर० पृ० २८-२९)।

"सन्धिपत्र के रद्द होते ही रणबहाहुर शाह नेपाल की ओर चल पड़े। थानकोट ··· में (नेपाल दून के ठीक किनारे पर जहाँ दक्खिन से आने वाला रास्ता उस दून में पच्छिमी किनारे पर उतरता है) दामोदर पांडे पल्टन ले कर टिके हुए थे। पर वहाँ ज्यों ही रणबहादुर शाह पल्टन के सामने पहुँचे त्योंही पल्टन दामोदर पांडे को छोड़ रण-

---

१६. ज० च० विद्यालंकार (१९५२)—इतिहासप्रवेश ४र्थ संस्क०, पृ० ५८१, सू० बि० ज्ञवाली (१९४३)—पूर्वोक्त (हिन्दी पृ० २७–३०) के आधार पर एक बड़े संशोधन के साथ जिसपर आगे विचार किया गया है।

बहादुर शाह की तरफ आ मिली। ''' दामोदर पांडे के स्थान में भीमसेन थापा प्रधान मन्त्री नियुक्त हुए।" (वहीं पृ० २६)।

सेना का दामोदर पांडे को छोड़ कर राजराजेश्वरी और रणबहादुर से मिल जाना बड़ी बात थी। १७९२ में चीनियों की चढ़ाई से नेपाली राज्य का बढ़ाव रुका था। तब से १८०२ तक दो बार नेपाल के नेताओं ने अंग्रेज़ों से सन्धि करने की कोशिश की—१७९२ में बहादुर ने और १८०१-०२ में दामोदर पांडे ने। दोनों की इसी कारण जान गई। इससे प्रकट है कि नेपाल के लोगों में अंग्रेज़ों के फन्दे में न फँसने का भाव कितना उत्कट था, जिससे वेलेस्ली जैसे घाघ को भी हार माननी पड़ी।

घटनाओं का उक्त सुलझा विवरण एक अंश को छोड़ कर श्री ज़वाली का दिया हुआ है। इसके जिन अंशों की विवेचना अभीष्ट है, उनपर हम आगे विचार करेंगे। सबसे पहले उस पहलू को देखें जिसे मैंने श्री ज़वाली के दिये विवरण में संशोधित करना आवश्यक समझा है।

श्री ज़वाली ने यह माना है कि रणबहादुर ने नेपाल वापिस लौट कर अर्थात् फरवरी-मार्च १८०४ में कभी अमरसिंह थापा को गढ़वाल चढ़ाई पर भेजा (वहीं पृ० ३०)। इसमें स्पष्ट गलती है जो दिल्ली गढ़वाल और पच्छिमी हिमाचल के इतिहास से मिलान करने से प्रकट होती है।

गढ़वाल गोरखालियों ने संवत् १८६० (= १८०३ ई०) में जीता यह बात गढ़वाल की जनता में प्रसिद्ध रही। आंग्ल-नेपाल-युद्ध के अवसर पर जब अंग्रेज़ों ने अपने कारिन्दों द्वारा गढ़वालियों को गोरखालियों के विरुद्ध उभाड़ने के प्रयत्न किये, तब का अंग्रेज पोलिटिकल एजंट के नौकर तुलेराम के नाम का एक गढ़वाली का पत्र जी० आर० सी० विलियम्स ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। उस पत्र में वह गढ़वाली कहता है—"तुम हमें शस्त्र ले कर उठने को ऐसे कहते हो मानो यह संवत् ६० से पहले का ज़माना हो!"

१८०३ में दूसरा आंग्ल-मराठा युद्ध चल रहा था जिससे भारत का

मुख्य भाग अंग्रेज़ों के अधीन हुआ। जनरल लेक ने १२-१६ सितम्बर १८०३ को दिल्ली लेने के बाद कर्नल बर्न को सहारनपुर लेने भेजा था। बर्न के सहारनपुर पर अधिकार करने के कुछ ही सप्ताह बाद अक्तूबर १८०३ में अमरसिंह थापा ने "दून" अर्थात् देहरे वाली दून[१७] पर

---

१७. दून शब्द संस्कृत द्रोणी का रूपान्तर है जिसका अर्थ है पहाड़ों में घिरा मैदान, यथा मार्कण्डेय पु० ५५. १४; वायु पु० १. ३६. ३३; १. ३७. १, ३। पर जैसे दोआब शब्द विशेष रूप से गंगा-जमना-दोआब के अर्थ में बर्त्ता जाता है, वैसे ही दून शब्द उस दून के अर्थ में जिसमें देहरादून (=दून वाला देहरा या देवालय) बसा है। फ्रांसिस हैमिल्टन ने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ (१८१९) में लिखा है कि गंगा के पच्छिम के पहाड़ी प्रदेश में दून शब्द व्हैली के अर्थ में साधारणतया प्रयुक्त होता है (पृ० ६८)। पर हौगसन ने हिमालय के प्राकृतिक भूअंकन का वर्णन करते हुए (१८४९, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में) नेपाल के प्रसङ्ग में भी उस अर्थ में "दुन अथवा माड़ी" कहा है—दि लैंग्वेजेस लिटरेचर ऐंड रिलीजन औफ़ नेपाल ऐंड टिबेट (नेपाल और तिब्बत की भाषाएँ वाङ्मय और धर्मकर्म) शीर्षक से १८७४ में छपा लेखसंग्रह, भाग २, पृ० ७, ९। ओल्डफ़ील्ड ने अपने ग्रन्थ (१८८०) में सप्तगण्डकी और पूर्वी नेपाल के हिमालय के नीचे वाले प्रदेशों के विवरण में भी व्हैली के अर्थ में दुन शब्द ही बर्त्ता जाता बताया है (पृ० ४६-४९, ५४), साथ ही उस विवरण से यह भी प्रकट है कि वहाँ उस अर्थ में माड़ी शब्द अधिक प्रचलित है, जैसे गोंगताली-माड़ी, चितौन-माड़ी, मकवानपुर-माड़ी आदि। किर्कपैट्रिक (१७९३, १८११) ने व्हैली के अर्थ में बेसी शब्द का चलन बताया है (पृ० ८२)। श्री ज्ञवाली के प्रयोग से प्रतीत होता है कि बेसी शब्द पर्बतिया भाषा में अब भी चालू है, जैसे 'नुवाकोट बेसी' (पृ० ना० शाह पृ० ८३)। शायद यह हिमालय के उपरले भाग में नेपाल में प्रचलित है। नेपाल दून को श्री ज्ञवाली नेपाल खाल्डो कहते हैं जो कि परम्परा से संस्कृत 'गर्त' का रूपान्तर जान पड़ता है। कहीं कहीं बंगाली लेखकों की नकल कर उन्होंने उसे नेपाल उपत्यका भी कहा है, पर उपत्यका का अर्थ संस्कृत में तराई है, दून या खाल्डो नहीं। राल्फ लिली टर्नर ने अपने कम्पैरेटिव ऐंड इटिमोलौजिकल डिक्शनरी औफ दि नेपाली लैंग्वेज (नेपाली भाषा का तुलनात्मक और व्युत्पत्तिसहित कोश) (१९३१) में नेपाली 'दुन' को हिन्दी और पञ्जाबी 'दून' का समानार्थक बताया है,

अधिकार किया। गढ़वाल के राजा प्रद्युम्नशाह ने उस अवसर पर अमर-सिंह से जो युद्ध किया उसका विवरण कप्तान रेपर ने दिया था। प्रद्युम्नशाह सहारनपुर भाग आया, जहाँ उसने अपना सिंहासन १॥ लाख रुपये में तथा बदरीनाथ मन्दिर के आभूषण ५० हजार में गिरवी रख कर १२ हजार सेना खड़ी की और लंढौरे के गूजर सरदार रामदयाल सिंह की सहायता से दून को वापिस लेने का यत्न किया। जनवरी १८०४ में देहरादून के पास खुरबुड़ा गाँव की लड़ाई में उसने वीरगति पाई।[१८] यों गढ़वाल रणबहादुर के बनारस रहते ही जीता जा चुका था।

गढ़वाल जीतने के बाद प्रायः एक साल गोरखालियों को सतलज तक पहुँचने में लगा।[१९] उसके बाद १८०५ में उन्होंने सतलज लाँघी

और उसकी व्युत्पत्ति की है—दूना या दुहरा, दो पहाड़ों के बीच होने से जो भूमि दुहरी सी लगती है! 'दुन' या 'दून' संस्कृत 'द्रोणी' का रूपान्तर है यह बात टर्नर के ध्यान में नहीं आई। उनके कोश में बेसी और माड़ी शब्द नहीं हैं, घाट का वाचक भञ्याङ शब्द भी नहीं जो भीमफेदी से काठमांडू के रास्ते में ही दो बार सुनाई पड़ता है। प्रकट है कि टर्नर का नेपाली कोश केवल साहित्यिक ग्रन्थों के आधार पर बना है, और चूँकि हमारी देशी भाषाओं के साहित्य का विषयक्षेत्र बहुत संकीर्ण है और वह ऐसे युग की उपज है जब कि समाज के शिक्षित वर्ग का जनता से सम्पर्क बहुत कम था, इसलिए उसमें भारत की देशी भाषाओं के अन्य अधिकतर कोशों की तरह जनसाधारण की भाषा के बहुत शब्द नहीं आये।

१८. सी० यू० एचिसन (१८६२–६५)—कलैक्शन औफ़ ट्रीटीस इंगेजमेंट्स ऐंड सनद्स रिलेटिंग टु इंडिया ऐंड नेबरिंग कंट्रीस (भारत और पड़ोसी देशों विषयक सन्धियों ठहरावों और सनदों का संग्रह), ४र्थ संस्क० (१९०९) १ पृ० ३२। जी० आर० सी० विलियम्स (१८७४)—पूर्वोक्त, पृ० ११५–१७, १२९। एच० जी० वाल्टन (१९११)—देहरादून (डिस्ट्रिक्ट गजैटियर्स औफ़ यू० पी० = युक्त प्रान्त के ज़िलों का विवरण माला में) १ पृ० १७८। एचिसन के ग्रन्थ का दूसरा संस्करण ए० सी० ताल्बोत ने १८७६ में किया, फिर तीसरा १८९२ में तथा चौथा १९०९ में प्रकाशित हुआ।

१९. हचिसन और फोखल (१९३१)—पूर्वोक्त, १ पृ० ८० पर गोर-

तो कांगड़े के राजा संसारचन्द से उनका युद्ध ठन गया। सन् १८०५ में जब यशवन्तराव होलकर संसारचन्द को अंग्रेजों के विरुद्ध संघ में मिलाने का यत्न कर रहा था, तब संसार ने उससे गोरखालियों के विरुद्ध सहायता माँगी थी—अर्थात् १८०५ के जाड़े से पहले गोरखाली सतलज पार कर चुके थे। यों इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उन्होंने गढ़वाल १८०३ में जीता था। फलतः यह मानना होगा कि अमरसिंह थापा को इस कार्य के लिए राजराजेश्वरी ने ही रवाना किया था।

आगे का घटना-क्रम यों है। सतलज के किनारे महलमोरी पर और व्यासा के तीर सुजानपुर-तीरा पर अमरसिंह से पिट कर संसार-चन्द ने कोट-कांगड़े की शरण ली। सन् १८०५ से १८०९ तक अमर उस कोट को घेरे बैठा रहा। इस बीच नेपाल दरबार में एक हत्यामय उपद्रव हुआ, जिसका विवरण श्री ज्ञवाली ने यों दिया है—

"दामोदर पांडे के मारे जाने पर भी काठमांडू में अधिकारियों का एक दल रणबहादुर शाह के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था। सन् १८०५ ई० के प्रारम्भ में (संवत् १८६३—वैशाख शुक्ल) एक दिन रणबहादुर शाह के सौतेले भाई शेरबहादुर ने दरबार में उन्हें तलवार से मार डाला। शेरबहादुर भी वहीं तथा उसी समय मारे गये। भीमसेन थापा ने इसी मौके पद विदुर शाही, नरसिंह काजी, त्रिभुवन काजी आदि अधिकारियों ... को मार डाला। इसी झोंक में पाल्पा के राजा पृथ्वीपाल सेन भी मारे गये। पृथ्वीपाल सेन के मारे जाते ही भीमसेन थापा ने अपने पिता अमरसिंह थापा की अधीनता में पाल्पा पर चढ़ाई करने के लिए एक पल्टन भेज दी। (पादटिप्पणी—ये दूसरे अमरसिंह थापा थे तथा इनकी मृत्यु २२ अक्टूबर १८१४ ई० को पाल्पा में हुई थी।) राजराजेश्वरी ... सती हो गयीं। तदुपरान्त कनिष्ठा महारानी ललितत्रिपुरसुन्दरी देवी ने

खालियों का १८०३ में ही सतलज तक जीत लेना लिखा है। इसमें दूसरी तरफ गलती है। १८०४ के अन्त से पहले वे सतलज तक नहीं पहुँच सकते थे।

जिनके साथ रणबहादुर शाह ने पीछे विवाह किया था, गीर्वाणयुद्ध-विक्रम शाह की नायबी ग्रहण की। प्रधान मन्त्री के पद पर भीमसेन थापा ही रह गये।" (पूर्वोक्त पृ० ३१–३३)।

इस हत्याकाण्ड को "सन् १८०५ ई० के प्रारम्भ में" रखते हुए श्री ज्ञवाली से फिर स्पष्ट चूक हुई है। संवत् १८६३ का वैशाख शुक्ल १६-४-१८०६ ई० से २-५-१८०६ ई० तक था।[२०] श्री ज्ञवाली ने वहीं वंशावलियों के जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनके अनुसार यह घटना संवत् १८६३ अथवा शकाब्द १७२८ वैशाख शुक्ल ७ गुरुवार को हुई। दोनों हिसाबों से यह ईसवी सन् १८०६ में ही पड़ती है। दूसरी तरफ, डेनियल राइट द्वारा सम्पादित नेपाल के इतिहास में लिखा है कि यह बात शनिवार वैशाख सुदि ७ नेपाल संवत् ६१७ (१८०७) को हुई। वहीं टिप्पणी में लिखा है कि ६१७ के बजाय मूल पांडुलिपि में ६२७ पाठ है।[२१] नेपाल संवत् का आरम्भ २०-१०-८७६ ई० कार्तिक शु० १ को हुआ था। यों ने० सं० में ८७८-७६ जोड़ने से ई० स० बनता है,[२२] और ६२७ ने० सं० की वैशाख सुदि सप्तमी अप्रैल १८०६ में ही थी। उक्त इतिहास के सम्पादक-अनुवादकों ने ६२७ का "संशोधन" कर जो ६१७ किया और उसे १८०७ ई० के बराबर माना, सो उनकी दुहरी गलती है। श्री ज्ञवाली द्वारा उद्धृत श्लोक में इस घटना को गुरुवार को, तथा राइट इतिहास में शनिवार को हुआ क्यों कहा है, यह समस्या बाकी रह जाती है जिसका समाधान किसी ज्योतिषी को करना चाहिए।

अमरसिंह थापा की गढ़वाल चढ़ाई की तिथि एक वर्ष पीछे और रणबहादुर की हत्या की तिथि एक वर्ष आगे कर देने की चूकें जो

२०. इस जानकारी के लिए मैं अपने विद्वान् ज्योतिषी मित्र पं० बलदेव मिश्र का अनुगृहीत हूँ।

२१. डेनियल राइट (१८७७)—पूर्वोक्त, पृ० २६४।

२२. गौ० ही० ओझा (१९१८)—भारतीय प्राचीन लिपिमाला (२य स्क०) पृ० १८१।

श्री ज्ञवाली से हुई हैं, उन्हें ठीक कर लेने से नेपालियों के पच्छिमी बढ़ाव का उनके द्वारा अंकित चित्र स्पष्टतर हो जाता है।

अब हम इस इतिहास के उन प्रश्नों और पहलुओं पर विचार करें जो इस वृत्तान्त से उपस्थित होते हैं अथवा जिन्हें दूसरे लेखकों ने भिन्न रूप में दिखाया है।

(१) ऊपर घटनाओं का क्रम जिस रूप में खुला है उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि रणबहादुर की जेठी रानी बनारस से यह निश्चित प्रेरणा और दृढ संकल्प ले कर आई थी कि पृथ्वीनारायण की नीति को फिर से जगाते हुए नौक्स को नेपाल से निकालना तथा हिमाचल-दिग्विजय का बाकी कार्य पूरा करना है, और कि उसने आते ही उस नीति के अनुसार कार्य आरम्भ कर दिया था। बनारस में रणबहादुर की मंडली में वे विचार कैसे पनपे यह महत्त्व का प्रश्न है जिसपर प्रकाश पड़ना चाहिए।

किन्तु ओल्डफील्ड का कहना है कि बनारस में जेठी रानी के साथ रणबहादुर का बर्त्ताव इतना बुरा था कि वह पति के अत्याचारों से बचने को तथा राजस्थानीय बनने के अपने अधिकार को पाने की दृष्टि से ही नेपाल लौटी (ओल्फील्ड—१८८०—पूर्वोक्त, १ पृ० २८६–८७)। पति से त्यक्ता और अत्याचारों से पीडित एक अकेली स्त्री दामोदर पांडे जैसे प्रबल मन्त्री से नेपाल का राज छीनने को चल पड़ी और जीत गई, यह कल्पना डा० ओल्डफील्ड के ही अनुरूप थी। ज्ञवालीजी ने इसे नहीं स्वीकार किया, पर "अत्याचारों को सहने में असमर्थ हो राज-राजेश्वरी ··· काशी से नेपाल की ओर गयीं" इतनी बात मान ली है (पूर्वोक्त पृ० २७)। यदि यह बात केवल ओल्डफील्ड के आधार पर लिखी गई है तो इसका कुछ भी मूल्य नहीं है। पादटिप्पणी में ज्ञवाली स्वयं लिखते हैं—"वंशावलियों में यह लिखा हुआ है कि राजराजेश्वरी को रणबहादुरशाह ने भेजा। यह बात असम्भव भी नहीं है।" न केवल यह असम्भव नहीं है, किन्तु यही पक्की बात है। प्रो० सिल्व्याँ लेवी का

सुझाव है कि जेठी रानी जब बनारस से नेपाल की ओर बढ़ी तब दामोदर पांडे ने दिखावे को उसके विरुद्ध सेना भेजी, पर भीतर से वह उससे मिला हुआ था। यदि ऐसा होता तो रानी के मकवानपुर पहुँचते ही वह अंग्रेज़ों से सन्धि क्यों कर लेता और रानी के काठमांडू पहुँचने पर वह सन्धि रद्द क्यों की जाती ? घटनाओं की जो व्याख्या ऊपर की गई है उसके सिवाय दूसरी कोई व्याख्या नहीं हो सकती।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि बड़ी रानी कौन थी और रणबहादुर की मृत्यु के बाद कौन सती हुई। व्यक्तिगत चरित के इन तथ्यों से नेपाल के राष्ट्रीय इतिहास पर प्रकाश पड़ सकता है। बड़ी रानी गुल्मी के राजा की बेटी थी, पति के साथ बनारस गई थी और फरवरी १८०३ में लौट कर राजस्थानीय बनी, इन बातों पर सब की सहमति है। ज्ञवाली जी ने उसका नाम राजराजेश्वरी निश्चित किया है और साथ ही यह भी कि वह पति की मृत्यु बाद सती हो गई। इसके पक्ष में उन्होंने पशुपतिनाथ मन्दिर में स्थापित उसकी मूर्त्ति पर खुदा लेख तथा वंशावलियों के श्लोक उद्धृत किये हैं (पूर्वोक्त पृ० ३२–३३) जिनमें 'राजराजेश्वरी' के सती होने का स्पष्ट उल्लेख है। दूसरी तरफ ओल्डफील्ड ने और उनका अनुसरण करते हुए प्रो० सिल्वाँ लेवी ने भी यह माना है कि रणबहादुर की मृत्यु के बाद से १८३२ तक राजस्थानीय रहने वाली रानी ललित-त्रिपुरसुन्दरी ही बड़ी रानी थी, और कि रणबहादुर के मारे जाने पर भीमसेन थापा ने छोटी रानी को सती होने को बाधित किया था जिससे वह कोई झगड़ा खड़ा न कर पाय (ओल्ड०—पूर्वोक्त, पृ० २८४–८६, २६६–६७; लेवी—पूर्वोक्त, पृ० २८१–८४)। किन्तु ओल्डफील्ड ने अपनी बात को स्वयं काटा है, बड़ी रानी को एक बार गुल्मी राजा की बेटी कहने (पृ० २८४) के बाद त्रिपुरसुन्दरी को किसी थापा सरदार की बेटी बताया है (पृ० २६६)। काठमांडू से पाटन के रास्ते पर त्रिपुरेश्वर मन्दिर के द्वार के सामने नन्दी वाले स्तम्भ पर संवत् १८७८ (१८२१ ई०) का संस्कृत अभिलेख है जिसमें ललितत्रिपुरसुन्दरीदेवी को रणबहादुर की

पट्टराज्ञी कहा है ।[२३] किन्तु पटरानी जेठी रानी ही हो यह आवश्यक नहीं है। डेनियल राइट द्वारा सम्पादित इतिहास में ललितत्रिपुरसुन्दरी को स्पष्ट रूप से छोटी रानी कहा है (पूर्वोक्त पृ० २८३)। यह सब देखते हुए इस विषय में श्री ज्ञवाली की स्थापनाओं को ही ठीक मानना चाहिए। तो भी इसे और स्पष्ट किया जाना चाहिए, विशेष कर दूसरी रानी सुवर्णप्रभा के पिछले चरित पर प्रकाश पड़ना चाहिए।

(३) गोरखाली राज्य-विस्तार का घटनाक्रम स्पष्ट निश्चित है, और वह इस प्रकार—

१७६५–६६ नेपाल दून का जीता जाना,
१७७०–७४ सप्तकौशिकी विजय,
१७७५–८६ सप्तगण्डकी-विजय (पाल्पा छोड़ कर),
१७८६–८६ घाघराक्षेत्र-विजय (जुमला छोड़ कर),
१७६० कुमाऊँ-विजय,
१७६१ गढ़वाल पर अधिपत्य,
१७६४ काशीपुर तराई में किलपुरी गढ़ का लिया जाना, कुमाउँनी राजवंश के प्रतिरोध का अन्त,
१७६६ जुमला-विजय,
१८०३ गढ़वाल और देहरादून दखल किया जाना,
जनवरी १८०४ खुरबुड़े की लड़ाई, गढ़वाली राजवंश का प्रतिरोध समाप्त,
१८०४ पच्छिमी हिमाचल (जमना से सतलज) का विजय,
१८०५–६ सतलज से रावी तक आधिपत्य, कोट कांगड़े का घेरा,
१८०६ पाल्पा विजय,
१८०६ सतलज के बाएँ तरफ़ वापसी।

---

२३. भगवानलाल इन्द्रजी और गेओर्ग बिउह्लेर (१८८०)—ट्वेंटीथ्री इन्स्क्रिप्शन्स फ्रौम नेपाल (नेपाल के २३ अभिलेख) पृ० ३४।

त्रिपुरेश्वर मन्दिर के संवत् १८७८ वाले पूर्वोक्त अभिलेख में रणबहादुर का **शतरुद्रास्वर्णवतीतरङ्गिणीपर्यन्तवारुणैन्द्रदिग्भाग-साम्राज्य**... अर्थात् पच्छिम तरफ शतरुद्रा और पूरब तरफ स्वर्णवती नदी तक साम्राज्य कहा है। उस लेख के सम्पादक-अनुवादकों ने **स्वर्णवती** का कुछ अर्थ नहीं किया, **शतरुद्रा** के आगे कोष्ठ में **काली** लिख कर प्रश्न का चिह्न बना दिया था। पं० भगवानलाल इन्द्रजी १८ सौ सत्तरों में नेपाल गये, तब नेपाल राज्य की सीमा काली तक थी, परन्तु रणबहादुर का साम्राज्य सतलज तक था और **शतरुद्रा** स्पष्ट ही **सतलज** का पंडिताऊ संस्कृत रूपान्तर है, **स्वर्णवती** उसी प्रकार **कनकाई** का अनुवाद।

गोरखाली राज्यविस्तार के घटनाक्रम के बारे में ज्ञवालीजी से तो थोड़ी सी चूक हुई है, पर दूसरे लेखकों ने बड़ी-बड़ी भूलें की हैं।

डा० ओल्डफील्ड ने लिखा है कि कप्तान नौक्स को लौर्ड वेलेस्ली ने जब नेपाल भेजा तब तक—अर्थात् १८०२ तक—नेपालियों ने कुमाऊँ-विजय पूरा न किया था, डोटी को भी न जीता था, और कि रणबहादुर की मृत्यु के बाद—अर्थात् अप्रैल १८०६ के बाद—अमरसिंह थापा ने कुमाऊँ-गढ़वाल जीते और गोरखाली लगभग सतलज के तट तक पहुँच गये (पूर्वोक्त, पृ० २८८, २६७)। यह उस लेखक की आकस्मिक चूक नहीं, जान बूझ कर इतिहास को झुठलाने की चेष्टा थी। ध्यान रहे कि ओल्डफील्ड के ग्रन्थ का नाम है नेपाल के रेखाचित्र, और चित्रकार-कलाकार कल्पना किया ही करते हैं। अच्छे कलाकार इतिहास के तथ्यों को ज्यों का त्यों रखते हुए उनके बीच जहाँ अवकाश रहता है वहाँ उनके अनुकूल अपनी कल्पना से रंग भरते हैं, पर व्यापारी कलाकार अपने ग्राहकों की माँग के अनुसार तथ्यों को तोड़ते मरोड़ते भी हैं। ओल्डफील्ड ने अपना ग्रन्थ ऐसे युग में लिखा जब नेपाल परास्त होने के बाद पस्त पड़ा था और अंग्रेज साम्राज्यलिप्सु उसकी वह दशा देख उसके विदोहन में एक पग

आगे बढ़ने—गोरखाली जनशक्ति का अपने साम्राज्य की सेवा के लिए भाड़ैत सेना रूप में उपयोग करने—को लालायित हो रहे थे। उसके लिए अंग्रेजों को नेपाल में फिर किसी प्रकार हस्तक्षेप करना होता, जिसे उचित सिद्ध करने के लिए पहले गोरखालियों के विरुद्ध घृणा-प्रचार की आवश्यकता थी। ओल्डफील्ड ने अपने रेखाचित्र उसी उद्देश से खींचे। नेपाल की भूमि और जनता के ठीक वर्णन के बाद उसमें हाथियों और गैंडों के शिकार के और फिर इतिहास के रेखा-चित्र हैं, जिनका पर्यवसान जंगबहादुर की दिनचर्या पर होता है! गोरखालियों का समूचा इतिहास षड्यन्त्रों और आपसी मारकाट की कहानी मात्र है, और वे जीवट वाले जंगली अंग्रेजी नियन्त्रण से ही सभ्य बन सकते हैं यह दिखाना उस चित्रकार का प्रयोजन था। इसलिए उसे ऐसा चित्र खींचना था कि सिंहप्रताप की मृत्यु के बाद से नेपाल के राजदरबार में आपसी झगड़ों और मारकाट के सिवाय कुछ न हो रहा था; उसके बाद केवल १८०६ से १८१४ तक की अवधि ऐसी रही जब कि भीमसेन थापा के प्रधान मन्त्री पद पर सुप्रतिष्ठित रहने से शान्ति और व्यवस्था बनी रही, इसलिए नेपाली राज्य का फैलाव हो सकता था तो उसी अवधि में, और यदि ऐतिहासिक तथ्य इससे भिन्न हों तो साम्राज्य के हित में उन्हें तोड़ने मरोड़ने में क्या हर्ज था! दुनिया जानती थी कि अमरसिंह थापा ब्यासा के उस पार कोट कांगड़े को घेर कर पाँच बरस पड़ा रहा था, पर ओल्डफील्ड ने माना कि हाथ की सफाई से दुनिया की आँखों में धूल डाल उसे भुलाया जा सकता है और गोरखालियों की पहुँच की अन्तिम सीमा सतलज के "लगभग" तक परिमित की जा सकती है!

आचार्य सिल्व्याँ लेवी १७६४ में ही गढ़वाल को नेपाल का प्रान्त बना कर नेपाल की सीमा कश्मीर तक पहुँचा चुके थे। अब वे कहते हैं कि भीमसेन थापा ने प्रधान मन्त्री बनने के बाद "अपने स्वामी पर नये विजयों से प्रभाव डालना उचित माना", अपने पिता अमरसिंह को

पाल्पा जीतने का भार सौंपा, पाल्पा ले कर उसी अमरसिंह ने पच्छिम अभियान जारी रक्खा, गढ़वाल पर फिर कब्जा किया, कांगड़े को त्रस्त किया ···। आगे १८१५ में वे भीमसेन के पिता अमरसिंह को ही, जो १८१४ में स्वर्ग सिधार चुका था, औक्टरलोनी से लड़ाते हैं ! (पूर्वोक्त, पृ० २८५, २८८)। सब गोलमाल !

(४) १८०६ का हत्याकाण्ड गोरखाली राजनीतिक जीवन के एक बड़े रोग का सूचक था। आगे चल कर अंग्रेज़ों ने गोरखालियों के इसी रोग को उभाड़ कर उन्हें नीचे पटका। वैसा करने के लिए उन्होंने गोरखाली इतिहास को काफी तोड़ा मरोड़ा भी जैसा कि हमने अभी देखा है। इसलिए वह रोग ठीक कैसा और कितना था इसको सावधानी से जाँचने और उसके लिए तथ्यों के ठीक ठीक निर्धारण की आवश्यकता है। दामोदर पांडे योग्य कर्मठ और वीर पुरुष था, उसने और उसके भाई जगजीत ने राजेन्द्रलक्ष्मी और बहादुर के शासनों में गोरखाली राज्य को दूर दूर तक फैलाने में बड़ा भाग लिया था। उसके अंग्रेज़ रेज़िडेंट को बुलाने और रणबहादुर का सामना करने पर उसे कैद किया गया। बाद में उसकी हत्या और सम्पत्ति की जब्ती की गई जो स्पष्टतः क्रूरतापूर्ण कार्य थे। ओल्डफील्ड का कहना है (पृ० २६४-६५) कि रणबहादुर की उग्र प्रकृति के कारण अनेक सरदारों ने जिनका दामोदर से सम्बन्ध था इस डर से कि उनसे बदला न लिया जाय शेरबहादुर को रणबहादुर का निपटारा करने के षड्यन्त्र में लिप्त किया। रण को षड्यन्त्र का पता चला; उसने भीमसेन की सलाह से शेर को बुला कर उसके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह राजधानी छोड़ पच्छिम वाली सेना में चला जाय। वह प्रस्ताव तो उचित ही था। पर शेर ने अपमानकारी उत्तर दिया, जिसपर रण ने उसे मारने का आदेश दिया, शेर ने तलवार खींच रण को मार डाला इत्यादि।

जैसा कि हमने देखा ओल्डफ़ील्ड ने यह बताने का यत्न किया है कि नेपालियों का समूचा ध्यान इस समय इस आपसी मारकाट में ही

व्यस्त था, पर वस्तुतः यह बात नहीं थी। अंग्रेज राजनीतिकों और लेखकों ने इसे थापों और पांडों के प्रथम संघर्ष के रूप में और बाद के समूचे गोरखाली इतिहास को थापा-पांडे-संघर्ष-परम्परा के रूप में चित्रित किया है। ज्ञवालीजी ने इस हत्याकाण्ड पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—मेरा विचार है कि भीमसेन थापा के नेतृत्व में थापा लोगों को जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ था वही इस षड्यन्त्र का प्रधान कारण था (पूर्वोक्त, पृ० ३२)। यह बात ठीक हो सकती है, पर इस हंगामे में मारे गये प्रमुख व्यक्तियों में कम से कम एक—नरसिंह काजी—थापा भी था। यह हत्याकाण्ड बुरा तो था ही। पर यह कहाँ तक व्यक्तिगत या जात-पाँत के द्वेष, असहिष्णुता, अधिकार-लिप्सा और उग्रता के कारण हुआ, और कहाँ तक इसके भीतर विचारों और नीतियों का संघर्ष था, अथवा अंशतः अंग्रेजी कूटनीति का परोक्ष हाथ भी तो नहीं था, यह सावधानी से जाँचने की आवश्यकता है।

५. भीमसेन थापा की पेशवाई—पूर्वांश

(क) भीमसेन की प्रकृति और विचार-आदर्श

सन् १८०४ से १८३७ तक भीमसेन थापा नेपाल का मन्त्रिनायक (प्रधान मन्त्री) रहा। इसी अवधि में गोरखाली राज्य गढ़वाल से कांगड़े तक फैला और नेपाल का अंग्रेज़ों से युद्ध हुआ। भीमसेन बनारस से ही रणबहादुर के साथ था। हमने देखा है कि सन् १८०३ में राजराजेश्वरी के नेपाल जाने से नेपाल के इतिहास में जो नई लहर चली उसकी प्रेरणा बनारस से आई थी। वह प्रकटतः भीमसेन की ही प्रेरणा थी। यों १८०३ से ही नेपाल पर भीमसेन का प्रभाव आरम्भ हो गया था। गोरखाली इतिहास में पृथ्वीनारायण के सिवाय किसी दूसरे राजा रानी या मन्त्री ने इतने दीर्घ काल तक अपने राष्ट्र की बागडोर नहीं थामी और न किसी दूसरे के शासन में इतनी बड़ी घटनाएँ घटीं। इसलिए गोरखाली इतिहास के इस लम्बे और मार्मिक युग को समझने

के लिए इस पुरुष भीमसेन को पहचानना आवश्यक है।

श्री ग्रवाली ने आंग्ल-नेपाल-युद्ध के प्रसंग में भीमसेन के स्वभाव और विचारों की एक-दो झाँकियाँ दीं हैं। अंग्रेज़ों से विवाद शुरू होने पर "नेपाल के अनुभवी राजकर्मचारी ... सभी युद्ध के विरुद्ध थे" और झुक कर समझौता कर लेना चाहते थे। श्री ग्रवाली प्रश्न उठाते हैं—"तब ऐसे अनुभवी नेताओं की बात नेपाल ने क्यों नहीं सुनी?" इसका उत्तर वे देते हैं—"भीमसेन थापा नेपाल के प्रधान शासक थे तथा युद्ध के विषय में उनके विचार दूसरे ही थे। वे विचार उन्हीं के शब्दों में यहाँ अनुवादित किये जाते हैं—'हुजूर तथा हुजूर के पूर्व पुरुषों के सौभाग्य से आज तक किसी ने नेपाल का सामना नहीं किया है। चीन देश के वासियों ने एक बार हम लोगों के साथ लड़ाई करने की इच्छा की थी, पर उन्हें सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अंगरेज लोग किस तरह पहाड़ के भीतर प्रवेश कर सकेंगे? हुजूर के प्रताप से हम लोग ५२ लाख सिपाही उनसे युद्ध करेंगे और उनको (देश से) निकाल ही छोड़ेंगे। मनुष्यनिर्मित भरतपुर का छोटा सा किला था। अंगरेज लोग उसे भी न जीत सके। इतना ही नहीं, उन्हें उसे जीतने की आशा भी छोड़ देनी पड़ी। हमारे पहाड़ों को तो स्वयं भगवान ने अपने हाथों बनाया है और इन्हें कोई भी नहीं जीत सकता। इसलिए मेरी राय है कि युद्ध अवश्य किया जाय। पीछे अपने अनुकूल शर्तों पर सन्धि भी कर लेने में कोई हर्ज नहीं होगा।'...."

श्री ग्रवाली इसपर आलोचना करते हुए कहते हैं—"चढ़ती जवानी वाले भीमसेन थापा को यह उत्तर शोभा ही प्रदान करता है। उनका यह विचार सुन कर कि सम्पूर्ण नेपाली जाति सिपाही बन तथा युद्ध में हाथ बँटा अपनी पहाड़ी मातृभूमि में शत्रुओं को कदापि प्रवेश नहीं करने देगी, उस समय के तरुण नेपाल के हृदय में किस प्रकार खून दौड़ने लगा होगा ...। भीमसेन थापा का युवक हृदय विघ्नबाधाओं पर विचार

करने के लिए तैयार नहीं था। ... उनके विचारों में दूरदर्शिता राजनीतिज्ञता तथा वास्तविक कल्पना का अभाव था। वे केवल युवावस्था के उत्साह तेज और उमंग से ही ओतप्रोत थे।...

"भीमसेन थापा को अंगरेजों की शक्ति का अनुभव तथा तत्कालीन भारतीय राजनीति का प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं था। रणबहादुर शाह के साथ वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक कई वर्षों तक काशी में रहे थे। उसी अवधि में उन्हें जो कुछ अनुभव प्राप्त हुआ उसी के आधार पर वे बातें करते थे। मरहट्टों के तत्कालीन ब्रिटिश-विरोधी भाव का उनके ऊपर काफी प्रभाव पड़ा था। इसके अतिरिक्त उनके काठमांडु लौटने के दूसरे वर्ष अंगरेज लोग भरतपुर का किला दखल करने में असफल रहे, अतः अंगरेजों की शक्ति के बारे में उनका पहले से जो विचार था वह और भी पुष्ट हो गया।...

"भीमसेन थापा के तरुण हृदय में कोई एक महान् कार्य्य कर अपने देश के इतिहास में अपना नाम अमर बना लेने की अभिलाषा ...। इन्हीं कारणों से वे चढ़ाई के लिए उत्सुक हुए होंगे।"

अग्रेज-नेपाली युद्ध का इतिहास लिखने वाले हेन्री प्रिंसेप ने लिखा था कि बुटवल और शिवराज के जिन थानों को ले कर वह युद्ध शुरू हुआ उनसे एक लाख वार्षिक आमदनी थी और भीमसेन को "अपनी मान-रक्षा तथा भविष्य में और बड़े बनने की चेष्टा के लिए इन रुपयों की बड़ी आवश्यकता थी", इसलिए उसने युद्ध की सलाह दी। आर्थिक लाभ की बात को मुख्य मानना अंग्रेज के लिए स्वाभाविक है और हम यह भी देखेंगे कि यह कमीनी कल्पना भारत में अंग्रेजों के बर्ताव के ठीक अनुरूप थी। इसका उल्लेख कर श्री ज्ञवाली कहते हैं—"यद्यपि भीमसेन थापा अधिकार चाहते थे तथापि वे वार्षिक एक लाख की छोटी रकम के लिए स्वदेश का सर्वनाश करने के लिए तैय्यार होनेवाले नहीं थे— यह उनके सुदीर्घ शासन से प्रमाणित होता है। ... नेपाल के साथ युद्ध छिड़ जाने पर सिक्ख, मरहट्टे और अन्य लोग अंगरेजों से युद्ध नहीं

करेंगे यह कहना कठिन था। भीमसेन थापा के मन में यही तर्क प्रबल हो उठा था। इसी कारण वे युद्ध करने के लिए अग्रसर हुए थे।"

तो भी, "बुटवल तथा शिवराज के लिए काली नदी से सतलज तक हाल ही में विजितप्राय राज्य के भविष्य को सन्देहमय बनाना तथा साथ ही साथ पाल्पा, तनहुँ, मकवानपुर, किरात और लिम्बुवान प्रदेश में भी भयानक स्थिति उत्पन्न कर देना कदापि दूरदर्शितापूर्ण राजनीतिज्ञता का काम नहीं था।" (पूर्वोक्त, पृ० ७५–८१)।

मराठों की भावनाओं से भीमसेन प्रभावित हुआ था यह महत्त्व की सूचना है। यह भी सम्भव है कि बनारस में रहते हुए वह किन्हीं मनस्वी मराठों के सम्पर्क में आया हो। इस बारे में यदि कुछ निश्चित जानकारी मिल सके तो बड़े काम की होगी। पर ध्यान देने की बात है कि ठीक उसके बनारस-वास के काल में ही मराठा साम्राज्य की चरम अधोगति हो रही थी। विशेष कर सन् १८०३ में मराठों ने अंग्रेजों के हाथों भारत के विभिन्न भागों में बुरी तरह मार खाई थी और उनका कावेरी से सतलज और गुजरात से उड़ीसा तक फैला हुआ सारा साम्राज्य उस एक वर्ष में ही अंग्रेज़ों के पैरों तले आ गया था। भरुच कटक असीरगढ़ दिल्ली आगरा जैसे उनके बड़े बड़े गढ़ कागज़ के खिलौनों की तरह मानो एक फूँक से उड़ गये थे! "मेरी जान कहीं देखा कम्पनी-निशान! बाँके लेक ने मार लिओ हिन्दुस्तान! ··· तोप की दंकार से भागे हिन्दु-मुसलमान! ··· गुदामी फायर बोलते, निकल जावे औसान!" ऐसे लोकगीत उत्तर भारत में गाये जा रहे थे।[२४]

---

२४. फैनी पार्क्स (१८५०)—वांडरिंग्स् औफ ए पिल्ग्रिम इन सर्च औफ् दि पिक्चरस्क (सुन्दर चित्रों की तलाश में यात्री का भटकना) १ पृ० १३४। गुदामी फायर = गौड डैम यू, फायर! (खुदा तुम्हें लानत दे, लगे गोली!)। श्रीमती पार्क्स ने कानपुर प्रदेश में यह गीत सुना प्रतीत होता है, पर ठीक कहाँ किससे सुना सो नहीं लिखा। जिस भारतीय समाज में वे हिलती-मिलती रहीं वह प्रायः मुंशियों खानसामों आदि का था। बहुत सम्भवतः यह गीत अंग्रेज़ों के किसी मुंशी ने ही रचा था।

उस वातावरण में जिसका दिल दहला न हो, प्रत्युत भरतपुर के तिनके का सहारा पकड़ उलटा लड़ने को डटा हो, जिसकी हिम्मत बुझने के बजाय प्रतिरोध की भावना जगी हो, वह निश्चय से कोई अदम्य तेजस्वी स्वतन्त्रवृत्ति उन्नतचेता असाधारण पुरुष था; उसे केवल मस्त जवान कह कर उसके कथनों और कार्यों की व्याख्या नहीं की जा सकती। भीमसेन के पिछले चरित से इसकी पूरी पुष्टि होती है।

जहाँ तक आंग्ल-नेपाल-युद्ध का प्रश्न है, उसपर हम अगले परिच्छेद में विचार करेंगे।

(ख) गोरखालियों का नये सेना-संघटन को अपनाना

अठारहवीं शताब्दी में युरोपियों के नये सेना-संघटन से सामना पड़ने पर भारत के लोगों ने किस प्रकार बर्ताव किया इसपर हमने विचार किया है (ऊपर पृ० १५७–६१)। उस प्रसंग में हमने भारत की मुख्य शक्ति मुगल-मराठा साम्राज्य के सञ्चालकों के बर्ताव पर विशेष ध्यान दिया, पर साथ ही नेपाल और पंजाब की नई सेनाओं के इतिहास पर ध्यान देने की आवश्यकता भी देखी है (ऊपर पृ० १६०)। गोरखाली इतिहास के इस पहलू का दुहरा महत्त्व है।

एक तो, १८१४–१६ के आंग्ल-नेपाल युद्ध में पहाड़ों के भीतर नये ढंग की सेना से लड़ने में गोरखाली अंग्रेजों से किसी तरह कम योग्य सिद्ध नहीं हुए। गोरखालियों के पास तोपें न थीं, पर अंग्रेज भी अपनी भारी तोपें पहाड़ में प्रायः नहीं ले जा पाये, और उनकी छोटी तोपें गोरखाली अड्डों को तोड़ न पातीं। यों अंग्रेजों की तोपों वाली विशेषता गायब हो जाने पर बाकी अंशों में वे किसी तरह गोरखालियों से अधिक योग्य सिद्ध नहीं हुए। गोरखाली पैदल सेना का नियमानुवर्त्तन और उसके नायकों द्वारा उसका संचालन किसी अंश में अंग्रेजी सेना के नियमानुवर्त्तन या अंग्रेज सेनापतियों के संचालन से घटिया न था। अमरसिंह थापा ने जिस जागरूकता से अपनी सीमा की नाकेबन्दी की, कोई योग्य से योग्य सेनापति भी उससे बेहतर कुछ न करता। प्रश्न यह होता है कि

गोरखालियों ने १८१४ से पहले कब और कैसे नये ढंग का सेना-संगठन अपना लिया और सेना-संचालन सीख लिया।

दूसरे, पंजाब का इतिहास भी इस प्रश्न को हठात् हमारे सामने लाता है। सन् १८०६ तक अर्थात् रणजीतसिंह के पंजाब का राजा बनने तक सिक्खों की सेना पुराने ढंग की, मुख्यतः सवारों की, थी। उसके बाद से रणजीत ने नये ढंग की पदाति-सेना भी तैयार थी। रणजीत का ध्यान इस ओर कैसे गया और कैसे उसने यह कार्य सिद्ध किया इसकी काफ़ी तफ़सील प्राप्त है।

सन् १८०५ के जब यशवन्तराव होलकर का पीछा करता हुआ लेक पंजाब में ब्यासा तक बढ़ आया तब रणजीतसिंह भेस बदल कर उसकी छावनी में यह देखने गया था कि मराठा साम्राज्य की सेनाओं को हराने वाले अंग्रेज़ों का सेना-संघटन कैसा है। सन् १८०६ में मेटकाफ़ दूत बन कर रणजीतसिंह के पास आया था। अमृतसर में उसने सिक्खों को चिढ़ाने के लिए अपने अंगरक्षक मुस्लिम सिपाहियों से गोहत्या करवाई तब अकालियों ने उनपर आक्रमण किया। जैसी सुशृंखला से उन सिपाहियों ने उस आक्रमण को विफल किया, उससे रणजीत पर बहुत प्रभाव पड़ा। तब से उसने नियमित पदाति-सेना खड़ी करने की ओर ध्यान दिया। सन् १८१४ में गोरखालियों ने अंग्रेज़ों का जैसे डट कर मुकाबला किया, उसे देख रणजीतसिंह का विश्वास नई शैली के नियन्त्रण पर और भी बढ़ गया। आंग्ल-नेपाल युद्ध के बाद उसने अपनी सेना में गोरखाली भी भरती किये। १८२३ के सिक्ख-अफ़गान युद्ध में नौशेरा पर जब अफ़गानों की बाढ़ के आगे पंजाबी सेना डगमगा गई, तब भी रणजीत के गोरखाली सैनिकों की पाँतें चट्टान की तरह अटल रहीं।[२५] ये सूचनाएँ पते की हैं, और इनसे प्रकट है कि गोरखाली १८१४ से पहले ही नये ढंग की

---

२५. जोसफ डेवी कनिंगहाम (१८४९)—हिस्टरी ऑफ दि सिख्स (सिक्खों का इतिहास), पृ० १७२, १८३-८४।

पदाति सेनाएँ इतनी अच्छी संघटित कर चुके थे कि उनसे रणजीतसिंह को प्रेरणा मिल सकती थी। १७४२ तक जिस सप्तगण्डकी और नेपाल के लोग बन्दूकों का प्रयोग भी न करते थे, १८१४ तक वे बन्दूक से लड़ने के शिल्प में भारत के दूसरे सब लोगों से आगे निकल गये थे। सो कैसे हो गया?

यह प्रश्न कनिंगहाम के उक्त जानकारी देने के बाद से अर्थात् आज शताब्दी से अधिक काल से उपस्थित है, पर आज तक भारतीय इतिहास के किसी अनुशीलक ने इसपर ध्यान नहीं दिया। श्री सूर्यविक्रम ज्ञवाली ने अपने इतिहास के जिस अंश पर श्रम किया है यह प्रश्न उसके भीतर आता है। पर उन्होंने भी इसे नहीं देखा। मैंने इसे पूरा सुलझा लिया हो सो बात तो नहीं है, पर इसके समाधान की जो दिशा टटोल पाया हूँ सो इस प्रकार है।

राइट द्वारा सम्पादित नेपाल के इतिहास में गीर्वाणयुद्धविक्रम शाह के प्रशासन का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसने भीमसेन थापा को मन्त्रिनायक नियत किया और उसे 'जनरल' पद दिया। भीमसेन ने नगर में सड़कें बनवाईं और एक कोट बनवाया जिसे कम्पू कहा। उसमें सेना जमा होती और उसके पत्थरकले (बन्दूकें) रक्खे जाते थे। जेठ सुदि १० नेपाल-संवत् ९३० (१८०९ ई०) के बाद थम्बाहिलखेल में भीमसेन ने बारूदखाना बनवाया। गीर्वाणयुद्धविक्रम के बेटे राजेन्द्र-विक्रम के प्रशासन में जनरल भीमसेन ने मालथली में छावनी बनवाई। (पूर्वोक्त, पृ० २६४–६६)।

गीर्वाणयुद्धविक्रम की मृत्यु अगहन सुदि १ नेपाल-संवत् ९३८ को अर्थात् नवम्बर १८१६ ई० में हुई। उसका राज्यकाल वहाँ २० वर्ष दिया है, अर्थात् रणबहादुर शाह ने जब उसका अभिषेक कर स्वयं संन्यास लिया तब से उसका प्रशासन गिना है। यों भीमसेन द्वारा कम्पू बनवाने की बात रणबहादुर की मृत्यु से पहले की अर्थात् १८०४–५ ई० की प्रतीत होती है, क्योंकि तब भी गीर्वाण का प्रशासन चल रहा था।

मेरा निवेदन है कि यह कम्पू, बारूदखाना और छावनी बनवाने की बात नई शैली की पदाति-सेना संघटित करने के प्रयत्नों की सूचक है, और कि भीमसेन थापा ने बनारस से आते ही ये प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे।[२६] बनारस से जो विचार ले कर वह आया था उनमें प्रकटतः यह भी था।

१८१६ में काठमाण्डू में अंग्रेज़ी रेज़िडेंसी स्थापित होने के बाद जो अंग्रेज़ नेपाल आये उन्होंने स्पष्ट देखा कि नेपाली सेना को शक्त और साधन-सम्पन्न बनाये रखने की ओर भीमसेन का कितना ध्यान था और कि उस लक्ष्य को उसने कैसी सफलता से प्राप्त किया था। उसकी चर्चा आगे आयगी। अंग्रेज निरीक्षकों के उन कथनों को जब हम नेपाली इतिहास-लेखक के उक्त कथनों के साथ मिलाते हैं तथा साथ ही इस बात पर ध्यान देते हैं कि १८१४ के पहले ही नेपाली सेना नये ढंग से संघटित हो चुकी और नये ढंग से लड़ना सीख चुकी थी, तब प्रकट होता है कि यह महान् कार्य भीमसेन द्वारा १८०४ में ही आरम्भ किया गया था।

(ग) अमरसिंह का कांगड़े से हटना

यशवन्तराव होलकर जब १८०५ में सिक्ख सरदारों को विदेशी अंग्रेज़ों के विरुद्ध साझे मोर्चे में सम्मिलत होने को उकसाने आया था, तब तक रणजीतसिंह पंजाब के अनेक सरदारों में से एक था, और उसके प्रभाव से ही दूसरे सिक्खों ने भी यशवन्त की बात न सुनी थी। उस वर्ष के अन्त में जब यशवन्त ने थक कर अंग्रेज़ों से सन्धि कर ली तब यह प्रश्न आया कि जमना से सतलज तक का प्रदेश किसके आधिपत्य में है। तीन बरस बाद जब अंग्रेज़ों ने रणजीत को आँखें दिखाते हुए कहा कि सतलज के पूरब अपना राज्य नहीं फैला सकोगे, तब रणजीत ने शिन्दे और होलकर से बात शुरू की कि हम मिल कर अंग्रेज़ों

२६. ज० ज० विद्यालंकार (१९४०)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ५२३; ४र्थ संस्क० (१९५२) पृ० ५८१-८२, ६०५।

से लड़ें ! अन्त में अपने को विवश मानते हुए २५–४–१८०६ को उसने अंग्रेजों की माँग मानते हुए उनसे सन्धि कर ली।

हमने देखा है कि गोरखालियों ने भी १८०५ में सतलज लाँघी थी। अमरसिंह थापा ने संसारचन्द को कोट-कांगड़े में बन्द कर दिया तो कश्मीर सीमा तक के हिमाचल के सब पहाड़ी-भाषी प्रदेश नेपाल के अधीन हो गये। संसारचन्द ने रणजीतसिंह से सहायता माँगी। रणजीत स्थिति को देखने ज्वालामुखी आया। उसने वहाँ अमरसिंह से भी मीठी मीठी बातें कीं। अमर ने उससे प्रस्ताव किया कि गोरखाली और सिक्ख मिल कर कश्मीर जीत लें। सन् १८०६ में अंग्रेज़ों से सन्धि करने के बाद अपने को उधर से निश्चिन्त मानते हुए रणजीत फिर कांगड़े की तरफ आया और उसने अमरसिंह को बहका कर २४–८–१८०६ को अपनी सेना कोट-कांगड़े में डाल ली। अमर को सतलज पच्छिम का सारा प्रदेश छोड़ना पड़ा।

रणजीतसिंह के छलपूर्ण बर्ताव से अमरसिंह को ऐसी खीझ हुई कि उसने लुधियाना-स्थित अंग्रेज अधिकारी औक्टरलोनी से प्रस्ताव किया कि गोरखाली और अंग्रेज मिल कर अटक तक जीत लें, पहाड़ गोरखाली ले लें और मैदान अंग्रेज ! रणजीतसिंह को उनकी बातचीत का पता लगा तो वह भी घबड़ाया और उसने भी अंग्रेजों से कहा कि उसे गोरखालियों से लड़ने के लिए सतलज पार करने की इजाज़त दी जाय। श्री ज्ञवाली लिखते हैं—"इसके उत्तर में गवर्नर-जेनरल ने सन् १८११ ई० में उन्हें यह लिखा कि आपको सतलुज पार कर नेपालियों के साथ युद्ध करने के लिए जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यदि नेपाली लोग पहाड़ से सरहिन्द के मैदान में उतरेंगे तो हम ही लोग उनसे युद्ध कर आपकी सहायता करेंगे" (पूर्वोक्त पृ० ५५)।

पंजाबी इतिहास के इस प्रसंग को समझने में श्री ज्ञवाली से थोड़ी चूक हुई है। वास्तव में अंग्रेज़ों की ओर से रणजीत को यह कहा गया था (१) कि वह गोरखालियों से लड़ने के लिए पहाड़ में सतलज लाँघ

सकता है; (२) कि यदि गोरखाली सरहिंद मैदान में उतरेंगे तो रणजीत को अंग्रेज़ों से भी सहायता मिल सकेगी, अर्थात् सतलज पूरब प्रदेश में रणजीत के १८०६ से पहले के जीते हुए जो इलाके थे, वे उस प्रदेश के अन्य सरदारों के इलाकों की तरह अंग्रेज़ों के रक्षित होने से अंग्रेज़ उनकी रक्षा में उसकी सहायता करेंगे, पर उसे स्वयं भी उनकी रक्षा करनी होगी; और (३) कि सतलज-जमना बीच के पहाड़ों में गोरखालियों पर चोट करने के लिए उसे सरहिंद मैदान से हो कर जाने की भी इजाज़त है।[२७]

इससे प्रकट है कि रणजीतसिंह द्वारा संचालित पंजाब तथा भीमसेन और अमरसिंह थापा द्वारा संचालित नेपाल राज्य में से अंग्रेज़ किसे अधिक बुरी दृष्टि से देखते थे। रणजीतसिंह तो जैसा था सो था ही, पर अमरसिंह जैसे चरित्रवान् आदर्शनिष्ठ पुरुष को क्रोध में अपने को भूल नहीं जाना चाहिए था और विदेशी से ऐसा प्रस्ताव कभी नहीं करना चाहिए था। उस जैसे जागरूक राजनीतिज्ञ ने यह भी कैसे न देखा कि अंग्रेज़ कभी उसके प्रस्ताव को मानेंगे नहीं, नेपाल राज्य का हज़ारा तक पहुँचना सहेंगे नहीं, और मानें तो भी उनके सहयोग से नेपालियों का वहाँ तक पहुँचना उलटा स्वयं अपने राज्य को खतरे में डालना होगा? १८११ के बाद अमरसिंह ने और नेपाल दरबार ने रणजीतसिंह का पुराना बर्ताव भूल कर उसे मनाने की भरसक कोशिशें कीं ही, अंग्रेज़ों के विरुद्ध साझे मोर्चे में सम्मिलित होने के लिए उसे भरसक उकसाया ही। पर अपनी अल्पकालिक खीझ में अमर ने अंग्रेज़ों से उक्त प्रस्ताव करने की जो गलती की, उसके चरित-चाँद पर यही एकमात्र हलका धब्बा है।

---

२७. जो० डे० कनिंगहाम (१८४९)—पूर्वोक्त, पृ० १५६-५७ तथा पृ० २९५ की पादटिप्पणी।

६. आंग्ल-नेपाल युद्ध

(क) युद्ध के कारण

श्री सूर्यविक्रम ज्ञवाली का यह विचार प्रतीत होता है कि नेपाल को जो सन् १८१४-१६ में अंग्रेजों के साथ युद्ध में फँसना और काली से सतलज तक के प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा सो अपने मन्त्रिनायक भीमसेन थापा की नातरजबाकारी अदूरदर्शिता और राजनीतिक अज्ञान के कारण। श्री ज्ञवाली ने आंग्ल-नेपाल-युद्ध के कारणों पर तफसील से विचार किया है, किन्तु सब से बड़ा और बुनियादी कारण उनकी आँखों से ओझल हुआ रहा है। सन् १८१३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का पट्टा नया करते हुए अंग्रेजी पार्लिमेंट ने अपना यह मत स्पष्टतया प्रकट किया था कि भारत में अंग्रेजों के उपनिवेश बसाने का अवसर आ गया है, और कि वे बसाये जाने चाहिएँ। चूँकि भारत के ठंडे पहाड़ी प्रदेश ही अंग्रेज़ी बस्तियों के लिए उपयुक्त थे, इसलिए उन प्रदेशों को छीनने के लिए अंग्रेजों का नेपाल से लड़ना आवश्यक था।[२८]

यदि ऐसा न होता तो बुटवल और शिवराज का झगड़ा भी सीमा-सम्बन्धी अन्य अनेक झगड़ों की तरह सुलझ गया होता। पर अक्तूबर १८१३ में नये गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स के आते ही अंग्रेजी सरकार का रुख बदल गया। मार्च १८१४ में "जब जाँच प्रारम्भ करने का समय आया तब अपने प्रति (अंग्रेज़ प्रतिनिधि) पेरिस ब्राडशा का असम्मान-जनक बर्त्ताव होने के कारण क्रोधित हो नेपाल सरकार के प्रतिनिधि जाँच में सम्मिलित न हो नेपाल लौट आये।" इसके साथ ही "हेस्टिंग्स ने तुरन्त नेपाल सरकार को मार्च १८१४ ई० में बुटवल तथा शिवराज छोड़ देने के लिए पत्र लिखा। साथ ही साथ उन्होंने गोरखपुर के कलक्टर के पास इस चिट्ठी की नकल भेज दी तथा उन्हें २५ दिनों के भीतर कोई सन्तोष-

---

२८. वामनदास बसु (१९२४)—राइज़ ऑफ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया (भारत में ईसाई शक्ति का उदय) २य संस्क० (१९३३) पृ० ६३०—३२।

जनक उत्तर नहीं आने पर पल्टन भेज कर बुटवल तथा शिवराज दखल कर लेने का भी आदेश दिया। कलक्टर के पास भेजी आज्ञा की प्रतिलिपि काठमांडु भी भेज दी गयी थी। ... गोरखपुर के कलक्टर ने अप्रैल १८१४ ई० के अन्तिम भाग में एक पलटन भेज बुटवल तथा शिवराज पर दखल जमा लिया।" (सू० वि० ज्ञवाली, १९४३, पूर्वोक्त, पृ० ७०-७१)। इन घटनाओं के बाद क्या नेपाल के मन्त्रिनायक को यह नहीं पहचानना चाहिए था कि अंग्रेज़ी सरकार लड़ने पर उतारू है और कि उससे बातचीत करना मेमने की भेड़िये से बातचीत के समान होगा? और इस दशा में यदि उसने अपने साथियों को मिमियाना छोड़ कर दहाड़ने को कहा तो क्या यह उसकी अदूरदर्शिता थी?

इसके बाद भी नेपालियों ने केवल बुटवल और शिवराज के थाने घेर कर वापिस ले लिये, अन्य कोई युद्धकार्य नहीं किया, और इस बीच अपने पच्छिमी प्रान्तों के अधिकारियों—ब्रह्मशाह चौतरिया, हस्तिदल शाही, अमरसिंह थापा—से सलाह माँगी। इन अनुभवी शासकों और योद्धाओं ने जब यह कहा कि पच्छिम में हमारा राज्य नया है और मराठों और सिक्खों के साथ अंग्रेज़ों की सन्धि हो जाने के कारण काल उनके अनुकूल है, इसलिए अब भी वे थाने लौटा कर समझौता कर लेना चाहिए, तब नेपाल दरबार ने अमरसिंह थापा को समझौते की बातचीत करने की इजाज़त दे दी—अर्थात् जवान भीमसेन ने बूढ़े अनुभवी अमरसिंह की सम्मति के आगे सिर झुका दिया। किन्तु फल क्या निकला? अमरसिंह और उसके बेटे रणजोरसिंह ने उसके बाद सम्मानपूर्ण समझौते के लिए प्रयत्न में कोई कसर नहीं उठा रक्खी, यहाँ तक लिखा कि नेपाल सरकार बुटवल की लूट का दण्ड भरने को तैयार है, पर हेस्टिंग्स ने उनके प्रत्येक प्रयत्न के उत्तर में उन्हें निजी तौर पर घूस दे कर गिराने की कमीनी चेष्टा ही की, नेपाल राज्य से सन्धि की कभी बात ही नहीं की। सितम्बर १८१४ में नेपाल सरकार ने काठमांडू से एक दूत चन्द्रशेखर उपाध्याय को भेजा। उसे हेस्टिंग्स ने चम्पारन में ही

रुकवा दिया। अक्तूबर में विना युद्ध-घोषणा के अंग्रेज़ों की पाँच सेनाएँ हिमाचल में घुसने को बढ़ीं। जब उनमें से एक का नायक सेनापति जिलेस्पी जो नैपोलियन के साथी को जावा में हरा चुका था, ६ हज़ार सेना से ३-४ सौ नेपालियों के साथ लड़ता हुआ देहरादून में मारा गया (३१-१०-१८१४), तब हेस्टिंग्स ने युद्ध की घोषणा की (१-११-१८१४)। और उसके बाद भी अमरसिंह को डिगाने के लिए उसने उसे जमना से सतलज तक का राज्य देने का प्रस्ताव किया (२१-११-१८१४)। अमर ने उस प्रस्ताव पर थूकते हुए उत्तर दिया—"नेपाल सरकार ने झगड़े के प्रश्नों का निपटारा करने के लिए चन्द्रशेखर उपाध्याय को भेजा है। मुझे भी किसी विश्वस्त पुरुष को लाट साहब के पास भेजने की आज्ञा मिली है। यदि लाट साहब की इच्छा झगड़ा मिटाने की होगी तो मैं एक विश्वस्त पुरुष को भेजूँगा। इसके विपरीत यदि पहाड़ में लड़ाई करने की ही उनकी राय हुई तो भगवान् की जो इच्छा होगी उसके अनुसार काम किया जायगा।" (वहीं पृ० ९१)। यों अमरसिंह को दिखाई दे गया था कि पहाड़ में लड़ाई करने की ही उनकी राय है। वही बात यदि भीमसेन को पहले दिखाई दे गई थी तो क्या हम उसे अदूरदर्शी कहें ?

अमरसिंह के इस पत्र के उत्तर में हेस्टिंग्स कहता है (११-१२-१८१४) —"दोनों सरकारों के बीच का झगड़ा अब पूर्ववत् सीमा का झगड़ा नहीं रह गया है। गोरखा सरकार की कार्रवाई से अब इसने विशाल रूप धारण कर लिया है।" गोरखाली सरकार की वह कार्रवाई कौन सी थी ? यही न कि उसका देश छीनने को आई अंग्रेज़ी सेना का उसने मुकाबला किया जिसमें एक अंग्रेज सेनापति मारा गया था ? उसके बाद भी अमरसिंह और उसके पुत्रों को डिगाने के प्रस्ताव बराबर किये जाते रहे, पर वे प्रत्येक वैसे प्रस्ताव को ठुकराते रहे (वहीं पृ० ९३—१०३)। उन प्रस्तावों से भी यह प्रकट है कि अंग्रेज़ों का इस युद्ध में अभिप्राय था समूचे नेपाल राज्य को तोड़ डालना और कम से कम

घाघरा के पच्छिम का सारा प्रदेश उससे छीन लेना। तब बुटवल और शिवराज के थाने दे कर क्या उन्हें इस अभिप्राय से टाला जा सकता था?

आचार्य सिल्व्याँ लेवी ने इस युद्ध के कारण बताते हुए अंग्रेज लेखकों को भी मात किया है। "१७८७ से १८१२ तक गोरखालियों ने दो सौ गाँव छीने थे ··· उनकी ढिठाई ने अन्त में ईस्ट इंडिया कम्पनी का धैर्य तोड़ दिया ··· हेस्टिंग्स को कड़ा होना पड़ा ··· भीमसेन ने युद्ध-घोषणा की" (पूर्वोक्त, पृ० २८७)। बीसवीं शताब्दी में फ्रांस और इंग्लैंड के साम्राजिक स्वार्थों में समझौता हो गया था, इसलिए फ्रांसीसी विद्वान् के इस प्रकार लिखने पर हम आपत्ति न करते बशर्ते कि इससे तथ्यों की तोड़-मरोड़ न हुई होती। आप आगे कहते हैं—"१ नवम्बर १८१४ को युद्ध शुरू हुआ ··· मेजर-जनरल जिलेस्पी मेरठ से चला ··· नालापानी पर उसे महीना भर रुकना पड़ा ··· अंग्रेजी सेना के ३१ अफसर ७१८ सैनिक मरे, कमांडर भी घायल हो कर मरा" (वहीं पृ० २८८)। जिलेस्पी युद्ध-घोषणा के बाद मेरठ से नहीं चला था, न महीना भर नालापानी पर लड़ा था और घायल हो कर मरा था। उसकी सेना २४ अक्तूबर को देहरादून पहुँची थी, वह स्वयं २६ को आया था और तीन दिन में नालापानी पहाड़ को घेर कर उसपर गोलाबारी करने के बाद उसने ३१ अक्तूबर को प्रातः उसपर के गढ़ पर हल्ला बोला था। अपनी सेना के आगे आगे तलवार घुमा कर वह उसे गढ़ के उस अंश की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित कर रहा था जहाँ गोलाबारी से परकोटे का एक अंश ढह गया था। किन्तु उस छेद में अपने जीते जी किसी शत्रु को घुसने न देने का प्रण कर गोरखाली वीरांगनाएँ आ डटी थीं और उन्हीं में से एक की चलाई गोली कलेजे में खा कर जिलेस्पी ने उसी दिन वहीं वीरगति पाई थी। आचार्य लेवी को क्या अपने पाठकों को यह भी याद दिलाना नहीं चाहिए था कि यह जिलेस्पी वही था जिसने नैपोलियन के अधीन एक फ्रांसीसी सेनापति को जावा में हराया था?

(ख) नेपालियों की वीर भावना

तिस्ता से सतलज तक पहाड़ों में फैला हुआ गोरखाली राज्य भारत के मुख्य भाग में अंग्रेज़ी साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी ज्यों का त्यों बचा रहता, और अंग्रेज़ों से उसकी टक्कर कभी न लगती, ऐसे सपने लेना निरर्थक है। गोरखालियों के हाथ से बहुत सी भूमि आगे-पीछे छिननी ही थी और उनके राज्य को स्वयं भी अंग्रेजों के चंगुल में फँसना ही था। पर उस भूमि को छोड़ने से पहले वे जिस प्रकार जूझे उसकी कीर्ति अमिट है और रहेगी। बलभद्र की नालापानी पर, रणजोरसिंह की जैथक पर और अमरसिंह की मलौन पर की लड़ाई विश्व इतिहास की किसी भी वीर-गाथा से टक्कर लेती है। गोरखाली वीरों के वे कारनामे हमारे इतिहास के उज्ज्वल प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनकी ज्योति न कभी बुझेगी, न छीजेगी। उन्होंने घोर अन्धकार में हमारे दलित और निराश राष्ट्र को रास्ता दिखाया और इसमें जान फूँकी है, और आगे भी सदा इसे जगाये रक्खेंगे। सन् १८५७–६० की विफलता के बाद भारत में जागरण की जो नई लहर उठी, और जिसकी बदौलत भारत आज अपने बन्धनों को अंशतः तोड़ पाया है, उसका प्रभाव ज्ञान और वाङ्मय के क्षेत्र में पहलेपहल १८६०ओं में दिखाई दिया था, और वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु का चरित उसके पहले उभारों में से था। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य वसु ने पहलेपहल बलभद्र की लड़ाई का वृत्तान्त लिख कर अपनी लेखनी को पवित्र किया था[२९]—प्रकटतः उन्हें उससे उत्साह मिला था। जैसा कि उन्होंने लिखा—जिस युद्ध में जीतने की आशा हो वह युद्ध सभी कर सकते हैं, पर जिस लड़ाई में हार

---

२९. जगदीशचन्द्र वसु (१८९५)—अग्निपरीक्षा (बँगला मासिक पत्रिका 'दासी' के मई १८९५ के अङ्क में लेख), सू० वि० ज्ञवाली (१९४०)—वीर बलभद्र पृ० २२–३२ पर अनुवादित। प्रसिद्ध क्रांतिकारी शचीन्द्रनाथ सान्याल ने आचार्य वसु के इस लेख से प्रेरणा पाई थी। उन्होंने अपने 'बन्दी-जीवन' (१९२२) में इसकी ओर निर्देश किया है।

निश्चित हो वह लड़ाई करने को अमानुषिक बल चाहिए। नेपालियों ने जैसा अतिमानुष बल इस युद्ध में दिखाया उससे उनका ऊँचे आदर्शों से अनुप्राणित होना निश्चित है।

यह भी उल्लेखनीय है कि नेपाली पुरुषों और स्त्रियों ने इस युद्ध में समान रूप से वीरता दिखाई, तथा उनके शत्रुओं पर जिस प्रकार उनके सजगपन और ज़ोरदार आक्रमण-शैली का आतंक छा गया था, उसी प्रकार उनके क्षत्रियोचित उदार गौरवपूर्ण बर्त्ताव का प्रभाव भी। शत्रुओं को अपने मृतक और घायल उठा ले जाने का अवसर वे बराबर देते और उन मृतकों और घायलों के देहों पर से कीमती वस्तुएँ स्वयं कभी न उतारते थे। इससे गोरखालियों का जो चित्र हमारे सामने आता है वह उससे ठीक उलटा है जो १८५० के बाद नेपाल में अंग्रेज़ी साम्राज्य-स्वार्थों के साधन में लगे हुए लेखकों ने दिया है।

देहरादून में नालापानी पहाड़ के सामने रिस्पना रौ[३०] के किनारे अंग्रेज़ों ने अपने सेनापति जिलेस्पी की समाध के साथ साथ अपने शत्रु बलभद्र की भी जो समाध खड़ी की, वह नेपालियों द्वारा इस युद्ध में दिखाई वीरता का अनोखा स्मारक है, और वह भी वही पहले वाला चित्र खींचता है। वह स्मारक और उसपर का लेख इतिहास की दृष्टि से अनूठे हैं।[३१]

---

३०. रौ = पहाड़ी बरसाती नदी। देहरादून प्रदेश में यह शब्द साधारण रूप से प्रचलित है। अम्बाले से होशियारपुर तक पूर्वी पंजाब में इसी अर्थ में चो शब्द चलता है।

३१. जी० आर० सी० विलियम्स ने १८७४ में प्रकाशित अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में नालापानी की लड़ाई का पूरा वृत्तान्त दे कर जिलेस्पी और बलभद्र के स्मारक की भी चर्चा की और उसपर के लेख उद्धृत किये थे। श्री जलधर सेन और आचार्य जगदीशचन्द्र वसु के बँगला लेख विलियम्स के ग्रन्थ के आधार पर ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। ऐटकिन्सन ने १८८३ में प्रकाशित अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ में भी इन स्मारकों का संक्षेप से उल्लेख किया। प८ वाल्टन ने १९११ में प्रकाशित

वह लेख यों है—

THIS IS INSCRIBED
AS A TRIBUTE OF RESPECT
FOR OUR GALLANT ADVERSARY
BULBUDDER
COMMANDER OF THE FORT
AND HIS BRAVE GOORKHAS
WHO WERE AFTERWARDS
WHILE IN THE SERVICE
OF RUNJEET SINGH
SHOT DOWN IN THEIR RANKS
TO THE LAST MAN
BY AFGHAN ARTILLERY

अर्थात्—यह लेख हमारे वीर प्रतिद्वन्द्वी गढ़ के नायक बलभद्र और उसके उन बहादुर गोरखालियों के प्रति आदर का भाव प्रकट करने के लिए खोदा गया जो बाद में रणजीतसिंह की सेवा में रहते हुए अफगान तोपखाने के मुकाबले में सब के सब अपनी पाँतों में जूझते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[३२]

अपने देहरादून के गज़ेटियर में जान पड़ता है जान बूझ कर इनकी चर्चा से परहेज़ किया। उस गज़ेटियर में देहरादून के सब विशिष्ट स्थानों का अकारादि क्रम से कोश है, पर जिलेस्पी-बलभद्र-स्मारक का नाम उस कोश में भी नहीं है! देहरादून से राजपुर मंसूरी जाने वाले राजपथ से केवल दो ढाई फ़र्लाङ्ग पूरब बड़े सुहावने दृश्य में खड़े इस सीधे सादे सुन्दर स्मारक का चित्र जहाँ तक मुझे मालूम है इतिहासप्रवेश (१९४०) में दिये जाने से पहले किसी इतिहास-विषयक ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं हुआ।

३२. ज० च० विद्यालंकार (१९४०)—इतिहासप्रवेश १म संस्क० पृ० ५१४–१५। रणजीतसिंह की सेवा में गोरखाली किन दशाओं में भरती हुए और

(ग) अंग्रेजी राजव्यवहार की कसौटी पर नेपाली चरित्र

हमने देखा है कि अमरसिंह थापा ने जब नेपाल दरबार की आज्ञा से अंग्रेज़ों से सन्धि की बातचीत का प्रयत्न किया तब उससे नेपाल राज्य के प्रतिनिधि रूप में बात करने के बजाय गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स ने बराबर उसे व्यक्तिगत प्रलोभन दे कर डिगाने का प्रयत्न किया। युद्ध में जैसे जैसे उसकी कठिनाई बढ़ती और स्थिति विकट होती गई, वैसे वैसे उस प्रकार के प्रस्ताव फिर फिर दोहराये गये। यदि वह अपने आदर्शों और अपने देश की स्वतन्त्रता और गौरव को अपने निजी लाभ और आराम के लिए बेचने को तैयार होता तो जमना और सतलज के बीच के समूचे पहाड़ी प्रदेश का महाराजा बन कर बैठ सकता था, और उसके वंशजों को आज भी उसकी उस गद्दारी के पुरस्कार रूप में हिमाचल प्रदेश के 'राजप्रमुख' का पद प्राप्त होता! परन्तु अमरसिंह प्रत्येक वैसे प्रस्ताव को ठुकराता रहा।

अंग्रेजी राजव्यवहार (डिप्लोमेसी) के नेपाल में इसी प्रकार के बर्त्ताव के और उदाहरण भी हैं। हमने देखा है कि १८०१-२ में नेपाल के मन्त्रिनायक दामोदर पांडे ने अंग्रेजों से सन्धि का प्रस्ताव किया जिस-पर लौर्ड वेलेस्ली ने अपने दूत कप्तान नौक्स को काठमांडू भेजा था। दामोदर पांडे तथा उसके साथी ब्रह्मशाह चौतरिया और गजराज मिश्र सन्धि करने को स्वयं उत्सुक थे, तो भी नौक्स ने उन्हें घूँस देते हुए अंग्रेज़ों का वेतनभोगी बनाना चाहा, किन्तु उन्होंने उसके नीच प्रस्तावों पर कान नहीं धरा। वही ब्रह्मशाह चौतरिया पीछे कुमाऊँ का शासक नियत हुआ। आंग्ल-नेपाल युद्ध के पहले दौर के अन्त में जब वह अंग्रेजों को कुमाऊँ सौंपने को विवश हुआ, तब उसे इस बात की चिन्ता

नौशेरा की लड़ाई में कैसे लड़े उसका उल्लेख ऊपर (पृ० ४९९) किया गया है। किन्तु उस लड़ाई में अफ़गानों का कोई तोपखाना नहीं था; जो गोरखाली मारे गये वे अफ़गान सवारों और पदाति सेना की बाढ़ में ही मारे गये थे।

हुई कि नेपाल में लोग इस समाचार पर न जाने क्या कहेंगे, और कि "यदि सेना को मुझे मार डालने की आज्ञा दी जाय तो भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होगा।" इसपर अंग्रेज अधिकारी कर्नल गार्डनर ने और बाद में गवर्नर-जनरल हेस्टिंग्स ने भी उसे बराबर उभाड़ा कि वह अंग्रेज़ों की सहायता से डोटी दखल कर वहाँ का राजा बन बैठे। पर ब्रह्मशाह ने अन्तिम उत्तर यह दिया कि "जब किसी दूसरे उपाय से काम नहीं चलेगा तब वैसा ... करूँगा" और उस बातचीत में विशेष उत्साह नहीं दिखाया।[३३]

प्रकट है कि दामोदर पांडे और ब्रह्मशाह चौतरिया ने अंग्रेज़ों से जो सन्धियाँ कीं, यह मान कर कीं कि उनके देश के हित में वे उचित या आवश्यक थीं, अपने निजी स्वार्थ या लाभ के लिए देश को बेचने की दृष्टि से नहीं। यह भी प्रकट है कि नेपाल में ऐसा सजग लोकमत और देशभक्तिपूर्ण वातावरण था, जो नेपालियों को अंग्रेज़ों के इन नीच प्रलोभनों में फँसने से बराबर बचाता रहा। ओल्डफील्ड जैसे लेखक को जिसने अफवाहों गप्पों और तथ्यों की तोड़मरोड़ द्वारा नेपालियों को बद-नाम करने का भरसक यत्न किया है, यह लिखना पड़ा है कि नेपाल के सरदार अपने राजा के अधीन पद पाने के लिए आपस में भले ही कितना झगड़ते रहे हों, पर किसी गोरखाली सरदार के अपने राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का उदाहरण नहीं है और न अंग्रेज़ या किसी अन्य विदेशी के हाथ रिश्वत ले कर बिकने का, कि १८०१ में नौक्स का और १८१६ में हमारी सरकार का उन्हें खरीदने का प्रयत्न विफल हुआ (वहीं पृ० २९७)। स्पष्ट है कि इस पहलू में गोरखालियों ने भारत के दूसरे सब प्रान्तों के लोगों की अपेक्षा अपने चरित्र को अधिक ऊँचा सिद्ध किया। भारतीयों के चरित्र को गिराये विना भारत में अंग्रेजी साम्राज्य न स्थापित

---

३३. ओल्डफील्ड (१८८०)—पूर्वोक्त, १ पृ० २८९। सू० वि० ज्ञवाली (१९४३)—पूर्वोक्त, पृ० १०३, १८७–९०।

हो और न टिक सकता था। इसलिए अंग्रेज राजव्यवहारियों और शासकों का भारतीय चरित्र को बराबर गिराने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर १८०१ से १८४५ तक नेपाल में इस दिशा के उनके सब प्रयत्न विफल हुए।

(घ) नेपाली नेताओं की राजनीतिक जागरूकता

देहरादून हाथ से निकल जाने पर नेपाल दरबार ने सन्धि की बातचीत चलाने की सोची और अमरसिंह थापा को इसके लिए लिखा। पूरी तराई, देहरे की दून तथा वहाँ से सतलज तक का पहाड़ी प्रदेश सौंप कर सन्धि कर लेने का उनका प्रस्ताव था। अमरसिंह ने आरम्भ में भरसक जतन किया था कि युद्ध न हो, पर जब उसने यह देख लिया कि "गवर्नर-जनरल की राय पहाड़ में युद्ध करने की ही" है और युद्ध जारी हो ही गया, तब उसने अपनी सरकार को सन्धि की बात छोड़ डट कर लड़ते चलने की सलाह दी। भीमसेन और अमरसिंह की तुलना करते हुए श्री ब्वाली ने जो यह लिखा है कि भीमसेन की मनोवृत्ति जोशीले जवान की थी, अमरसिंह की परिपक्व योद्धा की, इस अवसर पर वह तुलना ठीक है। अमरसिंह का इस अवसर पर नेपाल दरबार को लिखा हुआ पत्र जो अंग्रेजों के हाथ पड़ गया, तथा नेपाल दरबार का अमर के द्वारा इसी अवसर पर रणजीतसिंह को भेजा हुआ पत्र नेपाली नेताओं के राजनीतिक चिन्तन का ठीक चित्र प्रस्तुत करता तथा उनकी दृष्टि-परिधि की ठीक सीमाएँ दिखाता है।

अमरसिंह अपने पत्र में लिखता है—"शत्रु इतना बृहत् प्रबन्ध कर चुका है कि हम लोग उसे जो इलाका देने के लिए तैयार हैं उससे उसे सन्तोष नहीं होगा। यदि उसने हम लोगों की शर्त्त मान ली तो भी वह हम लोगों के साथ वैसा ही बर्त्ताव करेगा जैसा कि वह टीपू सुलतान के साथ कर चुका है। ...

"यदि हम लोग उसे इतना राज्य दे देंगे तो पीछे वह फिर भी कोई बहाना ढूँढ निकालेगा और झगड़ा कर हम लोगों के अन्य इलाके छीन

लेगा। इतना राज्य खो देने पर हम लोग इस समय के समान सेना नहीं रख सकेंगे ...। हम लोगों की शक्ति का ह्रास हो जाने पर मित्रता एवं सन्धि करने तथा कोठी स्थापित करने का बहाना कर फिर नौक्स की दूसरी मण्डली हम लोगों के निकट आवेगी। यदि हम लोग उसका स्वागत करने के लिए तैयार नहीं हुए तो वे लोग बल का प्रयोग करेंगे। ...

"जैथक में हम लोगों ने शत्रु को जीता है। यदि मैं औक्टरलोनी पर विजय प्राप्त कर सका तथा जैथक में जसपाउ थापा और अन्य अधिकारियों की सहायता से रणजोरसिंह की जीत हो गई तो रणजीतसिंह शत्रु के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करेंगे। सिक्खों से मिलने पर मेरी पल्टन नीचे समतल भूमि पर उतरेगी। दो भिन्न भिन्न स्थानों से यमुना पार कर हम लोग पुनः दून लौटा लेंगे।

"यह आशा की जाती है कि हम लोगों के हरिद्वार पहुँचने पर लखनऊ के नवाब हम लोगों के साथ आ मिलेंगे। ...

" ... यदि दो वर्षों तक तराई का इलाका शत्रुओं के अधीन रह जाय तो रहने दीजिए। पीछे उसे लौटा लेने की कार्रवाई की जायगी। ... यदि सिक्ख लोग हम लोगों से नहीं मिलें तो भी पहाड़ में हम लोगों के भयभीत होने का कोई कारण नहीं है। अभी यदि कुछ राज्य दे कर हम लोग झगड़ा शान्त भी करा दें तो भी कुछ ही वर्षों के भीतर शत्रु नेपाल पर उसी प्रकार अधिकार कर लेगा जिस प्रकार उसने टीपू का राज्य दखल कर लिया। अतः न तो मेल करने का और न राज्य देने का ही समय है। ... जब तक हम लोगों की विजय न हो जाय तब तक सन्धि की चर्चा ही नहीं करनी चाहिए। ...

" ... नालापानी में बलभद्र ने शत्रु के तीन-चार हज़ार सिपाहियों को हराया। जैथक में रणजोरसिंह ... ने शत्रु की दो पल्टनों को पराजित किया। यहाँ मैं घिरा पड़ा हूँ तथा प्रतिदिन शत्रु के साथ युद्ध कर रहा हूँ। हमारी विजय अवश्य होगी मुझे इसका दृढ विश्वास है। ... रण-

जीतसिंह को अपनी ओर मिला लेने की मेरी जो इच्छा है उसकी पूर्त्ति के लिए मुझे दो-तीन लड़ाइयाँ जीतनी पड़ेंगी। रणजीतसिंह के युद्ध में सम्मिलित होने पर तथा सिक्खों और गोरखालियों के यमुना की ओर अग्रसर होने के उपरान्त दक्षिण के राजा लोग भी हमारे दल में आ मिलेंगे ऐसी मुझे आशा है। लखनऊ के नवाब ··· भी ···।

"यदि लड़ाई में हम लोगों की जीत हुई तो हम लोग मतभेद के अन्य सभी प्रश्नों का निपटारा कर ले सकेंगे। यदि हार हुई तो अपमान-जनक शर्त्त स्वीकार कर मेल करने की अपेक्षा प्राण त्याग करना ही अच्छा होगा। ···

" ··· इस विपत्ति की अवस्था में चीन के बादशाह तथा लासा के और अन्य स्थानों के लामाओं के पास पत्र लिखना उत्तम है। ··· "

नेपाल १७९२ से चीन का आधिपत्य मानता था, इसलिए अमरसिंह सुझाता है कि चीन-सम्राट् से इस समय सहायता माँगी जाय और उसे लिखा जाय कि "हुजूर बहुत आसानी से धर्मा (भूटान) के रास्ते २-३ लाख सिपाही बंगाल भेज सकते हैं। ऐसा करने से कलकत्ता तक फिरंगियों के मन में भय का संचार हो जायगा। शत्रु मध्यदेश (=उत्तर भारत) के सभी राजाओं को जीत चुका है तथा उसने दिल्ली के बादशाह की गद्दी भी दखल कर ली है। अतः वे सिपाही शत्रु को भारतवर्ष से निकाल भगाने में सहयोग प्रदान करेंगे ऐसी आशा है। इस काम से सम्पूर्ण जम्बुद्वीप में हुजूर का नाम चलेगा ··· ।"

रणजीतसिंह को मनाने की अमरसिंह ने लगातार चेष्टा की। उस प्रसंग में नेपाल दरबार का जो पत्र उसने रणजीत के पास भेजा उसमें लिखा था—"अंगरेजों के साथ मित्रता ··· के आधार पर धोखे में नहीं पड़िये। मेरे साथ भी उन सबों की मित्रता थी और अब वे हम लोगों के प्रति जो सद्भावना दिखा रहे हैं वह छिपी हुई नहीं है। यदि आप अपनी ··· सेना ले कर प्लासिया (सतलज पहाड़ों से जहाँ मैदान में निकलती है वहाँ एक गाँव) आ

जायँ तो मैं मलाउन का किला आपको दे दूँगा। उसके बाद हरद्वार पर आक्रमण करने के समय आप जहाँ जहाँ पड़ाव डालेंगे उनमें प्रत्येक के लिए मैं आपको ६०,००० रुपये दूँगा। उसके बाद लखनऊ ...। लखनऊ के नवाब-वजीर, मरहट्ठे तथा रामपुर के रोहिल्ले ... ज्योंही हम लोग सब के सब मिल जायेंगे त्योंही हिन्दुस्तान को जीत लेना तथा शत्रु को निकाल भगाना अत्यन्त आसान हो जायगा।" (सू० वि० ज्ञवाली, १९४३—पूर्वोक्त, पृ० १४०—१५५ तथा १७७—७८)।

इन उद्धरणों से प्रकट होगा कि नेपाली नेता केवल कड़े लड़ाके ही नहीं थे, राजनीतिक परिस्थिति को भी काफी समझते और दूर तक देखते सोचते थे। विदेशी अंग्रेज़ों से देश को बचाने के लिए भारत के सब राज्यों की शक्ति एकमुख की जाय, यह बात, हमने देखा है (ऊपर पृ० १६१—७२) कि पेशवा बालाजीराव को ही सूझनी चाहिए थी, पर उसे नहीं सूझी। उसके सुयोग्य बेटे पेशवा माधवराव ने इसे पहलेपहल देखा और चरितार्थ करने का यत्न किया। फिर उसके शिष्य नाना फडनीस ने पहले अंग्रेज-मराठा-युद्ध में इसी नीति पर डट कर आचरण किया। दूसरे अंग्रेज-मराठा-युद्ध में यशवन्तराव होलकर ने पहले इसके विरुद्ध आचरण किया, फिर आँखें खुलने पर जी-जान से इसपर चलने का प्रयत्न किया। इस प्रकार वह नीति लग० १७६६ से १८०५ तक मराठा नेताओं के सामने लगातार थी। मराठों के इसे हार कर छोड़ देने के बाद गोरखालियों ने न केवल इस युद्ध में प्रत्युत हम देखेंगे कि आगे भी प्रायः तीस वर्ष तक लगातार इस आदर्श की मशाल को उठाये रक्खा और इसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करते रहे।

(ङ) अमरसिंह थापा का मनुष्यत्व

कांगडे से हट कर सतलज के इस पार आने के बाद अमरसिंह ने शिमले के १३ मील पच्छिम अर्की को अपना अधिष्ठान बनाया और वहीं से वह जमना से सतलज तक पहाड़ी प्रदेश का शासन करता था। अंग्रेज़ों ने नेपाल से युद्ध छेड़ कर पहले पाँच सेनाएँ हिमालय पर चढ़ाई

करने भेजी थीं, जिनमें से एक औक्टरलोनी के नेतृत्व में लुधियाने से सतलज के साथ साथ अमरसिंह के विरुद्ध बढ़ रही थी। सतलज तट पर प्लासिया गाँव इसका आधार था। दूसरी सेना जिलेस्पी के नेतृत्व में मेरठ से देहरादून चढ़ी थी; देहरादून ले कर इसका एक अंश श्रीनगर-गढ़वाल में घुसने को और दूसरा नाहन पर औक्टरलोनी से जा मिलने को था। तीसरी सेना गोरखपुर से पाल्पा पर, चौथी पटने से काठमांडू पर तथा पाँचवीं पुर्णिया से पूर्वी सीमा पर चढ़ाई करने भेजी गई थी।

इनमें से गोरखपुर और पटने से चली सेनाएँ तराई में ही बुरी तरह पिटीं और गोरखपुर वाली का सेनापति उसे छोड़ कर भाग गया। जिलेस्पी की ६ हज़ार सेना का बलभद्र ने ३-४ सौ सैनिकों से मुकाबला किया जिसमें जिलेस्पी मारा गया। फिर ४ हज़ार की और कुमुक आने पर उसका उत्तराधिकारी नालापानी के गढ़ को घेर कर बैठा रहा। सवा मास बाद जब बलभद्र और उसके ७० बचे हुए साथी अपने गढ़ को छोड़ उस स्तब्ध सेना के बीच से निकल गये तब उस सेना ने उस गढ़ को ज़मींदोज़ किया और वहाँ से पच्छिम बढ़ कर सरमौर (नाहन) के पदच्युत राजा की सहायता से नाहन ले लिया।

अमरसिंह ने अर्की के पास मलौन गढ़ को अपना आश्रय बना उसके दक्खिन शिवालक में बिलासपुर से नाहन तक की दुर्ग-पंक्ति में अपने सैनिक तैनात किये थे। उस पंक्ति का पूर्वी छोर नाहन अमरसिंह के बेटे रणजोरसिंह की रक्षा में था। शत्रु कहीं सतलज के साथ साथ दाहिने तट से ऊपर जा कर सतलज को न लाँघ आय इस दृष्टि से उसने सतलज तट पर ऊपर तक भी अपनी चौकियाँ बैठाई थीं। इन सब गढ़ों और चौकियों की रक्षा के लिए अमरसिंह के पास कुल ३८०० सैनिक थे। औक्टरलोनी की सेना शुरू में इससे दूनी, बाद तिगुनी थी। मेरठ वाली अंग्रेज़ी सेना के नाहन ले लेने पर अमरसिंह ने अपने बेटे रणजोरसिंह को ऊपर हट कर जैथक पर डटने का आदेश दिया। रणजोर अन्त तक वहाँ डटा अंग्रेज़ी सेना की जैथक का पानी काटने की सब

कोशिशें बेकार करता रहा।

नेपालियों के पास तोपें नहीं थीं। अंग्रेजों की छोटी तोपों की मार इतनी न थी कि किसी पहाड़ी गढ़ को उसके सामने के पहाड़ पर से चोट कर ढा सकें, बड़ी तोपें साधारणतया पहाड़ों पर चढ़ाई न जा सकती थीं। पर ऑक्टरलोनी ठंडे दिमाग से काम करता और धीरे धीरे सड़कें बनवा कर बड़ी तोपें ऊपर ले जाता रहा। यों शिवालक की दुर्गपंक्ति को चीर कर फरवरी १८१५ तक उसने मलौन को तीन तरफ से घेर लिया। उस दशा में भी अमरसिंह ने अपने महाराजा को लिखा कि जब तक हम लोगों की जीत न हो जाय तब तक सन्धि की चर्चा ही नहीं करनी चाहिए और कि हमारी जीत अवश्य होगी इसका मुझे दृढ विश्वास है। नेपाल से कुछ सेना उसकी सहायता के लिए चल कर प्यूठाना तक पहुँच चुकी थी। अमर सोचता था कि उस सेना के जैथक पहुँच जाने पर रणजोर नीचे मैदान में उतर कर ऑक्टरलोनी के पीछे से चोट करेगा और उसे पीछे हटने को बाधित करेगा।

परन्तु इस बीच एक नई अंग्रेजी सेना मुरादाबाद से कुमाऊँ जा चढ़ी थी। कुमाऊँ के शासक ब्रह्मशाह चौतरिया के पास उसका दसवाँ अंश सेना भी न थी। ब्रह्मशाह ने प्यूठाना वाली सेना को अपने पास रोक लिया; फिर भी वह कुमाऊँ को बचा न सका और २७-४-१८१५ को उसे समर्पण करना पड़ा। तब तक मलौन का घेरा भी खूब कसा जा चुका था। ७० बरस के बूढ़े भक्ति थापा के नेतृत्व में नेपाली सैनिकों ने ऑक्टरलोनी के तोपखाने पर सीधा हमला कर उसे नष्ट करने की कोशिश की, जो बेकार हुई। भक्ति थापा के साथ ७०० नेपाली सैनिकों ने उसमें वीरगति पाई। एक को छोड़ सब अंग्रेजी तोप-चालक भी मारे गये, पर एक बचा रहा इसलिए तोप का मुँह बन्द न हुआ। मई के पहले सप्ताह में मलौन के सामने तोप चढ़ा ली गई। उसके गोले जैसे गढ़ में बरसने लगे वैसे ही ऑक्टरलोनी के सन्धि के प्रस्ताव भी और आग्रह से आने लगे। अमरसिंह के पास गढ़ के अन्दर कुल २५० सैनिक बचे थे। इस

दशा में उस बूढ़े शेर ने सन्धि पर हस्ताक्षर करना स्वीकार किया।

सन्धि की मुख्य शर्त्त यह थी कि नेपाली सैनिक अपने सब सामान और शस्त्रास्त्रों के साथ अपने झंडे फहराते हुए काली नदी के पूरब चले जायँगे। साधनों की कमी से हारे हुए नेपालियों ने अपनी वीरता और अडिग चरित्र से शत्रु के मन में जो आदर का पद पा लिया था वह इस शर्त्त से सूचित है। अमरसिंह जब मलौन गढ़ से यों निकला तब उसके शत्रु यह देख कर दंग रह गये कि रामगंगा से सतलज तक समूचे पच्छिमी हिमाचल के उस शासक का अपना निजी सामान कितना थोड़ा है! रणजोर ने जब २१-५-१८१५ को जैथक छोड़ा तब वहाँ १५०० नेपाली सैनिक और १००० स्त्री-बच्चे थे, पर उनके गढ़ में अन्न एक दिन का भी नहीं था!

अमरसिंह जब सन्धि पर हस्ताक्षर करने जा रहा था तभी उसे ब्रह्मशाह का पत्र मिला जिसमें उसने काली के पच्छिम का प्रदेश दे कर सन्धि करने का सुझाव दिया था। अमरसिंह ने तब अपने सन्धिपत्र में यह लिख दिया कि मैंने ब्रह्मशाह तथा कुमाऊँ के उमरावों की राय से समर्पण किया है। श्री ज्ञवाली ने इस बात पर अमरसिंह की बुरी खबर ली है। उनके विचार में "एक मनुष्य के निजी उत्तरदायित्व की अपेक्षा सम्मिलित उत्तरदायित्व को उचित ठहराना तथा उसकी आड़ में अपने को बचाने की इच्छा करना अमरसिंह जैसे मनुष्य के लिए शोभाप्रद नहीं कहा जा सकता और इससे केवल उनके हृदय की दुर्बलता ही झलकती है। ... दूसरों के मत्थे अपना दोष मढ़ देने की उनकी इस असम्मानप्रद अनुचित इच्छा पर उपेक्षा की दृष्टि से ही देखने को जी चाहता है (वहीं पृ० १३०)।" इस आलोचना में मुझे कुछ भी तत्त्व नहीं दिखाई दिया। यह निरा छिद्रान्वेषण है। जब यह स्थिति थी कि ब्रह्मशाह का भी वही मत था, तब अमरसिंह ने उसे दर्ज कर के कौन सी बड़ी गलती या अपराध किया?

अलमोड़े और मलौन में सेनापतियों के साथ हुए ठहरावों के

आधार पर नेपाल और अंग्रेजी राज के बीच जब सन्धि होने का अवसर आया तब तक अमरसिंह नेपाल पहुँच गया था। प्रस्तावित सन्धिपत्र के अनुसार न केवल अंग्रेजों द्वारा जीती गई प्रत्युत समूची तराई नेपाल राज्य से ली जाने को थी, और उसमें जो जागीरें नेपाली उमरावों की थीं उनके बदले में वे दो लाख रुपया वार्षिक अंग्रेजों से पाने से को थे। अमरसिंह ने कहा कि ऐसा होने से वे नेपाली उमराव अपने देश के भीतर विदेशी के कारिन्दे बन जायेंगे, उन्हें रुपये के बदले में वह भूमि ही मिलनी चाहिए। अमरसिंह के प्रभाव से दूसरे नेपाली सरदार भी फिर युद्ध के लिए तैयार हो गये। तब फ़रवरी १८१६ में युद्ध का दूसरा दौर लड़ा गया और उसके बाद सन्धि हुई। अमरसिंह की जगाई नेपालियों की प्रतिरोध-भावना के आधार पर भीमसेन थापा को सन्धि की उस शर्त्त को बदलवाने में सफलता हुई।[३४]

सर यदुनाथ सरकार ने श्री ज्ञवाली के ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा है कि (इतिहास में) अमरसिंह थापा का पद मेवाड़ के महाराणा प्रताप-सिंह के साथ होना चाहिए।[३५] सचमुच अमरसिंह में यदि महाराणा प्रताप की तरह बड़ी से बड़ी कठिनाइयों में भी अपने आदर्श को चिपटे रहने की दृढता थी, तो उसमें महाराणा सांगा की सी विजिगीषा और जूझने की क्षमता तथा महाराणा कुम्भा की सी महत्त्वाकाङ्क्षा और ऊँची आदर्श-प्रेरणा भी थी। यह कहना चाहिए कि नाना फडनीस की मृत्यु के बाद से नानासाहब धोंधोपन्त और अज़ीमुल्ला के इतिहास के रंगमंच

---

३४. सू० वि० ज्ञवाली (१९४३)—पूर्वोक्त, पृ० १९४–२०१, २०९। आंग्ल-नेपाल-युद्ध का दूसरा दौर छिड़ने का तथा सन्धि की शर्त्त बदले जाने का यह कारण श्री ज्ञवाली ने पूरी तरह स्पष्ट किया है। प्रो० सिल्वयाँ लेवी ने शर्त्त बदल कर तराई का कुछ भाग दे देने के लिए हेस्टिंग्स की उदारता का गीत गाया है (पृ० २८९-९०), तथा पर्सिवल लैंडन ने भी उनका अनुसरण किया है (पृ० ८४)।

३५. यदुनाथ सरकार (१९४७)—'अमरसिंह थापा' हिन्दी अनुवाद का प्राक्कथन पृ० घ, छ।

पर प्रकट होने तक अर्थात् सन् १८०० और १८५५ के बीच भारतीय मनुष्यता का उच्चतम स्तर अमरसिंह थापा के चरित में दिखाई देता है। भीमसेन और माथबरसिंह थापा के चरित अभी पूरे प्रकाश में नहीं आये। पर उनकी भी जो झलक हमें मिली है उसके आधार पर यह प्रतीत होता है कि सन् १८०० और १८४५ के बीच भारत का मनुष्यत्व नेपाल में ही सब से ऊँची सतह पर रहा। पंजाब में भी नौनिहालसिंह के चरित में उसकी ऊँची उठान दिखाई देती है (१८४०), और सन् १८४१–४६ के बीच पंजाबी जनसेना ने उसका ऊँचा उभार दिखाया इसमें सन्देह नहीं। पर नौजवान नौनिहाल के अकाल मृत्यु का ग्रास हो जाने से उसके चरित का विकास नहीं हो पाया, और पंजाबी जनसेना के साथ उसके नेताओं ने ही छलपूर्ण विश्वासघात किया जिससे उस सेना की भावनाओं के प्रतीक-रूप किसी एक व्यक्ति या कुछ एक व्यक्तियों का नाम हम नहीं ले पाते। इसके अतिरिक्त नौनिहालसिंह और पंजाबी जनसेना के इन उभारों के पीछे जो प्रेरणा थी उसमें भी जैसा कि हम देखेंगे नेपालियों की देन थी। यह देखते हुए गोरखाली इतिहास का समूचे भारतीय इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

(च) युद्ध के शुभाशुभ फल

अंग्रेज़ों के साथ युद्ध में गोरखालियों की हार हुई; पर उस हार के ठीक स्वरूप और ठीक मात्रा को समझना चाहिए।

उस हार के फलस्वरूप नेपाल राज्य को काली के पच्छिम और मेची के पूरब के प्रदेश तथा दक्खिन तरफ तराई का बहुत सा अंश देना पड़ा। आधिभौतिक दृष्टि से यह बड़ी क्षति थी। किन्तु हमने देखा है कि इस युद्ध में नेपाली जैसी वीरता से लड़े तथा उन्होंने अपने चरित्र को जैसा अडिग बनाये रक्खा उसकी बदौलत उन्होंने अक्षय कीर्त्ति पाई। वह कीर्त्ति आध्यात्मिक या नैतिक दृष्टि से तो अमूल्य और अमर है ही, पर वह भौतिक दृष्टि से निरर्थक हुई यह सोचना भी गलत है। यदि नेपालियों ने वैसी वीरता और चरित्रदृढता न दिखाई होती तो अंग्रेज़ों ने

काली से कर्णाली या भेड़ी तक का प्रदेश भी ले लिया होता, और नेपाल राज्य के केन्द्र को भी तभी अपनी कठपुतली बना लिया होता। नेपालियों के वीर प्रतिरोध से न केवल यह सब होने से रुका, प्रत्युत उस प्रतिरोध का इससे भी बहुत बड़ा और स्थायी फल निकला। आखिर, अंग्रेजों ने नेपाल से यह युद्ध क्यों किया और इतनी भूमि क्यों छीनी थी? भारत के पहाड़ी प्रदेशों में अंग्रेज़ी उपनिवेश बसाने के लिए ही न? अपने उस उद्देश में अंग्रेज सोलह आना विफल हुए। हमने देखा है (ऊपर पृ० १६१-६२) कि उस विफलता का मूल कारण वह प्रतिरोध-भावना थी जो सन् १८१३ के बाद भारत के लोग अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध दिखाते रहे। १८१३ के बाद के उस भारतीय प्रतिरोध में नेपालियों के प्रतिरोध का अग्र स्थान है।

७. गोरखाली उत्थान की क्षेत्र-सीमा और गोरखाली शासन

गोरखाली इतिहास की यहाँ तक की पर्यवेक्षा से गोरखाली उत्थान की भीतरी प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ स्पष्ट हुई हैं। पर इस पर्यवेक्षा से अनेक प्रश्न भी सामने आते हैं। वह उत्थान कितने क्षेत्र में था? क्यों वह उत्थान की भावना गोरखा बस्ती में ही पहलेपहल जगी? क्या हिमाचल के दूसरे प्रदेशों में भी उसकी छूत पहुँची? और यदि नहीं तो क्यों?

ये प्रश्न वैसे ही हैं जैसे यह प्रश्न कि शिवाजी वाले पुनरुत्थान की लहर क्यों महाराष्ट्र से बुन्देलखण्ड और ब्रजभूमि हो कर पंजाब और नेपाल तक ही पहुँची तथा गंगा-काँठे सिन्ध गुजरात आन्ध्र और तमिळ मैदानों को उसने नहीं सींचा (ऊपर पृ० १२७-२८)। हम यह देख चुके हैं कि ऐसे प्रश्नों का समाधान अभी तक नहीं किया गया। तो भी श्री ग़वाली की खोज से इन प्रश्नों पर भी कुछ प्रकाश पड़ा है। मलौन के सामने देउथल के तोपखाने पर जान देने वाला बूढ़ा वीर भक्ति थापा मूलतः लमजुंग राज्य का था और रानी राजेन्द्रलक्ष्मी के समय १७८२ ई० में वह गोरखालियों के विरुद्ध लमजुंग की ओर से लड़ा था

(पूर्वोक्त, पृ० ११-१२)। बाद में वही भक्ति थापा गोरखाली सेना में सम्मिलित हुआ। गोरखा के लोगों में अपनी छोटी परिधि से निकल कर बड़ा राज्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा जब एक बार जग गई तब उसका उनके समान-भाषी लोगों में फैल जाना स्वाभाविक था। समूचे आधुनिक नेपाल राज्य की बोली **पर्बतिया** है जो **पहाड़ी** भाषा की पूर्वी शाखा है। कुमाऊँ-गढ़वाल की **मध्य पहाड़ी** और पर्बतिया में भी बहुत थोड़ा अन्तर है; दोनों के बोलने वाले एक-दूसरे की बात मज़े में समझते हैं। जमना से रावी तक के पहाड़ों की **पच्छिमी पहाड़ी** और पर्बतिया बोलने वाले एक-दूसरे की बात कहाँ तक समझ पाते हैं यह छोटा सा प्रश्न है जिसके बारे में जाँच करने का अवसर मुझे नहीं मिला। पर चम्बे से नेपाल तक सब पहाड़ियों का रहनसहन बहुत कुछ एक सा है इसमें सन्देह नहीं। और यह निश्चित है कि यदि यह समूचा देश कुछ अधिक काल तक एक शासन में रह जाता तो इसके लोगों में समान भावनाओं और आकाङ्क्षाओं का विकास हो गया होता।

गोरखाली शासन बहुत कठोर और प्रजापीडक था, अंग्रेज़ों के फैलाये हुए इस मत के विषय में श्री ग़वाली ने दो बातें प्रमाण-सहित लिखी हैं। एक तो यह कि "हाल ही में जो मुल्क जीता गया था वहाँ पहलेपहल जो शासन स्थापित हुआ उसका सैनिक शासन होना स्वाभाविक था। पर नेपालियों की कभी भी यह इच्छा नहीं रही कि सदा के लिए उसी प्रकार की शासन-व्यवस्था रहे। ब्रह्मशाह जैसे सुचतुर शासक का कुमाऊँ का हाकिम नियुक्त किया जाना इसका प्रमाण है। इनका शासन नेपाल में सबों से उत्तम था (हैमिल्टन पृष्ठ २६८)। गढ़वाल के शासक काजी बख्तावरसिंह बस्नेत थे। जब लड़ाई छिड़ी तब उन्होंने गढ़वाल में विशेष पल्टन नहीं रख अपनी पल्टन अलमोड़ा भेज दी, इससे अनुमान किया जा सकता है कि इनका शासन बुरा नहीं रहा होगा।" दूसरे, "जब तक अंगरेजों से लड़ाई नहीं हुई तथा अंगरेजों ने उनकी सहायता नहीं की तब तक उस इलाके (रामगंगा से सतलज तक)

के राजा लोगों के अमरसिंह थापा के शासन से असन्तुष्ट होने का कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। इस सम्बन्ध में शिमला पहाड़ के एक विशेषज्ञ ने ऐसा लिखा है—'यहाँ के रैयतों ने गोर्खों की जबरदस्ती तथा कठोरता का वर्णन बहुत बढ़ा चढ़ा कर किया है ··· परस्परविरोधी प्रमाणों से असली बातों का पता लगाना कठिन है' (शिमला पास्ट ऐंड प्रेज़ेण्ट पृ० ३-४)।"

श्री ज्ञवाली ने आगे लिखा है—"पश्चिम के इलाके में नेपालियों ने अर्की से नाहन तक एक प्रशस्त मार्ग बनवाया था। उन्होंने जगह जगह रास्ते, पुल, धर्मशालाएँ एवं विश्रामागार बनवाये तथा अन्य सुविधाप्रद प्रबन्ध किये। गद्दियों का भी निर्माण किया गया। ये सब आयोजन सैनिक दृष्टि से किये गये थे, पर यह कैसे कहा जा सकता है कि इनसे स्थानीय लोगों को लाभ नहीं पहुँचा होगा?" (वहीं पृ० २२०-२१)।

गोरखालियों से युद्ध छेड़ने से पहले अंग्रेजों ने उनके कुशासन के विषय में जो किस्से फैलाए, उनका ऐतिहासिक मूल्य क्या है सो कहने की आवश्यकता नहीं। पर अंग्रेजों के लेखों में भी बीच बीच में दूसरी झलक मिलती ही है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह बात दर्ज की है कि गोरखालियों ने जमना पार की थी सरमौर की प्रजा द्वारा अपने राजा से पीडित हो कर सहायता माँगते हुए बुलाये जाने पर।[३६] जी० आर० सी० विलियम्स ने अपने देहरादून के इतिहास के चार परिच्छेदों में "कुछ गोरखाली शासकों की मानवोचित उदारता (Humanity of Some Gorkha Governers ह्यूमैनिटी ऑफ़ सम गोरखा गवर्नर्स)" की चर्चा की है। अमृत काजी अर्थात् अमरसिंह थापा के मानवोचित बर्त्ताव का उसमें विशेष रूप से उल्लेख है, और याद रहे कि गोरखाली विजय से अंग्रेजी विजय तक की अवधि में पच्छिमी हिमाचल का शासक अमरसिंह थापा ही था। हस्तिदल चौतरिया के देहरादून शासन का

---

३६. जो० डे० कनिंगहाम (१८४९)—पूर्वोक्त, पृ० १४३-४४।

विवरण देते हुए विलियम्स लिखते हैं कि उसने कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया था, किसानों को उदारतापूर्वक पेशगी दे कर, तथा बड़े बड़े गाँव नाममात्र के कर—जैसे ५) वार्षिक—पर ज़मींदारों को दे कर, जिससे ज़मींदार किसानों को उपज के १/१२ या १/१६ लगान पर ज़मीनें दे देते थे। १८२३–२८ में देहरादून के अंग्रेज शासक शोर की १८–१२–१८२५ की ज़मीन-बन्दोबस्त विवरणी का उद्धरण दे कर वे बताते हैं कि कल्याणपुर परगना अंग्रेजी शासन में जैसा था, गोरखाली शासन में उससे अधिक समृद्ध था। अन्त में वे कहते हैं कि गोरखाली शासन हिमाचल के पहले शासन से बहुत भिन्न नहीं था। इस दशा में आंग्ल नेपाल युद्ध के अवसर पर उन पदच्युत शासकों द्वारा अंग्रेज़ों ने जो गप्पें उड़वाईं, उनका क्या मूल्य रह जाता है ?

किन्तु दून के पहले गढ़वाली और गोरखाली शासनों का अन्तर भी विलियम्स द्वारा दर्ज की गई एक घटना से प्रकट होता है। गढ़वाल के राजा के प्रशासन में दून पर जमना पार के सिक्ख धावेमारों का आतंक बराबर छाया हुआ था। गोरखाली शासकों ने दून का राज पाते ही घोषणा की कि धावेमारों को कठोर दण्ड दिया जायगा। इस घोषणा की परवा न करते हुए कुछ सिक्खों ने धावा मारा और एक गाँव से बहुत सी युवतियों को पकड़ ले गये। गोरखालियों ने जमना पार कर धावेमारों के गाँव को घेर लिया, लुटेरों को स्त्रियाँ लौटाने को कहा, उनके न सुनने पर गाँव को आग लगा दी, जिस जिस पुरुष ने वहाँ से निकल भागने का यत्न किया उसे गोली से उड़ा दिया और कहते हैं कि वहाँ की सब सुन्दरियों को पकड़ कर ले गये। उनमें वे युवतियाँ भी रही होंगी जिन्हें धावेमार भगा ले आये थे। इसके बाद दून पर किसी ने धावा नहीं मारा।[३७] ध्यान रहे कि इन धावेमारों का इलाका तभी अंग्रेजों का रक्षित हुआ था। अंग्रेजी सरकार वहाँ के लोगों को रणजीतसिंह से

---

३७. जी० आर० सी० विलियम्स (१८७४)—पूर्वोक्त, पृ० ११८–२१।

"स्वतन्त्र" कर अपनी रक्षा में ले रही थी, पर उन्हें पड़ोसी राज्य पर धावे मारने से रोक नहीं रही थी। ऐसे दृष्टान्तों के रहते जो लोग हिमाचल के पहले शासनों की अपेक्षा गोरखाली शासन को कठोर बताते रहे हैं उनका प्रयोजन क्या था सो स्पष्ट दिखाई देना चाहिए।

गोरखाली शासकों ने कभी क्रूरता नहीं दिखाई यह कहना नहीं होगा। पर क्रूरता की घटनाएँ साधारण नहीं थीं। और वैसी एकाध घटना के साथ युद्ध-काल में अंग्रेजों द्वारा फैलाई गई गप्पों को जोड़ देना भारी भूल है। १८३७ के बाद स्वयं नेपाल के भीतर जो कुछ हुआ उसकी कहानी भी अलग है। अमरसिंह, हस्तिदल, ब्रह्मशाह आदि शासकों के सामने सुशासन का लक्ष्य स्पष्ट रूप से था, यह बात गोरखाली इतिहास की अब तक मिली झाँकियों से भी दिखाई दे चुकी है। केवल पन्द्रह बरस के पच्छिमी हिमाचल के अपने शासन में ये सभी शासक उस आदर्श के पीछे चल रहे थे इससे यह प्रकट है कि कोई समान सामूहिक प्रेरणा इन सब को प्रभावित कर रही थी।

* * * * *

[गोरखाली इतिहास के यहाँ तक के विवेचन से यह प्रकट हुआ होगा कि सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दियों के पुनरुत्थान की धारा ने महाराष्ट्र बुन्देलखंड व्रजभूमि और पंजाब की तरह नेपाल को भी कैसे सींचा था। हम देखेंगे कि सन् १८१६ के बाद भी वह धारा नेपाल में भरपूर बहती रही और १८३७ के बाद क्रमशः छीजती हुई १८ सौ अस्सियों में जा कर लुप्त हुई। अर्वाचीन काल के भारतीय पुनरुत्थान की पहुँच की सीमाओं को पहचानने के लिए उस धारा का पूरा मार्ग टटोला जाना आवश्यक है।

किन्तु हमें वह कार्य फिलहाल मुलतवी करना होगा। इस ग्रन्थ के पहले पाँच नव-परिशिष्ट मार्च-अक्तूबर १६५४ में लिखे गये और इस नव-परिशिष्ट के आरम्भिक अंश के साथ पृ० ४६४ तक सन् १६५४ में ही छप गये थे। १६५५ के मार्च से अक्तूबर तक लेखक को दूसरे कार्यों में लगना पड़ा, जिसके बाद नवम्बर '५५ से मार्च '५६ तक फिर इस नव-परिशिष्ट पर कार्य हुआ, और इसका यहाँ तक का अंश फरवरी-मार्च १६५६ में छपा। अप्रैल '५६ से फिर दूसरे कार्यों में हाथ लगाना पड़ा जिनसे १६५७ के अन्त में जा कर छुटकारा मिला। १६५८ में यह ग्रन्थ पूरा हो कर निकल सकेगा इसकी आशा की गई थी और वर्ष के मध्य तक लेखक ने गोरखाली इतिहास का अगला अंश १८४० ई० तक का लिख भी डाला। उसका बाकी अंश अभी लिखा जाने को था कि जुलाई १६५८ से लेखक को फिर अन्य धन्धों में लगना पड़ा। इस दशा में इस नव-परिशिष्ट की पूर्ति और अगले के लिखे जाने की प्रतीक्षा में इस ग्रन्थ को रोके रखना अभीष्ट नहीं। इस नव-परिशिष्ट का शेष अंश लिखने का पक्का संकल्प है। उस अंश के लिखे जाने पर यहाँ तक छपे पहले अंश के साथ उसे अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जायगा जिसका नाम होगा—गोरखाली इतिहास की मुख्य धाराएँ।]

———

नव-परिशिष्ट ७

(आठवें नौवें व्याख्यानों का)

हाल का तजरबा

[दे० ऊपर पृ० १७८–१८०, १८३–१८४, १८६, २०३–२०६]

[भारत के समकालिक इतिहास के जिन पहलुओं की ओर आठवें नौवें व्याख्यानों में ध्यान दिलाया गया था, जैसे भारत की मोहनिद्रा का जारी रहना, अंग्रेज़ों द्वारा भारत का विदोहन, अंग्रेज़ी साम्राज्य का भारत पर निर्भर होना, आदि, सन् १९४१ के बाद की घटनाओं से उनपर क्या कुछ प्रकाश पड़ा, इन व्याख्यानों में निकाले गये परिणाम कहाँ तक पुष्ट हुए अथवा उनमें कुछ रद्दोबदल की आवश्यकता है, इसकी विवेचना इस नव-परिशिष्ट का उद्देश है। अब इसे भी अलग पुस्तिका रूप में प्रकाशित करने का संकल्प है।]

नव-परिशिष्ट ८

(नौवें व्याख्यान का)

भारत का आर्थिक इतिहास

[दे० ऊपर पृ० १६०]

स्व० रमेशचन्द्र दत्त ने सन् १६०१—०३ में ब्रितानवी शासन के अधीन भारत का आर्थिक इतिहास दो जिल्दों में प्रकाशित किया। अंग्रेज़ों द्वारा भारत के विभिन्न प्रदेशों के मालगुज़ारी बन्दोबस्त और स्थानीय शासन के प्रबन्ध, अंग्रेज़ी राज में भारत की पुरानी दस्तकारी और व्यवसायों की अवनति, भारत का भीतरी और बाहरी व्यापार, भारत सरकार की वित्तनीति, निर्यात-आयात, भारत से ब्रितानिया को धन का खिंचाव, मुद्रा और विनिमय का नियन्त्रण और उनके प्रभाव आदि आर्थिक जीवन के सब पहलुओं का उसमें विवेचन है। जिन आर्थिक घटनाओं तथ्यों और आँकड़ों को गूँथ कर वह कहानी बनी, वे अलग अलग बड़े सूखे प्रतीत होते होंगे और उन्हें खोजना सरियाना और गूँथना निश्चय से बहुत ही सूखा और कड़ी मेहनत का काम था, पर रमेश दत्त ने उनमें जान फूँक दी और उनके द्वारा जनता के जीवन का जीता जागता वेदना-भरा चित्र पेश कर दिया। उनकी वह रचना भारतीय इतिहास-वाङ्मय की अमर कृति है।

किन्तु उस कृति में भारतीय जनता के आर्थिक जीवन का इतिहास जिस स्पष्टता से पेश किया गया है वही यह प्रकट कर देती है कि कौन कौन से पहलू उसमें छुट गये हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल शिमला प्रदेशों पर अंग्रेज़ों का अधिकार १८१६ ई० में हुआ, किन्तु उनके माल-गुजारी बन्दोबस्त का, जिसमें बेगार और कुली-उत्तार की प्रथा भी

अन्तर्गत थी, रमेश दत्त के इतिहास में उल्लेख नहीं आया। इसी प्रकार सिन्ध के बन्दोबस्तों का भी। अंग्रेज़ी ज़माने की देसी रियासतों का आर्थिक इतिहास भी उसमें आने से रह गया। मध्य प्रदेश के सागर-नर्मदा प्रदेश १८१८ ई० में अंग्रेज़ों के हाथ आये थे, पर उनके तब के बन्दोबस्त का वर्णन रमेश दत्त ने दूसरी जिल्द में दिया जिसमें १८३७ के बाद का इतिहास है। यह प्रकटतः इस कारण कि इस विषय का अध्ययन उन्होंने पहली जिल्द के प्रकाशन के बाद किया। यों अंग्रेज़ी भारत के आर्थिक इतिहास के कई अंश लिखे जाने को बाकी हैं।

रमेश दत्त ने वह कहानी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचाई थी। उसके बाद अंग्रेज़ी राज की आधी शताब्दी के भारत के पेचीदा घटनापूर्ण आर्थिक इतिहास के अनेक पहलुओं पर अनेक अर्थशास्त्रियों ने बहुत कुछ लिखा है, पर रमेश दत्त की शैली पर समूचे आर्थिक जीवन का संकलनात्मक समन्वयात्मक इतिहास नहीं लिखा गया। वह लिखा जाय तो उसी के सिलसिले में १९४७ के बाद का इतिहास भी लाने से यह प्रकट हो कि अंग्रेज़ों द्वारा भारत का विदोहन हमारे स्वराज्य पाने के बाद किस प्रकार किस अंश तक समाप्त हुआ या किन अंशों में अब तक जारी है।

नव-परिशिष्ट ९

(नौवें व्याख्यान का)

भाड़ैत भारतीय सेना की विदेशों में करनी

[दे० ऊपर पृ० १९३—१९८]

किसी देश के सैनिक अपने देश के लिए विदेशों में जा कर जो विजय करते हैं, उन्हें उनके देशवासी अभिमान से याद करते हैं। किन्तु विदेशी के भाड़ैत बन कर उसके लिए जो दूसरों को मारते-हराते हैं, उनकी करनी को छिपाया भुलाया जाता है, क्योंकि उनका वह कार्य अपनी मांसपेशियों की वेश्या-वृत्ति है। इसीलिए भारत की भाड़ैत सेना से अंग्रेज जो काम लेते रहे उसे वे भरसक छिपाने के जतन करते रहे। सन् १९०७ के बाद भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने FRONTIER AND OVERSEAS EXPEDITIONS FROM INDIA (फ्रांटियर ऐंड ओवरसीज़ एक्स्पिडीशन्स फ्रौम इंडिया—भारत से सीमान्तों और विदेशों पर चढ़ाइयाँ) नामक ग्रंथ कई भागों में तैयार कराया था जिसमें भाड़ैत भारतीय सेना की सब बाहरी चढ़ाइयों का वृत्तान्त इकट्ठा किया गया था। किन्तु वह ग्रन्थ गुप्त रक्खा गया, बड़े अंग्रेज़ अधिकारियों के सिवाय कोई उसे देख न पाता था। इसी से ऊपर नौवें व्याख्यान के नौवें परिच्छेद में भाड़ैत भारतीय सेना की विदेशों में करनी का जो दिग्दर्शन कराया गया वह जहाँ तहाँ से जानकारी इकट्ठी करके। अंग्रेज़ी सरकार के उस गोप्य ग्रंथ की मुझे तलाश रही और अंग्रेज़ों के भारत छोड़ जाने के बाद सन् १९४९ में देहरादून में भारतीय सेना विद्यालय (आर्म्ड फ़ोर्सेस एकादमी) के पुस्तकालय में मैं उसे जल्दी जल्दी में देख पाया।

सन् १७६२ में मद्रासी सेना के स्पेनियों के विरुद्ध फ़िलिपीन भेजे जाने का उल्लेख उस ग्रन्थ में नहीं है। तो भी उस चढ़ाई की बात पक्की है। ६ अक्तूबर सन् १७६२ को अंग्रेजों ने मद्रासी फौज द्वारा मनीला को ले लिया था। उस अवसर पर वहाँ से लाया हुआ एक जयचिह्न (ट्रौफ़ी) मद्रास म्यूज़ियम में रक्खा गया जिसके साथ यह वृत्तान्त दर्ज किया गया था। मार्च १९३७ में उक्त म्यूज़ियम देखते हुए यह बात मैंने नोट की थी। वह जयचिह्न वहाँ अब भी होगा ही।

इससे यह प्रकट हुआ कि भारतीय भाड़ैत सेना की सब पहली बाहरी चढ़ाइयाँ १९०७ के बाद संकलित किये गये उस ग्रन्थ के संकलकों के ध्यान में नहीं आईं।

नव-परिशिष्ट १०

(दसवें व्याख्यान का)

भारत के ऐतिहासिक काल का फिरकेवार बँटवारा

[दे० ऊपर पृ० २१५]

भारतीय राष्ट्र की परिणति के अनुसार भारतीय इतिहास के जिस युगविभाग का उल्लेख ऊपर पृ० २१४-१५ पर किया गया है, उसका अनुसरण करते हुए समूचे भारतीय इतिहास का खाका मेरे जानते पहलेपहल मेरे नागपुर अभिभाषण[1] में पेश किया गया। उस अभि-भाषण में कुछ अंग्रेज़ लेखकों के चलाये हुए भारत के ऐतिहासिक काल के फ़िरकेवार बँटवारे की आलोचना यों की गई थी—

"कैम्ब्रिज विद्यापीठ से कई जिल्दों में जो भारतीय इतिहास निकल रहा है और जिसका एक संक्षिप्त संस्करण 'कैम्ब्रिज शौर्टर हिस्टरी' के नाम से ... निकला है, ... उसकी थोड़ी सी आलोचना भी मैं केवल इसलिए करता हूँ कि भारतवर्ष का इतिहास कैसा नहीं होना चाहिए, सो स्पष्ट कर सकूँ। इस 'शौर्टर हिस्टरी' को हिन्दू मुस्लिम और ब्रिटिश युगों में बाँटा गया है। पहले, वैदिक काल से लेकर विजयनगर के अन्त तक हिन्दू इतिहास है। फिर आठ शताब्दी पीछे हट कर सिन्ध में मुहम्मद-इब्न-कासिम के प्रवेश से दूसरी कहानी शुरू की गई है, जो बहादुरशाह दूसरे के पतन पर पूरी होती है; और तब फिर चार

---

१. जयचन्द्र विद्यालंकार (१९३६)—अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २५वें नागपुर अधिवेशन की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण, पृ० ६—११।

सौ बरस पीछे लौट कर वास्को दि गामा से तीसरा प्रकरण खुलता है। भारतवर्ष के इतिहास को यों मज़हबी ढाँचे पर चढ़ाना जीवित प्राणी को काठ के शिकंजे में कसना है। ... यदि इतिहास का प्रयोजन जातीय जीवन के क्रम-विकास को टटोलना है, तो यह युगविभाग उस विकास की सर्वथा उपेक्षा ही नहीं करता, प्रत्युत उसका गलत और भ्रान्त चित्र उपस्थित करता है। सिन्ध में अरब सत्ता की स्थापना की सूचना दिये विना आप प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के इतिहास को कैसे स्पष्ट कर सकते हैं ? दिल्ली और दक्खिन की तुर्क सल्तनतों की परिस्थिति को अंकित किये विना विजयनगर का इतिहास कहने बैठना विना भीत के चित्र बनाने के समान है। और फिर भारतीय समुद्र पर पुर्तगाली प्रभुता की स्थापना को समझाये विना, भारतीय तट पर गोला-बारूद और तोप-बन्दूक बनाने और चलाने में निपुण युरोपियों के आगमन की सूचना दिये विना, और १७वीं शताब्दी में भारतीय समुद्र में अंग्रेज़ और ओलन्देज़ डकैतों के अड्डे जमने की बात बतलाये विना, महमूद बेगड़ा, बहादुरशाह गुजराती, शेरशाह, अकबर, औरंगज़ेब, शिवाजी, बाजीराव आदि के कार्यों चिन्ताओं और चरितों की व्याख्या करना क्या किसी प्रकार सम्भव है ? फ्रांसीसी युद्ध-कला का जो भूत मराठा मस्तिष्क पर द्यूमा और दि-बुसी ने चढ़ा दिया था, उसका पता दिये विना क्या पानीपत की हार की व्याख्या की जा सकती है ? इस प्रकार के आकाश-चित्र उनके लेखक या लेखकों के दिमागी सपनों के चित्र भले ही हों, इतिहास हर्गिज़ नहीं कहला सकते" (वहीं, पृ० ५)।

दो वर्ष बाद अपने शिमला अभिभाषण में मैंने कहा था—"भारतीय इतिहास का साम्प्रदायिक युगविभाग—बौद्ध काल, हिन्दू काल, मुस्लिम काल आदि—न केवल बुरा है, प्रत्युत इतिहास की दृष्टि से सर्वथा असत्य और लगव है। वह एक तरफ उभरा हुआ, एक तरफ पिचका हुआ और बीच बीच में उखड़ा हुआ आइना है जो हमारे

इतिहास को अत्यन्त विरूप बना कर दिखाता है।"[२]

जैसा कि इस ग्रन्थ के उपसंहार में बताया गया है मेरा किया हुआ भारतीय इतिहास का युग-विभाग का० प्र० जायसवाल, ग्हूव्हो द्युब्रईय, चिं० वि० वैद्य, गौ० ही० ओझा आदि विद्वानों के दिखाये मार्ग के अनुसार था। मेरे नागपुर अभिभाषण और "इतिहासप्रवेश" (१६३८) के प्रकाशन के बाद और अनेक विद्वानों ने इसका समर्थन किया। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने "इस ... वैज्ञानिक और सत्य से भरे ... कालविभाग" का स्वागत किया (२८-१०-१६३८ का पत्र); राय कृष्णदास ने इसे भारतीय कला के इतिहास की मंजिलें भी ठीक ठीक दिखलाने वाला माना और इस "ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक काल-विभाजन का सामंजस्य" बुनियादी तौर से स्वीकार करते हुए लिखा—"अपने देश की कला में कभी सम्प्रदायपरक भेद नहीं रहा है। उसमें जो कुछ अन्तर है सो राजनीतिक युग वा काल-परक है।"[३]

कुछ अंग्रेज़ लेखकों ने भारतीय इतिहास के युग जो साम्प्रदायिक आधार पर बनाये इसका कारण उनका हमारे इतिहास की परिणति देख न पाना था। पर कुछ का—जैसे कैम्ब्रिज शौर्टर हिस्टरी वालों का—स्पष्ट उद्देश उसके द्वारा भारत में साम्प्रदायिक भेदभाव को उभाड़ना था। अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भारत के बच्चों तरुणों को इस असत्य से मुक्त करने को भारत की सरकार अपने पहले कर्त्तव्यों में से मानेगी यह आशा की जाती थी। भारत गणराज्य का संविधान लिखते हुए भाषा के प्रसंग (अनुच्छेद ३५१) में उसने इस बात पर बल दिया भी कि भारत की संस्कृति में सामासिक (कम्पोज़िट) एकता है। पर, जैसा कि मुझे वह अनुच्छेद लिखा जाने के तीन बरस बाद

२. जयचन्द्र विद्यालंकार (१६३८)—अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, २७वें शिमला अधिवेशन की इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण, पृ० ३।

३. कृष्णदास (१६३६)—भारत की चित्रकला, 'निवेदन' तथा पृ० ७१।

पूछना पड़ा, "अंग्रेज़ी साँचे के जो इतिहास अब भी हमारे बच्चों को पढ़ाये जा रहे हैं वे सामासिक एकता की कहानी सुनाते हैं या बुनियादी छिन्नभिन्नता की? जिस साम्प्रदायिक विद्वेष को भड़का कर अंग्रेज अपना शासन यहाँ चलाते थे उसे भड़काने में भारतीय इतिहास का मिथ्या-शिक्षण उनका विशेष हथकंडा था। १९४७ का हमारे देश का बँटवारा उसी मिथ्या-शिक्षण के विष-बीजों की फसल थी। पर आज भी वे बीज क्यों पनप रहे हैं?"[४]

और आज सात बरस बाद (१९५९) फिर वही प्रश्न करना पड़ता है। देश में उन्नति की बड़ी बड़ी योजनाएँ बन रही हैं, पर अपने देश के इतिहास का ठीक चित्र पेश करने के कर्त्तव्य से मानो जानबूझ कर मुँह फेर लिया गया है।

---

४. ज० च० विद्यालंकार (१९५२)—इतिहासप्रवेश चौथे संस्करण की प्रस्तावना, पृ० घ।

संशोधन-परिवर्धन

(१९५९ ई०)

(१) पृ० २९ पादटिप्पणी

ग्रियर्सन के आगे बढ़ाइए—

(१९०१)—रिपोर्ट औन दि सेंसस औफ़ इंडिया (भारत की मनुष्यगणना पर विवरणी) अ० ७; (१९०९)—इम्पीरियल गज़ेटियर औफ़ इंडिया (भारत-साम्राज्य का भुवनकोश) अ० ७, पृ० ३६४ प्र०;

(२) पृष्ठ ४६ पादटिप्पणी

के आरंभ में बढ़ाइए—

गेओर्ग बिउह्लेर (१८८६) बाइत्रैगे त्सुर एक्लैरुंग डेर अशोक-इन्श्रिफ़्टेन (अशोक अभिलेखों की व्याख्या-संबंधी नये सुझाव), ज़ाइटश्रिफ्ट डेर डौयचेन मौर्गेनलांडिशेन गेसेलशाफ्ट (जर्मन प्राच्य विद्या-परिषद-पत्रिका) जि० ४०, पृ० १३८; सा० कृष्णस्वामी ऐयंगर (१९१९)—हन प्रौब्लेम इन इंडियन हिस्टरी (भारतीय इतिहास में हूण समस्या), इं० आं० जि० ४८, पृ० ७२–७५।

(३) पृ० ६८-६९ तथा २९८–३३७

गुप्त साम्राज्य से पहले प्रवरसेन का वाकाटक साम्राज्य था जिसे भारशिव राज्य से बढ़ावा मिला था, तथा गुप्त साम्राज्य ने वाकाटक साम्राज्य का एक बार पराभव कर फिर उससे मैत्री स्थापित कर ली, इन तथ्यों को जायसवाल जी से नौ बरस पहले, एवं प्रवरसेन ने पच्छिमी क्षत्रपों का पराभव किया था इस तथ्य को मुझसे तेरह बरस पहले सा० कृष्ण-

स्वामी ऐयंगर ने पहचाना था।[1] उनकी कृति की ओर मेरा ध्यान पहले नहीं गया। अब उसे देख कर उनकी ऐतिहासिक सूझ को जहाँ सराहना चाहिए, वहाँ उनकी इन पहचानों से हमारी उक्त स्थापनाओं की पुष्टि होना भी स्पष्ट है।

(४) पृ० ९५ **पादटिप्पणी** ७ की पहली पंक्ति को यों पढ़िये—

७. गौरीशंकर ही० ओझा (१९२७)—राजपूताने का इतिहास जि० १, खंड २,

(५) पृ० १५२ पादटिप्पणी ३, तथा आगे अनेक जगह।

वामनदास वसु के ग्रन्थ राइज़ ऑफ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया का प्रथम प्रकाशन सन् १९२० में नहीं, १९२४ में हुआ प्रतीत होता है।

(६) पृ० २५३ पं० १०

डा० अल्तेकर के स्थान में पढ़िए—राखालदास बनर्जी।

पादटिप्पणी की संख्या के बाद बढ़ाइए—रा० दा० बनर्जी (१९०८)—नोट्स औन दि इंडो-सिथिअन कौइनेज (भारतीय शक सिक्कों पर टिप्पणियाँ), ज० प्रो० ए० सो० बं०, नया सिलसिला, भाग ४, पृ० ८२;

(७) पृ० २९३-९४

कालिदास के रघु-दिग्विजय पर और विचार करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रघुवंश ४. ६१ में जिन यवनों का उल्लेख

---

१. सा० कृ० ऐयंगर (१९२४)—दि वाकाटकस ऐंड देयर प्लेस इन दि हिस्टरी औफ़ इंडिया (वाकाटकों का भारतीय इतिहास में स्थान), ऐनल्स औफ़ दि भंडारकर इन्स्टीच्यूट (भंडारकर प्रतिष्ठान प्रगति-पत्रिका) जि० ५ पृ० ३१-५४।

है वे उयोन हैं, और ४.६८ में जिन हूणों का उल्लेख हैं वे, जैसा कि कृष्णस्वामी ऐयंगर ने दिखाया था, वंक्षु की दो उत्तरी धाराओं वक्ष और अक्सू के दोआब में बसे हुए मुख्य हूण वंश के लोग हैं।[२] उयोन थे मर्व और बलख में; उन्हें कालिदास ने पश्चिम दिशा में तथा हूणों और काम्बोजों को उत्तर दिशा में रक्खा है। महाभारत दिग्विजय पर्व में भी, जो दूसरी शताब्दी ई० पू० का है, कम्बोज देश अर्जुन के उत्तर-दिग्विजय में तथा हरात से कास्पी सागर तक का प्रदेश नकुल के पश्चिम-दिग्विजय में आया है।[३] यों पश्चिम और उत्तर दिशाओं का सीमा-विभाजन जैसा महाभारत में है, ठीक वैसा ही कालिदास में भी। अभी तक यह माना जाता रहा है कि रघुवंश ४.६१ में यवनों से अभिप्राय गोलमाल रूप से किन्हीं विदेशियों से है। पर अब जो अर्थ यहाँ दिया जा रहा है उससे प्रकट होगा कि कालिदास का देशों का वर्णन कितना सच्चा है। रघु के उत्तर-दिग्विजय से वह बात पहले ही प्रकट हो चुकी थी।[४] रघुवंश ४.६३ में पारसीकों की दाढ़ी का जो मज़ाक है, उससे भी वही बात पुष्ट होती है—देखिए ऊपर पृ० ३४६। दूसरे, इससे यह भी प्रकट हुआ कि कालिदास का रघु-दिग्विजय-वर्णन बलख में उयोनों की स्थापना—३५८ ई०—के बाद कभी का है। नवपरिशिष्ट ३ लृ ४ (पृ० ३६०-६१) में जो कहा गया है, उसे देखते वह वर्णन ३८८ ई० के बाद का होना चाहिए।

---

२. सा० कृष्णस्वामी ऐयंगर (१६१६)—हून प्रौब्लेम इन इंडियन हिस्टरी (भारतीय इतिहास में हूण समस्या), इंडियन आंटिक्वेरी १६१६, पृ० ६८-६६।

३. जयचन्द्र विद्यालंकार (१६३१)—भारतभूमि ... पृ० २६७ प्र०, विशेष कर ३१० प्र; (१६३४)—नकुल का पश्चिम-दिग्विजय, गौ० ही० ओझा को समर्पित भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ, विभाग ८, पृ० ३ प्र०।

४. ज० च० वि० (१६३१)—भारतभूमि, पृ० ३०८-०६।

(८) पृ० २९९ पं० १

मार्कण्डेय पुराण में पुरिका को विदर्भ और अश्मक के साथ गिनाया है यह ठीक है, पर उस संदर्भ का प्रतीक देने में डा० अल्तेकर के ग्रन्थ में थोड़ी चूक हुई है जो उसके दूसरे मुद्रण (१९५४) में भी दोहराई गई है। वह बात अ० ५४ श्लोक ४८ में है, अ० १०७ श्लोक ४८ में नहीं।

(९) पृ० ३२२–२३

दूभ शब्द के अर्थ के विषय में ३२३ पृष्ठ वाला पहला पैराग्राफ़ लिखने के बाद मेरे मन में कुछ सन्देह रहा, इसलिए मैंने अपने विद्वान् मित्र, वैदिकपदानुक्रमकोश के सम्पादक और विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान के निदेशक आचार्य विश्वबन्धु जी का मत माँगा। उनका पत्र यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जाता है—

श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने अपने नये ग्रंथ "भारतीय राष्ट्र का विकास और पुनरुत्थान" के पृष्ठ ३२३ पर मयूरशर्मन् के एक प्राकृत अभिलेख का उद्धरण दिया है जिसमें "दूभ-त्रैकूट···मोखरि" यह समस्त पद मयूरशर्मन् पद के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ देख पड़ता है। उक्त समास के अन्दर दूभ पूर्वपद और त्रैकूट ··· मोखरि यह द्वंद्व समास उत्तरपद बना है।

पाणिनीय धातुपाठ में (भ्वा० ५७३) "दूर्व" हिंसा करने के अर्थ में पढ़ा गया है। इसी धातु का दुर्वति रूप पाली में दुब्भति एवं दूभति बना है (देखें, राइस-डेविड्स, पाली-आंगल कोष, १९२१, पृष्ठ १९२)। यही रूप अर्ध-मागधी में आकर दूभई बना है (देखें, रत्नचंद्र, अर्ध-मागधी कोष, भाग ३–१९३०–पृ० २०८)। उक्त धातु का ही क्तान्त रूप दुर्वित (=हिंसित, मारित) प्राकृत में दूभि (मि) अ—>दूभ (म) बना है।

इस विवरण के अनुसार, प्राकृत अभिलेख में दूभ (=हिंसित

किये, मारे) त्रैकूट प्रभृति जिसने ऐसा मयूरशर्मा इस प्रकार से विशेषण और विशेष्य का समानाधिकरण संबंध ठीक बैठ जाता है।

उक्त अर्धमागधी-कोष में जो अर्धमागधी के उक्त क्रियापद दूभई को पाणिनीय धातुपाठ (भ्वा० ६६६) दवति से मिलाया गया है, सो ठीक नहीं। कारण उक्त भ्वादि दु धातु का अर्थ गति है न कि दुःखी करना। वैसे भी, दूभई का दवति से विपरिणत होना दुर्घट होगा। इसी प्रकार उक्त कोष में जो "दूभ" (=दुःखित किया गया) को संस्कृत दु> दावि> दावित का विपरिणाम कहा है, सो भी उक्त दोनों कारणों से ही असंगत समझना चाहिए।

इसी प्रकार हरगोविन्ददास सेठ—पाइयसद्दमहण्णवो—में जो प्राकृत दूभ को दुःखित शब्द का विपरिणाम कहा है, सो भी सर्वथा दुर्घट समझना चाहिए। अतः, दुःखित शब्द अकर्मक रहता है या सकर्मक भी होता है, इसका यहाँ विवेचन करना अनपेक्षित होने से इतना मात्र कह कर उपसंहार किया जाता है कि दुःखित शब्द दो भिन्न धातुओं से व्युत्पन्न हो कर अकर्मक भी होता है और सकर्मक भी।

होशिआरपुर, १०–६–५४ विश्वबन्धु

इसके आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। इससे निश्चित हो गया कि 'दूभ' का अर्थ 'हराये' ही है और इतिहास की जो व्याख्या चन्द्रवल्ली अभिलेख के आधार पर इस ग्रन्थ में की गई है सो पक्की है।

(१०) पृ० ४१६ पं० १३–१४

रिंचन के बेटे का नाम हैदर रिंचन की मृत्यु के पीछे शाहमेर ने रख दिया हो यह सम्भव है। इसलिए केवल हैदर नाम से यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि रिंचन इस्लाम की ओर झुका।

(११) पृ० ४२२ पादटिप्पणी पं० १

पैमानेवाले के आगे बढ़ाइए—

कर्नल एफ़० बी० लौंगे, सर्वेयर-जनरल ऑफ़ इंडिया के निदेशन में

(१२) पृ० ४३२ दूसरा तीसरा पैरा, पृ० ४३३ पहला पैरा

श्लोक ३०१ में कोटा के बुढ़ापे का जो उल्लेख है, यहाँ बुढ़ापे का अर्थ अधेड़पन या ढलती जवानी ही है। इस दशा में कोटा की आयु अब छत्तीस-एक बरस की तथा रिंचन से विवाह होने पर सोलह-एक बरस की रही होगी। यों यह समस्या सुलझ जाती है।

(१३) पृ० ४४६ पैरा ३

सुशर्मपुर=हुशयारपुर ही होना चाहिए। त्रिगर्त के मैदान के ठीक सिरे पर और पहाड़ों की ठीक पैंदी में इसकी ऐसी स्थिति है जो इस आधे मैदान आधे पहाड़ प्रदेश की राजधानी होने के लिए बिलकुल उपयुक्त है। इसके पासपड़ोस की पहाड़ी बस्तियों के लोग बरसात में चोओं के बढ़ जाने पर दुनिया से कट जाने से पहले अपनी रसद यहीं की मंडी से ले जाते हैं, जो यों उनके आर्थिक जीवन का भी आधार है। आचार्य विश्वबंधु जी की व्याख्यानुसार सुशर्मपुर नाम का अपभ्रंश रूप हुशाःर हुआ। सुशर्मपुर से सुशम्मउर>सुशामउर> सुशाअउर>सुशाउर>सुशाःर> हुशाःर यों नाम की परिणति हुई। अन्त में उसके साथ फिर पुर लगा कर और फ़ारसी-पढ़ों ने सुधार कर होशिआरपुर बना दिया; जैसे पंजाबी पुशौर या पिशौर को पेशावर। जनसाधारण का उच्चारण अब भी हुशाःरपुर ही है। इस नगर में और इसके आसपास पुराने थेह (भीटे) हैं; उनसे भी इसका पुराना होना प्रकट होता है और उनकी खुदाई से इस प्रश्न पर और प्रकाश पड़ सकता है।

(१४) पृ० ४८८-८९

रणबहादुर के पिछले चरित से सम्बद्ध नेपाल इतिहास के जो प्रश्न यहाँ उपस्थित किये गये हैं वे ओल्डफील्ड के काल से पुराने हैं। नेपाल में अंग्रेज़ रेज़िडेंट हौगसन (१८३३-४३) के लिखे सरकारी कागज़ों में उनकी बुनियाद है। किन्तु हौगसन के कथन भी इन घटनाओं के बारे में प्रामाणिक नहीं हैं, सो हम "गोरखाली इतिहास की मुख्य धाराएँ" में देखेंगे।

ग्रंथपरिचय और ग्रंथानुक्रमणी

[उद्धृत ग्रन्थों लेखों और उनके लेखकों का परिचय और अनुक्रमणी यहाँ साथ साथ दिये जा रहे हैं। प्रत्येक कृति के परिचय के बाद अगली पंक्ति में इस ग्रन्थ के उन पृष्ठों की संख्याएँ दर्ज हैं जिनपर उस कृति का उल्लेख या प्रतीक आया है। परिचय में प्राचीन और आधुनिक कृतियों की सूचियाँ अलग अलग हैं। प्राचीन ग्रंथों के यदि किन्हीं विशिष्ट संस्करणों का उपयोग किया गया है तो उनका विवरण भी दिया गया है। आधुनिक कृतियों की सूची से पहले उन आधुनिक नियतकालिकों (Periodicals) और संग्रहग्रन्थों का ब्यौरा है जिनमें प्रकाशित सामग्री का इस ग्रंथ में उल्लेख या प्रतीक आया है। फुटकर कृतियों के लेखक का नाम और कृति का प्रकाशन-काल मात्र प्रायः दिया गया है। इस ग्रंथ में जहाँ उनका उल्लेख आया है, वहाँ उनके शीर्षक या विषय और उन नियतकालिकों या संग्रहग्रन्थों का पता मिल जायगा जिनमें वे प्रकाशित हुई हैं।]

अ. प्राचीन ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अमरसिंह—अमरकोश

४।

अम्मिआनुस मार्चेल्लिनुस

२६३-६४।

अर्थशास्त्र दे० कौटल्य।

अली, अबुल हसन

७६।

अल्बरूनी—तहकीके-हिन्द का एडवर्ड ज़खौ (Sachau) कृत अंग्रेज़ी अनुवाद, लंदन, १८८८,

६१, ८८, १४६, २४८, २५०, २५२।

इ-चिङ—जे. तकाकुसु कृत इ-च्चिङ के यात्रा-विवरण का अंग्रेज़ी अनुवाद 'ए रिकौर्ड औफ़ दि बुधिस्ट रिलीजन ऐज़ प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐंड दि मलय आर्किपैलिगो ए. डी. ६७१–६५, (भारत और मलाया द्वीपावली में ६७१–६५ ई० में प्रचलित बौद्ध धर्म का विवरण), औक्सफ़र्ड १८६६,

३२५-२६।

इब्न कोतैबा

२७५।

उपनिषद्

१३,

बृहदारण्यक उपनिषद्

१४।

ऋग्वेद

१२-१३, ४३, ३५२।

कल्हण—राजतरंगिणी, औरेल स्टाइन द्वारा सम्पादित मुम्बई १८६२, दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित मुम्बई १८६४, औरेल स्टाइन

सं० ४५४, जि० ४, पृ० ७६ प्र०, दे० जातक,
२४ ।

चादूर, हैदर मलिक
३७२ ।

जयानक—पृथ्वीराजविजय, गौरीशंकर हीराचंद ओझा और चन्द्रधर गुलेरी द्वारा सम्पादित, अजमेर १६२४,
३७३ ।

जातक, फ़ौसबोल द्वारा सम्पादित जातकत्थवण्णना छह जिल्दों में, लंदन १८७७–६६, सातवीं जिल्द = अनुक्रमणी ऐंडरसन द्वारा १८६७,
२२६-३० ।

जोनराज—राजतरंगिणी (दूसरी), पिटर्सन द्वारा संपादित, मुम्बई १८६६,
३७१–८६, ३८६–४०७, ४१०–४६ ।

तबारी
२६४, २६८-६६, २७१, २७८ ।

तारीख-ए-रशीदी, मिर्ज़ा मुहम्मद हैदर दुगलात कृत तारीख-ए-रशीदी का एन. ईलियस तथा ई० डेनिसन रौस कृत अंग्रेज़ी अनुवाद, लंदन १८६५,
४०२ ।

तारीख-ए-सोरठ
६७ ।

थेरी-अपदान, सुत्तपिटक के खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत (दे० सुत्तपिटक),
२२६ ।

(दण्डी)—दशकुमारचरित
२२४ ।

दुगलात दे० तारीख-ए-रशीदी ।

वराह
५;
वायु, राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा बिब्लौथिका इंडिका में सम्पादित, कलकत्ता १८८०, अथवा आनन्दाश्रम पूना १६०५,
५, ६, २२, ४८४ ;
हरिवंश, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई १६१७-१८,
४, ६, ३०२ ।
पेतवत्थु, सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के अन्तर्गत (दे० सुत्तपिटक)
२३५ ।
पेरिप्लुस मारिस एरुथ्रै, विल्फ्रेड शौफ़ कृत अंग्रेजी अनुवाद 'पेरिप्लस औफ़ दि इरीथ्रियन सी', लंदन १६१२,
२७६-८० ।
सोलमाय
२५२ ।
प्राज्यभट्ट और शुक—राजतरंगिणी (चौथी), पिटर्सन द्वारा सम्पादित, मुम्बई १८६६,
२२७, ३७१-७२, ३६६-६७, ४०७, ४४७ ।
फ़रिश्ता
११५, २७२-७३ ।
फ़ाउस्तोस
३४३ ।
फ़िरदौसी—शाहनामा
२६४ ।
बाण भट्ट—हर्षचरित
७५, ६१ ।
बावडेकर, रामचन्द्र नीलकण्ठ—राजनीति अथवा आज्ञापत्र (मराठी),

श्री० व्यं० पुणताम्बेकर कृत अंग्रेज़ी अनुवाद 'ए रॉयल एडिक्ट औन दि प्रिंसिपल्स औफ़ स्टेट पौलिसी ऐंड और्गनिज़ेशन', मद्रास १९२९,

१५३।

बृहदारण्यक उपनिषद् दे० उपनिषद्।

बृहत्संहिता, वराहमिहिर कृत, सुधाकर द्विवेदी द्वारा विजयानगरम् संस्कृत सीरीज़ में सम्पादित, १८९५–९७,

२९८।

भगवद्गीता

१४, १५।

भोज—शृङ्गारप्रकाश

७६।

मसऊदी

२६४, २७४।

महाभारत (१) प्रतापचन्द्र राय का संस्करण, कलकत्ता १८८९,

३–६, २४, २२२, २२४;

(२) भंडारकर इन्स्टीट्यूट पूना का आलोचित संस्करण

२३२, २३५–३७, २४०–४४, ३५१-५२, ३५४–५८, ३९६-९७, ४४६, ५३८-३९।

मा तुआन लिन

२९२–९४।

मानव गृह्य सूत्र दे० गृह्य सूत्र।

मार्को पोलो, हेन्री यूल द्वारा सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद 'दि बुक औफ़ सेर मार्को पोलो', १८७१, ३य संस्क० हेन्री कोर्दिये (Cordier) द्वारा संशोधित, लन्दन १९०३,

३८७–८९।

मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति की विज्ञानेश्वर कृत टीका, निर्णयसागर

मुम्बई १६१८,

७१ ।

याज्ञवल्क्य स्मृति, निर्णयसागर मुम्बई १६१८,

३ ।

यास्क—निरुक्त

२२६-३० ।

य्वान च्वाङ—वैटर्स-कृत य्वान च्वाङ के यात्राविवरण का अंग्रेज़ी में अंशानुवाद और विवेचन 'औन युआन च्वाङ्स ट्रैवल्स इन इंडिया', लंदन १६०४-५,

४६, ७६-८०, २२१, २३०, २४१, २४५-४६, ३६३-६७ ।

राजशेखर—काव्यमीमांसा, गायकवाड ओरियंटल सीरीज़ (गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला), बड़ोदा १६१६,

ग, ७६ ।

राम—वाल्मीकि-रामायण पर तिलक व्याख्या, काशिनाथ पांडुरंग परब द्वारा सम्पादित, निर्णयसागर मुम्बई १६०२,

३५१ ।

ललितावल्लभ—पृथ्वीन्द्रवर्णनोदय

४६६ ।

वराहमिहिर—बृहत्संहिता दे० बृहत्संहिता ।

वाल्मीकि—रामायण, निर्णयसागर मुम्बई १६०२,

३४८-५२, ३५८ ।

विशाखदत्त—देवीचन्द्रगुप्तम्

७५-७६ ।

वेइ-शु

२६१-६४, २६६ ।

वेद

२२५।

शंकर—हर्षचरित टीका

७६।

शतपथ ब्राह्मण

३३४।

श्रीवर—राजतरंगिणी (तीसरी)

३७१-७२, ४०७, ४४७।

षट्-खण्डागम, अमरावती १६३६,

६१, २५०।

सुत्तपिटक, पालि टेक्स्ट सोसाइटी लंदन का रोमक संस्करण

२३५।

सूरि, नयचन्द्र दे० नयचन्द्र सूरि।

हम्मीर-महाकव्य दे० नयचन्द्र सूरि।

हरदत्त—गौतमधर्मसूत्र टीका, आनन्दाश्रम पूना १६१०,

१५।

इ. आधुनिक नियतकालिक

आक्ता ओरयंतालिया (Acta Orientalia), डेनमार्क स्वीडन नौर्वे के प्राच्य खोज करने वाले विद्वानों की पत्रिका, अंग्रेजी फ्रांसीसी और जर्मन में, लयिदन (हौलैंड) से प्रकाशित १६२३ से।

आर्कियोलौजिकल सर्वे औफ़ इंडिया ऐन्युअल रिपोर्ट (भारत पुरातत्त्व पर्यवेक्षा वार्षिक विवरणी), भारत सरकार द्वारा प्रकाशित १६०१ से।

इं० आं०=इंडियन आंटिक्वेरी (भारतीय पुरातत्व-पत्रिका), अंग्रेजी में, मुम्बई १८७१–१६३३।

इंडियन कल्चर (भारतीय संस्कृति), अंग्रेजी में, कलकत्ता १६३५–४७।

इं० हि० क्वा० = इंडियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली (भारतीय इतिहास त्रैमासिक) अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १९२५ से ।

एपि० इंदिका = एपिग्राफ़िया इंदिका (भारतीय अभिलेख पत्रिका), अंग्रेज़ी में, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित १८९२ से ।

एपिग्राफ़िया इन्दोमुस्लेमिका (भारतीय मुस्लिम अभिलेख पत्रिका), अंग्रेज़ी में, भारत सरकार द्वारा १९०७ से ।

एशियाटिक रिसर्चेज़ (एशियाई खोज), बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १७८८ से १८३६ तक कुल २० जिल्दें ।

ऐं० भं० ओ० रि० इं० = ऐनल्स औफ़ दि भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (भंडारकर प्राच्य खोज प्रतिष्ठान का प्रगति-पत्र), अंग्रेज़ी में, पूना १९१९ से ।

ऐनुअल रिपोर्ट औफ़ दि मैसूर आर्कियोलौजिकल डिपार्टमेंट (मैसूर पुरातत्त्व विभाग की वार्षिक विवरणी), मैसूर सरकार द्वारा प्रकाशित १९०१ से ।

करेंट साइन्स (समकालिक विज्ञान), इंडियन साइन्स इंस्टीट्यूट (भारतीय विज्ञान प्रतिष्ठान) बेंगलूर की पत्रिका, अंग्रेज़ी में, बेंगलूर १९३२ से ।

जर्नल औफ़ इंडियन हिस्टरी (भारतीय इतिहास की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, मद्रास १९२१ से ।

जर्नल औफ़ दि आन्ध्र हिस्टौरिकल रिसर्च सोसाइटी (आन्ध्र ऐतिहासिक खोज सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, राजमहेन्द्री १९२७ से ।

जर्नल औफ़ दि इंडियन न्युमिस्मैटिक सोसाइटी (भारतीय मुद्रानुशीलन सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, मुम्बई और बनारस १९३९ से ।

ज० ए० सो० बं० = जर्नल औफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी औफ़

बंगाल (बंगाल एशिया सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १८३२–१६०४, पहला सिलसिला।

ज० प्रो० ए० सो० बं० = जर्नल ऐंड प्रोसीडिंग्स ऑफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल (बंगाल एशिया सभा की पत्रिका और कार्यविवरण), अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १६०५–१६३४, दूसरा सिलसिला।

जर्नल ऑफ़ दि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी (बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, बनारस १६३७ से।

ज० बि० ओ० रि० सो० = जर्नल ऑफ़ दि बिहार ऐंड ओड़िस्सा रिसर्च सोसाइटी (बिहार उड़ीसा खोज सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, पटना १६१५–५१।

ज० रा० ए० सो० = जर्नल ऑफ़ दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी (ब्रितानिया की राजकीय एशिया सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, नया सिलसिला, लन्दन १८६५ से।

ज० रा० ए० सो० बं० = जर्नल ऑफ़ दि रौयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल (बंगाल की राजकीय एशिया सभा की पत्रिका), अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १६३५ से। १६३५ में बंगाल की उक्त सभा ने अपने नाम में 'राजकीय' विशेषण बढ़ा लिया जो १६४७–५० में निरर्थक हो जाने पर उसे छोड़ना पड़ा। वास्तव में यह ज० ए० सो० बं० का तीसरा सिलासिला है। १६३५ से इसके प्रत्येक वार्षिक भाग के तीन अंश रहते हैं (१) साहित्य (२) विज्ञान (३) वर्ष-विवरण।

त्साइटश्रिफ़्ट डेर डौयचेन मौर्गनलांडिशेन गेसेलशाफ़्ट (जर्मन प्राच्य विद्या परिषद् की पत्रिका), जर्मन में, लाइपज़िग १८६४–१६२१, नया सिलसिला १६२२ से।

जियोग्राफ़िकल जर्नल (भूवृत्त पत्रिका) ब्रितानिया की रौयल जियोग्राफ़िकल सोसाइटी (राजकीय भूवृत्त सभा) की पत्रिका,

अंग्रेज़ी में, लन्दन १८३५ से।

ना० प्र० प०=नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, हिन्दी में, बनारस १९२० से।

न्यू इंडियन आंटिक्वेरी (नई भारतीय पुरातत्त्व-पत्रिका), अंग्रेज़ी में, मुम्बई १९३८–४७।

पालियोबौटनिस्ट बीरबल साहनी द्वारा स्थापित पालियोबौटानिकल इन्स्टीट्यूट (पुराण-वनस्पतिशास्त्र प्रतिष्ठान) लखनऊ से प्रकाशित, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन में, १९५२ से। इसका पहला अंक बीरबल साहनी स्मारक ग्रन्थ था।

भारतीय विद्या, भारतीय विद्याभवन मुम्बई की पत्रिका, हिन्दी में, मुम्बई १९३९ से।

मौडर्न रिव्यू (आधुनिक पर्यालोचन), श्री रामानन्द चटर्जी द्वारा इस शताब्दी के आरम्भ में स्थापित अंग्रेज़ी मासिक, कलकत्ता। इस पत्रिका में राजनीतिक सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक सभी समकालिक विषयों की आलोचना रहती है; साथ ही भारतीय खोज के महत्त्वपूर्ण मौलिक लेख भी इसमें निकलते रहे हैं।

ज़्हूर्नाल आज़िआतीक (Journal Asiatique), (एशियाई पत्रिका), फ्रांसीसी एशिया परिषद् की पत्रिका, फ्रांसीसी में, पैरिस १८२२ से, प्रतिवर्ष दो जिल्दें।

उ. संग्रह ग्रन्थ

इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कंट्रीज़ (भारत और पड़ोसी देश) भारत सरकार की सर्वे ऑफ़ इंडिया (भारत भू-पर्यवेक्षा) द्वारा प्रकाशित नक्शे, देहरादून और कलकत्ता, १९०५ से।

इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया (भारत साम्राज्य का भुवन-कोश), भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, ऑक्सफ़र्ड १९०७–०९।

कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया (भारत का सांस्कृतिक दाय),

श्री रामकृष्ण परमहंस शताब्दी स्मारक ग्रन्थ, अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १६३७।

केशोत्सव स्मारक संग्रह, हिन्दी शब्दसागर की पूर्त्ति के उपलक्ष में नागरीप्रचारिणी सभा बनारस द्वारा प्रकाशित लेखसंग्रह, हिन्दी में, बनारस १६२६।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा के सम्मान में समर्पित भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ, हिन्दी गुजराती बँगला उड़िया मराठी मलयाळम सिंहली संस्कृत फ़ारसी अंग्रेज़ी जर्मन और रूसी में, इलाहाबाद १६३४।

दस्तूर पेशोतनजी बहरामजी संजाना कौमेमोरेशन वौल्यूम (द० पे० ब० संजाना अभिनन्दन ग्रन्थ), मुम्बई १६०४।

प्रोसीडिंग्स औफ़ दि सिक्स्थ आल-इंडिया ओरियंटल कौन्फ़रेंस (छठे भारतीय प्राच्य सम्मेलन का कार्यविवरण), पटना १६३२।

प्रोसीडिंग्स औफ़ दि सेवन्थ आल-इंडिया ओरियंटल कौन्फ़रेंस (सातवें भारतीय प्राच्य सम्मेलन का कार्यविवरण), बड़ोदा १६३५।

रामकृष्ण गोपाल भंडारकर कौमेमोरेशन वौल्यूम (रा० गो० भंडारकर अभिनन्दन ग्रन्थ), अंग्रेज़ी में, पूना १६१७।

रिपोर्ट औन दि सेंसस औफ़ इंडिया १६०१ (१६०१ की भारत मनुष्य-गणना का विवरण), भारत सरकार द्वारा प्रकाशित कलकत्ता १६०३।

विमलचन्द्र लाहा कौमेमोरेशन वौल्यूम (वि० लाहा अभिनन्दन ग्रन्थ), अंग्रेज़ी में, कलकत्ता १६४५।

ऋ. आधुनिक लेखक और उनकी कृतियाँ

एचिसन, सी० यू० (१८६२–६५)—कलेक्शन ऑफ़ ट्रीटीस इंगेजमेंट्स ऐंड सनद्स रिलेटिंग टु इंडिया ऐंड नेबरिंग कंट्रीस, भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता,
४८५।

एल्फिंस्टन
२३०;
(१८६६)—हिस्टरी ऑफ़ इंडिया (भारत का इतिहास), लंदन,
११५।

ऐटकिन्सन (१८८३)—नोट्स ऑन दि हिस्टरी ऑफ़ दि हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ़ दि नौर्थवेस्ट प्रौविन्सेस ऑफ़ इंडिया, इलाहाबाद,
४६२, ४७६, ५०९।

ऐयंगर, सा० कृष्णस्वामी (१९१९)—
२२७-२८, ५३७–३९;
(१९२१)—साउथ इंडिया ऐंड हर मुहम्मडन इन्वेडर्स, मद्रास,
१०३;
(१९२४)—
५३७-३८।

ऐलन, जौन (१९१४)—ए कैटेलौग ऑफ़ दि इंडियन कौइन्स इन ब्रिटिश म्यूज़ियम—कैटलौग ऑफ़ दि कौइन्स ऑफ़ दि गुप्त डिनैस्टीज़ ऐंड ऑफ़ शशांक किंग ऑफ़ गौड (ब्रितानवी म्यूज़ियम में के भारतीय सिक्कों की सूची—गुप्त वंशों तथा गौड के राजा शशांक के सिक्कों की सूची), लन्दन,
३२६।

ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द (१९१८)—भारतीय प्राचीन लिपिमाला,

भाग १, कलकत्ता,
२७२;
(१९३२)—
२३८ ।

कोलम्बो (१८७३)—स्लेव कैचिंग इन इंडियन ओशन, लंदन,
१८८ ।

कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द (१९४१)—
२१८–२० ।

गज़ेटियर औफ़ इंडिया ऐंड पाकिस्तान, 'इंडिया ऐंड ऐडजेसेंट कंट्रीस' में आये स्थान-नामों का कोश, भारतीय सेना के मुख्य अधिष्ठान द्वारा प्रकाशित, दिल्ली १९५७,
४२२ ।

गार्डनर
२७६ ।

गुप्त, जगनलाल (१९३१)—
१८,१०१-०२ ।

गुलेरी, चन्द्रधर (१९२०)—
७६ ।

गैरट, दे० औपन और गैरट ।

गोखले, वासुदेव विष्णु (१९५४)—
२४० ।

ग्रियर्सन, ज्यौर्ज अब्राहम (१९०१)—
५३७;
(१९०६)—
५३७;
(१९०४–२८)—लिंग्विस्टिक सर्वे औफ़ इंडिया, कलकत्ता,
२६ ।

घोष, योगेशचन्द्र (१९३५)—
३५२–५६।
चक्रवर्ती, चिन्ताहरण (१९२९)—
३५०, ३५२, ३५६।
चक्रवर्ती, निरंजनप्रसाद
७२।
चटर्जी, बिजनराज (१९२७)—इंडियन कल्चर इन जावा ऐंड सुमात्रा, कलकत्ता,
७२, १०४।
चटर्जी, सुनीतिकुमार
२९।
छाबड़ा, बहादुरचन्द (१९४५)—
३०२।
जायसवाल, काशीप्रसाद
५६, २१८, २४४, २४८-४९, ३३९;
(१९१२–१८–२४)—हिन्दू पौलिटी, भागलपुर, कलकत्ता,
५, ४२, २११-१२, ५३५;
(१९१५)—
२१९-२०;
(१९१६)—
४८;
(१९१७–३०)—मनु ऐंड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता,
३;
(१९३२)—(१)
७६;
(१९३३)—(२)
२३८-३९;

(१९३३)—हिस्टरी ऑफ़ इंडिया १५० ए० डी० टु ३५० ए० डी०, लाहौर,

६६–६६, २५६–५८, २७०, २९८-९९, ३०१–६, ३०८-९, ३१३, ३१६–२०, ३२२, ३२७, ३२९, ३३५-३६, ३४१, ५३७।

जिउसेप्पे (१७९०)—

४६९।

जौपन, चार्ल्स (१९०७)—हिस्टौरिकल ऐटलस ऑफ़ इंडिया (भारत की ऐतिहासिक ऐटलस) लंदन, मुम्बई, कलकत्ता आदि,

९६।

जौपन और गैरट (१९३८)—हिस्टौरिकल ऐटलस ऑफ़ इंडिया, ४र्थ संस्क०, लंदन आदि,

९६।

जौप्सन—हिस्टौरिकल ऐटलस ऑफ़ इंडिया

३५३, ३५८-५९।

ज्ञवाली, सूर्यविक्रम (१९३३)—(१) रामशाह को जीवनचरित्र, दार्जिलिङ,

४६१;

(१९३३)—(२) द्रव्यशाह को जीवनचरित्र वा गोर्खा विजय को इतिहास, दार्जिलिङ,

४६१, ४६३;

(१९३५)—पृथ्वीनारायण शाह, दार्जिलिङ,

४६१-६२, ४६४–७१; ४८४;

(१९४०)—वीर बलभद्र, दार्जिलिङ,

४६१, ५०८;

(१९४३)—अमरसिंह थापा, दार्जिलिङ,

४६१, ४७४-७५, ४७७-७८, ४८०–८३, ४८६–

(१६०८)— दे० साहनी, दयाराम ।
फ्रांटियर ऐंड ओवरसीज़ एक्स्पिडीशन्स फ्रौम इंडिया
५३१ ।
बकल (१८५७–६१)—हिस्टरी औफ़ सिविलिज़ेशन इन इंग्लैण्ड, लंदन,
११ ।
बनर्जी, राखालदास (१६०८)—
२६२, ३४३, ५३८;
(१६१४–२१)—बांगलार इतिहास भाग १, २, कलकत्ता,
६१-६२, ६४-६५, ६६-१००, १०५, १११, ११६;
(१६२६)—
४५०;
(१६३०)—हिस्टरी औफ़ उड़ीसा, कलकत्ता,
६५, १०२, १११,
(१६२४–३३)—एज औफ़ दि इम्पीरियल गुप्तस, बनारस
१६३३,
७६-७७ ।
बाग्ची, प्रबोधचन्द्र (१६२७)—इंडिया ऐंड चाइना, कलकत्ता,
६५, ७२, १०३ ।
बुसाल्यी, मारियो (१६५२)—
२४४ ।
बेली और डाउसन (१८८६)—हिस्टरी औफ़ गुजरात, लन्दन,
६७ ।
बोइःतलिंक, ओतो, और रोथ, रूदोल्फ़ (१८५२–५७)—संस्कृत
वोर्टेरबुख, सेंत पीतर्सबुर्ग,
३५०, ३५२, ३५८-५६ ।
भंडारकर, देवदत्त रामकृष्ण
२४५;

(१६१५)—२६३;
(१६२३)—अशोक (कलकत्ता युनिवर्सिटी के कार्माइकेल आसन से व्याख्यान)
४८–५०,
(१६२६)—
२८५-८६;
(१६२६-३०)—
८४;
(१६३७)—
३५८ ।
भंडारकर, रामकृष्ण गोपाल (१६१३)—वैष्णविज़्म शैविज़्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, स्ट्रासबुर्ग (जर्मनी), २य संस्क०,
४-५, १३, २३-२४ ।
भालेराव, भास्कर रामचन्द्र
४५२ ।
मजूमदार, रमेशचन्द्र (१६४३)—
३५६;
(१६४६, अ० स० अल्तेकर के साथ)—
३२८, ३३२-३३, ३४१, ३४६, ३६२;
(१६५४, अ० द० पुसलकर के साथ)—दि हिस्टरी ऐंड कल्चर औफ़ दि इंडियन पीपल—दि क्लासिकल एज, मुम्बई,
२६२, २८६, २६०, २६६, ३४६, ३४६ ।
महता, पृथ्वीसिंह (१६४०, जयचन्द्र विद्यालंकार के साथ)—बिहार, एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन, पटना और लहरियासराय,
११६, १८६;

यज़्दानी, गुलाम (१९१३-१४)—
११६ ।
यूल, हेन्री (१८७१)—दे० प्राचीन ग्रन्थों में मार्को पोलो ।
य्हूलियाँ
३६६ ।
रत्नचन्द्र (१९३०)—अर्धमागधी कोश, लीम्बड़ी,
५४० ।
राइट, डेनियल (१८७७)—दे० प्राचीन ग्रन्थों में गुणानन्द ··· ।
राइट, नेल्सन (१९३६)—दि कौइनेज ऐंड मेटरोलौजी औफ़ दि सुल्तान्स औफ़ देहली, दिल्ली,
१०० ।
राजवाडे, विश्वनाथ काशीनाथ,
७ ।
रानडे, महादेव गोविन्द (१९००)—राइज़ औफ़ दि मराठा पावर,
१२२, ४५१ ।
रामन, चन्द्रशेखर वेंकट (१९५३)—
ण ।
राय, हेमचन्द्र (१९३१)—डिनैस्टिक हिस्टरी औफ़ नौर्दर्न इंडिया—अर्ली मेडीवल पीरियड, जि० १, कलकत्ता,
३७३, ३७८, ३८९-९०, ३९४, ४००, ४०७, ४१६ ।
रायचौधुरी, हेमचन्द्र—पोलिटिकल हिस्टरी औफ़ एंश्यें इंडिया, छठा संस्क०, कलकत्ता १९५३;
२२२-२४, २५५, ३१३ ।
रालिन्सन, हेन्री (१८३६-४४)—
२६५-६६ ।
रेनेल
१५४ ।

वर्मा, धीरेन्द्र (१६२२)—
४२-४३ ।
वसु, जगदीशचन्द्र (१८६५)—
५०८-०६ ।
वसु, वामनदास (१६२४)—राइज़ ऑफ़ दि क्रिश्चियन पावर इन इंडिया, कलकत्ता,
१५२, १५४–५६, १६०, ५०४, ५३८;
(१६३३)—इंडिया अंडर दि ब्रिटिश क्राउन, कलकत्ता,
१० ।
वाटसन दे० फरीदी ।
वान विज्क दे० कोनो (१६२३–२६) ।
वाल्टन, एच० जी० (१६११)—देहरादून गज़ेटियर, इलाहाबाद,
४८५, ५०६-१० ।
विद्यालंकार, जयचन्द्र (१६२६)—डेट ऑफ़ कनिष्क
६२, २४७, २५५;
(१६३०-३१) भारतभूमि और उसके निवासी, आगरा,
१६-२०, ३७-३८, ४३, ५७, ७२, ८३, ८८, ६७, २३५–३६, ३००, ३५०, ४०८, ४६६, ५३६;
(१६३०–३२)—रवुज़ लाइन ऑफ़ कौन्क्वेस्ट अलौंग इंडियाज़ नौर्दर्न बौर्डर
३८, ४३;
(१६३३)—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, इलाहाबाद,
ञ, ३, ५-६, १२-१३, २३, ३६–३६, ४२, ४६–५५, ५८–६१, ६७, ७२, २१६-२०, २२३, २३६, २३८, २४६–५४, २६२, २७७, ३०१-२, ४६६;
(१६३३–३५)—इंडियन एम्परर कौंटेम्पोरेरी ऑफ़

(१९५१)—(१) श्वेत पर्वत (२) लघु इतिहासप्रवेश, इलाहाबाद,
२४२;
(१९५२)—इतिहासप्रवेश, ४र्थ संस्क०, इलाहाबाद,
२८०, ३७३, ३९४, ४१६, ४५७, ४८२, ५०१, ५३६;
(१९५७)—इतिहासप्रवेश, ५म संस्क०, इलाहाबाद,
ण।
विलियम्स, जी० आर० सी० (१८७४)—हिस्टौरिकल ऐंड स्टैटिस्टिकल मेमौयर औफ़ देहरादून, रुड़की,
४६४, ४७७, ४८३–८५, ५०६, ५२४-२५।
विल्सन, एच० एच० (१८४१)—
२६५, ३४६।
विश्वबन्धु (१९५४)—
५४०–४२।
वैटर्स (१९०४–०५)—दे० प्राचीन ग्रन्थों में य्वान च्वाङ।
वैद्य, चिन्तामणि विनायक (१९२१–२६)—हिस्टरी औफ़ मेडीवल हिन्दू इंडिया, जि० १–३, पूना,
११५, २१५, ५३५।
शर्मा, दशरथ (१९३७)—
३५८।
शास्त्री, नीलकण्ठ
२४५;
(१९४६)—
३०६, ३२८, ३२२।
शास्त्री, हरप्रसाद (१८९५–९७)—ए स्कूल हिस्टरी औफ़ इंडिया, कलकत्ता,
४५१, ४६०-६१।

सांकृत्यायन, राहुल (१९३३)—तिब्बत में बौद्ध धर्म, इलाहाबाद,
१०३ ।
सान्याल, शचीन्द्रनाथ (१९२२)—बन्दी जीवन भाग १, इलाहाबाद,
५०८ ।
साहनी, दयाराम, और फ्रांके, ए० एच० (१९०८)—
३९९, ४०१, ४१०-११, ४१३, ४१५, ४१७-१८,
४४९ ।
साहनी, बीरबल (१९४५)—टेक्नीक ऑफ़ कास्टिंग कौइन्स इन एन्श्येंट इंडिया, मुम्बई,
२३६ ।
साहा, मेघनाद (१९५३)—
ण ।
सीग
२३७-३८ ।
सीगलिंग
२३८ ।
सेठ, हरगोविन्द दास (१९२८)—पाइयसद्दमहण्णवो, कलकत्ता,
३२३, ५४१ ।
सेन, जलधर
५०९ ।
सैं मार्ती
३६४, ३६६ ।
सोरोकिन, पितिरिम (१९३७)—सोशल ऐंड कल्चरल डिनामिक्स, न्यूयौर्क,
११–२० ।
स्कौट (१८९९)—
३३७-३८ ।

हेग, सर वूल्सली (१६२८)—कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ़ इंडिया, जि० ३, कैम्ब्रिज,
 ६३–६६, ३७२, ४४७–५० ।
हेमराज, पंडितज्यू
 २२२ ।
हेर्त्सफ़ेल्ड, एर्न्स्ट (१६२४)—पाइकुली जि० १-२, बर्लिन,
 २६६–७२, २७४–७८, २८०–८६, २८८–६१, २६६, ३६६;
 (१६३०)—कुशानो-सासानियन कौइन्स, भारत-पुरातत्त्व-पर्यवेक्षा, कलकत्ता,
 २८६-८७, २८६–६१, २६४-६५ ।
हैमिल्टन, फ्रांसिस (१८१६)—ऐन ऐकाउंट ऑफ़ दि किंगडम ऑफ़ नेपाल ..., एडिनबरा,
 ४६२, ४८४, ५२३ ।
हैवेल,
 १७ ।
हौगसन
 ५४३;
 (१८४६, १८७४)—दि लौंग्वेजेस लिटरेचर ऐंड रिलीजन ऑफ़ नेपाल ऐंड टिबेट, कलकत्ता,
 ४८४ ।

साधारण अनुक्रमणी

[ग्रन्थों और लेखकों के नाम जो ग्रन्थानुक्रमणी में दिये गये हैं उन्हें छोड़ इस ग्रन्थ में आये अन्य नाम इस अनुक्रमणी में दिये जा रहे हैं; किन्तु पृ० २२-२३ पर आये वे सब और पृ० ४ पर आये वे अमानुष अवतारों के नाम छोड़ दिये गये हैं जो केवल इन्हीं पृष्ठों पर आये हैं। प्रत्येक नाम के आगे उन पृष्ठों की संख्याएँ हैं जिनपर वह आया है। जो नाम बहुत बार आये हैं उनके बारे में कुछ ब्यौरा भी दिया गया है। ऐसे ब्यौरे में नाम को आवश्यकतानुसार एकवचन से बहुवचन बना लेना चाहिए।

संकेत—(१) विवरण-परक आ = आचार्य, विद्वान्; इति = इतिहास; गि = गिरि, पहाड़; जा = जाति, गण, सम्प्रदाय, कोई भी मनुष्य-समूह; दे = देश, प्रदेश, ज़िला, परगना; न = नदी, उसकी दून या काँठा; ने = नेता, जननायक; पर्व = पर्वत = पहाड़ की शृंखला; पुन = पुनरुत्थान; म = मध्य; रा = राजा, रानी, राजकुमार-री, राज्य; रा पु = राजपुरुष = राजकीय अधिकारी; रा वं = राजवंश; वा = वाणी, भाषा, बोली; श = शताब्दी; सर = सरोवर, झील; सल्त = सल्तनत; सा = साम्राज्य; से = सेनापति, सेनानायक; स्था = स्थान।

(२) नामों के अफ़ = अफ़गान पठार, अफ़गानिस्तान; अं = अंग्रेज़-ज़ी; क = कश्मीर-री; कु = कुषाण; गु = गुप्त; गुज = गुजरात; गो = गोरखाली; चा = चालुक्य, सोलंकी; पंज = पंजाब; पु = पुर्तगाली; पृ ना = पृथ्वीनारायण शाह; प्र = प्रतिहार; प्रव = प्रवरसेन; बं = बंगाल; बाला = बालाजी राव; बि = बिहार; बु = बुन्देलखंड; भा = भारत, भारतीय; महा = महाराष्ट्र (लोग, देश); मु = मुगल; यु = युरोपी; राज = राजस्थान; वाका = वाकाटक; सक = शकस्थान = सकस्तान = सिजिस्तान = सीस्तान; स गु =

समुद्र गुप्त; सत = सतलज; सात = सातवाहन; सासा = सासानी; सि = सिक्ख; सिं = सिन्ध; सु = सुराष्ट्र; हि = हिन्दू; हिम = हिमालय; हू = हूण।]

अनुक्रमणी-संशोधन

पहले छपे को या में नीचे लिखे अनुसार बना या बढ़ा लीजिए। पृष्ठ पंक्ति का निर्देश जहाँ आवश्यक है वहीं किया गया है।

(१) ग्रन्थानुक्रमणी

पृ० ५४६ पाणिनि

३४८, ५४०-४१।

अन्तिम पंक्ति

२६६, ४८४, ५४०;

पृ० ५५८ अल्तेकर अन्त में बढ़ाइए—

(१९५४)—

५४०।

पृ० ५६८ यथास्थान बढ़ाइए—

बिउह्लेर, गेओर्ग (१८८०)—दे० इन्द्रजी।

(१८८६)—

५३७।

पं० २३ ५७ के स्थान में पढ़िए ७५

पृ० ५७१ पं० ७ ५४०-४१।

पृ० ५७२ अन्त में बढ़ाइए—

लौंगे, एफ़ बी० (१९१०)—

५४२।

(२) साधारण अनुक्रमणी

पृ० ५८१ पं० ७ **गोरा** के बजाय **गोरा, फिरंगी**

पृ० ५८२ पं० ८ ५०१–३; को भा से निकालने को गो का चीन से अनुरोध ५१५; का महा से प्रथम युद्ध ५१६; के राज में भा की

पृ० ५८४ पं० २७ **अफ़रीका** (दे) का अं द्वारा विदोहन १०-११; में आधुनिक सभ्यता पहुँचना ४७; की प्राचीन भा

पृ० ५८६ पं० २५ अन्तिम अंश भूवृत्तलेखक २२७, २७८–

कालो (न) ४६२, ४७४-७५, ४६१, ४६७, ५०४,५१६, ५२१-२२ ।
कुराळ (दे) ३२६-३०, ३३३ ।
कृष्ण वासुदेव (ने) ४–६, १५, २२, २४, २५१ ।
कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास (आ) १, ४, २२-२३, ३५४ ।
केरल (दे०) ४० ।
चष्टन (रा) २५२, २७८, ३०७, ३१३ ।
जीवदामा (१) (रा) ३०७ । (२) (रा पु) ३०८, ३१२ ।
जोगमल (रा पु) ४७६ ।
देवस्वामी (आ) ४१६ ।
नन्दी (१) (रा) ३३० । (२) (देव-वाहन) ६७, ३७४ ।
पृ० ६४१ पं० ३

३४३; का नाम वाहीक ३४८–५०; में विष्णुपद ३५३; चन्द्र गु सा में ३६१—

पापक (रा) (१) (२) २६७ ।
पृ० ६४७-४८ स वाले नाम प्र वालों से पहले के बजाय पीछे जाने चाहिएँ ।
बिल्हण (आ) ३६० ।
बोलुइ के बजाय बोलुर

नारायण (देवता) ४-५ ।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की ऐतिहासिक कृति

(१) सन् १९२० से १९३०

१. **प्राचीन भारत में राष्ट्रीय ऋण**, प्रभा (मासिक), कानपुर, मार्च १६२०, पृ० ४५-४६।

२. **मण्डलीक काव्य—सुराष्ट्र के इतिहास पर नया प्रकाश**, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३, बनारस १६२२, पृ० ३३५—३६६।

मण्डलीक काव्य अप्रकाशित संस्कृत ग्रन्थ है जिसमें सुराष्ट्र के १३वीं-१४वीं शताब्दी के इतिहास की घटनाओं का वर्णन है। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के पास शिष्य रूप में विद्याग्रहण कर चुकने पर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को ओझाजी ने इसकी हस्तलिखित प्रति देते हुए यह कार्य सौंपा था कि इससे प्राप्य तथ्यों का अन्य इतिहास-उपादानों के साथ समन्वय कर के सुराष्ट्र के उस युग के इतिहास का पुनर्निर्माण करें। इस विषय के ज्ञान को तब से और किसी विद्वान् ने इससे आगे नहीं बढ़ाया।

३. **भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार**, क्राउन ८ पृ० ६५, लाहौर १६२५।

- अध्ययन की गम्भीरता, विचारों की पैठ और कल्पना की उड़ान बड़ी प्रभावोत्पादक ... है। ... विचार-स्वतन्त्रता का परिचय ... खूब मिलता है। ... हिन्दी में ... ऐतिहासिक मनोवृत्ति ... वाले विरले ही हैं। ... जयचन्द्र विद्यालंकार उन्हीं विरलों ... में ... हैं ... भारतीय इतिहास-विज्ञान के सम्बन्ध में न तो हिन्दी में और न अँगरेजी में ही अभी तक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ ...। एक के बाद एक ऐतिहासिक घटना भौगोलिक रज्जु से आकर्षित होकर

आपके सामने से गुज़रती चली जायगी। भारत के भूगोल का इतना अच्छा ऐतिहासिक अध्ययन अभी तक ··· और किसी ने नहीं किया। ··· भूगोलेतिहास के अध्ययन की ··· नवीन दिशा सुझाई है। भौगोलिक परिस्थितियों के ऐतिहासिक घटनाओं पर प्रभावों को जिस सुन्दर ढंग से वर्णन करते हैं, वह पढ़ते ही बनता है।

—प्रताप (कानपुर), १३ जुलाई १९२५।

- Pandit Vidyalankar has touched opon a very interesting subject. His consideratians on geographical and orographical peculiarities of India shed new light on indian history and civilisation. How the strategic points determined the military enterprises in this land is most ably dealt with.

  —The Modern Review, Calcutta, Jan. 1927.

  [पं० विद्यालंकार ने बड़े मनोरञ्जक विषय को छेड़ा है। उनका भारत की भूवृत्तीय और भू-तलीय विशेषताओं का विवेचन भारतीय इतिहास और सभ्यता पर नया प्रकाश डालता है। इस देश की नाकेबन्दी का सामरिक उद्योगों के निर्णयों में कैसे प्रभाव पड़ता रहा सो बड़ी योग्यता से दिखाया है।

  —मौडर्न रिव्यू कलकत्ता, जनवरी १९२७]

- ... orginality of thought and clearness of views ...

  —The Vedic Magazine, Gurukula Kangri, February 1927.

  [विचार की मौलिकता और विशदता ···

  —वैदिक मैगज़ीन, गुरुकुल काँगड़ी, फरवरी १९२७]

४. **भारतवर्ष का एक राष्ट्रीय इतिहास**, माधुरी (मासिक), लखनऊ १९२६ (भाद्रपद १९८३), पृ० १९२–१७४।

५. **भारतीय इतिहास में गुरु गोविन्दसिंह का स्थान,** आज (दैनिक), बनारस, २० जनवरी १६२७ ।

६. **प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिगम्य इतिहास,** सरस्वती (मासिक), इलाहाबाद, अप्रैल १६२७, पृ० ४४७–४५८ ।

एफ़० इ० पार्जीटर के ग्रन्थ 'एन्श्येंट इंडियन हिस्टौरिकल ट्रैडीशन' (लंडन १६२२) का आलोचन और उसके प्रकाश में नये खोज-मार्गों का विवेचन ।

7. **The Date of Kaniska,** Journal of the Bihar & Orissa Research Society, Vol. XV, Patna 1929, pp. 47–63.

[७. **कनिष्क का काल,** जर्नल ऑफ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जि० १५, पटना १६२६, पृ० ४७–६३ ।]

८. **ऐतिहासिक पद्धति,** विद्यापीठ (काशी विद्यापीठ का त्रैमासिक) जि० १, बनारस १६२६, पृ० ३६१–३६७ ।

9. **Raghu's Line of Conquest along India's Northern Border,** Proceedings of the sixth Indian Oriental Conference, Patna 1930 (published (1933), pp. 101–121.

[६. **भारत की उत्तरी सीमा के साथ रघु की विजय-रेखा,** छठी भारतीय ओरियंटल कान्फ़रेंस का कार्यविवरण, पटना १६३० (१६३३ में प्रकाशित), पृ० १०१–१२१ ।]

(२) सन् १९३१ से १९४१

१०. **भारतभूमि और उसके निवासी,** क्राउन ८ पृ० २४ + ४१०, ३ नक्शों और अनुक्रमणी सहित । उपर्युक्त सं० ३ का परिवर्धित संस्करण, छठी भारतीय ओरियंटल कान्फ़रेंस के सभापति डा० हीरालाल लिखित प्रस्तावना सहित, आगरा १६३१ ।

● डा० हीरालाल ने अपनी प्रस्तावना में लिखा था—पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की यह नई सूझ है जो (भारतीय) भूगोल को शास्त्र का रूप दे रही है। ''' भौगोलिक स्थिति से इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा इसका विवेचन जहाँ तक मुझे ज्ञात है पहले-पहल पण्डित जयचन्द्र ही ने किया है। ''' इस देश में उस ओर किसी का भी ध्यान गया जान नहीं पड़ता।

● अपने ३०–६–१९३१ के पत्र में डा० हीरालाल ने लिखा—आशा है आपका प्रयत्न अनेक लोगों की आँखें खोल देगा।

● स्वीडन के प्राच्य-वेत्ता डा० स्टेन कोनौ (Sten Konow) ने ओस्लो (नौर्वे) से अपने १०–१–१९३२ के पत्र में लिखा था—

...very useful as a handy book of reference ... My first impression is that you are right in finding a connexion between *Ṛshika* and *Ārśi, Asioi, Asianoi* ... If further study confirms me in this view, ... I shall certainly give you the credit for having been the first scholar to see the connexion.

[छोटे निर्देश-ग्रन्थ रूप में अत्यन्त उपयोगी ''' आपने जो ऋषिक और आर्शी, असिओई, असिआनोई के बीज सम्बन्ध ढूँढा है, मेरी पहली धारणा यह है कि वह ठीक है ''' यदि आगे अध्ययन से मेरा यह मत पक्का हो गया ''' तो मैं निश्चय से यह सम्बन्ध पहचानने वाले पहले विद्वान् होने का श्रेय आपको दूँगा।]

● आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने दौलतपुर, रायबरेली, से २० फ़रवरी १९३२ के पत्र में लिखा था— ''' यह तो अद्भुत और अनमोल पुस्तक है ''' आपके अजस्र अध्यवसाय और प्रचुर पाण्डित्य का पता सहज ही लग जाता है। हिन्दी साहित्य को आपने एक अपूर्व रत्न दान किया। एतदर्थ मैं आपका हृदय से

अभिनन्दन करता हूँ। शतायुर्भवतु भवान्।

● आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने जर्नल ऑफ़ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जि० १८ (१९३२) पृ० ९९-१०० में लिखा था—

R. B. Hiralal commends the labour and insight of the author, which I endorse ... New and reliable matters based on solid research abound in this closely printed little book.

[··· रा० ब० हीरालाल ने लेखक की मेहनत और अन्तर्दृष्टि की प्रशंसा की है, जिसका मैं समर्थन करता हूँ। ··· ठोस खोज पर आश्रित नई और विश्वसनीय सामग्री इस घनी छपी हुई पुस्तिका में भरपूर है।]

● फ्रांसीसी प्राच्यवेत्ता प्रो० सिल्व्याँ लेवी (Sylvain Levi) ने य्हूर्नाल आज़िआतीक (Journal Asiatique) के जनवरी-मार्च १९३३ के अंक में अपने एक लेख में प्रसंगवश लिखा था—

Comme M. Sieg avait, sans hésiter, reconnu dans le nom d' Ārçi les Asioi classique, un savant indien M. Jayachandra Vidyalankara, a reconnu dans ce même nom un ethnique des classiques indiens, les Ṛṣika (Bhāratabhūmi aur uske nivāsī cité dans Journ. Bihar and Orissa Res. Soc. XVIII, I, 97 et 99); dans les Ṛṣika il reconnaît les Yueîche, ces mêmes Indoscythes à qui MM. Sieg et Siegling avaient des l'abord attribué le dialecte A; ... Il y a là un avertissement qu'il ne faut pas négliger. (pp. 6-7).

[जैसे श्री सीग ने विना संकोच के आर्शी नाम में प्राचीन यूना-

नियों द्वारा वर्णित असि जाति को पहचान लिया था, वैसे ही एक भारतीय विद्वान् श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसी नाम में प्राचीन भारतीयों की एक जाति ऋषिक को पहचाना है (भारतभूमि और उसके निवासी, जर्न० बिहार ऍंड ओड़ीसा रिस० सो० १८, १, पृ० ६७ और ६६ पर उद्धृत); ऋषिक में उन्होंने युइ-चि को पहचाना है, उन्हीं भारतीय शकों को जिन्हें श्री सीग और श्री सीगलिंग ने आरम्भ से ही अ बोली बोलने वाला माना था। ··· यह एक ऐसी सूचना है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।]

(टिप्पणी—सीग और सीगलिंग दोनों जर्मन प्रोफेसर थे। पूर्वी मध्य एशिया से दो लुप्त आर्य भाषाओं के लेख मिले जिनके काम-चलाऊ नाम युरोपी विद्वानों ने अ A और इ B बोली रक्खे। अ बोली के अपने लेखों में उसका नाम आर्शी मिला।)

- मई १६३३ में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा में हुए द्विवेदी अभिनन्दन समारोह में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पुस्तक पर पहला द्विवेदी स्वर्ण-पदक अपने हाथ से प्रदान किया था।
- बड़ोदा राज्य पुरातत्त्व-विभाग के निदेशक (डायरेक्टर) डा० हीरानन्द शास्त्री ने अपने २८ अगस्त १६३६ के पत्र में लिखा था—भारतभूमि और उसके निवासी का मैंने अभी ध्यान से पाठ किया। आप···तो गोदड़ी के लाल··· ।
- प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम मुम्बई के निदेशक डा० मोतीचन्द्र ने अपने ग्रन्थ Geographical and Economic Studies in the Mahābhārata : Upāyana Parva, [महाभारत उपायन पर्व का भूवृत्तीय और आर्थिक अध्ययन] (लखनऊ १६४५) की प्रस्तावना में लिखा—

In the early days of my return from abroad I was singularly fortunate to come in direct contact of the ennobling and inspiring personality

of the late Dr. K. P. Jayaswal. In his inspiring talks to us he always made it a point to enthuse us about ancient Indian geography, without a knowledge of which Indian history in his opinion looked like an open-air drama in which members of the audience are required to do their own guessing about the scenic arrangements. I listened to him with rapt attention, but with my limited knowledge of Indian history and literature I could do little to solve the tangles of Indian historical geography. But there were others who took the cue, and among them foremost stands the name of Prof. Jaya Chandra Vidyalankar. His researches are embodied in an interesting book in Hindi entitled *Bharat Bhumi aur uske Nivasi* (India and her peoples), in which he has focussed brilliantly the problems of Indian historical geography. It will not be an exaggeration to say that we have yet to see a book of this type in other Indian languages, or as a matter of fact even in European languages.

[विदेश से लौटने के बाद के अपने पहले दिनों में यह मेरा अद्वितीय सौभाग्य हुआ कि मैं स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल के ऊँचा उठाने वाले प्रेरणादायक व्यक्तित्व के सीधे सम्पर्क में आया। हमारे साथ अपनी प्रेरणादायक बातचीत में वे सदा प्राचीन भारतीय भूवृत्त के लिए हमें उत्साहित करने का विशेष ध्यान रखते थे। उनका मत था कि उसके ज्ञान विना भारतीय इतिहास विना

पदों के नाटक की तरह लगता है जिसमें दर्शकों को दृश्यों के बारे में स्वयं अन्दाज़ करना होता है। मैं ध्यान-मग्न हो कर उनकी बात सुनता, पर भारतीय इतिहास और साहित्य का अपना ज्ञान परिमित होने से भारत के ऐतिहासिक भूवृत्त की गुत्थियों को सुलझाने को कुछ कर न पाता। पर और लोग थे जिन्होंने वह संकेत ले लिया, और उनमें सब से ऊपर नाम है प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार का। उनकी खोज *भारतभूमि और उसके निवासी* नाम की रुचिकर हिन्दी पुस्तक में सङ्कलित है, जिसमें उन्होंने भारत के ऐतिहासिक भूवृत्त के प्रश्नों पर उज्ज्वल प्रकाश केन्द्रित किया है। यह अत्युक्ति न होगी कि हमने दूसरी भारतीय भाषाओं में, या सच कहें तो युरोपी भाषाओं में भी, ऐसा ग्रन्थ नहीं देखा।]

११. **प्रसाद की राज्यश्री**—राय कृष्णदास के माँगने पर चिट्ठी में भेजी आलोचना, ३० सितम्बर १६३२। सप्तसिन्धु (हिन्दी मासिक) पटियाला, भाग ६, फरवरी १६६०, पृ० ६२-६३।

१२. **भारतीय इतिहास की रूपरेखा (प्राचीन काल)**, २ जिल्दों में, रॉयल ⅛ पृ० ४४ + २८ + १०८०, इलाहाबाद १६३३।

● श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पांडुलिपि पढ़ कर ३१-७-१६३१ को लिखा था—

I have examined Mr. Jay Chandra Vidyalankar's Outline of Indian History (ancient period). It is a unique work. From the Vedic age up to the end of the Gupta period, Indian history has been surveyed in all its aspects—political, social and cultural. The author has utilised the researchs by various scholars up to date and has added his own contributions which are important. Such a synthetic work had not

been attempted before ... The learned author's method is perfectly critical and his judgement logical ...

[मैंने श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की भारतीय इतिहास की रूपरेखा (प्राचीन काल) को जाँचा है। यह अद्वितीय कृति है। वैदिक काल से ले कर गुप्त युग के अन्त तक भारतीय इतिहास की राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक सभी पहलुओं से पर्यवेक्षा की गई है। लेखक ने विभिन्न विद्वानों की अब तक की खोजों का उपयोग किया है, और उनमें अपनी महत्त्वपूर्ण खोजें भी जोड़ी हैं। ऐसा समन्वयात्मक ग्रन्थ लिखने का अब तक किसी ने प्रयत्न न किया था। ··· विद्वान् लेखक की शैली पूरी तरह आलोचनात्मक और विचारपद्धति तर्कानुसारिणी है। ···]

- हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९३४ के दिल्ली अधिवेशन में इस ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया था।
- भारत में पुरातत्त्व खोज के प्रमुख निदेशक (Director-General of Archaeology in India) श्री काशीनाथ नारायण दीक्षित ने अक्तूबर १९३८ में अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन शिमला अधिवेशन की इतिहास-परिषद् के स्वागताध्यक्ष पद से अपने अभिभाषण में कहा था—

  मैंने स्वयं उनकी पुस्तक भारतीय इतिहास की रूपरेखा को बड़ी रुचि से पढ़ा है। उनकी योग्यता का प्रभाव मेरे पर ही नहीं अपितु किसी भी पढ़ने वाले पर पड़ सकता है।
- इस ग्रन्थ के एक परिशिष्ट 'बौद्ध धर्म और वाङ्मय के विकास का दिग्दर्शन' का सिंहल अनुवाद सिंहल पत्रिका दिनमणि में १९३८ में प्रकाशित हुआ।

13. Telugu Numerals in the North Indian Play of Guli-Ḍanḍa, Journal of the Andhra

Historical Research Society, Rajahmundry 1934, pp 151-2.

[**१३. उत्तर भारतीय गुल्ली-डंडे के खेल में तेलुगु अंक,** जर्नल ऑफ़ दि आन्ध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसाइटी, राजमहेन्द्री १९३४, पृ० १५१-५२ ।]

१४. भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, बनारस १९३३, पृ० ६९–९२ । द्वितीय संस्करण पुस्तक रूप में । क्राउन ⅛ पृ० ६६, दिल्ली १९३३ ।

- बड़ोदा राज्य पुरातत्त्व-विभाग के निदेशक (डायरेक्टर) डा० हीरानन्द शास्त्री ने इसके तीसरे संस्करण (इलाहाबाद १९३७) की प्रस्तावना में लिखा था—विद्यालंकारजी की वही शैली है जो पाश्चात्य विद्वानों की । जिस ढँग से और संक्षेप तथा पूर्णता के साथ ''' हमारे साहित्य की प्रत्येक शाखा को प्रस्तुत किया है वह अतीव रोचक और सुगम है ।
- दक्षिण भारत के प्रमुख ऐतिहासिक प्रो० के० ए० नीलकंठ शास्त्री ने उसे आद्योपान्त पढ़ने के बाद अपने ३–२–१९३९ के पत्र में लिखा था—

I very much like the terse and instructive survey containinig much shrewd criticism by the way, of the literary sources of our history in your Bhāratīya Vāngmaya.

[आपके *भारतीय वाङ्मय* में हमारे इतिहास के साहित्यिक उपादानों की जो संक्षित सारगर्भित और शिक्षाप्रद पर्यवेक्षा और साथ ही प्रसङ्गवश निपुण आलोचना है वह मुझे बहुत ही पसन्द आई ।]

15. The Indian Emperor Contemporary of Augustus, Proceedings of the Seventh Indian

Oriental Conference, Baroda 1933 (Published 1935), pp. 625–7.

[१८. **औगुस्तुस् का समकालिक भारतीय सम्राट्**, सातवीं भारतीय ओरियंटल कान्फ़रेंस का कार्यविवरण, बड़ोदा १९३३ (१९३५ में प्रकाशित), पृ० ६२५–२७ ।]

● रोम युनिवर्सिटी के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के प्रो० मारियो बुसाल्यी (Mario Bussagli) ने अपने ३१ जनवरी १९५२ के पत्र में इस तथा नीचे-दर्ज सं० ३३ कृति के बारे में लिखा—

due ottimi lavori ... mi permetto di esprimerle la mia ammirazione per la lucidità e l'esattezza con cui ha esaminato le due questioni.

Sto lavorando a uno studio d'insieme sui rapporti fra Roma e l'India. Credo che la sua spiegazione del nom e l'identificazione del re indiano che invio l'ambasceria ad Augusto a Samo ... siano perfettamente esatte. Non voglio farle un complimento o una banale espressione di approvazione, voglio invece ringraziarla di cuore ... E approfitto di questa graditissima occasione per inviarle insieme con i miei ringraziamenti i deferenti ossequi di uno studioso innamorato dellà civiltà indiana come lo è di quella di Roma.

Suo devotissimo
Mario Bussagli.

[...दो उत्तम कृतियाँ ...। जिस विशदता और ठिकाई से आपने दोनों प्रश्नों की परीक्षा की है उसके लिए मुझे अपने प्रशंसा-भाव

प्रकट करने की इजाज़त दीजिए। मैं रोमा और भारत के बहुसंख्यक सम्बन्धों के अध्ययन में लगा हूँ। मेरा विश्वास है कि उस भारतीय राजा की जिसने ... औगुस्तो के पास सामो में अपने राजदूत भेजे थे, पहचान तथा नाम के विषय में आपकी विवेचना बिलकुल ठीक है। मैं कोई इसके लिए अपनी औपचारिक प्रशंसा या पसन्दगी नहीं बता रहा, मैं तो आप को हृदय से धन्यवाद देना चाहता हूँ ... मैं भारतीय सभ्यता पर वैसा ही मुग्ध हूँ जैसा रोमी पर, और मैं इस प्रसन्नता के अवसर पर अपने धन्यवादों के साथ आपको आदर-सहित प्रणाम भेजता हूँ। आपका भक्त मारियो बुसाल्यी]

१६. **महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा के सम्मान में समर्पित भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ** (सम्पादित) एशिया युरोप और अमरीका के विद्वानों के १३ भाषाओं के लेखों का संग्रह, एशियाई भाषाओं के सब लेख नागरी में तथा प्रत्येक अ-हिन्दी लेख का हिन्दी सार भी, पृ० ५५२ रौयल चौथाई, इलाहाबाद १९३४।

● डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये ने, जो कि सह-सम्पादकों में से थे, अपने ४-११-१९३५ के पत्र में लिखा था—

The Ojha Comm. Volume is a splendid production and it also bears ample testimony to your powers of organisation and your scholarship, since it was you who was mainly responsible for its publication.

[ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ शानदार कृति है, और यह आपकी संघटन-क्षमता और विद्वत्ता की भरपूर गवाही देती है, क्योंकि इसके प्रकाशन के लिए मुख्यतः ज़िम्मेदार आप ही थे।]

१७. **नकुल का पश्चिम-दिग्विजय**, ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ, इलाहाबाद १९३४, खण्ड ८, पृ० ३–९।

● भंडारकर इन्स्टीट्यूट पूना के निदेशक और उस इन्स्टीट्यूट से प्रकाशित महाभारत के आलोचित संस्करण के प्रसिद्ध सम्पादक डा० विष्णु सीताराम सुखठंकर ने अपने २५–१२–१९३५ और १५–१–१९३६ के पत्रों में लिखा था—

I have read with great interest your valuable article on Nakula's western expedition. Your explanations and identifications are quite convincing and very valuable indeed ... I was much interested to see again your learned article on the western expedition of Nakula. I have gone through it now carefully, and some of the readings you suggest are really worth considering.

[नकुल की पच्छिमी चढ़ाई पर आपके कीमती लेख को मैंने बड़ी रुचि से पढ़ा है। आपकी व्याख्याएँ और पहचानें पूरी तरह निश्चय-जनक और बहुत कीमती हैं। ... नकुल की पच्छिमी चढ़ाई पर आपके विद्वत्तापूर्ण लेख को मैंने फिर बड़ी रुचि से देखा। इस बार मैंने इसका ध्यान से पारायण किया; कुछ पाठ जो आपने सुझाये हैं वस्तुतः ध्यान देने योग्य हैं।]

● प्रसिद्ध विज्ञानी डा० बीरबल साहनी को सन् १९३६ में रोहतक के पास एक पुराने भीटे की खुदाई करने पर हजारों मिट्टी के साँचे मिले जिनपर दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में लिखा था— *यौधेयानां बहुधान्यके*। उनकी विवेचना करते हुए उन्होंने अपने उस विषय के ग्रन्थ Technique of Casting Coins in Ancient India, Bombay 1945 (प्राचीन भारत में सिक्के ढालने का शिल्प, मुम्बई १९४५) में लिखा—

Rohtak must be indentified with the ancient

Rohitaka of that epic. However, as I came to know later, Professor Jaya Chandra Vidyalankar had already established this identity two years previously, and what is more important, he had recognised Bahudhānyaka as the name of a territory and fixed its location. Writing in 1934, he described Nakula's conquest of the Western Quarter in the following words : ... Professor Jaya Chandra Vidyalankar, who made a special study of the northern and western portions of the Digvijaya-parva geography, concluded that it contained a picture of the second century B. C. This is now confirmed by the mention of *Bahudhānyaka* on the Rohtak coin moulds of the second or first century B.C. (pp. 8-9,15).

[रोहतक की पहचान उस महाकाव्य—महाभारत—के प्राचीन रोहीतक से की जानी चाहिए। परन्तु जैसा कि मुझे पीछे पता चला, प्रोफेसर जयचन्द्र विद्यालंकार ने दो वर्ष पहले ही यह पहचान कर ली थी, और इससे भी बढ़ कर, उन्होंने यह पहचान लिया था कि बहुधान्यक एक प्रदेश का नाम है और उसका स्थान निश्चित कर दिया था। १९३४ में लिखते हुए उन्होंने नकुल के पश्चिम दिशा के विजय का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया— ... प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार जिन्होंने दिग्विजय-पर्व के उत्तरी और पच्छिमी अंशों के भूवृत्त का विशेष अध्ययन किया, इस परिणाम पर पहुँचे थे कि उसमें दूसरी शताब्दी ई० पू० का चित्र है। अब दूसरी या पहली शताब्दी ई० पू० के रोहतक के सिक्के-साँचों पर बहुधान्यक का उल्लेख होने से यह बात पुष्ट हुई। (पृ० ८-९, १५)]

18. 'Ulūka' Country, Journ. Bihar & Orissa Res. Soc. XX, Patna 1934, pp. 95-6.

[१८. **'उलूक' देश,** जर्नल ऑफ़ दि बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसा० जि० २०, पटना १९३४, पृ० ९५-९६ ।]

19. Mount Visṇupada, Journ. B. & O. Res. Soc. XX, Patna 1934, pp. 97–100.

[१९. **विष्णुपद गिरि,** जर्नल० बिहार ओड़ीसा रि० सो०, जि० २०, पटना १९३४, पृ० ९७–१०० ।]

२०. अखिल भारतीय **हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर** अधिवेशन अप्रैल १९३६, **इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण,** रॉयल ८ पृ० २० ।

- गुजराती मासिक पत्र कुमार, अहमदाबाद, के मई १९३६ के अंक में अभिभाषण के उस अंश का जिसमें भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन कराया गया था, अनुवाद देते हुए सम्पादक ने लिखा (पृ० २७५)—आटली टूंकी, आटली तलस्पर्शी अने छतां आटली ग्राहक समीक्षा अगाऊ भाग्येज जोवामां आवी हशे. मात्र थोडीज मिनटना वाचनमाँ ए भारतना समग्र इतिहासनी चित्ररेखा संस्कृतिना सुवर्णदोर साथे अंकित करी जायछे अने आपणने जुदा जुदा युगबलोनी असरना हार्दमां लइ जायछे । ।

  [इतनी संक्षिप्त-सारगर्भित, इतनी तलस्पर्शी और फिर भी इतनी संग्राहक समीक्षा इससे पहले भाग्य से ही किसी के देखने में आई होगी । थोड़े से मिनटों के वाचन में यह भारत के समग्र इतिहास की चित्ररेखा संस्कृति की सुनहरी डोर के साथ अंकित कर जाती है और आपको भिन्न भिन्न युगबलों के प्रभाव के हृदय में ले जाती है ।]

- मराठी त्रैमासिक लोकशिक्षण (पूना) के मार्च १९३७ अंक में समूचे अभिभाषण का अनुवाद प्रकाशित हुआ ।

● भारत सरकार के अभिलेख-पाठक (Epigraphist) डा० बहादुरचन्द छाबड़ा ने अपने २८-१०-१९३६ के पत्र में लिखा—भारत के समूचे इतिहास का थोड़े में आपने अच्छा सिंहावलोकन किया है; स्थान स्थान पर जो आपने देशी और विदेशी इतिहास-लेखकों की समालोचना की है वह भी खरी और न्याय्य है।

● श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने १५–७–१९३८ के पत्र में लिखा—आपकी सूक्ष्मेक्षिका अभूतपूर्व है। हमारे राष्ट्र की ऐतिहासिक चक्षुष्मत्ता को उन्मीलित करने के लिए आपके प्रयत्न अत्यन्त प्रशस्य और विचारधारा अति वीर्यवती है। आपके अभिभाषण में राष्ट्रीय विकास की चिरन्तनी किन्तु अन्तःसलिला सरस्वती के दर्शन ···। जिस दिन ··· अपने देश का इस शैली से लिखा ··· इतिहास ··· प्रस्तुत होगा, उस दिन विचार-स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान रूपी स्तम्भों पर निर्मित ज्ञान-तोरण के नीचे भारतीय युवकों का मन ··· हिलोरें लेने लगेगा। आपकी तेजस्वी साधना का ··· हृदय से अभिनन्दन ···।

२१. **उत्कीर्णलेखाञ्जलिः**, क्राउन $\frac{१}{८}$ पृ० ५१; पाँच संस्कृत अभिलेख संस्कृत में ऐतिहासिक टिप्पणियों और हिन्दी अनुवाद सहित, बनारस १९३६।

२२. **भारतमाता मन्दिर**, आज (हिन्दी दैनिक) बनारस, २५ अक्तूबर और २१ नवंबर १९३६। बनारस के भारत-माता मन्दिर की व्याख्या आलोचना और उसके सम्बन्ध में सुझाव।

23. **Regional and Linguistic Structure of India,** Cultural Heritage of India, vol III, Calcutta 1937, pp. 123–152.

[२३. **भारत का प्रादेशिक और भाषाकृत ताना-बाना**, श्री रामकृष्ण परमहंस शताब्दी स्मारक ग्रन्थ—भारत का सांस्कृतिक दाय—जि० ३, कलकत्ता १९३७, पृ० १२३–५२।]

● प्रो० विनय कुमार सरकार ने, जो कि उक्त ग्रन्थ के सम्पादकों में थे, अपने ३१-१०-१६३५ के पत्र में लिखा था—

I have seen your paper in English for the Ramakrishna Centenary Volume III...Your ideas are in the main very suggestive and I appreciate very much that you have tried to explain old Indian conditions in the light of these ideas, or rather, I should say that your ideas have grown out of the facts of Hindu culture-history.

[मैंने रामकृष्ण शताब्दी ग्रन्थ ३ में आपका अंग्रेजी में लेख देखा है। ... आपके विचार बहुत कर के बड़े सूझ-भरे होते हैं और मैंने इसे बहुत ही पसन्द किया कि आपने प्राचीन भारत की दशाओं की इन विचारों के प्रकाश में व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, बल्कि, मुझे यों कहना चाहिए कि आपके विचार भारतीय संस्कृति-इतिहास के तथ्यों से ही उपजे हैं।]

● इस लेख को प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० भी० सुब्बाराव ने अपने ग्रन्थ Personality of India (भारत का व्यक्तित्व), २य संस्क०, बड़ोदा १६५८, में, तथा सेलिग एस० हैरिसन (Selig. S. Harrison) ने अपने ग्रन्थ India ; Most Dangerous Decades (भारत की अत्यन्त खतरनाक दशाब्दियाँ), प्रिंसटन (अमरीका) १६६० (Princeton, 1960), में प्रमाण रूप से उद्धृत और निर्दिष्ट किया है।

२४. **सुराष्ट्र क्षत्रप इतिहास की पुनःपरीक्षा**, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १८, बनारस १६३७, पृ० १-२७।

२५. **मेरी जाति ज़िन्दा है—जायसवाल जी और उनका कार्य**, विशाल भारत (हिन्दी मासिक), कलकत्ता, नवम्बर १६३७, पृ० ५१६-२८।

● इस लेख का अनुवाद नागपुर के मराठी मासिक विहंगम के फरवरी १९३८ अंक में प्रकाशित हुआ।

२६. **बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन**, आरा अधिवेशन दिसम्बर १९३७, **इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण**, रॉयल $\frac{1}{8}$ पृ० २१।

२७. **मर्ग और खाल**, नागरी प्र० पत्रिका भाग १९, बनारस १९३८, पृ० १। दो भारतीय भूवृत्तीय परिभाषाओं की व्याख्या।

२८. अखिल-भारतीय **हिन्दी साहित्य सम्मेलन**, **शिमला** अधिवेशन, सितम्बर १९३८, **इतिहास-परिषद् के सभापति पद से अभिभाषण**, रॉयल $\frac{1}{8}$ पृ० १९।

● श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने २८-१०-१९३८ के पत्र में लिखा था—आपके ऐतिहासिक युगविभाग के मर्म पर विशेष विचार करने के बाद मेरी यह सम्मति है कि अपने देश की पाठ्य पुस्तकों में यदि इस प्रकार के वैज्ञानिक और सत्य से भरे हुए कालविभाग का आश्रय लिया जाय तो जहाँ एक ओर छात्रों में अपनी सूझ से देखने की क्षमता उत्पन्न होगी, वहाँ दूसरी ओर फिरकेबन्दी का नाश हो कर शुद्ध राष्ट्रीय वा भारतीय पद्धति से इतिहास का अनुशीलन भी जारी हो जावेगा।

29. **The Sikhs as a Factor in the 18th Century History of India,** Sardesai Commemoration Volume, Bombay 1928, pp. 277–281.

[२९. **भारत के १८वीं शताब्दी के इतिहास में सिक्खों का स्थान**, सरदेसाई अभिनन्दन ग्रन्थ, मुम्बई १९३८, पृ० २७७-८१।]

● महाराष्ट्र के महान् ऐतिहासिक गोविन्द सखाराम सरदेसाई ने सन् १९३४ में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ Main Currents of Maratha History (मराठा इतिहास की मुख्य धाराएँ) श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को भेंट करते हुए उसपर आलोचना माँगी थी। पत्र

में आलोचना भेजने पर सरदेसाई जी ने उसे प्रकाशित करने को कहा, तब वही विषय इस लेख में दिया गया। उस पत्र की पहुँच देते हुए महान् ऐतिहासिक ने अपने २१–७–१६३४ के पत्र में लिखा था—

I feel particularly grateful for the valuble aspect you mention in relation to the Sikhs of the Panjab affecting the Maratha affair of Panipat. It is an unpardonable omission not only on my part, but on that of so many learned scholars who have dealt with the subject before me...I now feel ashamed after reading your criticism of having ignored the ... Sikhs as an important factor. I wonder if you would allow me to publish your criticism...

[पानीपत के मराठा मामले पर पंजाब के सिक्खों के प्रभाव के पहलू का आपने जो कीमती उल्लेख किया है, उसके लिए मैं विशेष कृतज्ञ हूँ। यह न केवल मेरी, प्रत्युत ... कितने ही बड़े विद्वानों की जिन्होंने मुझसे पहले इस विषय की चर्चा की है, अक्षम्य चूक है। अब आपकी आलोचना पढ़ कर मैं शर्मिन्दा हूँ कि मैंने ... सिक्खों के महत्त्वपूर्ण भाग की उपेक्षा की। क्या आप मुझे अपनी आलोचना प्रकाशित करने की इजाज़त देंगे? ...]

३०. **इतिहास प्रवेश**, दो भागों में, क्राउन $\frac{1}{2}$ पृ० २८+६६५+६२ अनुक्रमणी, २२२ चित्रों सहित; इलाहाबाद १६३८–४०, द्वितीय संस्करण दोनों भाग एक में, १६४१।

● प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० विनयकुमार सरकार ने २४ जनवरी १६३६ के पत्र में लिखा था—

The style is wonderfully lucid. And undou-

btedly most readers will feel that your treatment of history introduces them to men and women of flesh and blood. The importance you have attached to the economic, social and cultural topics deserves the widest recognition...

[शैली अद्भुत रूप से विशद है। और निश्चय से अधिकतर पाठक अनुभव करेंगे कि आपका इतिहास-विवेचन उन्हें रक्त-मांस वाले—जीते जागते—स्त्री-पुरुषों से परिचित कराता है। आपने आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों को जो महत्त्व दिया है उसका अधिकतम मान होना चाहिए। ···)

● दक्खिन भारत के प्रमुख ऐतिहासिक प्रो० के० ए० नीलकंठ शास्त्री ने अपने ३ फरवरी १९३९ के पत्र में लिखा था—

I am now in a position to tell you that I have read every line of all the books* including the Itihās Praveśa you were good enough to send me some time ago. If you will allow me to say so, I have been struck by the wide range and the great precision of your larning. I find myself in perfect agreement with most of your criticisms of the way in which history has been written and the suggestions for the way in which it ought to be written. I appreciated particularly your emphasis on the

* The other Books referred to are the Nagpur, Arrah and Simla Addresses (Nos. 20, 26 & 28) and Bhāratiya Vānmaya (No. 14)

expansion and spread of Indian culture, and on the various points of contact, between Hinduism and Islam in the course of their eventful history ... Your books and addresses are the first in any Indian language that I have read which carry conviction to me that it is both possible and necessary to tell our history to our people from their standpoint in our own language. I have been trying to do off and on just a little in this direction and you have shown to me how very much more important this work is than I was apt to believe. Needless to say I am able to follow very much more clearly now the plan of a National History that you placed in my hands at Poona ... I have sent at the request of the publisher my opinion on your Itihās Praveśa. I am enclosing a copy of it...

I have read with great pleasure the Itihāsa Praveśa by Shriyut Jaya Chandra Vidyalankar... I have no hesitation in saying that it is the best book on Indian history of that size I have so far come across in any language. The book is written from a standpoint which is patriotic without being chauvinistic. In the amount of attention it gives to historical geography and in the sense of proprotion that dominates the whole book as well as in the choice of topics

and the order in which they are treated we see clearly the amount of careful and patient thought that the author has bestowed on the book. The work deserves to be translated into every Indian language and I hope will be widely used in our schools and colleges.

[मैं अब आपको यह कह सकता हूँ कि कुछ अरसा पहले आपने मुझे इतिहास-प्रवेश सहित जो पुस्तकें भेजने की कृपा की थी उन सब की प्रत्येक पंक्ति मैंने पढ़ डाली है। आपके ज्ञान के क्षेत्र-विस्तार और बड़ी ठिकाई को देख कर मैं चकित हूँ। इतिहास जिस रीति से लिखा गया है उसपर आपकी अधिकांश आलोचना और जिस रीति से लिखा जाना चाहिए उसके लिए आपके सुझावों से मैं अपने को पूर्णतः सहमत पाता हूँ। आपने भारतीय संस्कृति के विस्तार और फैलाव पर तथा हिन्दू संस्कृति और इस्लाम के घटनापूर्ण इतिहास में हुए विभिन्न सम्पर्कों पर जो बल दिया है उसे मैंने विशेष कर पसन्द किया। ··· आपके ग्रन्थ और अभिभाषण किसी भी भारतीय भाषा में पहले हैं जिन्हें पढ़ कर मुझे यह निश्चय हो गया कि यह सम्भव भी है और आवश्यक भी कि हम अपना इतिहास अपनी जनता को उसकी दृष्टि से अपनी भाषा में कहें। इस दिशा में थोड़ा सा कभी कभी करने का जतन मैं करता रहा हूँ, पर आपने मुझे दिखा दिया है कि यह कार्य मैं जितना मानता था उससे कितने अधिक महत्त्व का है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अब मैं राष्ट्रीय इतिहास की उस योजना को बहुत अधिक स्पष्टता से समझ पा रहा हूँ जो आपने मुझे पूने में दी थी ··· मैंने प्रकाशक के माँगने पर आपके इतिहास-प्रवेश पर अपनी सम्मति भेज दी है। उसकी एक प्रति साथ भेजता हूँ। ···

—मुझे श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का इतिहास-प्रवेश पढ़ कर बड़ी

प्रसन्नता हुई। ... मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि भारतीय इतिहास पर किसी भी भाषा में इस परिमाण की मेरी अब तक देखी पुस्तकों में से यह सब से अच्छी है। पुस्तक पर देशप्रेम की छाप है, पर अन्धे देशप्रेम की नहीं। ऐतिहासिक भूवृत्त पर इसमें जितना ध्यान दिया गया है, समूची पुस्तक में विभिन्न अंगों का जो ठीक अनुपात है, विषयों का चुनाव जैसा किया गया और जिस क्रम से उन्हें रक्खा गया है, उससे स्पष्ट दिखाई देता है कि लेखक ने पुस्तक पर कितना सावधानतापूर्ण और गहरा विचार न्योछावर किया है। इस कृति का प्रत्येक भारतीय भाषा में अनुवाद होना चाहिए और हमारे स्कूलों कालेजों में विस्तृत प्रचार होना चाहिए।]

● पं० माखनलाल चतुर्वेदी, 'भारतीय आत्मा' ने इतिहासप्रवेश को देख कर खंडवे से २–१–१९४० को लिखा—

१४ वर्ष पहले मैंने आपमें एक वस्तु देखी थी। उसके पश्चात् आप बढ़ते गये। उस प्रतिभा को मैंने प्यार किया है, उसका मैंने आदर किया है। और जो कृतियाँ आपकी कलम से हिन्दी जगत और भारत में उतर रही हैं, उनका मुझे अभिमान है। ... मेरी सेवा सदैव आपके पास सुरक्षित है, मेरा स्नेह सदैव आपकी प्रतिभा को निकट मानता आया है।

● बनारस से डा० भगवानदास ने २३ जुलाई १९४० को लिखा—
इतिहासप्रवेश से बीच बीच में काम लेता रहता हूँ। बहुत संग्राहक ग्रन्थ है।

● डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्यै ने कलकत्ता रिव्यू के फ़रवरी १९४१ के अंक में आलोचनापरक लेख में लिखा—

This is a remarkably well-planned and well-written book on Indian history, and from almost all points I consider it to be the most

up-to-date, most comprehensive and most satisfactory work of its type on the subject I have ever read. Conceived in a thoroughly scientific spirit and executed with a thoroughness and conscientiousness that would do honour to the erudition and industry of any scholar anywhere in the world, this book gives an admirable survey ...of the history and culture of the Indian people which will be read with profit and pleasure by both the specialist and the general reader. Mr. Jaychandra Vidyalankar, apart from his own papers and books on various aspects of Indian history and culture, in which he has established his place in the front rank of investigators in Indology, is well-known as the energetic Secretary (in fact, the very life and soul) of the Bharatiya Itihasa Parishad...In the present work, Mr. Vidyalankar has fully indicated his competence to co-ordinate...the labours of the numerous scholars who will contribute each in his own field the results of his own specialised studies. For Mr. Vidyalankar has shown in the present work that he has control of minutiae of detail with a vastness of outlook : he possesses a wide vision as well as a keen insight which does not lose the forest in the trees and does not neglect the apparently trivial and

unimportant things. Like a true scientist, he both analyses and forms a synthesis—he knows how to break as well as to build.

The author is not, however. a dry-as-dust analyst or reviewer, with his scientific attitude as his only redeeming feature : he has infused in his creation the warmth of his personal sympathy as an Indian who loves his land and his people with both their greatness and weakness. He is not of that ilk who cannot start the work of analysis and investigation unless it is on a corpse—unless they have the lifeless specimen pinned on the dissection table. Under his clear-viewed analysis or his masterly diagnosis or dissection, the subject continues to be living and does not forego its place in the scheme of things that exist ; and feeling himself to be within the subject of analysis, inspite of his scientific detachment, he is emphatically free from that imperialistic bias and pose which unfortunately have blurred the vision of not a few British historians of India who have always put an undue emphasis on certain aspects of Indian history or the Indian situation which have no vital connexion with India, an emphasis on things that are accidental rather than organic. It is, in fact, a scientific history of India written

from the point of view of India and Indians only (and it may be added, from the point of view of its connexions with or bearings on humanity as a whole) and not for the glorification of this or that group or party, of the "Aryan" or the "Moslem", or of the white man with his self-imposed "burden" ... And it is a history not for Indians only but for the whole world to read. Professedly, it is a history written from the "Indian point of view," Mr. Vidyalankar and other Indian workers in the field, as well as the Indian lay public, are fed up with the imperialistics tandpoint. What this "Indian point of view" really is, has been discussed by scholars like Rao Bahadur Hiralal ... and no one in any other country with the purest scientific biaslessness can take exception to it. Mr. Vidyalnkar's book is also conceived and executed in that Indian point of view: science and truth first and last, and subservience to ideas of group-superiority or of exaltation of groups nowhere: in fact, a statement and an appraisement of all the good and the bad that go to make up Indian history and Indian culture.

Mr. Vidyalankar rightly takes the history of India as an uninterrupted process from prehistoric times to our days, and he does not

divide the history of India into three water-tight compartments labelled "Hindu", "Mohammadan" and "British" (why not "Christian" as Major B. D. Basu has implied, in his Rise of the Christian Power in India ?) ... one feels a rare pleasure at the author's wide range of information, his skill in marshalling facts and his all-embracing catholicity, with its undercurrent of a great and a deep human sympathy (and not a superficial nationalistic bias) for the people the story of whose deeds and achievements he unfolds ... Ample justice has been done to the cultural history of India in chapters giving survey of the cultural forces at work in each period. And it is gratifying to note that the question of Greater India—India's cultural and colonial expansion—has not been negleeted either, as it is an integral part of India's history.

The story is brought down to the year of its publication, and in recent events when political, racial and communal strifes, wrangles and complications are bringing about the greatest amount of confusion among a population covering a fifth of the human race, Mr. Vidyalankar has succeeded in giving a detailed and dispassionate survey.

A word of special praise is due to the careful

selection of the illustations, which embrace racial types, views of architectural remains, coins and inscriptions and plans. They give an illustrated commentary on the whole story, unfolding in pictures the history of a great country and its great civilisation ... I think scholars will have to admit that Mr. Vidyalankar has remarkably well acquitted himself. He has written his book in Hindi, the true national language of India, her representative modern speech. Hindi is the de facto *umgangs-sprache* and *verkehr-sprache* or lingua franca, for the whole of Aryan-speaking India, and for a considerable part of South India as well, though it is not yet a *Kultur-sprache* or a *wissent-schaftliche sprache*—a cultural language or a language of science. Its scientific vocabulary is still in the making, and Mr. Vidylankar himself had to find out or coin many a necessary word. Works like the present one are really helping to establish Hindi as a speech of science and culture. His Hindi is one of the best I have read in a modern writer—he writes beautiful Hindi prose, terse, vigorous, to the point, and withal picturesque. A book like this should have wide publicity and popularity not only in the whole of India but also in the world at large ... We wish more

power to Mr. Vidyalankar's elbow—and we hope he will continue to give us every now and then at least chips from his workshop where he will be occupied for some years to come in constructing along with other scholars a great and authoritative History of India, of which the present one is a welcome foretaste.

[भारतीय इतिहास पर यह कमाल की सुन्दर योजना का कमाल का सुलिखित ग्रन्थ है, और इस विषय पर अब तक मैंने जो पुस्तकें पढ़ी हैं मैं समझता हूँ यह प्रायः सब दृष्टियों से उन सब से अधिक आज तक की खोज का पता देने वाला, सब से अधिक संग्राहक और सब से अधिक सन्तोषजनक है। पूरी वैज्ञानिक भावना से कल्पित और ऐसी पूर्णता और ईमानदारी से रचित कि जिससे संसार भर में कहीं के किसी भी विद्वान् की विद्वत्ता और मेहनत का गौरव बढ़ता, यह ग्रन्थ ··· भारतीय जनता के इतिहास और कृष्टि की ऐसी प्रशस्त पर्यवेक्षा कराता है कि जिसे पढ़ कर क्या विशेषज्ञ और क्या साधारण पाठक सभी को लाभ और आनन्द होगा। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का नाम भारतीय इतिहास और कृष्टि के विभिन्न पहलुओं पर के अपने उन लेखों और ग्रन्थों से तो सुविदित ही है जिनके द्वारा वे भारतीय खोज करने वालों की प्रथम पंक्ति में स्थान पा चुके हैं; इसके अलावा वे भारतीय इतिहास परिषद् के कर्मठ मन्त्री, सच कहें तो उसके प्राण, भी हैं ···। प्रस्तुत ग्रंथ में श्री विद्यालंकार ने उन बहुतेरे विद्वानों के श्रमों का सामञ्जस्य करने की अपनी योग्यता दिखा दी है जो कि अपने अपने विशेष क्षेत्र के अध्ययन के परिणाम (भारतीय इतिहास के लिए) देंगे; क्योंकि श्री विद्यालंकार ने इस ग्रंथ में दिखा दिया है कि एक तरफ़ जहाँ उनका दृष्टिक्षेत्र विशाल है, वहाँ दूसरी तरफ़ तफ़सील की

बारीकियों पर भी पूरा अधिकार है—उनकी व्यापक दृष्टि है और साथ ही पैनी अन्तर्दृष्टि भी जो अलग अलग वृक्षों को देखने में उलझ कर जंगल को पहचानने से चूकती नहीं और क्षुद्र और गौण प्रतीत होनेवाली वस्तुओं की भी उपेक्षा नहीं करती। सच्चे वैज्ञानिक की तरह वे विश्लेषण कर सकते हैं और समन्वय भी—तोड़ना भी जानते हैं और इमारत खड़ी करना भी।

किन्तु इस ग्रंथ के लेखक सूखे विश्लेषण-कर्ता या आलोचक ही नहीं हैं, जिनका वैज्ञानिक रुख ही उनका एकमात्र उद्धारक पहलू हो। उन्होंने अपनी रचना में अपने हृदय की उस समवेदना और प्यार की गर्मी भी फूँक दी है जो कि एक भारतीय होने के नाते वे अपने देश और अपनी जनता के तईं उसके गौरव में और उसकी दुर्बलता में भी अनुभव करते हैं। वे उस तबके के नहीं हैं जो छानबीन और तहकीकात का कार्य किसी लाश पर ही—चीर-फाड़ की मेज़ पर नत्थी किये हुए निर्जीव नमूने पर ही—कर सकता है। उनकी स्पष्टदर्शी छानबीन अथवा सधे उस्ताद वाली चीरफाड़ या निदान-निर्णय के बीच उसका विषय सजीव बना रहता है; और चूँकि वे स्वयं अपने वैज्ञानिक बेलागपन के बावजूद अपने को छानबीन के विषय के अन्तर्गत अनुभव करते हैं, इसलिए भारत का इतिहास लिखने वाले बहुतेरे अंग्रेज़ों के उस साम्राज्यवादी पक्षपात और बनाव से सर्वथा मुक्त हैं, जिससे दुर्भाग्यवश उन लेखकों की दृष्टि धुँधली हुई रही है और वे भारतीय इतिहास अथवा भारतीय स्थिति के कुछ ऐसे पहलुओं पर सदा अनुचित बल देते रहे हैं जिनका भारत के जीवन से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं, अर्थात् जो केवल आकस्मिक बातें हैं। यह वास्तव में भारत का विज्ञानसम्मत इतिहास है जो केवल भारत और भारतीयों की दृष्टि से (और यह भी कह दिया जाय कि भारत के समूची मनुष्य जाति के साथ सम्बन्धों या

उसपर हुए प्रभावों की दृष्टि से) लिखा गया है, न कि इस या उस वर्ग या पक्ष का गौरव दिखाने के लिए—जैसे "आर्यों" का या मुस्लिमों का, या गोरे लोगों का जो स्वयं दुनिया का "भार" उठाये फिरते हैं ...। और यह इतिहास है न केवल भारतीयों के प्रत्युत सारी दुनिया के पढ़ने लायक। हाँ बेशक यह "भारतीय दृष्टि" से लिखा हुआ इतिहास है; श्री विद्यालंकार और इस क्षेत्र के अन्य भारतीय कर्मी तथा भारतीय जनसाधारण भी साम्राज्यवादी दृष्टि से ऊब चुके हैं। वह "भारतीय दृष्टि" वस्तुतः क्या है इसकी विवेचना रायबहादुर हीरालाल जैसे विद्वानों ने की है ... और शुद्धतम वैज्ञानिक निष्पक्षता को रखते हुए दूसरे किसी देश का कोई भी व्यक्ति उसपर आपत्ति नहीं कर सकता। श्री विद्यालंकार की पुस्तक की कल्पना और रचना भी उसी भारतीय दृष्टि से हुई है—अर्थात् विज्ञान और सत्य आदि से अन्त तक, और किसी वर्ग की उत्कृष्टता के विचार की गुलामी या किसी वर्ग का गौरव-गान कहीं नहीं—वस्तुतः भारतीय इतिहास और भारतीय कृष्टि को बनाने वाले सब अच्छे बुरे तत्त्वों का विवरण और मूल्यांकन।

श्री विद्यालंकार ने प्रागैतिहासिक काल से हमारे ज़माने तक भारत के इतिहास को जो अविच्छिन्न धारा रूप में देखा है सो बिलकुल ठीक है। वे भारत के इतिहास को तीन अलग अलग कटघरों में नहीं बाँटते जिनके नाम रक्खे गये हैं "हिन्दू" "मुस्लिम" और "ब्रितानवी" ("ईसाई" क्यों नहीं, जैसा कि मेजर वा० दा० वसु ने अपने ग्रन्थ "भारत में ईसाई शक्ति का उदय" के नाम में सुझाया है ?)...पाठक को दुर्लभ आनन्द मिलता है लेखक की विस्तृत जानकारी और उनकी तथ्यों को पेश करने की कुशलता से तथा उनकी उस सर्व-संवेदी उदारता से जिसके भीतर लगातार उस जनता के लिए जिसके कार्यों और कारनामों की कहानी उन्होंने

खोली है, गहरी मानव सहानुभूति की अन्तर्धारा बहती है (केवल उथला राष्ट्रीय पक्षपात नहीं) ।...भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर पूरा ध्यान दिया गया है और प्रत्येक युग में प्रभाव डालने वाली कृष्टि-शक्तियों की पर्यवेक्षा विशेष अध्यायों में की गई है। और यह बात भी अत्यन्त सन्तोषजनक है कि बृहत्तर भारत की—भारत के उपनिवेशों और सांस्कृतिक फैलाव की—उपेक्षा नहीं की गई, क्योंकि वह भारत के इतिहास का एक अविच्छेद्य अंग है।

कहानी पुस्तक के प्रकाशन के वर्ष तक ले आई गई है और हाल में जब कि राजनीतिक नस्ली और साम्प्रदायिक झगड़ों विवादों और पेचीदगियों के कारण भारत की जनता में जो कि समूची मानव जाति का पाँचवाँ अंश है, बहुत ही अधिक मतिविभ्रम मचा रहा है, श्री विद्यालंकार घटनाओं की तफ़सीलवार बेलाग पर्यवेक्षा देने में सफल हुए हैं।

चित्रों का चुनाव जिस सावधानी से किया गया है उसकी विशेष प्रशंसा में दो शब्द कहने चाहिएँ। इन चित्रों में नस्लों के नमूने, इमारती अवशेषों के दृश्य, सिक्के, अभिलेख, खाके आदि दिखाये गये हैं, जिनसे समूची कहानी की चित्रमयी व्याख्या होती और एक महान् देश और उसकी महान् सभ्यता का इतिहास चित्रों में खुलता जाता है।... मेरे विचार में विद्वानों को यह मानना होगा कि श्री विद्यालंकार ने अपना कार्य कमाल की खूबी से निभाया है। उन्होंने अपनी पुस्तक हिन्दी में लिखी है, जो कि भारत की सच्ची राष्ट्रीय भाषा, उसकी आधुनिक प्रतिनिधि भाषा है। हिन्दी समूचे आर्यभाषी भारत की और दक्खिन भारत के काफ़ी अंश की भी वास्तविक सार्वत्रिक भाषा और लोक-व्यवहार की भाषा है, यद्यपि अभी तक यह उसकी संस्कृति-भाषा या विज्ञान-भाषा नहीं बनी। इसका वैज्ञानिक शब्दकोश अभी बन रहा है, और श्री विद्यालंकार को स्वयं बहुत से आवश्यक शब्द ढूँढने या

गढ़ने पड़े हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ जैसी कृतियाँ हिन्दी को विज्ञान और संस्कृति की भाषा के पद पर बिठाने में वस्तुतः सहायक हो रही हैं। उनकी हिन्दी आधुनिक हिन्दी के मेरे देखने में आये श्रेष्ठ नमूनों में से हैं—वे सुन्दर हिन्दी गद्य लिखते हैं, संक्षिप्त-सारगर्भित, ज़ोरदार, ठिकाने का और तिसपर भी रंगीन। इस प्रकार की पोथी का न केवल समूचे भारत में प्रत्युत विश्व भर में खूब प्रचार होना चाहिए।...हम चाहते हैं श्री विद्यालंकार के हाथ में और शक्ति हो। अपने कारखाने में अन्य विद्वानों के साथ भारत का जो महान् और प्रामाणिक इतिहास वे अगले कुछ वर्षों में तैयार करेंगे, उसका इस ग्रन्थ से सुन्दर आभास मिला है। हमें आशा है उस कारखाने से वे जब तब और कृतियाँ भी हमें देते रहेंगे।]

३१. **उनीसवीं शती की कुछ आर्थिक-राजनीतिक संस्थाएँ,** भारतीय विद्या, जि० १, मुम्बई १६३६, पृ० ५१–६४।

३२. **बिहार—एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन,** क्राउन ⅛ पृ० १८+ ३८७, पटना १६४०। श्री पृथ्वीसिंह महता के साथ संयुक्त रूप से लिखित, मुख्य कार्य श्री महता का ही।

33. **History of the Surāṣṭran Kṣatrapas Re-examined,** Journal of the Gujarat Research Society, Bombay 1940, pp. 101–111. English version of No. 24 supra.

[३३. **सुराष्ट्र के क्षत्रपों के इतिहास की पुनःपरीक्षा,** जर्नल ऑफ़ दि गुजरात रिसर्च सोसाइटी, मुम्बई १६४०, पृ० १०१–१११। उपर्युक्त सं० २४ का अंग्रेज़ी रूप।]

34. **The Family of Caṣṭana : Their Coinage and History Re-examined,** (No. 33 re-written). Journal of the Benares Hindu University vol. V, 1941, pp. 249–261.

[३४. **चष्टन का वंश—उसके सिक्कों और इतिहास की पुनः परीक्षा**, सं० ३३ का नया रूप, जर्नल ऑफ़ दि बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, भाग ५, १६४१, पृ० २४६–६१ ।

३५. **भारतीय राष्ट्र का विकास ह्रास और पुनरुत्थान**, पटना युनिवर्सिटी में रामदीन रीडर पद से दिये व्याख्यान, १६४१ । मुद्रित रूप में प्रकाशित १६५४–६०, दे० नीचे सं० ६४ ।

(३) सन् १९४० से १९४२

३६. भारतीय इतिहास परिषद् में सम्पादन कार्य

भारतीय इतिहास परिषद् का प्रस्ताव श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने अपने नागपुर अभिभाषण में किया था। उसकी स्थापना १६३७ के अन्त में हुई, तब वही मन्त्री चुने गये । परिषद् के लिए २० जिल्दों में इतिहास की योजना उन्होंने अपने नागपुर अभिभाषण और इतिहास-प्रवेश वाले ढाँचे पर बनाई। ऊपर सं० ३० के नीचे प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री के पत्र में उसी योजना का उल्लेख है। सम्पादक-मण्डल के अध्यक्ष सर यदुनाथ सरकार और मन्त्री श्री जयचन्द्र विद्यालंकार नियत हुए। विभिन्न जिल्दों के सम्पादक और अन्य विद्वान् भी अपनी कृतियों पर मन्त्री का मत माँगते थे। उस मत को वे कितना महत्त्व देते और उस प्रसंग में कैसे कार्य होता रहा, उसकी झलक कुछ पत्रों के उद्धरणों से, जो नीचे दिये जा रहे हैं, मिलती है ।

● *Prof. Mohammad Habib to J. C. Vidyalankar*

Oct. 7, 1940—I am so grateful for your review of my note ... I agree with your suggestion about the fixation of 1325 as the proper date for Southern India ... for the cultural history of the Mussalmans, 1325, the year in

which Amir Khusrau and Sheikh Nizamuddin Aulia died, is the proper date...

Oct. 31, 1940—I am very grateful for your two notes. I have circulated them amongst the members...

Dec. 23, 1940—In case you have gone through the typescript, please return it with your suggesions—or if you are not well enough, please direct one of your assistants to glance through it.

[प्रो० मुहम्मद हबीब के पत्र जयचन्द्र विद्यालंकार को—

७ अक्तूबर १९४०—मेरे नोट पर आपकी आलोचना के लिए मैं बहुत ही अनुगृहीत हूँ। ... मैं आपके इस सुझाव से सहमत हूँ कि १३२५ ई० पर (प्रकरण की समाप्ति) रक्खी जाय क्योंकि दक्खिन भारत (के इतिहास) की दृष्टि से वही ठीक तिथि है ... मुसलमानों के सांस्कृतिक इतिहास के लिए भी वही ठीक तिथि है क्योंकि सन् १३२५ में ही अमीर खुसरो और शेख निज़ामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई ... ।

३१ अक्तूबर १९४०—आपके दो नोटों के लिए बहुत अनुगृहीत हूँ। मैंने उन्हें (अलीगढ़ इतिहास बोर्ड के) सदस्यों में प्रचारित कर दिया है।...

२३ दिसम्बर १९४०—यदि आप मेरे लेख को देख चुके हों तो कृपया उसे अपने सुझावों के साथ लौटाइएगा—अथवा यदि आपकी तबीयत ठीक न हो तो अपने एक सहायक से कहियेगा कि इसे देख डालें।]

● *Prof. K. A. Nilakantha Sastri to J. C. V.*

May 21, 1941—I am enclosing tentative plan

of Mauryan volume for your criticism. I will send it to Sir Jadunath after I have your ideas...

June 17, 1941—I am revising the plan of the Mauryan volume in the light of your suggestions and sending it for further action to the Chief Editor. You mention of the question of Khotan colony ... In this connection may I trouble you for a bibliography on this aspect of the subject, and if it is not very inconvenient to you also on works in Hindi relating to Asoka and the Mauryan period in general? Don't mention the Itihas Ruparekha. I have it by me all the time, but I do not want to miss any other work ...

July 29, 1941—Your note on Khotan is very valuable indeed. You say there is nothing very new in it. What is very new under the sun?...

[प्रो० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री के पत्र ज० च० वि० को—

२१ मई १९४१—मैं मौर्य जिल्द की आरज़ी योजना आपकी आलोचना के लिए भेज रहा हूँ। आपके विचार पा लेने के बाद मैं इसे सर यदुनाथ के पास भेजूँगा।

१७ जून १९४१—मैं मौर्य जिल्द की योजना को आपके सुझावों की रोशनी में दोहरा रहा हूँ और अगले कार्य के लिए मुख्य सम्पादक के पास भेजूँगा। आपने खोतन उपनिवेश का प्रश्न उठाया है ··· इस प्रसंग में क्या आप विषय के इस पहलू पर ग्रन्थनिर्देश भेजने का कष्ट करेंगे, और यदि आपको बहुत असुविधा

न हो तो अशोक और मौर्य युग पर हिन्दी कृतियों की सूची भी ? (भारतीय) इतिहास (की) रूपरेखा का ज़िक्र करने की आवश्यकता नहीं। उसे तो मैं सदा ही पास रखता हूँ, पर और कोई कृतियाँ हों तो मैं उन्हें देखने से चूकना नहीं चाहता। …

२६ जुलाई १६४१—आपका खोतन पर नोट निश्चय से बड़ा कीमती है। आपने कहा इसमें कोई बहुत नई बातें नहीं हैं। संसार में क्या चीज़ बहुत नई होती है ? …]

● *Dr. Birbal Sahni to J. C V.*

July 23, 1941—I am most grateful for your painstaking and valuable note on my paper received today ... It is a great privilege to have my work so thoroughly criticised by you. I will take account of all you say before the paper goes to Mr. Dikshit (This refers to his Technique of Casting Coins in Ancient India).

[डा० बीरबल साहनी का पत्र ज० च० वि० को—

२३ जुलाई १६४१—मेरे लेख पर आपका बड़े श्रम से लिखा हुआ कीमती नोट आज मिला जिसके लिए मैं बहुत अनुगृहीत हूँ। … यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरी कृति की आपने ऐसी पूरी आलोचना कर भेजी। लेख को श्री दीक्षित के पास भेजने से पहले, आपने जो कुछ कहा है मैं उसपर पूरा ध्यान दे लूँगा। (यह लेख था उनका 'प्राचीन भारत में सिक्के ढालने का शिल्प')]

● *Rao Bahadur K. N. Dikshit to J. C. V.*

Nov. 27, 1941—I send you herewith a copy of my Synopsis ... Please return it to me with your comments, so that I can send the final proposal to Sir Jadunath Sarkar.

[रायबहादुर का० ना० दीक्षित का पत्र ज० च० वि० को—

२७ नव० १९४१—मैं इसके साथ अपने खाके की एक प्रति आपके पास भेजता हूँ। ··· कृपया इसे अपनी टिप्पणियों के साथ लौटाइएगा जिससे कि मैं अन्तिम प्रस्ताव सर यदुनाथ सरकार के पास भेज पाऊँ।]

Sir Jadunath Sarkar to J. C. V.

June 23, 1942—Today I am posting to you ... three finally corrected chapters of the Age of Akber ... Please offer your suggestions for improvement or correction in these chapters without feeling the least delicacy or hesitation...

[सर यदुनाथ सरकार का पत्र ज० च० वि० को—

२३ जून १९४२—आज मैं आपके पास ··· अकबर युग के तीन अन्तिम रूप से संशोधित अध्याय भेज रहा हूँ। ··· इन अध्यायों में कोई गलतियाँ दिखाई दें तो उन्हें ठीक करने अथवा इन्हें सुधारने के लिए अपने सुझाव ज़रा भी संकोच या झिझक माने बिना कृपा कर भेजिएगा। ···]

(४) सन् १९४२ से १९४६

९ अगस्त १९४२ से जो देशव्यापी 'भारत छोड़ो' संघर्ष छिड़ा, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसके बारे में एक पोथी लिखी

३७. हमारी आज की लड़ाई

जिसमें उन्होंने दिखाया कि इतिहास में ऐसी मंजिल आ चुकी है जब कि अंग्रेज़ों को भारत छोड़ना होगा। इस पोथी का गुप्त रूप से प्रचार होता रहा। इसी प्रसंग में अप्रैल १९४३ से फरवरी १९४६ तक लेखक को लखनऊ और लाहौर जेलों और फिर लाहौर किले तथा कैम्बलपुर (अटक) जेल में राजबन्दी रहना पड़ा।

● इस अवधि में कवियों निबन्धकारों और कहानीकारों की संस्था (P. E. N.) के भारत केन्द्र की अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू ने उनके कार्य की याद इन शब्दों में की—

Prof. Jaychandra Vidyalankar is an author of wide learning and occupies an eminent position in the world of letters. He ... is greatly respected all over the country for his services to India. ... his normal work ... adds so much lustre to our current national scholarship and literature.

Sarojini Naidu,
Aug. 9th, 1945 President P. E. N.,
All India Centre.

[प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार बहुश्रुत ग्रंथकार हैं और साहित्य-जगत् में उनका ऊँचा स्थान है। अपनी भारत-सेवा ··· के कारण उनका सारे देश में सम्मान किया जाता है। ··· उनकी दैनिक कृति ··· हमारे विद्यमान राष्ट्रीय ज्ञान और साहित्य को उज्ज्वल करती है।

सरोजिनी नायडू
६ अगस्त १६४५। अध्यक्षा, पी० ई० एन०
भारत केन्द्र।]

(५) सन् १९४७ से १९६०

३८. **प्रार्थना में कुरान-आयत, हिन्दू-मुस्लिम समस्या और इतिहास की मिथ्या शिक्षा**, महात्मा गान्धी के नाम पत्र, ५ जून १६४७।

● गान्धी जी ने ६-६-१६४७ सोमवार को इस लिखित सन्देश के साथ इसे सुनवाया—"······ मेरे पास एक खत श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का भी आया है। जयचन्द्र जी ने लिखा है—···"।

तीन दिन बाद १२-६-१९४७ को फिर अपने प्रवचन में उन्होंने यह कह कर इसकी विवेचना की—बड़े इतिहासवेत्ता श्री जयचन्द्र जी का पत्र मैंने आपको बताया था···(प्रार्थना-प्रवचन, पहला खंड, दिल्ली १९४८, पृ० १३८-३९, १४९)।

39. Language Problem of the East Panjab, typescript pp. 36, March 1949, (for the Panjab Government).

[३९. पूर्वी पंजाब की भाषा-समस्या, टाइप किये पृष्ठ ३६, मार्च १९४९, पंजाब सरकार के लिए लिखा ।]

40. All Over Six Numerals, The People, Delhi, Sept. 4, 1949.

[४०. छह अंकों का विवाद, दि पीपल (अंग्रेज़ी साप्ताहिक) दिल्ली; ४ सितम्बर, १९४९ ।]

४१. **बीरबल साहनी के जीवन का अज्ञात पहलू—An unknown Aspect of Birbal Sahni's Life,** मार्च १९५०; पैलियोबौटनिस्ट, लखनऊ १९५२, पृ० ४९८–५०२; the Palaeobotanist, Lucknow 1952, pp. 498–502.

४२. अखिल-भारतीय **हिन्दी साहित्य सम्मेलन,** **कोटा** अधिवेशन, **सभापति-पद से अभिभाषण,** दिसम्बर १९५०, रॉयल ८ पृ० ५४ ।

४३. **इतिहास-प्रवेश** ३य संस्करण, १९४९–५१ । सन् १९३९–५१ का इतिहास पहलेपहल इसमें दिया गया ।

44. **S'veta Parvata,** Summary of paper sent to the International Congress of Orientalists, Istanbul, 1951.

[४४. श्वेत पर्वत, प्राच्यविदों की अन्तरराष्ट्रीय कांग्रेस, इस्तानबूल १९५१, को भेजा लेख-संक्षेप ।]

४५. **मनुष्य की कहानी**, क्राउन ⅛ पृ० ४८, इलाहाबाद १९५४ ।

४६. **पुरखों का चरित** पोथी १, २, ३, इलाहाबाद १९५४ ।

४७. **भारतीय कृष्टि का क ख**, क्राउन ⅛ पृ० २३ + २६८, चित्र १०६, नक्शे ७, इलाहाबाद १९५४ ।

● भारत सरकार के शिक्षा और वैज्ञानिक खोज मन्त्रालय ने इसपर पुरस्कार देते हुए अपनी २३ मार्च १९५८ की सूचना में कहा—

...best book of Hindi devoted specially to promoting inter-class, inter-communal and inter-state understanding and appreciation of the fundamental ideals of the common Indian Culture ... It is an original book written in Hindi on Indian Culture. The subject is of great interest and has been treated in a very scholarly manner. The language and style are also very good.

[विभिन्न वर्गों विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न राज्यों में परस्पर समझौता बढ़ाने वाली और समान भारतीय संस्कृति के बुनियादी आदर्शों का मूल्य बताने वाली हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक ... भारतीय संस्कृति पर यह हिन्दी में लिखा मौलिक ग्रन्थ है । विषय बड़ा रुचिकर बनाया गया और बड़ी विद्वत्ता से निभाया गया है । भाषा और शैली भी बहुत अच्छी हैं ।]

४८. **भारतीय संस्कृति नूँ पंजाब दी देन** (पंजाबी) [भारतीय संस्कृति को पंजाब की देन] जाग्रती (पंजाबी मासिक), अम्बाला, जुलाई १९५७, पृ० १५–१९; प्रीतलड़ी (पंजाबी मासिक) प्रीतनगर (अमृतसर), सितम्बर १९५७, पृ० ३१–३५; पंजाबी दुनिया (पंजाबी मासिक), पटियाला, जनवरी १९५८, पृ० २१–२७ ।

४९. **भारत के समकालिक आर्थिक इतिहास के कुछ पहलू**,

१९५७, अप्रकाशित। इसका एक अंश हमारी शिक्षापद्धति बुरहानपुर से १९५७ में प्रकाशित संग्रह *पुष्पाञ्जलि* में पृ० १५८-५९ पर प्रकाशित हुआ।

50. The 1857 Uprising—A Perspective, The Hindustan Times, Delhi, 15-8-1957.

[**५०. सन् १८५७ का उत्थान इतिहास की परम्परा में,** हिन्दुस्तान टाइम्स (अंग्रेज़ी दैनिक), दिल्ली १५-८-१९५७।]

५१. भारतीय इतिहास का उन्मीलन—भारत के भूगर्भ-विकास से ले कर १९५७ ई० तक की कहानी, 'इतिहास-प्रवेश' का नया रूप, क्राउन $\frac{?}{?}$ पृ० ४३ + ९९९, नक्शे ३४, चित्र २१०। इलाहाबाद १९५६-५७।

52. Regional Structure of India in relation to Language and History, No. 23 revised. Cultural Heritage of India 2nd ed., Vol. I, Calcutta 1958, pp. 33–52.

[**५२. भारत की प्रादेशिक गढ़न, इतिहास और भाषा को देखते हुए,** उपर्युक्त सं० २३ का नया रूप, कल्चरल हेरिटेज ऑफ़ इंडिया (श्री रामकृष्ण स्मारक ग्रन्थ) २य संस्क०, जि० १, कलकत्ता १९५८, पृ० ३३–५२।]

५३. श्री गुरु रामसिंह जी दा इतिहास विच स्थान (पंजाबी), सतजुग (पंजाबी साप्ताहिक), जीवननगर (हिसार), विशेषांक १३ माघ सं० २०१४ (जनवरी १९५८), पृ० २७।

५४. भारतीय भाषाओं के विकास का ठीक मार्ग, चंडीगढ़ में पंजाब सरकार के दरबार में २-३-१९५८ को किये गये सम्मान के उत्तर में पढ़ा भाषण। हिन्दुस्तान (दैनिक), दिल्ली, ११-३-१९५८; गुरुकुल पत्रिका (मासिक), गुरुकुल कांगड़ी, वैशाख २०१५, पृ० ३०७–१३।

५५. **सन्त सुधारकों की कृति का मूल्य,** रामगोपाल मोहता अभिनन्दन ग्रन्थ (एक आदर्श-समत्व योगी), दिल्ली १६५८, पृ० ३७३—७६ ।

५६. **भागाँ वाली मूरत—मद्ध एशिया विच पंजाबी नौआबादियाँ दी कहानी,** जाग्रती, जनवरी १६५६, पृ० ३-४; प्रीतलड़ी, अप्रैल १६५६, पृ० ५२-५३ ।

[५६. **बड़भागी मूर्त्ति—मध्य एशिया में पंजाबी उपनिवेशों की कहानी** (उपर्युक्त पंजाबी लेख का हिन्दी अनुवाद), सप्तसिन्धु (मासिक), पटियाला, फरवरी १६५६, पृ० ५-६ ।]

५७. **ओह होर ज़माना सी, एह होर ज़माना है** [वह और ज़माना था, यह और ज़माना है], प्रीतलड़ी, मार्च १६५६, पृ० ५२-५३ । [इस लेख के एक अंश का हिन्दी अनुवाद **शहरे-बहलोल की हारिर्ता** शीर्षक से वैशाली अभिनन्दन ग्रन्थ में छपने भेजा गया था ।]

५८. **पंजाब दे इतिहास दिआँ झाकियाँ—आर्यां तों पहले दा पंजाब** [पंजाब के इतिहास की झाँकियाँ—आर्यों से पहले का पंजाब], आरसी (मासिक), दिल्ली, जून १६५६, पृ० १२-१३ ।

५६ **पंजाब दे इतिहास दिआँ झाकियाँ—उषा काल,** आरसी, दिल्ली, जुलाई १६५६, पृ० १०—११ ।

60. **The Language and script Problem of the Panjab,** typescript 76 pages, Submitted to the Government of the Panjab, Aug. 1959. (To be published early in 1961.)

[६०. **पंजाब की भाषा और लिपि की समस्या,** टाइप किये ७६ पृष्ठ, पंजाब सरकार को दिया गया लेख, अगस्त १६५६ । (१६६१ के पहले महीनों में प्रकाशित होगा)]

61. **Die Namen des Mount Everest** (जर्मन),

Kartographische Nachrichten, 2-1959, pp. 61-63. Deutsche Gesselschaft für Kartographie, Bielefeld.

[६१. माउंट एवरेस्ट के नाम (जर्मन में), कार्तोग्राफ़िशे नाखरिख़्तेन, २/१९५९, पृ० ६१–६३; नक्शा-विज्ञान की जर्मन परिषद्, बीलेफ़ेल्ड (जर्मनी)]

● म्यूनिख के शिल्प विद्यापीठ (Technische Hochschule, München) में फ़ोटो-नक्शानवीसी प्रतिष्ठान (Institut für Photogrammetrie, Topographie und Allgemeine Kartographie) के निदेशक (Direktor) प्रो० डा० रिचर्ड फ़िन्स्टरवाल्डर (Prof. Dr. Richard Finsterwalder) ने, जो कि गत पैंतीस वर्ष से सरगमाथा (एवरेस्ट) पहाड़ पर चढ़ने वालों के विवरणों और फोटो-चित्रों के आधार पर उसका नक्शा बनाते रहे हैं, यह लेख प्रकाशित होते ही अपने १८ जून १९५९ के पत्र में लिखा—With very great interest I have read your article in the "Kartographische Nachrichten" 1959/2 "Die Namen des Mount Everest." I agree fully with you ... ["कार्तोग्राफ़िशे नाखरिख्तेन" १९५९/२ में आपका लेख "डी नामेन डेस माउंट एवरेस्ट" मैंने बड़ा ही रुचि से पढ़ा। मैं आपसे पूर्णतः सहमत हूँ ...]

62. Report on Planning an Institute of Indic Studies at Kurukshetra University, typescript pp. 90, submitted April 1960.

[**६२. कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी में भारतविषयक अध्ययन संस्था की योजना का विवरण,** टाइप किये पृ० ९०, अप्रैल १९६० में दिया।]

६३. **भारतीय स्थान-कोश,** भारत के सवा चार हज़ार स्थानों के नाम शुद्ध रूप में, जर्मन प्रकाशक Bertelsmann बेर्टेल्समान की Weltatlas विश्व-ऐटलस के लिए संगृहीत, अगस्त १९६० । उक्त ऐटलस अगस्त १९६१ में प्रकाशित होगी और उसके साथ इन नामों का बिगाड़े हुए अंग्रेज़ी रूपों के साथ कोश रहेगा। समय की बन्दिश के कारण यह कार्य जल्दी में करना पड़ा, तो भी नामों की ९५% शुद्धता का भरोसा है ।

६४. **भारतीय इतिहास की मीमांसा,** उपर्युक्त सं० ३५ पटना युनिवर्सिटी वाले व्याख्यान तथा १९५४–५६ में लिखे नव-परिशिष्ट, पृ० ३२+७११ अनुक्रमणी सहित, नक्शे १६, इलाहाबाद १९५९-६० ।

(६) अधूरी कृतियाँ जिनके १९६१ में पूरी होने की आशा है

६५. **गोरखाली इतिहास की मुख्य धाराएँ**

66. **On Yuan Chwang's Trail in the Western and Northern Regions of India**

[६६. **भारत के पच्छिमी और उत्तरी प्रदेशों में युआन च्वाङ के चरण-चिह्नों की खोज**]

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की प्राप्य कृतियाँ

● हमारा भारत

अपने देश का परिचय; इतिहास की भूमिका रूप। मूल्य ०—४०

● पुरखों का चरित

पहली पोथी सर्वदमन भरत से प्रियदर्शी अशोक तक
दूसरी पोथी चक्रवर्ती खारवेल से जनेन्द्र यशोधर्मा तक
तीसरी पोथी हर्षवर्धन शीलादित्य से पृथ्वीराज चौहान तक

आपके पुरखों के चरितों की सुनहरी डोर में बँधा हुआ आपके देश का १२०० ई० तक का इतिहास। जितना प्रामाणिक, उतना ही सरल विशद और मनोरञ्जक। अनेक चरित कल्पित कहानियों से अधिक रुचिकर और आकर्षक हैं। ११-१२ वर्ष आयु वाले किशोर जो एशिया का नक्शा पहचानने लगे हों इसका रस लेते हुए अपने इतिहास का स्पष्ट रूप देख सकते हैं। उन बड़ी आयु के लोगों के लिए भी जो भारत का प्रामाणिक इतिहास सरल रूप में समझना चाहें, ये पोथियाँ अनूठी हैं। तीनों का मूल्य २.००, १.५०, १.५०

● मनुष्य की कहानी

पृथ्वी जीव और मानव सभ्यता के विकास की कहानी; प्रामाणिक सरल और रुचिकर रूप में। मूल्य ०—७५

● भारतीय इतिहास का उन्मीलन (इतिहास-प्रवेश)

भारत के भूगर्भ-विकास से आरम्भ कर सन् १९५७ तक की कहानी। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री और डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्ये के

अनुसार भारतीय इतिहास पर किसी भी भाषा में सर्वश्रेष्ठ पुस्तक। प्रो० विनयकुमार सरकार के कथनानुसार शैली अद्भुत रूप से विशद, और जीते-जागते स्त्री-पुरुषों से परिचय कराने वाली। ४६ + ६६६ पृ०, २१० चित्र, ३४ नक्शे। चित्र सीधे लिये हुए फोटोग्राफों पर आश्रित, नक्शे सब मौलिक। मूल्य ११—००

● भारतीय कृष्टि का क ख

भारत का सब से प्रामाणिक स्पष्ट और रुचिकर सांस्कृतिक इतिहास। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोतों के सीधे अध्ययन पर आश्रित। पृष्ठ २६८, आर्ट पेपर पर छपे दुर्लभ चित्र १०६, नक्शे ५। मूल्य ७—००

● भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न

१२०० ई० तक के भारतीय साहित्य के विषय-क्षेत्र का और एशिया के किस किस साहित्य को कब किस रूप में उसने प्रभावित किया इसका विशद दिग्दर्शन। मूल्य १—००

● भारतीय इतिहास की मीमांसा

● भारतीय स्थान कोश

भारत के स्थान-नामों के शुद्ध रूप में संग्रह की आवश्यकता की ओर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार सन् १६३१ से ध्यान दिलाते रहे हैं। "भारतभूमि और उसके निवासी" में तथा भारतमाता मन्दिर विषयक अपने लेख (१६३७) में उन्होंने दिखाया था कि उन नामों के विवेचन से भूगर्भशास्त्र, भूवृत्त (जिओग्राफ़ी), मानुषविज्ञान (Anthropology) और इतिहास के लिए कीमती सामग्री मिलती है। १६५१ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधीन भारतीय अनुशीलन प्रतिष्ठान का आरम्भ करते हुए उन्होंने उसका पहला कार्य भारत का स्थान-कोश तैयार करना नियत किया था। पर सम्मेलन तो तब से झगड़े में उलझा है, और

हिन्दी की अन्य बड़ी संस्थाएँ तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें जो आज हिन्दी के नाम पर बड़े बड़े काम कर रही हैं, उनमें से किसी को भी हिन्दी की यह बुनियादी आवश्यकता दिखाई नहीं दी। पर भारत के लोग अपने देश के नामों को भले ही अंग्रेजों की तरह बिगाड़ कर बोलना पसन्द करें, विज्ञान-प्रेमी विदेशी तो उनके ठीक रूप जानना ही चाहते हैं। जर्मनी की एक नक्शा-विज्ञान-संस्था ने अपनी विश्व-ऐटलस के भारतीय नामों के ठीक रूप देने का कार्य "भारतभूमि" के लेखक को ही सौंपा। उस ऐटलस में बिगाड़े हुए अंग्रेज़ी नामों के साथ इन नामों का पूरा कोश भी रहेगा, जिससे किसी भी स्थान का ठीक नाम तुरत ढूँढा जा सके। ऐटलस अगस्त १६६१ में प्रकाशित होगी और उसका मूल्य लगभग १००) होगा। विदेशी मुद्रा की किल्लत के कारण भारत में उसकी इनी गिनी प्रतियाँ ही आ सकेंगी। हमारे पास जिस क्रम से माँग आएगी, हम उसी क्रम से पुस्तक पहुँचाने का यत्न करेंगे।

